

अनेकान्त



भगवान् आदिब्रह्मा, आदिनाथ (वसु श्रावस्व), कुण्डलपर

ममन्तभद्राश्रम (वीर-मेवा-मन्दिर) का मुख्य पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	स्वयम्भू-रतुति—पद्मनःशाचार्य	१
२.	यशस्विलक का साम्प्रतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन आचार्य एम. ए. पी. एच. डी	२
३.	मोनागिरि मिद्धक्षेत्र और तन्मन्वन्धी साहित्य —डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम. ए. डी. लिट.	८
४.	क्या कभी किमी का गर्व स्थिर रहा है ?	१३
५.	मानव जानियों का देवीकरण—माधवी श्री सधमित्रा	१४
६.	प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र का समय —पं० मिलापचन्द्र कटारिया	२३
७.	आगम और त्रिपिटको के मदभे में अज्ञानशत्रु कुणिक—मुनि श्री नगराज	२५
८.	कुलपाक के माणिक स्वामी- डा० विशाधर जोहरा पुरकर	३३
९.	मुख का स्थान - परमानन्द	३४
१०.	राजपूत कालिक मालवा का जैन-पुरातन्य— नेजमिह गौड एम. ए. पी. एड	३५
११.	उपाध्याय मेघविजय के मेघ महोदय में उल्लिखित कतिपय अप्राप्त रचनाएँ— अगरचन्द्र नाहटा	३६
१२.	अग्रवालों का जैन सम्प्रदाय में योगदान— परमानन्द शास्त्री	४६
१२.	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	४७

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्य

डा० प्रमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

अनेकान्त को सहायता

२१) मेठ कश्मीरीलालजी (कश्मीर वालों) ने अपने मुपुत्र विनोद कुमार जी जैन (इजीनियर) का विवाह ला० महावीर प्रसाद जी अग्रवाल मेटलवर्क्स मेवाड़ी बी पुत्री चि० कुमारी प्रमिला के साथ जैनविधि से ३० अप्रैल को सम्पन्न हुआ। उस मुअवसर पर ७५१) के निकाले हुए दान में से २१) अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए।

२१) रायबहादुर सैठ हरखचन्द्र जी पाण्ड्या रावी के लघुभ्राता नाराचन्द्र जी की मुपुत्री चि० मरोज कुमारी के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए ५४१) के दान में से इक्कीस रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए। आशा है इसी तरह अन्य महानुभाव भी धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर अनेकान्त को सहायता भिजवाने का प्रयत्न करेंगे।

व्यवस्थाप 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि अनेकान्त का २१वें वर्ष का प्रथमांक उनकी सेवा में पहुँच रहा है। कृपया अंक मिलते ही २१वें वर्ष का वार्षिक मूल्य ६) मनीआर्डर में भिजवा कर अनुगृहीत करें। अन्यथा अगला अंक वी० पी० में भेजा जावेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

स्वास्थ्य-कामना

वीर सेवामन्दिर के सम्स्थापक वयोवृद्ध प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान प० जुगलकिशोर जी मुस्तार एटा में बीमार हो गये थे। उनकी अवस्था ६२ वर्ष की है, इस वृद्धावस्था में भी वे बराबर लेखन कार्य करते हैं। और योगसार की प्रस्तावना लिख रहे हैं। अनेकान्त परिवार उनकी स्वास्थ्य कामना करते हुए उनके चिरजीवी होने की कामना करता है।

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। — व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

ओम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविषानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २१
किरण १

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४६४, वि० सं० २०२५

अप्रैल
सन् १९६८

स्वयम्भू स्तुतिः

स्वयंभुवायेन समुद्धृतं जगज्जडत्वकूपे पतितं प्रमादतः ।
परात्मतत्त्व प्रतिपादनोत्लसद्वचो गुणैरादि जिनः स सेव्यताम् ॥१
—पद्मनन्दाचार्य

अर्थ—स्वयम्भू—स्वयं ही प्रबोध को प्राप्त हुए जिस आदि (ऋषभ) जिनेन्द्र ने प्रमाद के वश होकर अज्ञाननारूप कुण्ड में गिरे हुए जगत के प्राणियों का परतत्त्व और आत्मतत्त्व (अथवा उत्कृष्ट आत्मतत्त्व) के उपदेश में शोभायमान वचनरूप गुणों से उद्धार किया है उस आदि जिनेन्द्र की आराधना करना चाहिए ।

भावार्थ—इस पद्य में प्रयुक्त 'गुण' शब्द के दो अर्थ हैं—हितकारकत्व आदि गुण तथा रस्सी । उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि असावधानी से कुण्ड में गिर जाता है तो इतर दयालु मनुष्य कुण्ड में रस्सियों को डालकर उनके सहारे से उसे बाहर निकाल लेते हैं । इसी प्रकार भगवान् आदि जिनेन्द्र ने जो बहुत से प्राणी अज्ञानता के वश होकर धर्म के मार्ग से विमुख होते हुए कष्ट भोग रहे थे उनका हितोपदेश के द्वारा उद्धार किया था—उन्हे मोक्षमार्ग में लगाया था । उन्होंने उनको ऐसे वचनों द्वारा पदार्थ का स्वरूप समझाया था जो कि हितकारक होते हुए उन्हे मनोहर भी प्रतीत होते थे । 'हित मनोहारि च दुर्लभ वचः' इस उक्ति के अनुसार यह सर्वसाधारण को सुलभ नहीं है ॥१

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन

डा० गोकुलचन्द आचार्य, एम. ए. पा-एच. डा.

पाणिनी के विषय में सोमदेव ने एक महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। इनके पिता का नाम पाणि या पाणि था। इसीलिए इन्हें पाणि पुत्र भी कहा जाता था। गणित को सोमदेव ने प्रसख्यात शास्त्र कहा है। सोमदेव के समय प्रमाणशास्त्र के रूप में अकलक-न्याय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। राजनीति में गुरु, शुक्र, विशालाक्षा परीक्षित, पाराशर, भीम, भीष्म तथा भारद्वाज रचित नीतिशास्त्रों का उल्लेख है। सोमदेव ने गज विद्या में यशोधर को रोमपाद की तरह कहा है। रोमपाद के अतिरिक्त गजविद्या विशेषज्ञों में इभचारी, याज्ञवल्क्य, वादलि (वाहालि), नर, नारद, राजपुत्र तथा गौतम का उल्लेख है। कुल मिलाकर यशस्तिलक में गज विद्या विषयक प्रभूत सामग्री है। गजोत्पत्ति की पौराणिक अनुश्रुति, उत्तम गज के गुण, गजों के भद्र, मन्द, मृग और सकीर्ण भेद, गजों की मदावस्था, उसके गुण-दोष और चिकित्सा, गज परिचारक, गज शिक्षा इत्यादि के विषय में सोमदेव ने विस्तार में लिखा है। मैंने उपलब्ध गजशास्त्रों से इसकी तुलना करके देखा है कि यह सामग्री एक स्वतन्त्र गजशास्त्र के लिए पर्याप्त है।

गजशास्त्र की तरह अश्वशास्त्र पर भी सोमदेव ने विस्तार से प्रकाश डाला है। राजाश्व के वर्णन में केवल एक प्रसंग में ही पर्याप्त जानकारी दे दी है। रैवत और शालिहोत्र अश्वशास्त्र विशेषज्ञ माने जाते थे। सोमदेव ने अश्व के इकतालीस गुणों की परीक्षा करना अपेक्षित बताया है। यशस्तिलक में इन सभी गुणों के विषय में पर्याप्त जानकारी दी गयी है। अश्वशास्त्र के साथ तुलना करने पर यह सामग्री और भी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होती है।

रत्नपरीक्षा में शुकनास का उल्लेख है। वैद्यक या आयुर्वेद में काशिराज धन्वन्तरि, चारायण, निमि, धिषण तथा चरक का उल्लेख है। रोग और उनकी परिचर्या नामक परिच्छेद में इनके विषय में विशेष जानकारी दी है।

ससर्ग विद्या या नाट्यशास्त्र, चित्रकला तथा शिल्प-शास्त्र विषयक सामग्री भी यशस्तिलक में पर्याप्त और महत्त्वपूर्ण है। ललितकलाये और शिल्प विज्ञान नामक तीसरे अध्याय में इस सामग्री का विवेचन किया गया है।

कामशास्त्र को सोमदेव ने कन्तुमिद्धान्त कहा है। यशस्तिलक में इसकी सामग्री यत्र तत्र बिखरी है। भोगावलि राजस्तुति को कहते थे।

काव्य और कवियों में सोमदेव ने अपने पूर्ववर्ती अनेक महाकवियों का उल्लेख किया है। उवं, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमण्ड, कण्ठ, गुणादय, व्यास, भास, बोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ तथा राजशेखर का एक साथ एक ही प्रसंग में उल्लेख है। सोमदेव द्वारा उल्लिखित ग्रहिल, नीलपट, त्रिदश, कोहल, गणपति, शकर, कुमुद तथा केकट के विषय में अभी हमें विशेष जानकारी नहीं उपलब्ध होती। वररुचि का भी एक पद्य उद्धृत किया गया है।

दार्शनिक और पौराणिक शिक्षा और साहित्य की तो यशस्तिलक खान है। प्रो० हन्दिकी ने इस सामग्री का विस्तार से विवेचन किया है, हमने इसकी पुनरावृत्ति नहीं की।

परिच्छेद ग्यारह में आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। सोमदेव ने कृषि, वाणिज्य, सार्थवाह, नौ सन्तरण और विदेशी व्यापार, विनिमय के साधन, न्याय आदि के विषय में पर्याप्त सामग्री दी है। काली जमीन विशेष उपजाऊ होती है। सुलभ जल, सहज प्राप्य श्रमिक, कृषि के उपयोगी उपकरण, कृषि की विशेष जानकारी तथा उचित कर कृषि की समृद्धि में कारण होते हैं। तभी वसुन्धरा पृथ्वी चिन्तामणि की तरह शस्य सम्पत्ति लुटाती है।

वाणिज्य में सोमदेव ने स्थानीय तथा विदेशी व्यापार

का उल्लेख किया है। स्थानीय व्यापारके लिए प्रायः एक चीज का अलग-अलग बाजार या हाट होता था। बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र पेण्ठास्थान कहलाते थे। देश-देश के व्यापारी आकर इन पेण्ठास्थानों में अपना रोजगार करते थे। पेण्ठास्थानों का संचालन राज्य की ओर से होता था या किसी विशेष व्यक्ति द्वारा। इनमें व्यापारियों को हर तरह की सुविधा दी जाती थी। मध्ययुग में जो व्यापारिक प्रगति हुई उसमें इन मंडियों का विशेष हाथ था।

भारतवर्ष में व्यापार करने के लिए जिम प्रकार विदेशी सार्थ आते थे उसी प्रकार भारतीय सार्थ टाडा बाधकर विदेशी व्यापार के लिए निकलते थे। सोमदेव ने ताम्रलिपि तथा सुवर्णद्वीप के व्यापार को जाने वाले सार्थों का उल्लेख किया है।

सोमदेव के युग में वस्तु विनिमय तथा मुद्रा के मध्यम से विनिमय की प्रणाली थी। पिछड़े क्षेत्रों में वस्तु विनिमय चलता था। मुद्राओं में सोमदेव ने निष्क, कार्षापण तथा सुमन का उल्लेख किया है। निष्क वैदिक युग में एक स्वर्णभूषण था, किन्तु बाद में एक नियत स्वर्ण मुद्रा बन गया। मनुस्मृति में निष्क को चार-सुवर्ण या तीन सौ बीस रत्ती के बराबर कहा गया है। कार्षापण चादी का सिक्का था। मनुस्मृति में इसे १ जन पुगण और धारण कहा है। पुराण का वजन बत्तीस रत्ती होता था कार्षापण की फुटकर खरीज भी होती थी। सुवर्ण निष्क की तरह एक सोने का सिक्का था। अनगढ़ सोने को हिरण्य कहते थे और जब उसी के सिक्के ढाल लिए जाते तो वे सुवर्ण कहलाते थे। मनुस्मृति के अनुसार सुवर्ण का वजन अस्सी रत्ती या सोलह माषा होता था।

सोमदेव ने न्यास या धरोहर रखने का भी उल्लेख किया है। आचार, व्यवहार तथा विश्वास के लिए विश्रुत व्यक्ति के यहां न्यास रखा जाता था। यदि न्यास रखने वाले की नियत खराब हो जाये और वह समझ ले कि न्यास धर्ता के पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं, जिसके आधार पर वह कह सके कि उसने अमुक वस्तु उसके पास न्यास रखा है, तो वह न्यास को हड़प जाता था।

भूति या सेवावृत्ति के विषय में लोगों की भावना अच्छी नहीं थी। विवश होकर आजीविका के लिए सेवा-

वृत्ति स्वीकार भले ही कर ली जाये, किन्तु उसे अच्छा नहीं माना जाता था।

ग्यारहवें परिच्छेद में इस सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन है।

परिच्छेद बारह में यशस्तिलक में उल्लिखित शस्त्रास्त्रों का विवेचन है। सोमदेव ने छत्तीस प्रकार के शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनसे अधिकांश शस्त्रास्त्रों का स्वरूप उनके प्रयोग करने के तरीके तथा कतिपय अन्य बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। धनुष, असिधनुका, कर्तरी, कटार, कृपाण, खड्ग, कौक्षेयक, या करवाल, तरवारि, भुसुडी, मडलाग्र, असिपत्र, अशनि, अकुश, कणय, पशु या कुठार, प्रास, कुन्त, सिन्दिपाल, करपत्र, गदा, दुम्फांट या मूसल, मुद्गर, परिध, दण्ड पट्टिस, चक्र, भ्रमिल, यष्टि, लांगल, शक्ति, त्रिशूल, शकु, पाश, वागुरा, क्षेपणिहस्त तथा गोल-धर के विषय में इस परिच्छेद में पर्याप्त जानकारी दी गयी है।

तृतीय अध्याय में सब चार परिच्छेद हैं। इनमें ललित कलाओं तथा शिल्प विज्ञान विषयक सामग्री का विवेचन है। परिच्छेद एक में संगीत, वाद्ययन्त्र तथा नृत्यकला का विवेचन है। सोमदेव ने यशोधर को गीतगन्धर्वचक्रवर्ती कहा है। यशोधर का हस्तिपक, जिसकी ओर महारानी आकृष्ट हुई, संगीत में माहिर था। संगीत और म्बरलहरी का अनन्य सवध है। सोमदेव ने सप्त स्वरों का उल्लेख किया है।

वाद्य यन्त्रों में यशस्तिलक के उल्लेख विशेष महत्त्व के हैं। वाद्यों के लिए सम्मिलित शब्द आनोद्य या। संगीतशास्त्र की तरह सोमदेव ने भी वाद्यों के घन, मुषिर, तत और अवनद्ध, ये चार भेद बताये हैं। सोमदेव ने तेईस वाद्य यन्त्रों की जानकारी दी है। शंख, काहला, दुदुभि, पुष्कर, ठक्का, आनक, भम्भा ताल, करटा, त्रिविला, डमरुक, रंजा, घटा, वेणु, वीणा, भल्लरी, वल्लकी, पणव, मृदंग, भेरी, पटह और डिण्डिम, इन सभी के विषय में यशस्तिलक की सामग्री से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। संगीतशास्त्र के अन्य ग्रन्थों के तुलनात्मक

अध्ययन के आधार पर इन वाद्य यन्त्रों का इस परिच्छेद में पूरा परिचय दिया गया है।

नृत्यकला विषयक सामग्री भी यशस्तिलक में पर्याप्त है। सोमदेव ने लिखा है कि सम्राट् यशोधर नाट्यशाला में जाकर कुशल अभिनेताओं के साथ अभिनय देखते थे। नाट्य प्रारंभ होने के पूर्व रंगपूजा की जाती थी। सोमदेव ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

यशस्तिलक में नृत्य के लिए नृत्य, नृत्त, नाट्य लास्य, ताण्डव तथा विधि शब्द आये हैं। नृत्य, नृत्त और नाट्य देखने में समानार्थक शब्द लगते हैं, किन्तु वास्तव में इनमें पर्याप्त अन्तर था। दशरूपक में घनजय ने इनके पारस्परिक भेदों को स्पष्ट किया है। नाट्य दृश्य होता है, इस लिए इसे 'रूप' भी कहते हैं और रूपक अलंकार की तरह आरोप होने के कारण रूपक भी। काव्यों में वर्णित धीरोद्धत आदि प्रकृति के नायकों, नायिकाओं तथा पात्रों का आंगिक, वाचिक आहार्य तथा सात्विक अभिनयों द्वारा अवस्थानुकरण नाट्य कहलाता है। यह रसाश्रित होता है। नृत्य भावाश्रित और केल दृश्य होता है। ताल और लय के आश्रित किए जाने वाले नर्तन को नृत्त कहते हैं। इसमें अभिनय का सर्वथा अभाव रहता है। लास्य और ताण्डव नृत्त के ही भेद हैं। इस परिच्छेद में इस सम्पूर्ण सामग्री का विशद विवेचन किया गया है।

परिच्छेद दो में यशस्तिलक की चित्रकला विषयक सामग्री का विवेचन है। सोमदेव ने विभिन्न प्रकार के भित्ति चित्रों तथा घूलि चित्रों का उल्लेख किया है। प्रजापति प्रोक्त चित्र कर्म का सदर्थ विशेष महत्त्व का है। उसका एक पद्य भी उद्धृत किया गया है।

भित्तिचित्र बनाने की एक विशेष प्रक्रिया थी। भित्ति चित्र बनाने के लिए भीत का पलस्तर या उपलेप कंसा होना चाहिए, उसे कंसे बनाना चाहिए, उस पर लिखाई करने के लिए जमीन कैसे तैयार करना चाहिए—इत्यादि का मानसोल्लास में विस्तृत वर्णन है। सोमदेव ने दो प्रकार के भित्ति चित्रों का उल्लेख किया है—व्यक्ति चित्र और प्रतीक चित्र। एक जिनालय में बाहूबलि, प्रद्युम्न, सुपाश्वर्, अशोक राजा और रोहिणी रानी तथा

यक्ष मिथुन के चित्र बनाये गये थे। प्रतीक चित्रों में तीर्थंकरों की माता के सोलह स्वप्नों के चित्र थे। श्वेताम्बर साहित्य में इनकी सख्या चौदह बताई गई है। ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, लटकती हुई पुष्प मालाये, चन्द्र-सूर्य, मत्स्ययुगल, पूर्ण कुम्भ, पद्मसरोवर, सिंहासन, समुद्र, फणयुक्त सपें, प्रज्वलित अग्नि, रत्नों का ढेर और देव विमान ये सोलह स्वप्न तीर्थंकर की माता बालक के गर्भ में जाने के पहले देखती हैं। प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी इनका चित्राकन मिलता है।

रगावली या घूलिचित्रों का सामदेव ने छह बार उल्लेख किया है। चित्रकला में रगावली का क्षणिक चित्र कहते हैं। इसके घूलिचित्र और रसाचित्र दो भेद हैं। आजकल इसे रंगीली या अल्पना कहा जाता है। प्रत्येक मांगलिक अवसर पर रंगीली बनाना का प्रचलन भारतवर्ष में अभी भी है।

प्रजापति प्रोक्त चित्रकर्म का एक विशेष प्रसंग में उल्लेख है। पद्य का तात्पर्य है कि जो कलाकार प्रभा मण्डल युक्त तथा नव भक्तियों सहित तीर्थंकर का चित्र बना सकता है वह सम्पूर्ण पृथ्वी का भी चित्र बना सकता है।

चित्रकला के अन्य उल्लेखों में ध्वजाओं पर बने चित्र, दीवालों पर बने सिंह तथा गवाक्षों से भाकती हुई कामिनियों के उल्लेख हैं। इस परिच्छेद में इस सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

परिच्छेद तीन में यशस्तिलक की वास्तुशिल्प विषयक सामग्री का विवेचन किया गया है। सोमदेव ने विभिन्न प्रकार के शिखर युक्त चैत्यालय, गमनचुबी महाभागभवन, त्रिभुवन-त्रिलोकनामक राजप्रासाद, लक्ष्मीविलासतामरस नामक आस्थानमण्डप, श्री सरस्वती विलास कमलाकर नामक राजमन्दिर, दिग्विलयविलोकनविलास नामक क्रीड़ा प्रासाद, करिविनोदविलोकनदोहद नामक वासभवन, गृह-दीर्घिका, प्रमदभवन तथा यन्त्रधारागृह का विस्तृत वर्णन किया है।

चैत्यालयों के शिखरों ने सोमदेव का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। सोमदेव ने लिखा है कि शिखर क्या थे

मानो निर्माण कला के प्रतीक थे। शिखरो की अटनि पर सिंह निर्माण किया जाता था। मणिमुकुर युक्त ध्वज स्तंभ और स्तंभिकायें, सचित्र ध्वज दण्ड, रत्नजटित काचन कलश, चद्रकान्त के बने प्रणाल, उज्ज्वल आमला-सार कलश और उन पर खेलती हुई कलहस श्रेणी विटको पर बैठे शुक शावक, इन सबके कारण शिखर और अधिक आकर्षण का केन्द्र बन रहे थे। सोमदेव की इस सामग्री को वास्तुसार, प्रासादमंडन तथा अपराजित पृच्छा की तुलना पूर्वक स्पष्ट किया गया है।

त्रिभुवनतिलक प्रासाद के वर्णन में सोमदेव ने प्राचीन वास्तु शिल्प की अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सूर्य और अग्नि मन्दिर की तरह इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, चन्द्र आदि के भी मन्दिरों का निर्माण किया जाता था।

आस्थान मंडप को सोमदेव ने लक्ष्मीविलास नाम दिया है। गुजरात के बड़ौदा आदि स्थानों में विलास नामान्तक भवनों की परंपरा अब तक सुरक्षित है। मुगल वास्तु में जिसे दरवारे आम कहा जाता था, उसी के लिए प्राचीन नाम आस्थान मंडप था सोमदेव ने इसका विस्तृत वर्णन किया है।

आस्थानमंडप के ही निकट गज और अश्वशालाएँ बनाई जाती थी। राजभवन के निकट इन शालाओं के बनाने की परंपरा भी प्राचीन थी। राजा को प्रातः गज-दर्शन शुभ बताया गया है, यह इसका एक बड़ा कारण प्रतीत होता है। फतेहपुर सीकरी के प्राचीन महलो में इस प्रकार की वास्तु का दर्शन अब भी देखा जाता है।

सरस्वती विलास कमलाकर सम्राट् का निजी वास-भवन था। क्रीडा पर्वतक की तलहटी में बनाये गये दिग्ब-लयविलोकन प्रासाद में सम्राट् अवकाश के क्षणों को आनन्दपूर्वक बिताते थे। कारिविनोदविलोकनदोहद आज-कल के स्पोर्ट्स-स्टेडियम के सदृश था। मसिजविलासहस-तिवासतामरस नामक भवन पटरानी का अन्तःपुर था। यह सप्ततलप्रासाद का सबसे ऊपरी भाग था। इसके वर्णन में सोमदेव ने बहुमूल्य और प्रचुर सामग्री की जानकारी दी है। रजतवातायन, अमलक देहली, जातरूपभित्तिर्या,

मरकतपरागनिर्मित रगावलि, सचरणशील हेमकन्यकाये, तुहिननरु के बलीक, कूर्चस्थान इत्यादि का विश्लेषण किया गया है।

दीधिका और प्रमदवन के विषय में भी सोमदेव ने पर्याप्त जानकारी दी है। दीधिका राजभवन में एक और से दूसरी ओर दौड़ती हुई वह लम्बी नहर थी, जिसे बीच-बीच में रोककर, पुष्करणी, गंधोदक कूप, क्रीडा वापी आदि मनोरंजन के माधन बना लिए जाते थे और अन्त में जाकर दीधिका प्रमदवन को सींचती थी। दीधिका तथा प्रमदवन दोनों के प्राचीन वास्तु-शिल्प की यह विशेषता बहुत समय तक जारी रही और भारत के बाहर भी इनके उल्लेख मिलते हैं। इस परिच्छेद में इस सबके विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है।

परिच्छेद चार में यन्त्रशिल्प विषयक सामग्री का विवेचन है। यन्त्रधारागृह के प्रसंग में सोमदेव ने अनेक प्रकार के यान्त्रिक उपादानों का उल्लेख किया है। कुछ सामग्री अन्य प्रसंगों में भी आयी है।

यन्त्रधारागृह के निर्माण की परंपरा का क्रमशः विकास हुआ है। ममरागण सूत्रधार में पाँच प्रकार के वाग्गृहों के उल्लेख हैं। सोमदेव ने यन्त्रधारागृह का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ यन्त्रजलधर या माया-मेघ की रचना की गई थी। विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों के मुँह से निकलता हुआ जल दिखाया गया था। यन्त्रपुत्तलिकाएँ, यन्त्रवृक्ष आदि की रचना की गयी थी। यन्त्रधारागृह का प्रमुख आकर्षण यन्त्रस्त्री थी, जिसके हाथ छूने पर नाखाओं से, स्तन छूने पर चूचुको से, कपोल छूने पर नेत्रों से, सिर छूने पर नाभि से चन्दन चर्चित जल की धाराएँ बहने लगती थी। सोमदेव ने पखा भलने वाली ताम्बूलवाहिनी यान्त्रिकपुत्तलिकाओं का भी उल्लेख किया है अन्तःपुर के प्रसंग में यन्त्रपर्यंक का उल्लेख है। इस परिच्छेद में इस सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में यशस्तिलककालीन भूगोल पर प्रकाश डाला गया है। यशस्तिलक में सैतालीस जनपद, चालीस नगर और ग्राम, पाँच वृहत्तर भारत के देश, पंद्रह बन

और पर्वत तथा बारह भील और नदियों के उल्लेख है। इसमें कुछ सामग्री ऐसी भी है जो सोमदेव के युग में अस्तित्व में नहीं थी। ऐसी सामग्री को सोमदेव ने परम्परा में प्राप्त किया था। मैंने इस सम्पूर्ण सामग्री का पाच परिच्छेदों में विवेचन किया है।

पहले परिच्छेद में यशस्तिलक में उल्लिखित सेनालीम जनपदों का परिचय है। अश्वनि, अश्वमेध, अश्व, अश्वकच्छ, कम्बोज, कर्णाट या कर्णाटक, कर्णाट कलिंग, कथकैशिक, काची, काशी, कीर, कुरुजागल, कुन्तल, केरल, कोग, कौशल, गिरिकूटपत्तन, चेदि, चेरम, चोल, जनपद, डहाल, दशार्ण, प्रयाग, पल्लव, पाचाल, पाण्डु या पाण्ड्य, भोज बर्बर, मद्र, मनय, मगध, यौधेय, लम्पाक, लाट, वनवामि, बग या बगाल, बगी, श्रीचन्द, श्रीमाल, मिन्धु, सूरसेन, सीराट्ट, यवन तथा हिमालय इन सेनालीम जनपदों में से यशस्तिलक में कई एक का एक बार और अधिकांश का एक से अधिक बार उल्लेख हुआ है। इस परिच्छेद में इनका परिचय दिया गया है।

परिच्छेद दो में यशस्तिलक उल्लिखित चालीस नगर और ग्रामों का परिचय है। अहिच्छत्र, अयोध्या, उज्जयिनी, एकचक्रपुर, एकानसी, कनकगिरि, कर्काहि, काकन्दी, काम्पित्य, कुशाग्रपुर, किल्लरगोह, कुसुमपुर, कौशाम्बी, चम्पा, चुकार, ताम्रालप्ति, पञ्चावतीपुर, पद्मनिसेट, पाटलिपुत्र, पौदनपुर, पौरव, बलबाहनपुर, भावपुर, भूमि-तिलकपुर, उत्तर मथुरा, दक्षिण मथुरा या मदुरा, मायापुरी, मिथिलापुर, माहिष्मती राजपुर, राजगृह, बल्लभी, वाराणसी, विजयपुर, हस्तिनापुर, हमपुर, स्वस्तिमति, सोपारपुर, श्रीसागर या श्रीसागरम्, सिंहपुर तथा शङ्खपुर, इन चालीस नगर और ग्रामों के विषय में यशस्तिलक में जानकारी आयी है। इस परिच्छेद में इनका परिचय दिया गया है।

परिच्छेद तीन में यशस्तिलक में उल्लिखित बृहत्तर भारतवर्ष के पाच देश—नेपाल, सिंहल, सुवर्णद्वीप, विजय, धं, तथा कुलूत का परिचय दिया गया है।

परिच्छेद चार में यशस्तिलक में उल्लिखित पद्म वन और पर्वतों का परिचय है। सोमदेव ने कालिदासकानन, कलास, गन्धमादन, नाभिगिरी, नेपालशैल, प्रागङ्गि, भीम-

वन, मन्दर, मलय, मुनिमनोहरमेखला, विन्ध्य, शिखण्डि-ताण्डव, सुवेला, मेतुबन्ध और हिमालय का उल्लेख किया है। इन सबके विषय में इस परिच्छेद में जानकारी दी गई है।

परिच्छेद पाच में यशस्तिलक में उल्लिखित सरोवर तथा नदियों का परिचय दिया गया है। सोमदेव ने मानस या मानसरोवर झील तथा गंगा, यमुना नर्मदा, जलवा-हिनी, गोदावरी, चन्द्रभागा, सरस्वती, सरयू, लोणा, सिन्धु और सिन्धु नदी का उल्लेख किया है। इस परिच्छेद में इनके बारे में जानकारी प्रस्तुत की गयी है।

पञ्चम अध्याय यशस्तिलक की शब्द सम्पत्ति विषयक है। यशस्तिलक संस्कृत के प्राचीन, अप्रामिद, अप्रचलित तथा नवीन शब्दों का एक विशिष्ट कोश है। सोमदेव ने प्रयत्नपूर्वक ऐसे अनेक शब्दों का यशस्तिलक में संग्रह किया है। वैदिक काल के बाद जिन शब्दों का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया था जो शब्दकोश ग्रन्थों में तो आये हैं, किन्तु जिनका प्रयोग साहित्य में नहीं हुआ या नहीं के बराबर हुआ, जो शब्द केवल व्याकरण ग्रन्थों में सीमित थे तथा जिन शब्दों का प्रयोग किसी विशेष विषयों के ग्रन्थों में ही देखा जाता था, ऐसे अनेक शब्दों का संग्रह यशस्तिलक में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त यशस्तिलक में ऐसे भी अनेक शब्द हैं, जिनका संस्कृत साहित्य में अन्यत्र प्रयोग नहीं मिलता। बहुत से शब्दों का तो अर्थ और ध्वनि के आधार पर सोमदेव ने स्वयं निर्माण किया है। लगता है सोमदेव ने वैदिक, पौराणिक, दार्शनिक, व्याकरण, कोश, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वशास्त्र, गज-शास्त्र, ज्योतिष तथा साहित्यिक ग्रन्थों से चुनकर विशिष्ट शब्दों की पृथक्-पृथक् सूची बना ली थी और यशस्तिलक में यथास्थान उनका उपयोग करते गये। यशस्तिलक की शब्द सम्पत्ति के विषय में सोमदेव ने स्वयं लिखा है कि “काल के कराल ने जिन शब्दों को चाट डाला उनका मैं उद्धार कर रहा हूँ। शास्त्र-समुद्र के तल में डूबे हुए शब्द-रत्नों को निकालकर मैंने जिस बहुमूल्य आभूषण का निर्माण किया है, उसे सरस्वती देवी धारण करें।”

प्रस्तुत प्रबन्ध में मैंने ऐसे लगभग एक सहस्र शब्द

दिये हैं। आठ सौ शब्द इस उध्याय में हैं तथा दो सौ से भी अधिक शब्द अन्य अध्यायों में यथास्थान दिये हैं। इस अध्याय में शब्दों को वैदिक, पौराणिक, दार्शनिक आदि श्रेणियों में वर्गीकृत न करके अकारादि क्रम से प्रस्तुत किया गया है। शब्दों पर मैंने तीन प्रकार से विचार किया है—१. कुछ शब्द ऐसे हैं, जिन पर विशेष प्रकाश डालना उपयुक्त लगा। ऐसे शब्दों का मूल सदर्थ अर्थ तथा आवश्यक टिप्पणी दी गई है। २. सोमदेव के प्रयोग के आधार पर जिन शब्दों के अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ता है, उन शब्दों के पूरे सदर्थ दे दिये हैं। ३. जिन शब्दों का केवल अर्थ देना पर्याप्त लगा, उनका सदर्थ संकेत तथा अर्थ दिया है।

शब्दों पर विचार करने का आधार श्रीदेव कृत टिप्पण तथा श्रुतसागर की अपूर्ण संस्कृत टीका तो रहे ही हैं, प्राचीन शब्द काश तथा मानियर विलियम्स और प्रो० आप्टे के कोशों का भी उपयोग किया है। स्वयं सोमदेव का प्रयोग भी प्रसंगानुसार शब्दों के अर्थ को खोलता चलता है। श्लिष्ट, क्लिष्ट, अप्रचलित तथा नवीन शब्दों के कारण यशस्तिलक दुरूह अवश्य लगता है, किन्तु यदि सावधानो-पूर्वक इसका सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो क्रम क्रम से यशस्तिलक के वर्णन स्वयं ही आगे पीछे के सदर्थों को स्पष्ट करते चलने हैं। इस प्रकार यशस्तिलक की कुंजी यशस्तिलक में ही निहित है। सोमदेव की इस बहुमूल्य सामग्री का उपयोग भविष्य में कोश ग्रन्थों में किया जाना चाहिए।

इस तरह उपर्युक्त पांच अध्यायों के पच्चीस परिच्छेदों में प्रस्तुत प्रबन्ध पूर्ण होता है।

सोमदेव के समग्र अध्ययन के लिए इस समय जो सब

प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य अपेक्षित है, वह है सोमदेव के दोनों उपलब्ध ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण तैयार करने का। ऐसे संस्करण जिनमें इन ग्रन्थों से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री का उपयोग किया गया हो। अपने अनुसन्धान काल में मुझे निरन्तर इसकी तीव्र अनुभूति होती रही है। अभी तक दोनों ग्रन्थों के जो संस्करण निकले हैं, वे अशुद्धि पुज तो हैं ही, अनेक दृष्टियों से अपूर्ण और अवैज्ञानिक भी हैं। इसके अतिरिक्त उनको प्रकाशित हुए भी इतना समय बीत गया कि बाजार में एक भी प्रति उपलब्ध नहीं होती।

यशस्तिलक का एक ऐसा संस्करण मैं स्वयं तैयार कर रहा हूँ, जिसमें श्रीदेव के प्राचीन टिप्पण, श्रुतसागर की संस्कृत टीका तथा आधुनिक अनुसन्धानों का तो पूर्ण उपयोग किया ही जायगा, हिन्दी अनुवाद और सांस्कृतिक भाष्य भी साथ में रहेगा। इस संस्करण के स्वरूप की माध्याग्न परिकल्पना इस प्रकार है—

- १ यशस्तिलक का मूल शुद्ध पाठ
(प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर)
२. श्रुतसागर की संस्कृत टीका।
- ३ मूल का हिन्दी अनुवाद।
४. सांस्कृतिक भाष्य।
- ५-६. प्रस्तावना में यशस्तिलक की सम्पूर्ण उपलब्धियों का सर्वेक्षण तथा परिशिष्ट में यशस्तिलक का विशाल शब्दकोश।

नीतिवाक्यामृत के संपादन का कार्य पटना के श्री श्रीधर वामदेव मौहानी ने करने की रुचि दिखायी है। आशा है वे इसे अवश्य करेंगे। यदि किन्हीं कारणोंवश न कर पाये, तो यशस्तिलक के बाद इसे भी मैं पूरा करूँगा। ●

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें छाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और अंन भुक्त की प्रभावना में अज्ञा रक्षक वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह अंन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

सोनागिरि सिद्धक्षेत्र और तत्सम्बन्धी साहित्य

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम. ए. (त्रय). पी-एच. डी.

सोनागिरि सिद्धक्षेत्र के श्रमणगिरि, स्वर्णगिरि, स्वर्णाचल, कनकाचल, कनकगिरि एवं कनकपर्वत आदि नाम भी मिलते हैं। 'निर्वाणकाण्ड' में स्वर्णगिरि से नग और अनग-कुमार के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख आया है। जैन इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० प० नाथराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर राजगृह पञ्चपर्वतो में श्रमणगिरि को नग, अनगकुमार का निर्वाणस्थल सिद्ध किया है, साथ ही उन्होंने जैन एवं बौद्ध वाङ्मय के आधार पर राजगृह के ऋषिगिरि का नामान्तर श्रवण या श्रमणगिरि को माना है। प्रेमीजीका सोनागिरि के सिद्धक्षेत्र होने में अशका थी ही, पर उन्हें इसकी प्राचीनता में भी सन्देह था। उनके निबन्ध का अध्ययन करने से यह धारणा उत्पन्न होती है कि सोनागिरि का प्रचार सिद्धक्षेत्र के रूप १७वीं शती के पश्चात् हुआ है। उन्होंने स्वर्णाचल-माहात्म्य के प्रकाशित होने पर लिखा है—“ऐसा मालूम होता है कि यह सब कगमात सौरीपुर या बटेश्वर के भट्टारक जिनेन्द्रभूषण (विश्वभूषण के शिष्य और ब्रह्म हर्षनागर के पुत्र) की है, जिन्होंने अठेर निकासी दाक्षित देवदत्त से यह १६ सर्गों का संस्कृत काव्य वि० सं० १८४५ में बनवाया और उन्होंने ही इसे सबसे पहले सिद्धक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध किया।”

१ अगाणगकुमारा विक्खा-पचद्ध-कोडि-रिससहिया।

मुवण्णगिरि-मत्थयत्थे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥

—निर्वाणकाण्ड (गाथा)

नग अनग कुमार सुजान, पाँच कोडि अस अर्घ प्रमान।

मुक्ति गये सोनागिरि-शीश, ते वदी त्रिभुवनपति ईस ॥

—निर्वाणकाण्ड (भाषा)

२ जैनसाहित्य और इतिहास, हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण पृ० ४३६

३ वही, पृ० ४३६

प्रेमीजी के उक्त कथन को निराधार कहना तो अनुचित है; पर यह पुनः विचारणीय अवश्य है। सोनागिरि के सम्बन्ध में जो उल्लेख उपलब्ध हैं, उनसे उसकी निर्वाण भूमि के रूप में १५वीं शती या इससे पूर्व की मान्यता सिद्ध होती है। वहाँ के मूर्तिलेख १३वीं शती के उपलब्ध हैं, अतः इस क्षेत्र की प्रतिष्ठा इसके पूर्व ही हो चुकी होगी। १५वीं शती के अपभ्रंश भाषा के विद्वान् कवि रघु ने 'रिट्टणेमिचरिउ' की प्रशस्ति में सोनागिरि का उल्लेख किया। बताया है—

‘कमलकित्ति उत्तमखम-धारउ,

भव्वह भव-अंबोणिहि-तारउ।

तस्स पट्ट ‘कणर्याह’ परिट्टउ,

सिरि ‘सुहचंद’ सु-तव-उक्कंठिउ” ॥

अर्थात्—भण्य जीवो को ससार समुद्र से पार करने वाले उत्तम क्षमा के धारक कमलकीर्ति हुए। इनके पट्टधर शम्भुचन्द्र का कनकगिरि—सोनागिरि पर अभिषेक हुआ था। महाकवि रघु ने कमलकीर्ति का निर्देश इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में किया है।

जंदऊ सूरि सुगुर ‘सुहचंदो’,

‘कमलकित्ति-पट्ट’बर चंदो ॥

कमलकीर्ति और उनके पट्टधर शिष्य शुभचन्द्र का का निर्देश वि० सं० १५०६; १५१०; १५३० और १६३६ के अभिलेखों में उपलब्ध होता है। कमलकीर्ति काष्ठासघी माथुरगच्छ और पुष्करगण के भट्टारक हेमकीर्ति के शिष्य थे। यथा—

संवत् १५०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्ले काष्ठासंघे श्रीकमलकीर्ति देवाः तदाम्नाये सा० थिरु स्त्री भानदे पुत्र

४ जैनग्रंथ-प्रशस्तिसंग्रह द्वितीय भाग, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली पृ० ८८

सा० जयमाल जाल्हण ते प्रणमति महाराज पुत्र गोशल^१ ।

+ + + + +

सं० १५१० वर्षे माघ सुदि ८ सोमे काष्ठासघे भ०
कमलकीर्तिदेव अग्रोत्कान्वये गर्गगोत्रे तारन भा० देन्ही पुत्र
सदय भा० वार पुत्र भेमचन्द प्रणमति^१ ।

+ + + + +

संवत् १५३० वर्षे माघ सुदि ११ शुक्ले श्रीगोपाचल-
दुर्गे महाराजा श्रीकीर्तिसिधदेव काष्ठासघे माथुरगच्छे
पुष्करगणे भ० श्रीहेमकीर्ति तत्पट्टे भ० कमलकीर्ति तत्पट्टे
भ० शुभचन्द्र तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये गर्गगोत्रे सं०^१....।

+ + + + +

सं० १६३६ वैशाख वदि ८ चन्द्रवासरे श्रीकाष्ठासघे
माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० कमलकीर्ति देवाः तत्पट्टे भ०
श्रीशुभचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० यश सेनदेवाः तदाम्नाये^१.... ।

उपर्युक्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि हेमकीर्ति के पट्ट पर
कमलकीर्ति, कमलकीर्ति के पट्ट पर शुभचन्द्र और शुभ-
चन्द्र के पट्ट पर यश सेनदेव आसीन हुए । भट्टारक कमल-
कीर्ति ने तत्त्वसार टीका की रचना की है । इस टीका में
जो प्रशस्ति अंकित की गई है, उसमें संघ, गण, गच्छ वे
ही हैं, जो पूर्वोक्त अभिलेखों में अंकित हैं । यहाँ कमल-
कीर्ति को भट्टारक क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और सयमकीर्ति
की परम्परा में कमलकीर्ति का शिष्य लिखा गया है^१ ।

१ भट्टारक सम्प्रदाय, जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर,
वि० २०१४ लेख संख्या ५६०

२ वही, लेख संख्या ५६२

३ वही, लेख संख्या ५६३

४ वही, लेख संख्या ५६५

५ श्रीमन्माथुरगच्छ पुष्करगणे श्रीकाष्ठसघे मुनिः,
सम्भूतो यतिसिध नायकमणिः श्रीक्षेमकीर्तिर्महान् ।
तत्पट्टाम्बरचन्द्रमा गुणगणी श्रीहेमकीर्तिर्गुरुः,
श्रीमत्सयमकीर्तिपूरितादिशापूरो गरीयानभूत् ॥१॥
अभवदमलकीर्तिस्तत्पट्टाद्भोजभानुर्मुनगणनुत-
कीर्तिविश्वविख्यातकीर्तिः ।

शम-यम-दम-भूतिः खडगरातिकीर्ति-

जंगतिकमलकीर्तिः प्राथितज्ञानभूतिः ॥२॥

— जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह प्रथमभाग, बीरसेवा
मन्दिर, पृ० १२३-१२४

एक अन्य अभिलेख से भी कमलकीर्ति का भट्टारक
हेमकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होना सिद्ध होता है ।

सं० १५०६ जेठ सुदि ... शुक्ले श्रीचन्द्रपाटदुर्गे पुरे
चौहानवशे राजाधिराज श्रीरामचन्द्रदेव युवराज श्रीप्रताप-
चन्द्रदेवराज्यवर्तमाने श्रीकाष्ठासघे मथुरान्वये पुष्करगणे
आचार्य श्रीहेमकीर्तिदेव तत्पट्टे भ० श्रीकमलकीर्तिदेव ।
पं० आचार्य रङ्गू नामवेय^१.... ।

अतएव स्पष्ट है कि सोनागिरि क्षेत्र की भट्टारक परं-
परा में कमलकीर्ति और शुभचन्द्र के नाम इतिहास की
दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । यह क्षेत्र वि० सं० १५०० के पूर्व
सिद्धक्षेत्र के रूप में मान्य था, तब शुभचन्द्र का कनकयष्टि
—कनकाद्रि—पर अभिषेक हुआ । शुभचन्द्र के पश्चात्
सोनागिरि के साथ भट्टारक यशस्सेन का संबंध रहा है ।
इन यशस्सेन द्वारा प्रतिष्ठापित एक दशलक्षणयन्त्र वि०
सं० १६३६ का प्राप्य है^१ ।

कमलकीर्ति भट्टारक के दो शिष्य थे—शुभचन्द्र और
कुमारसेन । सोनागिरि क्षेत्र का अधिकार शुभचन्द्र की
शिष्यपरम्परा के अधीन रहा है । अतः वि० सं० की १७वीं
शताब्दी के मध्य तक माथुरगच्छ और पुष्करगण के
भट्टारक यहाँ की गद्दी के अधिकारी रहे । सत्रहवीं शती के
उत्तरार्द्ध में यह क्षेत्र कुछ दिनों तक बलात्कार गण की
अटेर शाखा के भट्टारकों द्वारा उपयुक्त हुआ । अभिलेखों
के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि भट्टारक विश्व-
भूषण के समय तक गोपाचल, वटेश्वर और सोनागिरि ये
तीनों ही स्थान एक ही भट्टारक परम्परा के अधीन रहे ।
एक स्थान का भट्टारक ही तीनों स्थानों की देखभाल करता
था । सोनागिरि क्षेत्र मूलतः बलात्कारगण के भट्टारकों का
था, अतः विश्वभूषण से पश्चात् यहाँ की गद्दी पर स्वतन्त्र
रूप से भट्टारक अभिषिक्त होने लगे । इस परम्परा में
देवेन्द्रभूषण, जिनेन्द्रभूषण, नरेन्द्रभूषण एवं चन्द्रभूषण
प्रभृति के नाम उपलब्ध होते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि भट्टारकों के सम्बन्धों का अध्ययन
करने से सोनागिरि क्षेत्र की मन्थता १५वीं शती से पूर्व

६ प्राचीन जैनलेखसंग्रह, सम्पादक बाबू कामताप्रसाद ।

७ भट्टारक-सम्प्रदाय, सोलापुर, पृ० २२६ (लेखाङ्क ५६५)

की उपलब्ध होती है। अतः प्रेमीजी ने जो वि० सं० १८४२ के बाद सिद्धक्षेत्र के रूप में मान्य होने का अनुमान किया था, वह समीचीन नहीं है। पूर्वोक्त विचार विनिमय से इस क्षेत्र की प्रसिद्धि का समय १५वीं शती तक पहुँच जाता है।

सोनागिरि क्षेत्र पर संकलित प्राचीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी इस क्षेत्र की प्राचीनता सिद्ध करती हैं। यहाँ काण्ठासंधी चन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक अमरकीर्ति द्वारा विरचित 'णेमिणाहचरित' की प्रति प्राप्य है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० १२४४ भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी है। सोनागिरि भण्डार में उपलब्ध प्रति का लेखनकाल वि० सं० १५१२ है।

पण्डित आशाधरजी ने स्वोपज्ञ सहस्रनाम की रचना की है। इस ग्रन्थ पर श्रुतसागर सूरि ने वि० सं० १५७० में संस्कृतटीका लिखी है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी यहाँ के ग्रन्थागार में प्राप्य है।

प्रतिमालेख

प्रतिमालेखों से भी इस क्षेत्र की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ का मुख्य मन्दिर चन्द्रप्रभ स्वामी का है। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार वि० सं० १८८३ में मथुरा के सेठ लखमीचन्द द्वारा सम्पन्न हुआ है। इस मन्दिर में जीर्ण मन्दिर के शिलालेख का साराश ग्रहण कर हिन्दी में पद्यबद्ध अभिलेख अंकित किया गया है। यथा—

मन्दिर सह राजतभये, चन्द्रनाथ जिनईस ।

पोगसुदी पूनम दिना, तीन सतक पेंतीस ॥

मूलसंघ अर गण करो (हो), बलात्कार समुदाय ।

श्रवणसेन अर दूसरे, कनकसेन दुइ भाय ॥

बीजक अक्षर बाँचके, कियो मुनिश्चय राय ।

और लिख्यो तो बहुत सौ. सो नहिं परधो लखाय^१ ॥

इस अभिलेख में संवत् ३३५ पौष शुक्ला पूर्णिमा का

१ जैनग्रन्थ प्रगस्तिसग्रह, द्वितीय भाग, वीरसेवा मन्दिर, पृ० ६६ प्रस्तावना

२ जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण पृ० ४३५

उल्लेख आया है तथा मूलसंघ बलात्कार गण के श्रवणसेन और कनकसेन नामक दो भाइयों का भी निर्देश किया है। विक्रम सं० ३३५ तो अशुद्ध है; क्योंकि बलात्कार गण का अस्तित्व दशमी शती के पूर्व के वाङ्मय में नहीं मिलता है। इस गण का सबसे प्राचीन अभिलेख ई० सन् १०७५ का उपलब्ध है^१। अतः स्वर्गीय प्रेमीजी ने वि० सं० १३३५ का अनुमान किया था, पर कालगणना करने पर यह सवत् भी अशुद्ध प्रतीत होता है। हमारा अनुमान है कि “तीन सतक पेंतीस” पाठ अशुद्ध है और इसके स्थान पर “एक सहस्र पेंतीस” होना चाहिए। उक्त पाठ में “दिना” शब्द भी विचारणीय है। ज्योतिष में ‘दिन’ शब्द दो अर्थों में उपलब्ध होता है—दिवस और रविवार। भारतीय परम्परा में सप्ताह का प्रथम दिन रविवार को माना गया है, अतः कालगणना प्रसंग में ‘दिन’ रविवार का अर्थ बोध करता है। यतः प्रथम वारेश ‘रवि’ है, जिससे सामान्यतः वारेश के आधार पर ‘दिन’ रविवार के अर्थ में व्यवहृत है। इस प्रकार अभिलेख से वि० सं० १०३५ पौष शुक्ला पूर्णिमा रविवार को जीर्ण मन्दिर के निर्माण किये जाने का फलितार्थ निकलता है। कालगणना करने पर वि० सं० १०३५ में पौष पूर्णिमा भी रविवार को पड़ती है, अतः चन्द्रप्रभ स्वामी का प्राचीन मन्दिर वि० १०३५ में निर्मित हुआ है। चन्द्रप्रभ स्वामी की प्रतिमा का स्थापत्य भी मध्यकालीन है, इस प्रकार की मूर्तियाँ खजुराहो के कालावशेषों में भी उपलब्ध हैं। अतएव मुख्य मन्दिर का निर्माण विक्रम की ११वीं शती में हुआ होगा।

सोनागिरि क्षेत्र में अन्य प्राचीन मूर्तिलेख भी उपलब्ध हैं। यहाँ १६ सख्यक मन्दिर राजाखेड़ा (धौलपुर) के जैसवाल समाज का है। इस मन्दिर में निम्नलिखित दो प्राचीन अभिलेख पाये जाते हैं :—१ सवत् १२१३ गोला-

१ स्वस्तिश्री चित्रकूटाम्नायदावलि मालवद शान्तिनाथदेव सम्बन्ध श्रीबलात्कार-गण मुनिचन्द्र-सिद्धान्त-देवर शिसिनु अनन्तकीर्ति-देवर हेगडे केसव-देवङ्गे धारा-पूर्वक माडि कोटेवु प्रतिष्ठे पुण्य सान्ति ।—जैन शिलालेख सग्रह द्वितीय भाग, २०८ सख्यक। यह अभिलेख बलगांम्बे में चन्नबसवप्प के खेत में एक भग्नमूर्ति पर उपलब्ध हुआ है।

पल्लीवसे सा० साबू सोढो, साधू श्री लल्लूभार्या जिणा,
तयो सुत साबू दील्हा भार्या पल्हासस जिननाथं सविनयं
प्रणमन्ति ।

+ + + +

२ सवत् १६४३ वर्षे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बला-
त्कारगणे (श्री) चारुणदीदेव तदन्वये श्री गोल्लाराडान्वये
सा० नावे भार्या केवल एक पुत्र नगउ गोल्लासुत सेठ
चल्लाती नित्य प्रणमन्ति ।

मूर्तिलेखो के अतिरिक्त इस मन्दिर मे दो-तीन अन्य
प्रतिमाएँ भी ११-१२वीं शती की कलासूचक है । मध्य-
कालीन पाषाण, स्थापत्य एवं अङ्गोपाङ्ग की आकृति
'नागर' शैली की है । अन्य एकाध मन्दिर में भी प्राचीन
प्रतिमाएँ विराजमान हैं ।

नौची पहाड़ी पर निर्मित मन्दिरों का स्थापत्य मुगल-
कला से प्रभावित है । यहाँ के गुम्बजों का आकार-प्रकार
एवं कोणाकार तोरण मुसलमानी कला के अनुरूप है ।
प्रायः सभी मन्दिर सौ-दा-सौ वर्ष से प्राचीन प्रतीत नहीं
होते ।

सोनागिरि क्षेत्र सम्बन्धी साहित्य

सोनागिरि क्षेत्र के सम्बन्ध मे कई पूजापाठ एवं माहा-
त्म्य सूचक रचनाएँ उपलब्ध होती है । भट्टारक जगद्भूषण
के शिष्य भट्टारक विश्वभूषण ने वि. सं० १७२२ के
लगभग "सर्व त्रैलोक्य जिनालय जयमाला" नामक एक
लघुकाव्य ग्रन्थ रचा है । इसमे सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्र
और अतिशयक्षेत्रों का विवेचन किया गया है । भट्टारक
विश्वभूषण सोनागिरि के भट्टारक थे, अतः इन्होंने अपने
उक्त ग्रन्थ का सोनागिरि की वन्दना से किया है :—

सोनागिरि बुंदेलखंडे, आयातो चन्द्रप्रभञ्जडे ।

पंचकोडि रेवा बहमानं, रावनसूनु मोक्ष शिवजाणं । ३२

+ + + + +

मूलसंघ शारदेवरगच्छे बलात्कार कुन्वान्वय हंसै ॥ ६६

जगताभूषण पट्टदिनेशं, विश्वभूषण महिमा जु गणेशं ।

लाडभय्य उपदेश सुरचिता, सद्बचने जयमाल सचीता ॥ ६७

सोनागिरि पच्चीसी ऐतिहासिक रचना है, इसमे
सोनागिरि क्षेत्र का सक्षिप्त इतिवृत्त वर्णित है । कवि

भगीरथ ने वि० सं० १८६१ मे ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी
को इसे पूर्ण किया है । इस कृति में क्षेत्र के मुख्य मन्दिर
परिक्रमा एवं अन्य मन्दिरों का वर्णन किया है । उन दिनों
में इस क्षेत्र पर कार्तिक सुदि पूर्णिमा को मेला लगता था ।
कवि ने इस मेले का सजीव चित्रण किया है । यथा—

मेला है जहा कौ कार्तिक सुव पूनी को,

हाट हू बजार नाना भाँति जुरि आए हैं ।

भावधर वंदन को पूजन जिनेद्र काज,

पाप मूल निकदन को दूर हू सं धाए हैं ॥

गोठ जेउनारे पुनि दान देह नानाविध,

सुगं पंथ जाइवे कौ पूरन पद पाए हैं ।

कोजिए सहाय पाइ आए हैं भगीरथ,

गुरुन के प्रताप 'सोनागिरी' के गुण गाए हैं ॥

कृति के रचनाकाल का निर्देश करते हुए बताया गया
है—

जेठ सुदी चौदस भली, जा दिन रची बनाय ।

संवत् अष्टादस इकिसठ, संवत लेउ गिनाइ ॥

पढ़ें सुनं जो भाव धर, ओरे बेइ सुनाइ ।

मनवांछित फल कौ लिए, सो पूरन पद को पाइ ॥

इस पच्चीसी मे कवि ने क्षेत्र के मन्दिरों का भी
सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है । क्षेत्र की वन्दना से
अन्तरात्मा पावन हो जाती है और कर्म-कालुष्य नष्ट
हो जाता है । भावपूर्वक वन्दना करने से विशुद्धता और
पवित्रता के साथ मनोकामनाएँ भी पूर्ण होती है । क्रोध,
मान, माया और लोभ रूप कषाय क्षीण होती है तथा
ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति की समृद्धि होने से परमानन्द की उप-
लब्धि होती है । कवि ने विवरणात्मक परिचय के साथ
क्षेत्र का आन्तरिक महत्त्व भी अंकित किया है । सिद्धक्षेत्र
के रूप मे मूल्याङ्कन उपस्थित करते हुए तीर्थवन्दना को
कर्मनिजरा का हेतु प्रतिपादित किया है ।

'स्वर्णाचलमाहात्म्यम्' संस्कृत काव्य की रचना कान्य-
कुब्ज ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न देवदत्त दीक्षित ने की है ।
ये भदौरिया राजाओं के राज्य मे स्थित अट्टेर नामक नगर
के निवासी थे । इन्होंने भट्टारक जिनेन्द्रभूषण की आज्ञा
से 'स्वर्णाचलमाहात्म्य' और सम्पेदशिखर माहात्म्य इन
दोनों ग्रन्थों की रचना की है । इस ग्रन्थ मे यौधेय देश के

श्रीपुर नगर के राजा आरेंजय के पुत्र नंग और अनंग कुमार की कथा वर्णित है। बताया गया है कि उस समय मालवदेश के अरिष्टपुर नगर में धनञ्जय नाम का राजा राज्य करता था। इस राजा के राज्य पर तेलग देश के राजा अमृतविजय ने अकारण ही आक्रमण किया। धनञ्जय ने माण्डलिक राजा अरिञ्जय को अपने सहायतार्थ आमन्त्रित किया। अरिञ्जय के दोनो पुत्र नंग और अनंग-कुमार ससैन्य अरिञ्जय की सहायता करने के हेतु अरिष्टपुर पहुँचे और युद्ध में उन्होंने अमृतविजय को परास्त कर दिया तथा उसे बन्दी बना लिया गया। बन्दी बन जाने से अमृतविजय के मन में अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई और उनका मन विरक्ति से भर गया। इसी समय अरिष्टपुर में चन्द्रप्रभ भगवान् का समवशरण आया। भगवान् की दिव्यध्वनि प्रवाहित हुई। उनके उपदेश को सुनकर धनञ्जय, नंग, अनंग आदि विरक्त हो गये और सभी ने जिन दीक्षा ग्रहण की। इस सन्दर्भ में कवि ने चन्द्रप्रभ भगवान् के मुख से अमृतविजय और धनञ्जय की शत्रुता के कारण का वर्णन पूर्वभव की घटनाओं के कथन द्वारा निदिष्ट किया है। अपनी पूर्वभवावलि के श्रवण से ही धनञ्जय को वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ।

तदनन्तर भगवान् चन्द्रप्रभ का समवशरण विहार करता हुआ स्वर्णाचल पर पहुँचा। यहाँ बत्तीस लाख वर्ष तक भव्यजीवों को कल्याणमार्ग का वे उपदेश देते रहे।

अनन्तर आठवे अध्याय से कथा दूसरी मुड़ती है। उज्जयिनी के राजा श्रीदत्त और रानी विजया के काँई पुत्र नहीं था। राजा-रानी पुत्राभाव के कारण चिन्तित रहते थे। सौभाग्यवश वहाँ आदिगत और प्रभागत नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज पधारे। उन्होंने राजा-रानी को सोनागिरि की यात्रा विधिपूर्वक करने का उपदेश दिया। राजा ने सोनागिरि की यात्रा के लिए सघ निकाला तथा विधिपूर्वक ससघ उस पुण्य भूमि की वदना की। इसके फलस्वरूप राजा-रानी के सुवर्णभद्र नामका पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। वयस्क होने पर सुवर्णभद्र का विवाह सम्पन्न हुआ। कालान्तर में नंग, अनंगकुमार मुनिराज उज्जयिनी पधारे। उनके उपदेश से श्रीदत्त ने दीक्षा ग्रहण कर ली और स्वर्णाचल पर जाकर तप करने लगा। नंग

और अनंगकुमार के स्वर्णाचल से मुक्ति गमन के समाचार को सुनकर सुवर्णभद्र ने सोनागिरि क्षेत्र के लिए यात्रा सघ निकाला और वहाँ जाकर दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चरण करने के उपरान्त उन्होंने पञ्च सहस्र मुनियो सहित मोक्षपद प्राप्त किया।

सोनागिरि तीर्थक्षेत्र की यात्रा करने से सभी प्रकार की लौकिक इच्छाएं पूर्ण होती है। कवि ने बताया है—

यस्यां कृतायां भावेन संसारे पुत्रकामिनाम् ।
सत्पुत्र लाभस्तद्वाद्धि धनलाभो धर्माथिनाम् ॥
धर्मार्थिनां धर्मलाभः कामलाभस्तुकामिनाम् ।
मुमुक्षूणां मोक्षलाभो बहुनोक्तेन किं बुधाः ॥
ईदृक् पदार्थो नैवास्ति यस्य लाभो न वै भवेत् ।
वदमानाः पूजयंतो ये स्वर्णाचलमुत्तमम् ॥

—स्वर्णाचलमाहात्म्यम्, १६।२४-२६

सोनागिरि क्षेत्र की वन्दना करने से पुत्रार्थी को सत्पुत्र लाभ, धन के इच्छुको को धन लाभ; धर्माथियो धर्मलाभ एवं कामाथियो की कामना की पूर्ति होती है। अधिक क्या, इस पावन क्षेत्र का वन्दन करने से मुमुक्षुओं को मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव है। विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो स्वर्णाचल की वन्दना और पूजा करने वालों को प्राप्त न हो सके। जो भक्तिभाव पूर्वक इस क्षेत्र का पूजन-वन्दन करता है, उसकी पूजा प्रतिष्ठा देवों द्वारा होती है।

कवि ने इसी अध्याय में स्वर्णाचल की यात्रा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए इस क्षेत्र का पूजन-वन्दन को बत्तीस करोड़ प्रोषधोपवास का फलदायक लिखा है। यथा—

यः श्रीस्वर्णाचलस्यात्र यात्रामिष्ट प्रदायिनीम् ।
पापघ्नीं तथा पुण्यवर्द्धिनीं भव्यसत्कृताम् ॥
कुर्याद् भावेन संयुक्तो द्वात्रिंशत्कोटिसम्मितः ।
यत्फलं प्राप्यते भव्यव्रतैः प्रोषधनामभिः ।
प्राप्नुयाद्विह संसारे तद्वदेव विनिश्चयम् ।
तस्मादवश्यमस्यात्र यात्रा कार्या विचक्षणैः ॥

—स्वर्णाचलमाहात्म्यम् १६।१२-१४

इस प्रकार कवि देवदत्त ने सोनागिरि क्षेत्र की यात्रा

का विस्तारपूर्वक महत्त्व प्रतिपादित किया है। नंग और अनंगकुमार का पुण्यचरित भी इसी काव्य में पाया जाता है, अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं।

‘सोनागिरि’ क्षेत्र के तीन पूजा ग्रन्थ उपलब्ध है। सस्कृत भाषा में कवि आशा द्वारा विरचित आठ पत्रों की यह पूजा है। पूजा में रचनाकाल का निर्देश नहीं है, पर भाषा शैली के आधार पर इसे सत्रहवीं शती की रचना मानी जा सकती है।

हिन्दी भाषा में इस क्षेत्र की तीन पूजा प्रतियों का निर्देश मिलता है। रचयिताओं के नाम इन पूजा प्रतियों में अंकित नहीं हैं और न रचनाकाल का ही स्पष्ट निर्देश है। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची चतुर्थभाग में ग्रन्थसंख्या ५५२१ और ५८६५ में उक्त पूजाओं की सूचना दी गई है। ५८६५ संख्या के गुटके में पावागिरि और सोनागिरि की इन दोनों ही क्षेत्रों की पूजा निबद्ध है।

उपसंहार

सोनागिरि क्षेत्र निर्वाणभूमि है, इसका प्रचार पन्द्रहवीं शती से व्यापक रूप में है। यो यहाँ पर ११-१२वीं शती

में मन्दिरों का निर्वाण हो चुका था। चन्द्रप्रभ स्वामी का समवशरण लाखों वर्षों तक यहाँ रहा, अतः प्रधान मन्दिर चन्द्रप्रभ भगवान् का रहना तर्कसंगत है। नंग और अनंग-कुमार का सम्बन्ध सोनागिरि के साथ अवश्य है, अतएव इसके सिद्धक्षेत्र होने में आशंका नहीं है। यहाँ का मेरु-मन्दिर, जो कि चक्की के आकार का होने के कारण चक्की वाला मन्दिर कहलाता है, बहुत आकर्षक है। पर्वत के ऊपर का नारियलकुण्ड एवं बजनीशिला यात्रियों के लिए विशेष रुचिकर है। पर्वत पर कुल ७७ मन्दिर और नीचे अठारह मन्दिर हैं। अधिकांश मन्दिर विक्रम संवत् की अठारहवीं और १९वीं शती के ही बने हुए हैं। इस क्षेत्र की विशेषता इस बात में है कि यहाँ धार्मिक वातावरण के साथ प्रकृति का रमणीय रूप भी परिलक्षित होता है। कलकल निनाद करते हुए, भरने एवं हरित मखमल की आभा प्रकट करती हुई दूर्वा भावुक हृदयकोल्हज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

हम क्षेत्र के अधिकारियों से इतना नम्र निवेदन भी कर देना अपना कर्तव्य समझे हैं कि वे वहाँ के मूर्तिलेख एवं ग्रन्थ प्रशस्तियों को प्रामाणिक रूप में प्रकाशित करा देने की व्यवस्था करें, जिससे इस पुण्यभूमि का इतिहास लिखा जा सके।

—:०:—

क्या कभी किसी का गर्व स्थिर रहा है ?

रे चेतन ! तू किस किस पर गर्व कर रहा है, ससार में कभी किसी का गर्व स्थिर नहीं रहा। जिसने किया उसी का पतन हुआ। फिर पामर ! तेरा गर्व कैसे स्थिर रह सकता है। अहंकार क्षण में नष्ट हो जाता है। जब सांसारिक पदार्थ ही सुस्थिर नहीं रहते, तब गर्व की स्थिरता कैसे रह सकती है ? सो विचार, अहंकार का परित्याग ही श्रेयस्कर है। इस सम्बन्ध में कविवर भगवतीदास ओसवाल का निम्न पद्य विचारणीय है :—

धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करं, ये तो छिन मांहि जांहि पौन परसत ही ।

संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग, दीपक पतंग जैसैं काल गरसत ही ॥

सुपने में भूप जैसैं इन्द्र धनुरूप जैसैं, ओस बूंद धूप जैसैं दुरं दरसत ही ।

ऐसोई भरम सब कर्मजाल वर्गणा को, तामें मूढ मन होय मरं तरसत ही ॥

मानव जातियों का देवीकरण

साध्वी श्री संघमित्रा

जैनागमों में उल्लेख है कि भगवान महावीर की मंगलमयी वाणी सुनने के लिए चार प्रकार के देव उपस्थित होते थे^१।

(१) भवन पति, (२) वाणव्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक ये देव कौन थे ? उनकी क्या महत्ता थी ? क्या सस्कृति थी ? कहाँ रहते थे ? आज यह प्रश्न बहुत ही मीमांसनीय बन गए हैं। भिन्न-भिन्न परम्पराओं में देव शब्द से भिन्न-भिन्न बोध होता है। वैदिक दर्शन के व्याख्याता ऋग्वेद और पुराण इन दोनों के देव भी एक नहीं हैं। ऋग्वेद में देव शब्द (Natural Powers) का प्रतीक है। उन्होंने सूर्य, चन्द्र, मरुत्, वरुण, अग्नि आदि की संचालित शक्तियों को देव रूप में स्वीकार किया है। ऋग्वेद के देवों में मानवीय सम्बन्ध नहीं होते थे। यद्यपि ऋग्वेद की प्रार्थना में ऐसा गाया जाता है कि यम और यमी सूर्य की सन्तान हैं। दोनों परस्पर भाई-बहिन हैं। यम दिन है और यमी रात। एक बार यमी वैवाहिक सम्बन्ध की याचना करती है लेकिन यम भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध को सुरक्षित रखना चाहता है अतः वह इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। इस पवित्र सम्बन्ध को युग-युग तक सुदृढ़ रखने के लिए यम और यमी कभी नहीं मिलते, यम आता है तब यमी चली जाती है और यमी आती है तब यम भाग जाता है। यही रात-दिवस का क्रम युग-युग से चला आ रहा है। दोनों का आज तक कभी मिलन नहीं हुआ। ऋग्वेद में देव विषयक इसी प्रकार के सारे कल्पित सम्बन्ध हैं।

पौराणिक देवों में मानवीय सम्बन्ध जुड़ जाते हैं। उनका परिवार होता है। सन्तानें होती हैं। जन्म मरण को धारण करते हैं। तथा वरदान और अभिशाप देने में

भी सक्षम होते हैं। जैन परम्परा के अनुसार देव शब्द से उन प्राणियों का बोध होता है जिनका निवास स्थान इस धरती पर नहीं है। जो या तो इस लोक से सहस्रों मील ऊँचे रहते हैं या सहस्रों मील नीचे, जहाँ मानव की पहुँच किसी भी प्रकार से नहीं है। उन देवों का शरीर सूक्ष्म परमाणुओं से बना होता है। वे समय-समय पर चाहे जैसा रूप परिवर्तित करने में सक्षम होते हैं। उनके शरीर में अस्थि, मांस और रक्त जैसा कोई तत्त्व नहीं होता। इसलिए वे सदा युवा बने रहते हैं, बहुत ही ऋद्धि सम्पन्न प्राणी होते हैं उन्हें इस धरती की दूर से ही गंध आती है।

भगवान महावीर की परिपद में उपस्थित होने वाले क्या ये ही देव थे ? इस प्रश्न के सदर्भ में हमें कुछ चिन्तन करना है।

जैन दृष्टि से देवों के क्रम में सबसे पहले भवनपति आते हैं इनके दस प्रकार हैं।

(१) असुर, (२) नाग, (३) विद्युत्, (४) सुपर्ण, (५) अग्नि, (६) वायु, (७) स्तनित, (८) उदधि, (९) द्वीप, (१०) दिग्।

इन दसों में असुर कुमार का स्थान सर्व प्रथम है। असुर कुमार की चर्चा वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों परम्पराओं में रही है। इतिहास के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि किसी समय यहाँ पर तीन मुख्य जातियाँ निवास करती थी। देव, असुर और मानव^२। बाल्मीकि रामायण में आया है कि देव, असुर और मनुष्य इन तीनों जातियों के हथियारों को चलाने में राम बहुत ही निपुण थे^३।

३. जीवाभिगम देवताधिकार।

४. औपपातिक अध्याय १

५. देवासुर मनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः।

सम्यग् विद्या व्रत स्नातो-यथावत्साङ्ग वेदवित् ॥३४॥

वा० रा० आयोध्याकाण्ड सर्ग २,

१. औपपातिक अध्याय १

२. The Sphiny Speakes Ch. IV P. 27.

मनु की सन्तान मानव, दिति की सन्तान दैत्य, (असुर) और अदिति की सन्तान देव जाति में प्रविष्ट हुई। यह अदिति कौन है? महर्षि यास्क ने निघण्टु में पृथ्वी के २१ नाम गिनाए हैं उसमें एक नाम अदिति भी पृथ्वी का नाम है। अदिति को देव माता भी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि देव जाति को जन्म देने का सौभाग्य इस पृथ्वी को मिला। पौराणिक अभिमत यह है कि दिति और अदिति काश्यप की पत्नियाँ थीं। अदिति से देव और दिति से दैत्य (असुर) पैदा हुए। ये परस्पर सौतेले भाई थे इसलिए बार-बार युद्ध हुआ करते थे। प्रत्येक शब्द का समय के साथ उत्कर्ष और अपकर्ष होता है। असुर शब्द आज अभद्र अर्थ में प्रयुक्त होता है पर उस समय सर्वत्र ऐसा नहीं था। असुर वे थे जो सुरा नहीं पीते थे। नशा नहीं करने थे। सुरा नहीं पीने के कारण ही उनका नाम असुर पड़ा था। इससे लगता है यह बहुत ही सभ्य जाति थी इसमें खान-पान का उच्चस्तरीय विवेक था। बहुत संभव है कि अनेक प्राणों का संरक्षण करने के कारण भी उन्हें असुर कहा गया हो। असून्-प्राणान् रक्षतीति-असुरः।

पौराणिक साहित्य में देवासुर का संग्राम बहुत ही प्रसिद्ध है। असुर एक बहुत ही बलवान जाति थी। जब देव और असुर का प्रथम संग्राम हुआ तो असुरों ने सुरों को बुरी तरह से हरा दिया था। असुर के गुरु शुक्राचार्य थे उनके पास एक ऐसी विद्या थी कि संग्राम में घायल असुरों को पुनः शीघ्र ही स्वस्थ बना दिया जाता था। असुरों को जीतने का साहस देवों में नहीं था। समुद्र मन्थन के समय देव-असुरों के बीच एक भयंकर संग्राम छिड़ा था। विश्व के इतिहास में यह संग्राम बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इस समय दैत्य सस्कृति एक ओर इंडोनेशिया से अमेरिका तक तथा दूसरी ओर अफ्रीका और इजिप्ट तक फैल गई थी। अभी-अभी इंडोनेशिया में खुदाई होने से दैत्य सस्कृति के बहुत से चिह्न प्राप्त हुए हैं। यह

संग्राम देव और दैत्यों के बीच अमृत को लेकर हुआ था। इस संग्राम में भी असुरों से देव हारने लगे तब विष्णु के पास गए। विष्णु ने दधीचि ऋषि से हथियार मागने की सलाह दी। दधीचि ने अपनी अस्थि का एक टुकड़ा देवों को दिया और विश्वकर्मा ने शस्त्र बनाया। उसी शस्त्र प्रयोग से देवों ने असुरों को पराजित कर दिया था। इस पराजय के बाद असुर पाताल में चले गए।

वैदिक परम्परा और जैन परम्परा दोनों के अनुसार असुरों का निवास स्थान पाताल माना है लेकिन यह पाताल कहाँ था यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हिन्दू पुराण में सात पाताल माने गए हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

जैन दर्शन में बताया है कि धरती के निम्नस्तरीय भाग में पाताल है। इतिहास की दृष्टि से भी पाताल की कल्पना वर्तमान पृथ्वी के निम्नस्तरीय भाग में है। जहाँ आज भी असुर जाति के ध्वसावशेष प्राप्त हैं। धरती का पर्वतीय भाग ऊर्ध्व भाग होता है। तिब्बत, चीन और उसके आस-पास के प्रदेश पर्वतीय भाग पर बसे हुए हैं। तिब्बत को संस्कृत साहित्य में त्रिविष्टप कहा जाता है। त्रिविष्टप नाम स्वर्ग का है। इसे ऊर्ध्वलोक में भी माना है। इससे स्पष्ट होता है कि तिब्बत, चीन और उसके आसपास का भाग ऊर्ध्वलोक में सम्मिलित थे। और यही स्वर्गभूमि थी। यहाँ पर देवसंस्कृति का विकास था। वनवास करते समय ऋषि भारद्वाज ने कहा—चित्रकूट पर्वत पर बहुत से ऋषि सैकड़ों वर्ष तप कर महादेव के साथ स्वर्ग को चले गए थे। आप वही पर निवास करें। विष्णु त्रिविष्टप के अधिपति थे। हिन्दी

१. बा० रा० बालकांड सर्ग ४५ श्लोक ४०

२. भागवत—६ अध्याय ६-१०

३. स्कन्द पुराण—महेश्वर खंड—१ अ० ५० श्लोक २।३।४

४. स्वर्गस्त्रिविष्टप घौदिवौ भुविस्तविषताविषौ नाकः।

गोस्त्रिदिवमूर्ध्वलोकः सुरालयस्तत्सदस्त्वमटाः ॥८७॥

—अभिधान चिन्तामणि देवकाण्ड २

५. ऋषयस्तत्र बहवोविहत्य शरदां शतम्।

तपसादिवमारूढा कपाल शिरसा सह ॥३१॥

—बा० रा० अयोध्या का० सर्ग ५४

१. हिन्दू देव परिवार का विकास खण्ड १ पृ० ५१

२. बा० रा० बालकांड सर्ग ४५ श्लोक ४०

३. बा० रा० बाल का० सर्ग ४५ श्लोक ३८

४. The S. S. Ch. IV P. 31

कोश में त्रिविष्टप को ही बैकुण्ठ कहा^१ गया है। विष्णु यही निवास करते थे। शिव हिमालय की कैलास चोटी पर रहते थे उसी के पास मग्न सरोवर था। देव जाति यहाँ पर ऋषि बनने के लिए आया करती थी। इन्द्र की पुरी अमरावती थी जो वर्तमान में चीन^२ है। ब्रह्मा का निवास स्थान ब्रह्म लोक था जो वर्तमान में वर्मा हो गया^३ है। उदयाचल पर्वत जहाँ सूर्य उदय होता है इसके विषय में वाल्मीकि रामायण में सुग्रीव कहता है— यह स्थान ब्रह्मा ने बनाया था। ब्रह्मलोक और भूलोक में जाने के बीच का द्वार यही था^४। वर्तमान में हिन्दुस्तान की अपेक्षा से सूर्य सर्व प्रथम वर्मा के पर्वत से उदित होता है। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि वर्मा ही पहले ब्रह्मलोक था। आ० चतुरसेन शास्त्री का कथन है— देव श्री नार पर्वत पर रहते थे। श्री नार को आज सीनार कहते हैं। यह पर्वत फारस में^५ है। उर्ध्वलोक की सीमा के बाद सप्तसिन्धु आता है। यहाँ पर मानव जाति निवास करती थी। यह देश सिन्धु और सरस्वती के बीच का प्रदेश था जिसमें सतलज, व्यास, रावी, चिनाब और भेलम आदि सात नदियाँ बहती थी। इसीलिए इसे सप्तसिन्धु कहा गया था। इसमें सारा पंजाब, कश्मीर का दक्षिणी पश्चिमी भाग और अफगानिस्तान का वह भाग आ जाता है। जो कुंभ (काबुल) नदी के पास बसा हुआ है। इसके दक्षिण में जहाँ आज राजस्थान है वहाँ समुद्र था। इसी प्रकार पूर्व दिशा में भी जहाँ आज उत्तर प्रदेश है। वहाँ भी समुद्र था। यह सप्त सिन्धु भाग ही अवेस्ता में 'हप्तहिन्दु' और वर्तमान में हिन्दुस्तान हो गया है। सप्त सिन्धु के पास तेनीस का दरिया आता था जिसका पिछला भाग

नीचे पड़ता था उस भूमि को पाताल मान गया था। पाताल भूमि बहुत विस्तृत थी। असुर जब हार गए तब सुतल, तलातल और महातल में चले गये^६ थे। सुतल बहुत सुन्दर भूमि होने के कारण सुतल कहा गया था। वर्तमान में सुतल इंडोनेशिया में आ गया है। और आज भी वहाँ बलि नाम का द्वीप है जिसका सम्बन्ध असुरों के अधिपति बलि से है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि बलि महाबलिपुर में रहता था जो अभी दक्षिण में है। रसातल पाताल में गन्डवाना खड का उत्तर पश्चिम भाग तुकिस्तान, कास्पियन एरिया, मध्य एशिया और एशिया का कुछ भाग आ जाता है। यहाँ एक रसा नाम की नदी बहती थी जिसका नाम वर्तमान में ओक्सस हो गया है। इस रसा नदी के आघार पर भी इसको रसातल कहा गया था वर्तमान में एशिया इसी रसातल का परिवर्तित रूप हो ऐसा अनुमान होता है। इसी रसातल भाग में दैत्य, गरुड़ और नाग तीनों जातियाँ निवास करती थी^७। रघु ने अश्वमेध यज्ञ के समय अपने घोड़े को रसातल में छिपाया^८ था। युद्ध के समय विष्णु से हार कर मालि सुमानि राक्षस बहुत समय तक रसातल पाताल में ही छिपकर^९ रहे थे। इससे लगता है कि रसातल छुपने के लिए एक बहुत ही गम्भीर स्थान था। अतल और वितल पताल अच्छे भी नहीं थे और खराब भी नहीं थे। यहाँ पर भी राक्षस और बानर जाति निवास करती थी। तलातल, सुतल और महातल के बीच में पड़ता था। महातल में जाने के लिए तलातल को पार करना पड़ता था। महातल पृथ्वी का वह भाग था जहाँ पर सोने और चाँदी की खाने थी। महातल का अपभ्रंश होते-होते मक्षिका और फिर मेक्सिको हो गया है। मेक्सिको वर्तमान में अमरीका की बहुत सुन्दर नगरी^{१०} है।

सातवाँ पाताल बहुत ही दूर और गम्भीर स्थान है। बाढ़ आने से पहले सुमानि के वंशज वहीं रहे थे। इन्हीं

१. The S.S. Ch. IV P. 34

२. वही।

३. The S.S. Ch. XIV P. 139

४. काचनस्य च शैलस्य—सूर्यस्य च महात्मनः।

आविष्टा तेजसा संध्या—पूर्वारक्ता प्रकाशते ॥६४॥

पूर्वमेतत्कृतं द्वारं—पृथिव्या भुवनस्य च।

सूर्योत्थोदयन चैव—पूर्वाह्णे षोऽद्विग्यते ॥६५॥

—बा० रा० किरिकंधा का० सर्ग ४०

५. वयं रक्षाम परिशिष्ट (आ० चतुरसेन शास्त्री)

६. The S.S. Ch. 10 P. 91

७. The S.S. Ch. 10 P. ८६

८. रघुवंश सर्ग १३ श्लोक ८

९. बा० रा० उत्तर बाढ़ सर्ग ३ श्लोक २८, २९, ३०

१०. The S.S. Ch. 10 P. १३

मान पाताल में युद्ध के बाद असुर संस्कृति फैल गई थी हिन्दुस्तान के दक्षिण में तो असुर संस्कृति का बहुत ही विकास हुआ था। इसकी पुष्टि दो तीन बातों से की गई है।

केरलके निवासियों का यह विश्वास है कि बलि उनके राजा थे। अब भी लोग एक सप्ताह के लिए बड़ी धूम धाम से उत्सव मनाते हैं। मैसूर में यह धारणा है कि मणिषासुर वही राज्य करता था।

जैन दर्शन में असुर कुमारों का शारीरिक वर्णन करते हुए बताया है कि उनका रंग महानील मणि के समान नीला था उनके चेहरे पर मणि की सी कान्ति थी उनकी आंखें लाल थी। दात दूध की तरह सफेद और हाथ-पैर के तलवे अग्नि में तपे स्वर्ण की तरह लाल थे। इस शारीरिक वर्णन से अनुमान होता है कि—यह असुर जाति गर्म प्रदेश में रहने वाली बहुत ही स्वस्थ और वीर जाति थी। दक्षिण हिन्दुस्तान बहुत गर्म प्रदेश माना जाता है। वहाँ के निवासियों का वर्ण आज भी श्याम होता है। इन सब बातों से निष्कर्ष यह आता है कि असुर वंश का राज्य दक्षिणी भारत में था। असुर परिवार निश्चय ही बलशाली और सभ्य समुदाय था। आर्य संस्कृतिके विकास में इन समुदायों का महत्वपूर्ण हाथ था। देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती का असुर गुरु शुक्राचार्य से विवाह हुआ था। इससे लगता है कि देवों के साथ इनके वैवाहिक भी सम्बन्ध होते थे।

प्रज्ञापना^१ सूत्र में आया है कि असुरों के शरीर का सहनन बहुत ही सुन्दर होता है यह सहनन शब्द भी उन्हें मानव सिद्ध करता है, क्योंकि सहनन का सम्बन्ध औदारिक शरीर से है। वैक्रिय शरीर धारक देवों के अस्थिरा होती ही नहीं ऐसी जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है। बौद्ध दर्शन में बताया है कि इस दुनियाँ में चार प्रकार के लोग विद्यमान हैं^२।

असुर परिषद सहित असुर

१. हिन्दूदेव परिवार का विकास पृ० १७

२. औपपातिक अ० १

३. प्रज्ञापना सूत्र

४. अगुत्तर निकाय—नि० ४ असुरवर्ग पृ० ६६

देव परिषद सहित असुर

असुर परिषद सहित देव

देव परिषद सहित देव

इनमें जो दुःशील है पापी है वे असुर और जो सुशील है सदाचार परायण है वे देव है।

उक्त कथन में देव और असुर दोनों शब्दों का मान-वीकरण हुआ है।

जो सुशील और सदाचारी है उन्हें देव कहा गया है और जो पापी व दुःशील है उन्हें असुर कहा गया है।

नाग तथा मुपर्ण—

असुर के बाद नाग और मुपर्ण का उल्लेख आता है नाग और मुपर्ण ये दोनों ही यहाँ की प्रसिद्ध जातियाँ थी जो आज भी आसाम की तरफ मिलती है। नागालैंड प्रदेश भी इसी नाग जाति का सूचक है। नागवंश इतिहास के पृष्ठों पर बहुत ही चर्चित रहा है। भगवान^३ महावीर स्वयं नागवंश के थे ऐसा मुनि श्री नथमल जी ने अपने एक निबन्ध में सिद्ध किया है। शिशुनाग वंश ऋष्यभूक पर्वत की रक्षा किया करता था। बिम्बसार के समय शिशुनाग वंश काशी पर राज्य किया करता था। नाग-वंश की अनेक शाखाएँ थी। तक्षक, अहि, वासुकि, पणी, फणी, पन्नग, शेषनाग आदि-आदि। इनमें से कोई जाति कश्मीर में निवास करती थी। शेषनाग और अनन्तनाग के नाम पर आज भी वहाँ तीर्थ स्थान बने हुए हैं। वासुकि जाति का निवास स्थान समरकन्द और मकरन्द देश^४ था। अजि के पूर्वज अहि कहलाते थे। पाणिनी व्याकरण के रचनाकार पाणिनी और आहिक नाम से इसी नागवंश की सूचना मिलती है। आज के युग में गायों के धनी अहीर इसी अहि जाति के वंशज हैं ऐसा उनके नाम से अनुमान होता है।

आज का वणिक् शब्द इस पर्णी शब्द का ही अपभ्रंश हो ऐसा प्रतीत होता है। जाकार्त नदी के किनारे पर सिथियम रहते थे उनको नागोड भी कहा जाता था। पर्णी, नागोड मिलकर पन्नग नाम हो गया था।

१. भगवान महावीर ज्ञान पुत्र थे या नागपुत्र। पृ०

२. The S.S. Ch. IV P. 33

तक्षक जाति की सूचना तक्षशिला विश्वविद्यालय से मिलती है। जनमेजय ने इसी स्थान पर नाग यज्ञ किया था उसमें उसने नागजाति को होम दिया था क्योंकि तक्षक जाति ने जनमेजय के पिता परीक्षित को मार डाला था^१ नाग जाति का गरुड़ जाति से बहुत वैर था। गरुड़ का प्राग्रूप (SU) सु जाति^२ है। इसे सुपर्ण भी कहा जाता है। सुपर्ण और नाग दोनों पड़ोसी थे। इसलिए उनमें स्वाभाविक वैर हो गया था। सुपर्ण जाति (गरुड़) जाकार्त नदी के पूर्व में रहती थी। आज उसे जर्फसन कहा जाता है। तक्षक की मूल जाति टोकारिस^३ थी जो टोकारि स्थान में रहती थी। जिसको आज तुर्किस्तान कहा जाता है। समुद्र मन्थन के समय देव, दैत्य, नाग, कच्छप, गरुड़, गन्धर्व, आदि सभी जातियाँ सम्मिलित थीं। देवासुर संग्राम में इन जातियों ने दैत्यों का साथ दिया था।

विद्युत्कुमार अग्निकुमार आदि कौन थे? इसका ऐतिहासिक और साहित्यिक पृष्ठों में कोई उल्लेख नहीं मिलता अनुमान होता है कि ये किसी जाति के मूल नाम नहीं उपाधिगत नाम हैं। जैसे विद्युत्कुमार उस वर्ग को कहा जाता हो कि जिसके हाथ में विद्युत् सम्बन्धी कार्यों का संचालन हो अग्नि की सामग्री पर शासन करने वाले अग्निकुमार द्वीपों का संरक्षण करने वाले द्वीप कुमार, समुद्रों पर पहरेदारी करने वाले उदधिकुमार दिशाओं पर आधिपत्य रखने वाले दिग् कुमार वायु सम्बन्धी यानों का संचालन करने वाले वायुकुमार और युद्ध के समय साइरन की तरह विशेष यन्त्रों का संचालन करने वाले स्तनित कुमार कहे जाते हों। हो सकता है इन नामों की कोई जातियाँ हो या और भी कोई कारण रहा हो पर यह तो स्पष्ट ही है कि किसी के नामकरण में स्थानीय संस्कृति तथा आसपास के वातावरण का हाथ रहता है। स्थानीय पशु पक्षियों तथा अनेक अत्यन्त प्रसिद्ध वस्तुओं के आधार पर भी अनेक नाम निमित्त होते हैं। इन भवनपति देवों के जितने भी नाम हैं वे सब नाम उन पदार्थों के हैं जिनका

अस्तित्व इस धरती पर है। एक भी नाम ऐसा नहीं है जिनका निशान इस धरती पर नहीं है तथा इन देवों के चिह्न और वाहन भी इस धरती के ही पशु-पक्षी हैं। इस अनुमान के आधार पर इन देवों का धरती के निवासी होना ही अधिक पुष्ट होता है।

व्यन्तर देव—

(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किपुरुष (७) महोरग, (८) गन्धर्व।

इनमें सर्वप्रथम पिशाच है। पिशाच भी यहाँ की एक जाति थी जो कश्मीर की तरफ रहती थी यह जाति कच्चा मांस खाती^४ थी। पंजाबी भाषा प्राकृत की एक महत्वपूर्ण भाषा है। उसका होना ही कितना पुष्ट प्रमाण है कि इसके बोलने वालों के अस्तित्व में सदेह नहीं किया जा सकता है।

भूत—

तिब्बत प्रदेश में भूटान नाम का एक प्रदेश है। आज के इतिहासज्ञ भूटान का भी भूत स्थान से अर्थ बैठते हैं। उनका अभिमत है कि यहाँ एक भूत जाति निवास करती थी इसलिए इस स्थान का नाम भूत स्थान और क्रमशः भूटान हो गया है। वनवास करने समय राम की हित कामना के लिए भूत जाति का स्पष्ट उल्लेख वाल्मीकि रामायण में हुआ^५ है।

यक्ष—

यक्ष भी एक जाति थी जो वृक्ष के नीचे भी अपना घर बना कर रहती थी इसलिए इनका दूसरा नाव वट-वासी भी है। इनको गुफाओं में छिपकर रहने का अभ्यास था इसलिए इनका नाम गुह्यक^६ भी है कालिदास ने अपने

४. राक्षसाना पिशाचाना रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्।

ऋग्वेदानां च सर्वेषां च मा भूतुः क्रूरकर्मणाम् ॥१७॥

—अयोध्या कांड सर्ग २५

५. मयाचिता देवगणाः शिवादयो महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः अभिप्रयातस्य वनचिराय ते हितानि कांक्षन्तु दिशश्च राघवः ॥४३॥

—अयोध्या कांड सर्ग २५

६. यक्षः पुण्यजनो राजा गुह्यको वटवास्यपि ॥

—अभिदान चि० देव कांड २ श्लोक १६४

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ५२३

२. The S.S. Gh. IV P. 33

३. वही

काव्य मेघदूत में यक्ष को प्रमुख पात्र के रूप में स्वीकार किया है। यक्ष का अधिपति कुबेर^१ कैलास की चोटी पर रहता था इसके पास पुष्पक विमान था। यह विमान बहुत तेज गति से दौड़ा करता था। चैत्ररथ नाम का बहून ही सुन्दर वन था। अलका उसकी नगरी थी। घन का स्वामी माना जाता था। शिव का मित्र था। रावण का सौतेला भाई था। मनुष्यों को वाहन भी बनाता^२ था।

एक बार यक्ष और राक्षसों के बीच भयंकर युद्ध छिड़ा। सारी भूमि रक्त पंकिल हो गई आखिर यक्ष हार गए। कुबेर का पुष्पक विमान रावण ने छीन लिया। रावण जब पुष्पक विमान पर चढ़ कर गिरि को पार कर जाने लगा तब विमान रुक गया। नान्दी ने आकर बताया कि यहाँ शिव रहते हैं उनकी इजाजत के बिना देव दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, गरुड, गन्धर्व आदि कोई भी पार नहीं कर सकता। तब वह शिव के पास गया। शिव ने उसे चन्द्रहाम दिया। और उसी दिन से वह शिव का पुजारी हो गया। इस युद्ध के बाद समग्र यक्ष जाति राक्षस जाति के साथ मिल गई।

राक्षस—

राक्षस जाति भी एक बहुत बलवान जाति थी। राक्षस संस्कृति का विस्तार दक्षिण में भी था। राक्षस जाति का सुप्रसिद्ध अधिपति आज रामायण के पाठकों से अविदित नहीं है। दक्षिण के कुछ भाग में आज भी रावण को पूज्य माना जाता है और राम को हेय दृष्टि से समझा जाता है। उनका अभिमत है कि रावण का चरित्र कितना ऊँचा था कि एक नारी की बिना इच्छा के उस पर हाथ तक नहीं उठाया और उसने अपने प्रण पर प्राणों का बलिदान तक कर दिया। जब कि राम अपनी एक नारी की सुरक्षा भी नहीं कर सका। रावण पहले सूर्यवशी था और सूर्य की पूजा किया करता था सूर्यको रा कहा जाता था। रा की पूजा करने के कारण उसका नाम रावण पड़ा था।

१. पोलस्त्यर्वश्रवण रत्नकरा: कुबेर ॥

अभि० चि० दे० का० २ श्लोक १८६

२ यक्षौ नृधर्मधन दौ नर वाहन च० ॥.

—अभि० चि० दे० का० २ श्लोक १८६ ।

यक्ष और राक्षस जाति की उत्पत्ति के विषय में पौराणिक जगतकी यह मान्यता है कि एक बार सब मनुष्य मिल कर ब्रह्मा के पास गए और उन्होंने ब्रह्मा से पूछा हमें क्या करना चाहिए? तभी ब्रह्मा ने कहा—प्राणियों की रक्षा और पूजा करो। जिन्होंने रक्षा का भार लिया वे राक्षस और जिन्होंने पूजा का भार लिया वे यक्ष कहलायें^३।

आज हम यक्ष और राक्षस शब्द को निम्न अर्थ में लेते हैं किन्तु कभी इस धरती पर यक्ष और राक्षस दोनों ही बहुत उच्चस्तरी जाति थी।

किन्नर किंपुरुष—

किन्नर और किंपुरुष भी एक यक्ष जाति थी जो आज भी हिमाचल प्रदेश के उत्तर भाग में मिलती हैं^४। इस जाति के मनुष्यों का मुख छोड़े की तरह लम्बा होता था इसलिए इसे तुरगवदन^५ भी कहा जाता था। एक बार चन्द्र के पुत्र बुध ने अनेक स्त्रियों से घिरी त्रिलोक सुन्दरी को घूमते हुए देखा। वह उसके रूप को देखकर आश्चर्य चकित हो गया। मन ही मन सोचा नागकुमारियों असुर कुमारियों तथा अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर यह स्त्री कौन है। पास जाकर पूछा तो पाया कि यह त्रिलोक सुन्दरी अपने वर को ढूँढ़ रही है। तभी बुध ने पास के पर्वत की ओर संकेत करते हुए कहा, तुम इस स्थान पर कुछ विशेष तप करते हुए निवास करो तुम्हें किंपुरुष जाति के वर^६ मिलेंगे। मन्थरा की बातों से बहक जाने पर कैकयी तीर से वीधी हुई किन्नरी के समान भूमि पर लेट जाती है^७।

महोरग—

उरग भी एक जाति थी। यह नाग वंश की उपशाखा

३. बा० रा० उत्तर कांड सर्ग ४ श्लोक ११-१२-१३-१४

४ The S.S. Ch. ४ P ३०

५. किन्न इस्तु किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः ॥

—अ० चि० दे० कांड सर्ग ८८ श्लो० १३-२३

६. बा० रा० उत्तर कांड सर्ग ८८ श्लो० १३-२३

७ विदशिता यदादेवी-कुब्जया पापया भृशम् ।

तदा शेतेस्म सा भूमौ, दिग्घबिद्धेव किन्नरी ॥१॥

—बा० रा० अयोध्या कांड सर्ग ६

थी वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख है। राम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि सुर, असुर, मानव, गन्धर्व, उरगादि सब प्राणियों में राम का बल, आरोग्य और दीर्घ जीवन विदित है।

गन्धर्व—

गन्धर्व जाति बड़ी चपल और नित्यप्रिय होती थी इनको मजाक करने में बड़ा आनन्द आता था। इनकी जाति में विवाह विशेष पद्धति से होता था। जब इनकी विवाह पद्धति को दूसरो ने अपनाना शुरू किया तब से इस पद्धति का नाम गन्धर्व विवाह पड़ गया। इसकी राजधानी का नाम गन्धार था जो वर्तमान में कन्धार हो गया है। अफगानिस्तान में अफगान लोग हैं उनमें गन्धर्व जाति के चिह्न आज भी मिलते हैं। गन्धर्व जाति के लोग बहुत सुन्दर होते थे। वाल्मीकि रामायण में राम के सौन्दर्य को गन्धर्व जाति से उपमित किया है।

ज्योतिष्क—

ज्योतिष्क देवों में सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह और नक्षत्र भगवान की परिषद में उपस्थित थे। पुराणों की कल्पना है कि सूर्य और चन्द्र कौन थे? आकाश से सूर्य और चन्द्र का घरती पर अवतरण होने की बात बुद्धिगम्य कम होती है। संभव कल्पना यह है कि इस भूमि पर सूर्यवंश और चन्द्रवंश थे।

इतिहास बताता है कि राम सूर्यवंशी और कृष्ण चन्द्रवंशी थे। सूर्यवंश और चन्द्रवंश भी बहुत विस्तृत वंश थे। इनका उद्भव विशेष परिस्थिति को लेकर हुआ था। जो लोग बहुत गर्म प्रदेशों में रहते थे उनके लिए सूर्य का ताप बहुत कष्टदायक था। चन्द्रमा की किरणें उन्हें अमृत के समान प्रतीत होती थीं इसलिए गर्म प्रदेश में रहने वाले लोग चन्द्र की पूजा करने लगे और वे आगे चलकर चन्द्र-

१. बल मारोग्य मायुश्च-रामस्य विदितात्मनः

देवासुर मनुष्येषु-सगन्धर्वोरगेबुध ॥५०॥

—वा० रा० अयोध्या कांड सर्ग २

२. The S S. Ch. IV P. ३२

३. गन्धर्व राजप्रतिमं, लोके विख्यातपौरुषम्।

दीर्घ बाहु महासत्त्व मत्तमातङ्गगामिनम् ॥२८॥

—वा० रा० अयोध्या कांड सर्ग ३

वंशी वन गए। जो लोग शीत प्रदेशों में रहते थे उनको सूर्य का ताप बहुत सुखकारक था। मकान बनाते समय इन्हीं सूर्य के ताप से बहुत जल्दी सूख जाया करती थी इस इसलिए वे सूर्य की पूजा करने लगे और आगे चलकर सूर्यवंशी हो गए। सूर्यवंशी लोग बड़े कठोर हृदय के होते थे। चन्द्रवंशी चन्द्रमा की शीतलता ग्रहण कर सौम्य स्वभाव में रहने का अभ्यास करते थे। सूर्यवंशी लोग मृतात्मा के साथ आदमी और पशु को भी गाड़ते थे। मानव की बलि भी उनमें निहित थी। चन्द्रवंशी लोग ऐसा नहीं किया करते थे। सूर्यवंशी लोग बहुत कलाकार थे उन्होंने बहुत विशाल भवन बनाये।

मिश्र के पिरामिड इन सूर्यवंशियों से निमित्त है। वैरुथ के उत्तर-पश्चिम भाग में एक मन्दिर है जिसके आगन का एक पत्थर १२ टन का है। चन्द्रवंशी अधिक कलाकार नहीं थे। वे वर्षों तक भोपड़ियों में ही रहते थे। ये दोनों संस्कृतियाँ बाहर से आई और भारत पर छा गई। पहले ये दोनों संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न थी और बाद में दोनों एक हो गई। इनकी संस्कृति का विकास अमेरिका तक फैल गया था। वनवास जाते समय कौशल्या राम से कहती है कि सूर्य, चन्द्र, शुक्र, कुबेर और यम तुम्हारी रक्षा करें। यहाँ कुबेर और यम व्यक्ति विशेष के साथ सूर्य चन्द्र का उल्लेख किसी व्यक्ति या जाति का ही संभवतः संकेत करता है।

१२ प्रकार के वैमानिक देव सबसे अन्त में आए। सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मा लान्तक, शुक्र, महस्त्रारज, आनतज, प्राणतज, आरणज, अच्युतज।

इनमें से किसी भी जाति का उल्लेख इतिहास के प्रकाश में नहीं है पर यह तो स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त चार प्रकार के देवों में से अधिकांश यहाँ की जातियाँ प्रमाणित हो चुकी हैं तो फिर क्या कारण अन्य भी घरती पर निवास करनेवाली जातियाँ नहीं थी। इनको इनकार करने में तो एक भी पुष्ट प्रमाण नहीं है

४. शुक्र सौमन्व सूर्याश्च, धनदोऽयं यमस्तथा।

यान् त्वामाचिता राम दण्डकारण्य वासिनम् ॥२३॥

—वा० रा० अयोध्या का० सर्ग २५

प्रत्युत उनको स्वीकार करने में जैनागमों में कुछ ऐसे आनुमानिक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। औपपातिक सूत्र में इन देवों के अग्र प्रत्यग, गति आदि का स्पष्ट विवेचन हुआ है पर यह वर्णन कहीं नहीं आया कि देव आए और उनके पैर धरती से चार अंगुल ऊपर थे तथा उनकी पलके झपकार नहीं रही थी जब कि जैन सिद्धान्त यह मानता है कि वैक्रिय शरीर धारक देवों के पैर धरती से चार अंगुल ऊपर रहने हैं और आँखें भी झपकारा नहीं करती। इन चार प्रकार के देवों के आभूषण तथा मुकुटों के विशेष चिह्नों का वर्णन करते हुए बताया कि इनके कान में कुण्डल था। शरीर में चन्दन का लेप लगाया हुआ था। भीने वस्त्र पहने हुए थे। दसों अंगुलियों में अष्टाठियाँ पहनी हुई थी। मणि रत्नों से जटित भुजाओं पर भुजबन्ध थे, कर्णपीठ थे। मस्तक से लेकर नीचे तक पुष्प मालाएँ पहनी हुई थी। देश-देश की वेशभूषाएँ थी। नागफण, गरुड़, वज्र, पुष्प, सिंह, अश्व, हाथी, मृग, सर्प, वृषभ, नलवार, मेंढक, चम्पक आदि चिह्नों से उनके मुकुट चिह्नित थे। अब देखना यह है कि इन आभूषणों में से कौन से आभूषण ऐसे हैं जिनका उपयोग यहाँ की मानव जाति नहीं करती थी। भगवान को वन्दन करने जाते समय महाराज कोणिक ने भी इसी प्रकार के आभूषण धारण किये हुए थे।

इन देवों के मुकुटों में जो पशु-पक्षियों के चिह्न हैं वे सब के सब पशु-पक्षी इस धरती के ही हैं। कोई भी ऐसे पशु-पक्षी का चिह्न नहीं है जो इस धरती के अतिरिक्त स्थान के हो। देश काल की दूरी में अखण्डित एकरूपता नहीं होती। पाँच महाद्वीपों के भी सब के सब पशु-पक्षी एक नहीं होते और न सब प्रकार के आभूषणों में भी एक रूपता होती है तो फिर क्या कारण है कि एक अद्भुत दुनियाँ में रहनेवाले प्राणियों की मानव जाति से एकरूपता थी। यही प्रश्न बस हमें यहाँ की जाति विशेष मानने को विवश कर देता है।

पौराणिक साहित्य से तो यह भी स्पष्ट होता है कि इन देवों और मनुष्यों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध होते थे। देवता की सन्तान मैनका का सम्बन्ध विश्वामित्र से हुआ था। उर्वशी राजा पुरुरवा से मोहित थी जो अप्सरा की

लडकी थी। जिसने दुष्यन्त को पसन्द किया। गंगा देवी ने राजा शान्तनु के साथ पाणि-ग्रहण किया। इन्द्र स्वयं गौतम ऋषि की पत्नी अहिंया पर मोहित हो गया था। एक बार गौतम ऋषि की अनुपस्थिति में उन जैसा रूप धारण कर अहिंया के पास चले आए। गौतम ऋषि अचानक आए और यह देख कर तो क्रोधित होकर अभिशाप दिया कि तुम्हारा शरीर चलनी की तरह सहस्र छिद्रों वाला हो फिर वरदान विशेष में इन्द्र के सहस्र छिद्र सहस्र चक्र के रूप में परिवर्तित हो गये नभी से इन्द्र सहस्र चक्षु कहलाने लगे।

रघुवंश में आता है कि स्वयं रघु मनुष्य की इन्द्र से मिलने गए। देवासुर संग्राम में दुष्यन्त, दशरथ आदि ने दैत्यों से लड़ने के लिए इन्द्र की मदद की थी। निरन्तर युद्ध होने के कारण देवों के पास शस्त्र सामग्री बहुत अच्छी तैयार हो गई थी। महाभारत की जडाई से पहले अर्जुन स्वयं हिमालय को पार कर दिव्य शस्त्र लाने को गए थे।

देव जब मनुष्यों में मिलने आते तो हिमालय को पार करके आते थे और मनुष्यों का भी देवों से मिलने जाते समय हिमालय पार करना पड़ता था। इससे स्पष्ट है कि हिमालय की ओर तथा उसकी चोटियों पर देव सस्कृति का विकास था। दूसरी ओर मध्य भूभाग में मानव रहते थे तथा हिन्दुस्तान के दक्षिण-पश्चिम में दैत्य सस्कृति प्रचलित थी जिसमें असुर, नाग, मुषण, कच्छप, गरुड़ आदि काफी जातियाँ सम्मिलित थी। इनमें देव जाति बहुत ऊँची मानी जाती थी, वह उर्ध्व स्थान में रहती थी। संस्कार अच्छे थे। दिमाग बहुत अच्छा होता था। लोग उन्हें पूज्य दृष्टि में देखा करते थे। आज भी कहते हैं कि बारूद के गोले सबसे पहले चीन में तैयार हुए जो बहुत संभव है कि उन्हीं देव वंशजों की देन हो। मानव जाति का निवास मध्य में था। यहाँ धर्मप्रधान सस्कृति थी। त्याग और तपोव्रत पर इनके सामने स्वयं देवता भी नतमस्तक थे।

१. पुण्डरीकपुरे युद्धे सह राजाभिः पतिः।

अगच्छत्वामुपादाय देवराज्यस्य साह्यकृत ॥११॥

—वा० रा० अयोध्या कांड सर्ग ६

जैन दर्शन में कही इस प्रकार के देव और मनुष्यों के बीच सम्बन्ध का उल्लेख नहीं हुआ है लेकिन देवों का वर्णन करते समय औपपातिक में एक ऐसा तथ्य आया है जो एक नया ही रहस्य उद्घाटित करता है। उक्त देवों के शरीर का रंग चार प्रकार का माना गया है। श्याम, पीला, लाल और सफेद। आधुनिक विद्वानों का अभिमत है कि ससार की समस्त जातियाँ इन चार ही रंगों में विभक्त हैं। रूसी, चीनी और मंगोलिया पीली जाति के लोग हैं। अमेरिका के रेड इंडियन भी मंगोलिया वर्ग में माने जाते हैं। पीली जाति के लोग पूर्वी एशिया तथा पश्चिम और विपुवन् अमेरिका के अधिकांश भाग में रहते थे। अफ्रिका तथा गर्म प्रदेशों के लोग श्याम रंग के होते हैं। यूरोप में लाल और श्वेत रंग के लोग होते हैं। प्राचीन काल में भी यही मान्यता रही है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण का ध्वंस करने के लिए सुग्रीव ने अपार सेना जमा की थी उसमें सूर्य के समान लाल, चन्द्रमा की तरह सफेद, कमल केसर जैसे पीले लोग शामिल थे।

निष्कर्ष की भाषा यह है कि राम और रावण के युद्ध में एक ओर भूमण्डल के पूरे उत्तरी गोलार्ध के श्वेत, पीली, और लाल रंग की जातियाँ सम्मिलित थी तो दूसरी

१. तरुणादित्य वर्णेश्च-शशि गौरेश्च वानरैः ।

पद्म केसर वर्णेश्च-श्वेतैर्मरु कृत्वालयैः ॥१३॥

—वा० रा० किष्किन्धा कांड मंग ३६

और दक्षिणी गोलार्ध के राक्षस काले रंग के थे।

बौद्ध दर्शन में आया है कि एक समय भगवान् वैशाली के महावन में कूटागार शाला में विहार करते थे। उस समय पाँच सौ लिच्छवी थे। उनमें से कुछ नील वर्ण, नील वस्त्र और नील अलंकारों वाले, कुछ लिच्छवी पीत वर्ण, पीत वस्त्र और पीत अलंकारों वाले, कुछ लिच्छवी लाल वर्ण, लाल वस्त्र और लाल अलंकारोंवाले और कुछ लिच्छवी श्वेत वर्ण, श्वेत वस्त्र और श्वेत अलंकारोंवाले थे।

देव जाति के रंगों के साथ मानव जाति के रंगों का साम्य हमें कोई बहुत ही गम्भीर निष्कर्ष पर पहुँचाता है और यह सोचने के लिए अवसर देता है कि भगवान की परिपद में उपस्थित होनेवाले देव यदि धरती से दूर कोई भिन्न ही वायुमण्डल में रहनेवाले होते तो इसी धरती पर निवास करनेवाले और धरती की आबहवा में पलनेवाले प्राणियों के रंगों से यह समता नहीं होती अतः लगता है ये देव भी इसी धरती पर रहनेवाले प्राणी थे। धरती पर विभिन्न जातियाँ फैली हुई थी उनमें से देव जातियाँ भी थी। उनका शरीर मानव जैसे ही अस्थि, रक्त आदि परमाणुओं से बना हुआ था। इनकी संस्कृति, इनकी भाषा, इनका रहन-सहन मानवीय जगत् में कोई निविशेष नहीं था ऐसी सभब कल्पना लगती है।

—अगुत्तर निकाय—नि० ५ ब्राह्मण वर्ग पृ० ४२४

सुबोध

जीवन कितेक तापं सामा तू इतेकु करं, लक्ष कोटि जोर जोर नेकु न अघातु है ।
चाहतु धरा को घन आन सब भरों गेह, यों न जानें जनम सिरानों मोहि जातु है ॥
काल सम क्रूर जहां निशदिन घेरो करं, ताके बीच शशा जीव कोलों ठहरातु है ।
देखतु हैं नैन निसो जग सब चल्थो जात, तऊ मूढ चेतें नाहि लोभं ललचातु है ॥
+ + + + +
सुनिरे ! सयाने नर, कहा करं घर घर, तेरो जु शरीर घर घरी ज्यों तरतु है ।
छिन छिन छोड़ें आयु जल जैसे घरी जाय, ताहू को इलाज कछु उरहू धरतु है ॥
आदि जे सहे है ते तौ यादि कछु नाहि तोहि आगे कहो कहा गति काहे उछरतु है ।
घरो एक देखो ह्याल घरी की कहाँ है चाल, घरी घरी घरियाल शोर यों करतु है ॥

—भगवतीदास

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र का समय

मिलापचन्द्र कटारिया “विद्याभूषण”

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र है इन्होंने प्रतिष्ठा-तिलक में अपने वंशका वर्णन इस प्रकार किया है—

वीरसेन, जिनसेन, वादीर्भसिंह और वादिराज इनके वंश में हस्तिमल्ल गृह्यश्रमी हुये। इन हस्तिमल्ल के कुल में परवादिमल्ल मुनि हुये। और भी कई हुये जिन्होंने दीक्षा ले जैनमार्ग की प्रभावना की। इसी कुल में लोकपाल द्विज गृहस्थाचार्य हुये जो चोल राजा के साथ अपने बधुवंग को लेकर कर्नाट देश में आये। उनके समयनाथ नाम का तार्किक पुत्र हुआ। समयनाथ के आदिमल्ल, आदिमल्लके चितामणि, चितामणि के अनन्तवीर्य। अनन्तवीर्य के पार्श्वनाथ पार्श्वनाथ के आदिनाथ। आदिनाथ के वेदिकोदड। वेदिकोदड के ब्रह्मदेव। और ब्रह्मदेव के देवेन्द्र नामक पुत्र हुआ जो संहिताशास्त्रों में निपुण था देवेन्द्र की भार्या का नाम आदिदेवी था। यह आदिदेवी की विजयपार्य और श्रीमती की पुत्री थी। इस आदिदेवी के चद्रपार्य ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ ये तीन सगे भाई थे। उस दपति (देवेन्द्र-आदिदेवी) के तीन पुत्र हुये—आदिनाथ, नेमिचन्द्र और विजयम। आदिनाथ जिन संहिताशास्त्रों का पारगामी हुआ। इसके त्रैलोक्यनाथ, जिनचन्द्रादि विद्वान पुत्र हुये। और विजयम ज्योतिष का पंडित हुआ जिसका समतभद्र पुत्र साहित्य का विद्वान हुआ। तथा नेमिचन्द्र, अर्भयचन्द्र उपाध्याय के पास पढ़कर तर्क व्याकरण का ज्ञाता हुआ। नेमिचन्द्र के दो पुत्र हुये—कल्याणनाथ और धर्मशेखर। दोनों ही महा विद्वान हुये। नेमिचन्द्र ने सत्यशासन परीक्षा मुख्य प्रकारादि शास्त्र रचे। राजसभाओं में प्रतिवादियों को जीत कर जिसने जैनधर्म की प्रभावना की जिसको राजा द्वारा छत्र, चंबर, पालकी भेट में मिली। और जो स्थिर कदब नगर का रहने वाला है ऐसे नेमिचन्द्रने अपने मामा ब्रह्मसूरि आदि बन्धुओं के आग्रह से यह प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ बनाया है।

इस प्रकार नेमचन्द्र ने अपनी वंशावली तो विस्तृत लिख दी परन्तु वे किस साल सवत में हुये यह लिखने की कृपा नहीं की। यह गृहस्थ थे, इन्होंने उक्त प्रतिष्ठाग्रंथ आशाघरकृत प्रतिष्ठाशास्त्र को आधार बनाकर लिखा है। यद्यपि इन्होंने आशाघरका कही उल्लेख नहीं किया है किन्तु दोनों में इतना अधिक साम्य है कि उसे देखकर यह निःसर्कोच कहा जा सकता है कि—यकुरारोपण आदि कुछ विशेष प्रकरणों को छोड़कर बाकी सारा का सारा ग्रंथ नेमिचन्द्र ने आशाघर के ग्रंथ से ज्यों का त्यों ले लिया है। सिर्फ दोनों में शब्द रचना का ही अन्तर है, प्रायः अर्थ इकसार है। दोनों का मिलान करने से यह बात कोई भी जान सकता है अतः उनके उदाहरण देने की मैं जरूरत नहीं समझता। किन्तु आशाघर प्रतिष्ठापाठ के कितने ही पद्य तो नेमिचन्द्र ने ज्यों के त्यों भी लिये हैं।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ये नेमिचन्द्र आशाघर के बाद हुये हैं। बाद में होने का दूसरा हेतु यह है कि—इन्होंने अपने प्रतिष्ठातिलक के मंगलाचरण में इन्द्रनदि आदि कृत प्रतिष्ठाशास्त्रों के अनुसार कथन करने की बात कही है। और इन्द्रनदि ने अपनी जिनसंहिता में आशाघरकृत सिद्धभक्तिपाठ को उद्धृत किया है। तथा नेमिचन्द्र ने अपने प्रतिष्ठाग्रंथ के १८वें परिच्छेद में एकसंधिसंहिता के भी बहुत से श्लोक उद्धृत किये हैं। उधर एक संधि भी अपनी जिनसंहिता के २०वें परिच्छेद में इन्द्रनदी का उल्लेख करने है। इन सब उल्लेखों से यही निश्चित होता है कि आशाघर के बाद इन्द्रनदी, इन्द्रनदी के बाद एकसंधि और एक संधि के बाद नेमिचन्द्र हुए हैं। ५० आशाघर जी वि० स-१३०० तक जीवित थे यह निश्चित है।

अयंपार्य अपने बनाये “जितेन्द्रकल्याणभ्युदय” नामक प्रतिष्ठापाठ को वि० सं० १३७६ में पूर्ण करते हुये लिखते हैं कि—मैंने यह प्रतिष्ठाग्रंथ इन्द्रनदी, आशाघर, हस्तिमल्ल

और एक मधि के कथनों का सार लेकर बनाया है।

इन्द्रनदी ने स्वर्गचिन् संहिता में एक जगह हस्तिमल्ल का उल्लेख किया। (देखो उसका ३रा परिच्छेद) किन्तु जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ५ किरण १ में हस्तिमल्लकृत प्रतिष्ठाविधान की प्रशस्ति छपी है उसमें हस्तिमल्ल ने भी इन्द्रनदी का उल्लेख किया है। इससे हस्तिमल्ल और इन्द्रनदी दोनों समकालिक सिद्ध होते हैं।

फलिनाथ यह हुआ कि हस्तिमल्ल, इन्द्रनदी और एकमधि ये अन्तिम सब आशात्रय के समय से लेकर वि० सं० १२७६ के मध्य में हुये हैं।

उक्त प्रतिष्ठातिलक के कर्ता नेमिचन्द्र कब हुए? अब हम इस पर विचार करते हैं। इन नेमिचन्द्र ने जो अपनी वंशावली दी है उसके अनुसार ब्रह्मसूरि रिस्ते में इनके मामा लगने थे। नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के कुल में होने वाले कोछपाल द्विज से लेकर अपने पिता देवेन्द्र तक करीब ६ पीढ़ी का उल्लेख किया है। इन पीढ़ियों का समय यदि दोसौ वर्ष भी मानलिया जाय तो नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १६वीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध बनता है। किन्तु नेमिचन्द्र के समय में ही उनके मामा ब्रह्मसूरि हुए हैं उन्होंने भी प्रतिष्ठाग्रथ बनाया है उसमें वे लिखते हैं कि—

“पाण्ड्य देश में गुडिपत्तन नगर के गजा पाण्डव नरेन्द्र थे। गोविंद भट्ट यहीं के रहने वाले थे। उनके हस्तिमल्ल की आदि लेकर छह पुत्र थे। हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्वपण्डित था। वह अपने बन्धुओं के साथ होयसल देश में जाकर रहने लगा था जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ, और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। उनमें से चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल में जा बसा और दो भाई अन्य स्थानों को चले गए। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुआ और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि।”

ब्रह्मसूरि के इस कथनानुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। यदि एक एक पीढ़ी के २५-२५ वर्ष गिन लिए जायें तो हस्तिमल्ल उनसे लगभग सौ वर्ष पहले के थे। इससे नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि का समय विक्रम की १५वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। ऊपर हम १६वीं शदी का पूर्वार्द्ध बना आये हैं। दोनों में एकसौ वर्ष का अन्तर है।

यह अन्तर इस तरह दूर किया जा सकता है कि—

नेमिचन्द्र ने जो वंशावली दी है उसमें वे अपना वंशक्रम १० पीढ़ी पूर्व में होने वाले लोकपाल द्विज से शुरू करते हैं। और ब्रह्मसूरि अपनी वंशावली अपने से ४ पीढ़ी पूर्व में होने वाले हस्तिमल्ल से शुरू करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल से करीब एक सौ वर्ष पूर्व में अपनी वंशावली शुरू की है। इस प्रकार यह अन्तर रफा होकर नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १५वीं सदी का पूर्वार्द्ध ही ठीक रहता है और यही समय ब्रह्मसूरि का भी है

नेमिचन्द्र ने प्रशस्ति में लोकपाल हस्तिमल्ल के कुल में हुआ लिखा है। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि लोकपाल हस्तिमल्ल के बाद हुआ है। चूंकि हस्तिमल्ल एक विख्यात विद्वान् हुये थे इसलिए नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के पूर्वज लोकपाल आदि को हस्तिमल्ल के श्रव्य में होना लिख दिया है। क्योंकि जिस वंश में कोई प्रसिद्ध पुरुष हो जाता है तो उसकी आगे पीछे पीढ़ियों उसी के नाम के वंश से बोली जाया करती है। यहाँ इतना जरूर समझ लेना कि नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनों समान वंश में होते हुये भी जिस सतान परंपरा में नेमिचन्द्र हुये हैं उस सतान परंपरा में न हस्तिमल्ल हुये और न ब्रह्मसूरि ही। अर्थात् नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनों के परदादों के परदादों आदि जुड़े-जुड़े थे।

“बाबू छोटेलालजी स्मृति ग्रंथ” में डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री आरा वालो का “भट्टारकयुगीन जैनमस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ” नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने न मालूम इन नेमिचन्द्र का समय (पृ० ११८) विक्रम की १३वीं सदी किस आधार से लिखा है? आपने कुछ और भी ग्रंथकारों का समय बढ़ा तड़ा लिख दिया है। जैसे कि आपने भैरवपद्मावतीकल्प आदि मंत्रशास्त्रों के कर्त्ता मल्लिषेण का समय १३वीं शती लिखा है। यह बिल्कुल गलत है। इन मल्लिषेण ने महापुराण की रचना वि० सं०-११०४ में पूर्ण की है। अतः ये ११वीं सदी के अतः व १२वीं सदी के प्रारम्भ में हुये हैं। इसी तरह आपने वाग्भट्टालंकार के टीकाकार वादिराज को तोड़ानगर के राजा मानसिंह का मंत्री और उनका समय वि० सं०-१४२६ लिखा है। यह भी ठीक नहीं है। उक्त वादिराज (शेष पृष्ठ ३२ पर)

आगम और त्रिपिटिकों के संदर्भ में अजातशत्रु कुणिक

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज

श्रेणिक की तरह कुणिक (अजातशत्रु) का भी दोनों परम्पराओं में समान स्थान है। दोनों ही परम्पराएँ उसे अपना अपना अनुयायी मानती हैं और इसके लिए दोनों के पास अपने-अपने आधार हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार सामञ्जसल सुत्त का सम्पर्क बुद्ध और अजातशत्रु का प्रथम मिलन था। उसी में वह बुद्ध, धर्म और मघ का शरणागत उपासक हुआ^१। बुद्ध के प्रति अजातशत्रु की भक्ति का अन्य उदाहरण उनकी अस्थियों पर एक महान् स्तूप बनवाना है। बुद्ध के भग्न वशेष जब बाँटे जाने लगे उस समय अजातशत्रु ने भी कुशीनागर के मल्लो से कहा—बुद्ध भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ। अवशेषों का एक भाग मुझे अवश्य मिलना चाहिए। द्रोण विप्र के परामर्श पर उसे एक अस्थि-भाग मिला और उस पर उसने स्तूप बनाया^२।

सामञ्जसल सुत्त में अजातशत्रु कार्तिक पूर्णिमा की रात को ही अपने राजवैद्य जीवक कामार भृत्य से बुद्ध का परिचय पाता है और पाँच सौ हाथियों पर पाँच सौ रानियों को लिए उसी रात में बुद्ध का साक्षात् करता है। महावीर से उसका प्रथम साक्षात् कब होता है, यह कहना कठिन है। उनके जितने साक्षात् उनसे मिलते हैं; वे चिर परिचय और अनन्यभक्ति के ही सूचक मिलते हैं। प्रथम उपाङ्ग औपपातिक आगम मुख्यतः महावीर और कुणिक के सम्बन्धों पर ही प्रकाश डालता है। चम्पानगरी और कुणिक की राज्य स्थिति का भी वहाँ सुन्दर चित्रण है। कुणिक की महावीर के प्रति रही भक्ति के विषय में वहाँ बताया गया है—उसके एक प्रवृत्ति वादुक पुरुष था। वह

महान् आजीविका पाता था। उसका कार्य था, महावीर की प्रति दिन की प्रवृत्ति से उसे अवगत करते रहना। उसके नीचे अनेकों कर्मकर रहते थे। वे भी आजीविका पाते थे। उनके माध्यम से महावीर के प्रतिदिन के समाचार उस प्रवृत्ति वादुक पुरुष को मिलते और वह उन्हें कुणिक को बताता^३।

महावीर के चम्पा-आगमन और कुणिक के भक्ति-निदर्शन का विवरण औपपातिक सूत्र में बहुत ही विशद् और प्रेरक है। 'सामञ्जसल सुत्त' की तरह वह भी यदि गवेषकों की समीक्षा का विषय बना होता, तो उतना ही महत्त्व उसका बनता। स्थिति यह है कि जितनी शोध-खाँज अब तक त्रिपिटिकों पर हुई है, उतनी आगमों पर नहीं। यदि ऐसा हुआ होता, तो अनेकों महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णायक प्रकाश पड़ता। अजातशत्रु कुणिक के विषय में भी जितनी अवगति आगम देते हैं, उतनी त्रिपिटिक नहीं।

महावीर-आगमन का सन्देश

महावीर और कुणिक का यह सम्पर्क चम्पा नगरी में होता है—महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते १४ सहस्र भिक्षु ३६ सहस्र भिक्षुणियों के परिवार से चम्पा नगरी में आये। प्रवृत्ति वादुक पुरुष यह सवाद पा, आनन्दित हुआ, प्रफुल्लित हुआ। स्नान कर मंगल वस्त्र पहने, अल्प भार युक्त तथा बहुत मूल्य युक्त आभूषण पहने। घर से निकला। चम्पा नगरी के मध्य होता हुआ भभसार पुत्र कुणिक की राजसभा में आया, जय-विजय शब्द से वर्धमाना

१ एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्षु-सङ्घं च। उपासकं म भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं।

२ बुद्धचर्या, पृ० ५०६

३ तस्स ण कोणिसस्स रण्णो एक्के पुरिसं विउलकय-वित्तिं भगवन्तो पवित्तिं वाउए, भगवन्तो तद्देवसिअं पवित्तिं निवेएइ। तस्स ण पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्ण-भत्ति-भत्त-वेअण्णा भगवन्तो पवित्ति-वाउआ भगवन्तो तद्देवसिअं पवित्तिं निवेदेति।

की, बोला—“देवानुप्रिय ! आप जिनके दर्शन चाहते हैं, जिनके दर्शन आपके लिए पथ्य हैं, जिनके नाम-गोत्र आदि के श्रवण से ही आप हृष्ट-तुष्ट होते हैं, वे श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरते हुए क्रमशः चम्पा नगरी के उपनगर में आये हैं और चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आनेवाले हैं। यह सम्वाद आपके लिए प्रिय हो।”

भभसार पुत्र कुणिक उस प्रवृत्ति-निवेदक से यह सवाद सुनकर अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नेत्र और मुख विकसित हो गए। वह शीघ्रता से राज-सिंहासन छोड़कर उठा, पादुकाएँ खोली। पाचो राजचिन्ह दूर किये^१। एक साटिक उत्तरासग किया। अजलिबद्ध होकर सात-आठ कदम महावीर की दिशा में आगे गया। बायें पैर को सकुचित किया। दायें पैर को सकोच कर धरती पर रखा। मस्तक को तीन बार धरती-तल पर लगाया। फिर थोड़ा-सा ऊपर उठकर हाथ जोड़े। अजलि को मस्तक पर लगाकर ‘नमो-त्युण’ से अभिवादन करते हुए बोला—“श्रमण भगवान् महावीर जो आदिकर हैं, तीर्थकर हैं...यावत् सिद्ध गति के अभिलाषुक हैं। मेरे धर्मोपदेशक और धर्माचार्य हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। यहाँ से मैं तत्रस्थ भगवान् का वन्दन करता हूँ। भगवान् वही से मुझे देखते हैं^२।”

इस प्रकार वन्दन नमस्कार कर राजा पुनः सिंहासना-रूढ हुआ। उसने प्रवृत्ति वादुक पुरुष को एक लक्ष अष्ट सहस्र रजत मुद्राओं का ‘प्रीतिदान’ दिया और कहा—“भगवान् महावीर जब चम्पा के पूर्ण भद्र चैत्य में पधारे, तब मुझे पुनः सूचना देना।”

महावीर का चम्पा-आगमन

सहस्र किरणों से मुशोभित सूर्य आकाश में उदित हुआ। प्रभात के उस मनोरम वातावरण में भगवान् महावीर जहाँ चम्पानगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे।

१ खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् और चामर।

२ नमोत्युण समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थगरस्स जाव सपाविउ कामस्स मम धम्मा-रियस्स धम्मोवदेसगस्स।

वदामि ण भगवत तत्थगय इह गए, पासइ मे(मे से) भगवं तत्थगए इहगय; -ति कट्टु वदह णमसइ ?

यथारूप स्थान ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। चम्पानगरी के श्रृंगाटकों और चतुष्को पर सर्वत्र यहाँ चर्चा थी—“श्रमण भगवान् महावीर यहाँ आये हैं, पूर्ण भद्र चैत्य में ठहरे हैं; उनके नाम-गोत्र के श्रवण से ही महाफल होता है। उनके साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या ? देवानुप्रियो ! चलो, हम सब भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें। वह हमारे इस लोक और परलोक के लिए हितकर और सुखकर होगा।”

तदन्तर लोगोने स्नान किया, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुए तथा मालाएं धारण की। कुछ घोड़ों पर, कुछ हाथियों पर व कुछ शिविकाओं में आरूढ होकर तथा अनेक जनवृन्द पैदल ही भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चले।

प्रवृत्तिवादुक पुरुष ने कुणिक को यह हर्ष-सवाद सुनाया। राजा ने साढ़े बारह लाख रजत मुद्राओं का ‘प्रीति-दान’ किया^३। तब भभसार पुत्र कुणिकने बलव्यापृत पुरुष (सेनाधिकारी) को बुलाया और कहा—“हस्तिरत्न का सजाकर तैयार करो। चतुरगिनो सेना को तैयार करो। सुभद्रा आदि रानियों के लिए रथोंको तैयार करो। चम्पानगरी का बाहर और भीतर से स्वच्छ करो। गलियों और राजमार्गों को सजाओ। दर्शकों के लिए स्थान-स्थान पर मंच तैयार करो। मैं भगवान् महावीर की अभिवन्दना के लिए जाऊंगा।”

राजा के आदेशानुसार सब तैयारियाँ हुईं। राजा हस्तिरत्न हाथी पर सवार हुआ। सुभद्रा प्रभृति रानियाँ रथों पर सवार हुईं। इस प्रकार चतुरगिनी सेना के महान् वैभव^४ के साथ राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चला।

३ मूल प्रकरण में ‘रजत’ शब्द नहीं है, पर परम्परा से ऐसा माना जाता है कि चक्रवर्तिका, प्रीतिदान साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-मुद्राओं का होता है। वासुदेव का प्रीतिदान साढ़े बारह कोटि रजत-मुद्राओं का होता है तथा माडलिक राजाओं का प्रीतिदान साढ़े बारह लक्ष रजत-मुद्राओं का होता है।

—उववाई (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३३

४ कुणिक राजा के वैभव, आडम्बर और अभियान-व्यवस्था के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य औप-पातिक सूत्र।

चम्पा नगरी के मध्य भाग से होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य के समीप आया। श्रमण भगवान् महावीर के छत्र आदि तीर्थंकर अतिशय दूर से देखे। वही उसने हस्तिरत्न छोड़ दिया। पाचों राज-चिन्ह छोड़ दिये। वहाँ से वह भगवान् महावीर के सम्मुख आया। पंच अभिगमन कर भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर मानसिकी, वाचिकी और कायिक उपासना करने लगा।

महावीर का उपदेश : श्रवण

भगवान् महावीर ने उपस्थित परिषद् को अर्धमागधी भाषा में देशना दी, जिसमें बनाया—“लोक है, अलोक है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, वेदना, निर्जरा... आदि है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ... आदि है। प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमण,... यावत् मिथ्यादर्शनशत्यविवेक है। सभी अस्तिभाव अस्ति मे है, सभी नास्ति-भाव नास्ति मे है। सुचीर्ण कर्म का सुचीर्ण फल होता है। दुश्चीर्ण कर्म का दुश्चीर्ण फल होता है। जीव पृथ-पाप का स्पर्श करते हैं। जीव जन्म-मरण करते हैं। पुण्य और पाप सफल है।... धर्म दो प्रकार का है—अगार धर्म और अनगार धर्म। अनगार धर्म का तात्पर्य है—सर्वतः सर्वात्मना मुण्ड होकर गृहावस्था से अगृहावस्था में चले जाना। अर्थात् प्राणातिपात आदि से सर्वथा विरमण। अगार धर्म बारह प्रकार का है—पाच, अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत’।”

श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रमण कर परिषद् उठी। भंभसार पुत्र कुणिक भी उठा। वन्दन-नमस्कार कर बोला—“भन्ते ! आपका निर्ग्रन्थ प्रवचन सु-आख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, सुभाषित है, सुविनीत है, सुभावित है, अनुत्तर है, आप ने धर्म को कहते हुए उपशम को कहा, उपशम को कहते हुए विवेक को कहा, विवेक को कहते हुए विरमण को कहा, विरमण को करते हुए पाप कर्मों के अकरण को कहा।

“अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसा धर्म

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, उपासकदसांग सूत्र अ० १

कह सके। इससे अधिक की तो बात ही क्या?” यह कह कर राजा जिम दिशा से आया था, उस दिशा से वापिस गया।

जैन या बौद्ध ?

सामञ्जसफल सुत्त और इस औपपातिक प्रकरण को तुलना की दृष्टि से देखा जाये तो औपपातिक-प्रकरण बहुत गहरा पड़ जाता है। सामञ्जसफल सुत्त में अजातशत्रु के बुद्धानुयायी होने में केवल यही पक्ष प्रमाणभूत है, कि “आज से भगवान् मुझे अजलिबद्ध शरणागत उपासक समझे।” औपपातिक-प्रकरण में प्रवृत्ति वादुक पुरुष की नियुक्ति, सिंहासन से अभ्युत्थान और णमोत्थुण से अभि-वन्दन, भवितसूचक साक्षात्कार, आदि उसके महावीर-नुयायी होने के ज्वलन्त प्रमाण है। इन शब्दों से कि— “जैसा धर्म आपने कहा, वैसा कोई भी श्रमण या ब्राह्मण कहने वाला नहीं है”, उसकी निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त होती है। लगता है, बुद्ध के प्रति अजातशत्रु का समर्पण मात्र औपचारिक था। मूलतः वह बुद्ध का अनुयायी बना हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध से जहाँ उसने एक ही बार साक्षात् किया, महा-वीर से अनेक बार साक्षात् करता ही रहा है। यहाँ तक कि महावीर-निर्वाण के पश्चात् महावीर के उत्तराधिकारी मुधर्मा की धर्म-परिषद् में भी वह उपस्थित होता है।

डा० स्मिथ का कहना है—बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है, जैनो का दावा अधिक आधार-युक्त है।

२ णत्थि ण अण्णे केइ समणे वा माहणेवा जे एरिस धम्म माइक्खित्तए। किमण पुण एत्तो उत्तरतर ?

३ औपपातिक सूत्र के आधार से।

४ Buddhist India, p. 88.

५ स्थानाग वृत्ति, स्था० ४, उ० ३

६ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लोक १५-५४

७ Both Buddhists and Jains claimed him as one of them serves. The Jain claim appears to be well founded.

—Oxford History of India, by V. A. Smith, Second Edition, Oxford, 1923 p. 51.

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार भी महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था^१। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदायिभट्ट दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं; क्योंकि दोनों जैनधर्म को माननेवाले थे। यही अजातशत्रु का समर्पण मात्र औपचारिक था। मूलतः वह बौद्ध का अनुयायी बना हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

अजातशत्रु के बुद्धानुयायी न होने में और भी अनेकों निमित्त हैं—देवदत्त के साथ घनिष्ठता, जबकि देवदत्त बुद्ध का विद्रोही शिष्य था, वज्जियों से शत्रुता, जबकि वज्जि बुद्ध के अत्यन्त कृपा-पात्र थे; प्रसेनजित् से युद्ध, जब कि प्रसेनजित् बुद्ध का परम भक्त एवं अनुयायी था।

बौद्ध-परम्परा उसे पितृ-हत्तक के रूप में देखती है^२, जब कि जैन परम्परा अपने कृत्य के प्रति अनुताप कर लेने पर उसे अपने पिता का विनीत कह देती है^३। ये समुल्लेख भी दोनों परम्पराओं के क्रमशः दूरत्व और सामीप्य के सूचक हैं।

अजातशत्रु के प्रति बुद्ध के मन में अनादर का भाव था, वह इस बात से भी प्रतीत होता है कि श्रामण्य-फल की चर्चा के पश्चात् अजातशत्रु के चले जाने पर बुद्ध भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहते हैं—“इस राजा का सम्स्कार अच्छा नहीं रहा। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपने घमंराज पिता की हत्या न करता तो आज इसे इसी आसन पर बैठे बैठे विरज, निर्मल, धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता।” देवदत्त के प्रसंग में भी बुद्ध ने कहा—भिक्षुओं! मगधराज अजातशत्रु, जो भी पाप है, उनके मित्र हैं, उनसे प्रेम करते हैं और उनसे ससंग रखते हैं^४।

एक बार बुद्ध राजप्रासाद में बिम्बसार को धर्मोपदेश

१ हिन्दू सभ्यता पृ० १६०-१

२ “ ” पृ० २६४

३ दीघ निकाय, सामञ्जसल सुत्त

४ औपपातिक सूत्र, (हिन्दी अनुवाद), पृ० २६; सेन-प्रश्न, तृतीय उल्लास, प्रश्न २३७

५ दीघनिकाय, श्रामण्यफल सुत्त

६ विनय पिटक, चुल्लवग्ग, सघभेदक खन्धक, ७

कर रहे थे, शिशु अजातशत्रु बिम्बसार की गोद में था। बिम्बसार का ध्यान बुद्ध के उपदेश में न लगकर, पुनः पुनः अजातशत्रु के दुलार में लग रहा था। बुद्ध ने तब राजा का ध्यान अपनी ओर खींचा। एक कथा सुनाई, जिसका हार्द था—तुम इसके मोह में इतने बंधे हो, यही तुम्हारा घातक होगा^५।

वज्जियों को विजय के लिए अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा। विजयका रहस्य पाने के लिए सचमुच वह एक षड्यन्त्र ही था। अजातशत्रु बुद्ध का अनुयायी होता, तो इस प्रकार का छद्म कैसे खेलता।

कहा जाता है, मौद्गल्यायन के वधक ५०० निगडों का वध अजातशत्रु ने करवाया^६। इससे उसकी बौद्ध धर्म के प्रति दृढ़ता व्यक्त होती है, पर यह उल्लेख अट्टकथा का है, अतः एक किंवदन्ती मात्र से अधिक इसका कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

अट्टकथाओं के और भी कुछ उल्लेख हैं। जैसे—बुद्ध की मृत्यु का सवाद अजातशत्रु को कौन सुनाये, कैसे सुनाये—अमात्यवर्ग में यह प्रश्न उठा। सबने सोचा—राजा के हृदय पर आघात न लगे, इस प्रकार से यह सम्वाद सुनाया जाय। मंत्रियों ने दुःस्वप्न-फल के निवारण का वहाना कर ‘चतु-मधुर’ स्नान की व्यवस्था की। उस आनन्दप्रद वातावरण में उन्होंने बुद्ध के निर्वाण का सम्वाद अजातशत्रु को सुनाया। फिर भी सम्वाद सुनते ही अजातशत्रु मूर्च्छित हो गया। दो बार पुनः “चतु-मधुर” स्नान कराया गया। तब उसकी मूर्च्छा टूटी और उसने गहरा दुःख व्यक्त किया^७। एक परम्परा यह भी कहती है—मन्त्री वस्सकार ने जन्म से निर्वाण तक बुद्ध की चित्रावलि दिखा कर अजातशत्रु को बुद्ध की मृत्यु से ज्ञापित किया^८। इस घटना से बुद्ध के प्रति रही अजातशत्रु की भक्ति का दिग्दर्शन मिलता है। बहुत उत्तरकालिक होने से यह कोई प्रमाणभूत आधार नहीं बनती।

६ जातकट्टकथा, धुस जातक, सं० ३३८

७ धम्मपद अट्टकथा, १०-७

८ धम्मपद अट्टकथा, २, ६०५-६

९ Encyclopaedia of Buddhism, p. 320

देवदत्त के शिष्य मिण्डिका-पुत्र उपक ने बुद्ध से चर्चा की; अजातशत्रु के पास आया और बुद्ध की गद्दी करने लगा। पर अजातशत्रु क्रोधित हुआ और उसे चले जाने के लिए कहा^१। अट्टकथाकार^२ ने इतना और जोड़ दिया है कि अजातशत्रु ने अपने कर्मकर्मों से उसे गलहत्या देकर निकलवाया। इस प्रसंग से भी अजातशत्रु का अनुयायित्व सिद्ध नहीं होता। अशिष्टता से चर्चा करनेवालों को तथा मुखर गद्दी करनेवालों को हर बुद्धिमान् व्यक्ति टोकता ही है। यदि उपक अजातशत्रु को बुद्ध का दूढ़ अनुयायी मानता, तो अपनी बीती मुनाने वहाँ जाना ही क्यों? अपने गुरु देवदत्त का हितैषी समझ कर ही उसने ऐसा किया होगा।

उत्तरवर्ती साहित्य में कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलते हैं, जो बौद्ध धर्म के प्रति अजातशत्रु का विद्वेष व्यक्त करते हैं। अवदानशतक के अनुसार राजा बिम्बिसार ने बुद्ध की वर्तमानता में ही बुद्ध के नख और केशों पर एक स्तूप अपने राजमहलों में बनवाया था। राजमहल की स्त्रियाँ घूप, दीप और फूलों से उसकी पूजा किया करती थी। अजातशत्रु ने सिंहासनाारूढ़ होने ही पूजा बन्द करने का आदेश दिया। श्रीमनी नामक स्त्री ने फिर भी पूजा की तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया^३। थेरगाथा-अट्टकथा के अनुसार अजातशत्रु ने अपने अनुज सीलवत् भिक्षु को मरवाने का भी प्रयत्न किया^४। उक्त उदाहरण अजातशत्रु को बौद्ध धर्म का अनुयायी सिद्ध न कर प्रत्युत विरोधी सिद्ध करते हैं; पर इनका भी कोई आधारभूत महत्व नहीं है।

बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ राईस डेविड्स भी स्पष्टतः लिखते हैं—“बातचीत के अन्त में अजातशत्रु ने बुद्ध को स्पष्टतया अपना मार्ग-दर्शक स्वीकार किया और पितृ-हत्या का पश्चात्ताप व्यक्त किया। किन्तु यह असदिग्धतया व्यक्त किया गया है कि उसका धर्म-परिवर्तन नहीं किया गया। इस विषय में एक भी प्रमाण नहीं है कि उस हृदयस्पर्शी प्रसंग के पश्चात् भी वह बुद्ध की मान्यताओं का अनुसरण करता हो। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, उसके बाद उसने

बुद्ध के अथवा बौद्ध सघ के अन्य किसी भिक्षु के न तो कभी दर्शन किये और न उनके साथ धर्म-चर्चा ही की। और न मेरे ध्यान में यह भी आता है कि उसने बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षु-संघ को कभी आर्थिक सहयोग भी दिया हो।

“इतना तो अवश्य मिलता है कि बुद्ध निर्वाण के पश्चात् उसने बुद्ध की अस्थियों की माँग की, पर वह भी यह कह कर कि ‘मैं भी बुद्ध की तरह एक क्षत्रिय ही हूँ’ और उन अस्थियों पर उसने फिर एक स्तूप बनवाया। दूसरी बात—उत्तरवर्ती ग्रन्थ यह बताते हैं कि बुद्ध-निर्वाण के तत्काल बाद ही जब राजगृह में प्रथम संगीति हुई, तब अजातशत्रु ने सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर एक सभा-भवन बनवाया था, जहाँ बौद्ध पिटकों का संकलन हुआ, पर इस बात का बौद्ध धर्म के प्राचीनतम और मौलिक शास्त्रों में लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार बहुत सम्भव है कि उसने बौद्ध धर्म को बिना स्वीकार किये ही उसके प्रति सहानुभूति दिखाई हो। यह सब उसने केवल भारतीय राजाओं की उस प्राचीन परम्परा के अनुसार ही किया हो कि सब धर्मों का संरक्षण राजा का कर्तव्य होता है^५।”

माता का दोहद

कुणिक के जन्म और पितृ-द्रोह का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ समान रूप से मिलता है। जैन आगम निरयाबलिका और बौद्ध शास्त्र दोघनिकाय-अट्टकथा में एतद्विषयक वर्णन मिलता है। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार इसके पिता का नाम श्रेणिक (बिम्बिसार) है। माता का नाम जैन परंपरा के अनुसार चेल्लणा तथा बौद्ध परम्परा के अनुसार कोसलदेवी था। माता ने गर्भाधान के अवसर पर सिंह का स्वप्न देखा। बौद्ध परम्परा में ऐसा उल्लेख नहीं है। गर्भावस्था में माता को दोहद उत्पन्न हुआ। जैन परम्परा के अनुसार दोहद था—राजा श्रेणिक के कलेजे का मांस तल कर, भूनकर मैं खाऊँ और मद्य पीऊँ। बौद्ध परम्परा के अनुसार दोहद था—राजा श्रेणिक की बाहु का रक्त पीऊँ। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार राजा ने दोहद की पूर्ति की। जैन परम्परा के अनुसार अभयकुमार ने ऐसा छद्म रचा कि राजा के कलेजे

१ अंगुत्तर निकाल, ४-८-१८८

२ Encyclopaedia of Buddhism, p. 319

३ अवदानशतक, ५४

४ थेरगाथा-अट्टकथा, गाथा ६०६-१६

५ Buddhist India, pp. 15-16

का मास भी न काटना पड़े और रानी को यह अनुभव होता रहे कि राजा के कलेजे का मास काटा जा रहा है और मुझे दिया जा रहा है। बौद्ध परम्परा के अनुसार वैद्य के द्वारा बाहु का रक्त निकलवा कर दोहद की पूर्ति की। दोहद-पूर्ति के पश्चात् रानी इस घटना-प्रसंग से दुःखित होती है और गर्भस्थ बालक को ही नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार वह ऐसा इसलिए करती है कि ज्योतिषी उसे कह दें हैं—यह पितृ-हतक होगा। जैन परम्परा के अनुसार वह स्वयं ही सोच लेती है कि जिसने गर्भस्थ ही पिता के कलेजे का मास मागा है, न जाने जन्म लेकर वह क्या करेगा ?

श्रेणिक का पुत्र-प्रेम

जन्म के अनन्तर जैन परम्परा के अनुसार चेल्लणा उसे अवकर पर डलवा देती है। वहाँ कोई कुर्कुट उसकी कनिष्ठ अंगुली काट लेता है। अंगुली से रक्तश्राव होने लगता है। राजा श्रेणिक इस घटना का पता चलते ही पुत्र-मोह से व्याकुल होकर वहाँ आता है, उसे उठा कर रानी के पास ले जाता है और रक्त व मवाद चूस-वूस कर बालक की अंगुली को ठीक करता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार जन्मते ही राजा के कर्मकर बालक को वहाँ से हटा लेते हैं, इस भय से कि रानी कहीं इसे मरवा न डाले। कालान्तर से वे उसे रानी को सौंपते हैं; तब पुत्र-प्रेम से रानी भी उसमें अन्तर्गत हो जाती है। एक बार अजात-शत्रु की अंगुली में एक फोड़ा हो गया। व्याकुलता से रोते बालक को कर्मकर राजसभा में राजा के पास ले गए। राजा ने उस अंगुली को मुँह में डाला। फोड़ा फूट गया। पुत्र-प्रेम से राजा ने वह रक्त और मवाद उगला नहीं, प्रत्युत निगल गया।

पिता को कारावास

पितृ-द्रोह के सम्बन्ध से जैन परम्परा कहती है, कुणिक के मन में महत्वाकांक्षा उदित हुई, और अन्य भाइयों को अपने साथ मिला कर स्वयं राज्य सिंहासन पर बैठा तथा निगड़-बन्धन कर श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

बौद्ध परम्परा के अनुसार अजातशत्रु देवदत्त की प्रेरणा से महत्वाकांक्षी बना और उसने अपने पिता को घूम-गृह (लोह-कर्म करने का घर) में डलवा दिया।

पिता का वध

जैन परम्परा के अनुसार कुणिक किसी एक पर्व-दिन पर अपनी माता चेल्लणा के पास पाद-वन्दन करने के लिए गया। माता ने उसका पाद वन्दन स्वीकार नहीं किया। कारण पूछने पर माता ने श्रेणिक के पुत्र-प्रेम की घटना सुनाई और उसे उस दुःकृत्य के लिए धिक्कारा। कुणिक के मन में भी पितृ-प्रेम जागा। अपनी भूल पर अनुताप हुआ। तत्काल उसने निगड़ काटने के लिए परशु हाथ में उठाया और पितृ-मोचन के लिए चल पड़ा। श्रेणिक ने मोचा—यह मुझे मारने के लिए ही आ रहा है। अच्छा हो, अपने आप में प्राणान्त कर लूँ। तत्काल उसने तालपूट विष खाया और अपना प्राण-वियोजन किया।

बौद्ध परम्परा में बताया गया है कि घूम-गृह में कोशल-देवी के सिवाय अन्य किसी को जाने का आदेश नहीं था। अजातशत्रु राजा को भूखा रखकर मारना चाहता था, क्योंकि देवदत्त ने कहा था—पिता शस्त्र-वध्य नहीं होता; अतः उसे भूखा रख कर ही मारे। कोशल-देवी मिलने के बहाने उत्सव में भोजन छिपाकर ले जाती और राजा को देती। अजातशत्रु को पता चला तो उसने कर्मकरो को कहा—मेरी माता को उत्सव बाध कर मत जाने दो। तब वह जूड़े में छिपा कर ऐसा करने लगी। उसका भी निषेध हुआ, तब वह स्वर्ण-पादुका में छिपा कर ऐसा करने लगी। उसका भी निषेध होने पर रानी गन्धोदक से स्नान कर अपने शरीर पर चार मधु का अवलेप कर राजा के पास जाती। राजा उसके शरीर को चाट-चाट कर कुछ दिन जीवित रहा। अन्त में अजातशत्रु ने माता को घूम-गृह में जाने से रोक दिया। अब राजा श्रोतापत्ति के मुख पर जीने लगा।

अजातशत्रु ने जब यह देखा कि राजा मर ही नहीं रहा है, तब उसने नापित को बुलाया और आदेश दिया—“मेरे पिता राजा के पैरों को शस्त्र से चीर कर उनपर तून और तेल का लेप करो और खैर के अगारों से उन्हें पकाओ। नापित ने वैसा ही किया और राजा मर गया।

अनुताप

श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् कुणिक का अनुतापित

होना दोनों ही परम्पराएँ बताती हैं। जैन परम्परा के अनुसार तो माता से पुत्र-प्रेम की बात सुन कर पिता की मृत्यु से पूर्व ही कुणिक को अनुताप हुआ था। राजा की आत्म-हत्या के पश्चात् तो वह परशू से छिन्न चम्पक-वृक्ष की तरह भूमितल पर गिर पड़ा। मुहूर्तान्तर से सचेत हुआ। फट-फूट कर रोया और कहने लगा—‘अहो! मैं कितना अधन्य हूँ, कितना अपुण्य हूँ, कितना अकृतपुण्य हूँ, कितना दुष्कृत हूँ। मैंने अपने देवतुल्य पिता को निगड-बन्धन में डाला। मेरे ही निमित्त से श्रेणिक राजा कालगत हुआ। इस शोक से अभिभूत होकर वह कुछ ही समय पश्चात् राजगृह छोड़ कर चम्पातगरी में निवास करने लगा। उसे ही मगध की राजधानी बना दिया।

बौद्ध परम्परा के अनुसार—जिस दिन विवसार की मृत्यु हुई, उसी दिन अजातशत्रु के पुत्र उत्पन्न हुआ। सवादवाहको ने पुत्र-जन्म का लिखित सवाद अजातशत्रु के हाथ में दिया। पुत्र-प्रम से राजा हर्ष-विभोर हो उठा। अस्थि और मज्जा तक पुत्र-प्रेम में परिणत हो गया। उसके मन में आया, जब मैंने जन्म लिया, तब राजा श्रेणिक को भी इतना ही तो प्रेम हुआ होगा। तत्क्षण उसने कर्मकर्मों को कहा—‘मेरे पिता को बन्धन-मुक्त करो।’ सवाद-वाहको ने विम्बिसार की मृत्यु का पत्र भी राजा के हाथों में दे दिया। पिताकी मृत्यु का सम्वाद पढ़ने ही वह चीख उठा और दौड़ कर माता के पास आया। माता से पूछा—‘मेरे प्रति मेरे पिता का स्नेह था!’ माता ने वह अंगुली चूसने की बात अजातशत्रु को बताई। तब वह और भी शोक-विह्वल हो उठा और अपने किए हुए पर अनुताप करने लगा।

समीक्षा

दोहद, अंगुली-व्रण, कारावास आदि घटना-प्रसंगों के बाह्य निमित्त कुछ भिन्न है, पर घटना-प्रसंग हार्द की दृष्टि से दोनों परम्पराओं में समान है। एक ही कथा-वस्तु का दो परम्पराओं में इतना-सा भेद अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक बड़ी घटना अपने वर्तमान में ही नाना रूपों में प्रचलित हो जाया करती है। संभवतः निर्यावलि का आगमका

रचना-काल विक्रम संवत् के पूर्व का माना जाता है तथा अट्टकथाओं का रचना-काल विक्रम संवत् की पाँचवीं शताब्दी का है। यह भी एक भिन्नता का कारण है। जिस-जिस परम्परा में अनुश्रुतियों से कथा-वस्तु का जो भी रूपक आ रहा था, वह शताब्दियों बाद व शताब्दियों के अन्तर से लिखा गया।

वध-सम्बन्धी समुल्लेखों से यह तो अवश्य व्यक्त होता है कि बौद्ध परम्परा अजातशत्रु की क्रूरता सुस्पष्ट कर देना चाहती है, जब कि जैन परम्परा उसे मध्यम स्थिति में रखना चाहती है। बौद्ध परम्परा में पैरो को चिरवाने, उनमें नमक भरवाने और अग्नि से तपाने का उल्लेख बहुत ही अमानवीय-सा लगता है। जैन परम्परा में श्रेणिक को केवल कारावास मिलता है। भूखो मारने आदि की यातनाएँ वहाँ नहीं हैं! मृत्यु भी उसकी ‘आत्महत्या’ के रूप में होती है। जब कि बौद्ध परम्परा के अनुसार अजातशत्रु स्वयं पितृ-वधक होता है। इस सब का हेतु भी यही हो सकता है कि कुणिक जैन परम्परा का अनुयायी विशेष था।

मातृ-परिचय

दोनों परम्पराओं में कुणिक की माता का नाम भिन्न-भिन्न है। जातक के अनुसार कोशल-देवी कोशल देश के राजा महाकोशल की पुत्री थी अर्थात् कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहिन थी। विवाह-प्रसंग पर काशी देश का एक ग्राम उसे दहेज में दिया गया था। विम्बिसार के वध से प्रसेनजित् ने वह ग्राम वापिस ले लिया। लड़ाई हुई, एक बार हारने के पश्चात् प्रसेनजित् की विजय हुई। भानेज सम्भर कर उसने अजातशत्रु को जीवित छोड़ा, सन्धि की तथा अपनी पुत्री वजिरा का उसके साथ विवाह किया। वही गाँव पुनः उसे कन्या-दान में दे दिया। मयुस्त-निकाय के इस वर्णन में अजातशत्रु को प्रसेनजित्

१ प० दलसुख मालवणिया, आगम-युग का जैन-दर्शन,

सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६ पृ० २६

२ द्रष्टव्य, भिक्षु धर्म रक्षित, आचार्य बुद्धधोष, महाबोध

सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६ पृ० ७

३ Jataka Ed. by Fausball, Vol. III, p. 121

४ जातक अट्टकथा, स० २४६, २८३

का भानेज भी कहा है और 'वेदेहीपुत्र' भी कहा है। इन दोनों नामों में कोई सगति नहीं है। बुद्धघोष ने यहाँ 'वेदेही' का अर्थ 'विदेह' देशकी राज-कन्या न कर 'पंडिता' किया है। यथार्थता यह है कि जैन परम्परा में कथित चेल्लणा वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख चेटक की कन्या होने से 'वेदेही' थी। प्रसेनजित् की बहिन कोशल-देवी अज्ञात-शत्रु की कोई एक विमाता हो सकती है। तिब्बती परम्परा तथा अमितायुर्ध्यान सूत्र के अनुसार अज्ञातशत्रु की माता का नाम 'वेदेही वासवी' था और उसका वेदेही होने का कारण भी यही माना गया है कि वह विदेह-देश की राज-कन्या थी। 'विदेह' शब्द का प्रयोग तथारूप से अन्यत्र भी बहुलता से मिलता है। भगवान् महावीर को 'विदेह विदेह-विन्ने विदेहजच्चे' कहा गया है। महावीर स्वयं विदेह देश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए 'वेदेह'; उनकी माता भी विदेह देश में उत्पन्न थी; इसलिए 'विदेहदत्तात्मज'; और विदेहों में श्रेष्ठ थे, इसलिए 'विदेहजात्य' कहे गये हैं।

महाकवि भास ने अपने नाटक स्वप्नवासवदत्ता में राजा उदयन को 'विदेह-पुत्र' कहा है; क्योंकि उसकी माता विदेह-देश की राज-कन्या थी। जैन परम्परा के अनुसार चेल्लणा और उदयन की माता मृगावती मगी

१ संयुक्त निकाय ३-२-४

२ वेदेही पुत्रो ति वेदेहीति पण्डिताधिवचन एत, पण्ड-
तित्थिया पुत्रो ति अत्थो ।

—संयुक्त निकाय अट्टकथा, १, १२०

३ Rockhill, Life of Buddha, p. 63

४ S.B.E. Vol. XLIX, p. 166

५ Rackhill, Life of Buddha, p. 53

६ कल्प सूत्र, ११०

७ S.B.E. Vol. XXII, p. 256, वसंतकुमार चट्टो-

पाध्याय, कल्पसूत्र (बगला अनुवाद), पृ २७

८ हिन्दू-सम्भ्यता, पृ० १६८

बहिन थी। वे वैशाली के राजा चेटक की कन्याएँ थीं। भगवान् महावीर की माता त्रिशला राजा चेटक की बहिन थी। अतः 'विदेह-दिन्न' या 'विदेहपुत्र' आदि विशेषण बहुत ही सहज और बुद्धिमय्य हैं। जैन आगमों में भी तो कुणिक को 'विदेहपुत्र' कहा गया है। राईस डेविड्स के मतानुसार भी विम्बसार के दो रानियाँ थी—एक प्रसेन-जित् की बहिन कोशल-देवी तथा दूसरी विदेह-कन्या, और अज्ञातशत्रु विदेह कन्या का पुत्र था।

राजा विम्बसार जब धूम्रगृह में था, परिचारिका रानी कोशला थी, यह अट्टकथा बताती है। एन्सायक्लोपीडिया ग्राफ बुद्धिज्म में परिचारिका राणी का नाम खेमा बताया गया है और उसे कोशल देश की राजकन्या भी कहा है। पर यह स्पष्टतः भूल ही प्रतीत होती है। खेमा वस्तुतः मद्र देश की थी 5a। लगता है, कोशल-देवी के बदले खेमा का नाम दे दिया गया है। अमितायुर्ध्यान सूत्र तथा तिब्बती परम्परा के अनुसार परिचारिका रानी का नाम 'वेदेही वासवी' था और वह वैशाली के सिंहसेनापति की पुत्री थी। डा० राधाकुमुद मुखर्जी कहते हैं—“वेदेही वासवी की पहिचान चेल्लणा में की जा सकती है”। बौद्ध परम्परा की इस विविधताओं में भी इससे परे की बात नहीं निकलती कि अज्ञातशत्रु विदेह-राज कन्या का पुत्र था और इसीलिए वह 'वेदेहीपुत्र' कहलाता था। न जाने आचार्य बुद्धघोष के क्यों यह भ्रम रहा कि 'वेदेही' नाम 'पंडिता' का है और अज्ञात-शत्रु कोशल-देश की राज-कन्या कोशला का पुत्र था। (क्रमशः)

१ आवश्यक चूणि, भाग २, पत्र १६४

२ आवश्यक चूणि, भाग १, पत्र २४५

३ भगवती सूत्र, शतक ७ उद्देशक ६, पृ० ५७६

४ Buddhist India, p. 3

५ Encyclopaedia of Buddhism, p. 316

६ थेरी, गाथा अट्टकथा, १३६-१४३

७ Rackhill, Life of Buddha, p. 63

८ हिन्दू सम्भ्यता, पृ० १८३

कुलपाक के माणिकस्वामी

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

आन्ध्र प्रदेश में हैदराबाद-काजीपेट रेलमार्ग के आलैर स्टेशन से चार मील उत्तर में कुलपाक नामक छोटा सा ग्राम है यहाँ एक भव्य जिन मंदिर में भगवान् ऋषभदेव की पुरातन प्रतिमा है जो माणिक स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखों का यहाँ वर्णन किया जाता है।

उदयकीर्ति की अपभ्रंश रचना तीर्थवदना के सोलहवें पद्य में माणिकदेव को नमस्कार किया है (इन का अनुमानित समय नेरहवी शताब्दी है) —

वंदिज्जइ माणिकदेउ डेउ । जसु णामइँ कम्मह होइ छेउ ॥

अर्थात्—उन माणिकदेव को वदन हो जिन के नाम में कर्मों का नाश होता है।

शेष पृ० २४ का)

मानसिंह के नहीं रायसिंह के मंत्री थे और उनका समय वि० की १८वीं का पूर्वार्द्ध था। इन वादिराज के बड़े भाई जगन्नाथ कविभी बड़े विद्वान् थे, जिन्होंने चतुर्विंशतिसिधान्त, सुखनिधान और श्वेतावरपराजय आदि अनेक ग्रंथ रचे थे। इन तीनों ग्रंथों की प्रशस्तिये वीरसेवामंदिर दिल्ली से प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह के प्रथम भाग में छपी है। सुखनिधान ग्रंथ में विदेहक्षेत्रीय श्रीपाल चक्रवर्ति का कथानक है। यह कथा आदिपुराण में जयकुमार के पूर्वभवों में आई है। इस ग्रंथ की रचना इन जगन्नाथ कवि ने सकलचंद्र, सकलकीर्ति (ये सकलकीर्ति प्रसिद्ध सकलकीर्ति से जुड़े हैं) और पद्मकीर्ति आदिकों की प्रेरणा से मालपुरा गाँव में की थी। ये खंडेलवाल जैन सोगाणी गोत्रके थे, शाह पोमराज के पुत्र थे और भ० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। उक्त पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति का समय भट्टारकसंप्रदाय पुस्तक के पृ०-२०८ पर १८वीं शती का प्रथम चरण लिखा है। यही

पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी के लेखक सिंहनन्दि ने माणिक स्वामी विनती नामक चौदह पद्यों का गुजराती गीत लिखा है (पूरा गीत हमने 'तीर्थवन्दनसंग्रह' में दे दिया है) जिस के अनुसार इस कुलपाकपुर के माणिकस्वामी की प्रतिमाका निर्माण भरत राज ने अपनी मुद्रिका के इन्द्रनील रत्न से कराया था। बाद में यह प्रतिमा इद्र के भवन में और फिर लकाधीश रावण के यहाँ रही, तदनंतर बहुत समयतक समुद्र के जल में भग्न रही। शासन देवी की कृपा से शंकरराय ने इस मूर्ति को प्राप्त कर यह मंदिर बनवाया। यहाँ नये-नये वेश और फूलों के मुकुट में भगवान की पूजा की जाती है।

जिन प्रभुसूरि के विविध तीर्थकल्प (चौदहवीं सदी) में भी उपर्युक्त कहा है। उन्होंने शंकर राजा को कल्याण

समय वादिराज और जगन्नाथ का है। डा० नेमिचंद्रजी शास्त्री ने शायद उक्त सकलकीर्ति को १५ वीं शती में होने वाले प्रसिद्ध सकलकीर्ति सम्भकर वादिराजकृत वाग्भट्टालंकार का टीकाकाल वि०स-१४२६ लिख दिया हो ऐसा प्रतीत होता है। आपने उपदेशरत्नमाला के कर्ता भट्टारक सकलभूषण का समय विक्रम की १५वीं शती लिखा है यह भी समीचीन नहीं है। स्वयं ग्रंथकार ने उपदेशरत्नमाला की समाप्ति का समय वि०स०१६२७ दिया है। यथा—

सप्तविंशत्यधिके षोडशशत वत्सरेषु विक्रमतः ।

श्रावणमासे शुक्ले पक्षे षष्ठ्या कृतो ग्रन्थः ॥ २६५ ॥

अतः सकलभूषण १० वीं शती के है। न कि १५वीं शती के।

अद्यावधितक बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आ चुकी है इतने पर भी विद्वान लोग भूलें करते हैं यह खेद की बात है।

का राजा बताया है कल्याण के कलचुरि राजवंश में संक्रम राजा ने सन् ११७७ से ११८० तक राज्य किया था। हो सकता है कि उसी ने यह मन्दिर बनवाया हो। शीलविजय (सत्रहवीं सदी) की तीर्थमाला के अनुसार शंकरराय तो शिवभक्त था, मन्दिर उस की जिनभक्ता रानी ने बनवाया था (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४४८)।

पन्द्रहवीं सदी के मराठी लेखक गुणकीर्ति ने अपने धर्माभूत ग्रंथ में भी माणिक स्वामी को नमस्कार किया है (परिच्छेद १६७)।

कुल्लपाख्य माणिक स्वामिस नमस्कार भाषा।

सोन्हवीं सदी के गुजराती लेखक मुमत्तिसागर की तीर्थजयमाला (पद्य ११) में भी माणिकस्वामी को वंदन है—

सुविष्ठाचल बावणगज देव।

सुगोमट माणिकस्वामी सेव ॥

सत्रहवीं सदी के गुजराती लेखक जानसागर के सर्व-तीर्थवन्दना में भी एक छप्पय उम विषय में है—

देश तिलंग मभार माणिक जिनवर वदो।

भरतेश्वरकृत बिब्र पूजिय पाप निकदो ॥

पांच मणि सुप्रसिद्ध नीलवर्ण जिनकामह।

पूजत पातक जाय दर्शनली सुख थायह ॥

किंनर तुंबर अपछरा सकल मिल सेवा करे।

ब्रह्म जानसागर वदति माणिकजिन पातक हरे ॥

सत्रहवीं सदी के ही जयसागर की तीर्थ जयमाला के ग्यारहवें पद्य में भी कहा है—

सुकुलपाक वनों माणिकदेव।

सुगोमट स्वामी कर नित सेव ॥

सत्रहवीं सदी के ही कारजा के भट्टारक जिनसेन ने भी यहां की यात्रा की थी—

जिनसेन नाव गुरुराय ने संघतिलक एते दिय।

माणिक्यस्वामी यात्रा सकल धर्मकाम बहु बहु किय ॥

(भट्टारक संप्रदाय पृ० १६)

इसी वर्ष दीपावली की छुट्टियों में हम ने इस क्षेत्र के दर्शन किये। इस समय क्षेत्र पूर्णतः खेताम्बर संप्रदाय के अधिकार में है यद्यपि उपर्युक्त वर्णनो से स्पष्ट है कि मध्ययुग में दिगम्बर यात्री भी यहां बराबर जाते रहे हैं। यहां के मन्दिर के सभागृह में मुख्य मूर्ति माणिकस्वामी के अतिरिक्त अन्य बारह भव्य (करीब एक मीटर ऊंची) अर्धपद्मासन मूर्तियां हैं। इन की शिल्पशैली दाक्षिण भारत के श्रवणबेलगोल, कारकल, मूडाबिद्री आदि स्थानों की मूर्तियों के समान ही हैं इन के पादपीठों पर प्रतिष्ठा सबंधी लेख अवश्य ही रहें होंगे। खेद की बात है कि इन सभी मूर्तियों के पैरों तक सीमेंट का प्लास्टर इस तरह कर दिया गया कि वे पादपीठ नष्ट प्रायः हो गये हैं। केवल शिलालेख मन्दिर के बाहरी प्राकार में हैं जिसके अनुसार इस का जीर्णोद्धार जहांगीर बादशाह के जमाने में केशर-कुशल गणी ने करवाया था।

[नोट—इस लेख में उद्धृत सभी रचनाएँ पूर्ण रूप में हमारे द्वारा संपादित 'तीर्थवन्दन सग्रह' प० जीवराज ग्रंथमाला शालापुर, में सगृहीत हैं।]

सुख का स्थान

रे चेतन ! तू सुख की खोज में इधर उधर भटक रहा है। उसकी प्राप्ति के लिये मृग की भांति छलांगे भर रहा है। पर यह सब भटकना तेरा व्यर्थ है; क्योंकि पर वस्तुओं और परस्थानों में सुख नहीं है। तेरा सुख तो तेरे अन्दर है। बाहर नहीं, जरा अन्तर दृष्टि को उघाड़ कर देख। जैसे तिलो में तेल और गोरस में मक्खन है, या दूध में घी है, घूलिकणों और पानी में नहीं है। घट के पट खोल कर अन्दर भाक, तुझे सुख अवश्य मिलेगा।

चर्म चक्षुओं से दिखने वाले इन बाह्य पदार्थों में उम सुख का लेश भी नहीं, बाह्य पदार्थों की चमक-दमक में जो तुझे सुख का-सा आभास हो रहा है वह सुखाभास है। बाह्य पदार्थों के सयोग में तू सुख की कल्पना कर रहा है? यह तेरा अज्ञान है, तू उनके सयोग में सुख मानता है और वियोग में दुख, "सयुक्तानां वियोगो हि भवता हि नियोगतः। सयोग वियोग के साथ मिश्रित है। तू इस भौतिक सामग्री के जुटाने में जीवन की अमूल्य घड़िया बिता रहा है, यह तेरे अज्ञान की पराकाष्ठा है। वह सुख नहीं दुख है, तू उस पराधीन, विनश्वर सुख के पीछे मत दौड़। अन्नदृष्टि और विवेक से काम कर और आत्मस्थ होकर स्वरूप में मग्न होने का प्रयत्न कर तुझे सच्चे स्वाधीन सुख का अनुभव होगा।

—परमानन्द

राजपूत कालिक मालवा का जैन-पुरातत्त्व

प्रो० तेजसिंह गोड़ एम. ए. बी. एड.

गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त मालवा में भी राजनीतिक उतार चढ़ाव चलता रहा। फिर जब परमार राजपूतों का आधिपत्य मालवा पर हुआ तो लगभग ३०० वर्षों तक मालवा में इनका ही शासन रहा। मालवा में जैनधर्म की उन्नति के लिये यह समय बहुत ही हितकारी रहा। इस युग में कई जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इस युग के प्रारम्भिक काल में जैन मन्दिर थे। जिसका वर्णन डा० हीरालाल जैन इस प्रकार देते हैं। जैन हरिवंश-पुराण की प्रशस्ति में इसके कर्त्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक सवन (७०५ई० मन् ७८३) में उन्होंने वर्धमानपुर के पूर्वोत्तर (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अन्नराजवसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वही के शातिनाथ मंदिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में इन्द्रा-युद्ध दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्स-राज तथा सौरमंडल में वीर बराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान बढमान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने लेख में सिद्ध किया है कि हरिवंश पुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्य प्रदेश के धार जिले में बदनावर है जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दूतरिया नामक गांव है, प्राचीन दोस्तरिका होना चाहिये, जहाँ की प्रजा ने जिनसेन के उल्लेखानुसार उस शातिनाथ मंदिर में विशेष पूजा अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर में आठवीं शती में पार्श्वनाथ और शातिनाथ के दो जैनमंदिरों का होना सिद्ध होता है। शातिनाथ मंदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमें बदनावर से प्राप्त अछुष्टादेवी की मूर्ति पर के लेख में पाया जाता है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि सवत १२२६ (ई० ११७२) की बैशाख कृष्ण पंचमी को वह मूर्ति वर्धमानपुर के शातिनाथ चैत्यालय में स्था-

पित की गई।

विदिशा जिले के ग्यारसपुर नामक स्थान पर जैन मंदिरों के भग्नावशेष मिले हैं। मालवा में जैन मंदिरों के जितने भग्नावशेषों का पता अभी तक चला है, उनमें प्राचीनतम अवशेष यही पर उपलब्ध हुए हैं। इस मंदिर का मंडप विद्यमान है और विन्यास एवं स्तम्भों की रचना शैली खजुराहों के समान है। फर्गुसनने इनका निर्माण काल १०वीं शताब्दी के पूर्व निर्धारित किया है। यही पर एक और मंदिर के अवशेष मिले थे, किन्तु जब उस मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ तो उसमें अपनी मौलिकता ही खो दी। फर्गुसन के मतानुसार ग्यारसपुर के आसपास के समस्त प्रदेश में इनके भग्नावशेष विद्यमान हैं कि यदि उनका विधिवत संकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तुकला और विशेषतः जैनवास्तुकला के इतिहास के बड़े दीर्घ रिक्त स्थान की पूर्ति की जा सकती है।

खजुराहों शैली के कुछ मंदिर ऊन नामक स्थान पर प्राप्त हुए हैं। यह स्थान खरगोन नगर के पश्चिम में स्थित है। ऊन के दो तीन अवशेष एक मुसलमान ठेकेदार द्वारा ध्वस्त कर दिये गए थे तथा इनके पत्थर आदि का उपयोग सड़क निर्माण के कार्य में कर लिया। उत्तरी भारत में खजुराहों को छोड़कर इतनी अच्छी स्थिति में ऐसे मंदिर मिलने वाला और कोई दूसरा स्थान नहीं है। ऊन के मंदिरों की दीवारों पर की कारीगरी खजुराहों से कुछ कम है किन्तु शेष सब बातों में सरलता से ऊन के मंदिरों की तुलना खजुराहों से की जा सकती है। खजुराहों के समान ही ऊन के मंदिरों को भी दो प्रमुख भागों में विभाजित

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृष्ठ ३३२-३३

२ History of Indian and Eastern Architecture Vol. II PP. 55

३ वही पृ० ५५

किया जा सकता है—१-हिन्दू मंदिर और २. जैनमंदिर। ऊन में एक राज्याधिकारी द्वारा दक्षिण-पूर्वी सतह पर खुदाई करने पर वहां कुछ पुरानी नींव और बहुत बड़ी मात्रा में जैन-मूर्तियां निकली थीं। उनमें से एक मूर्ति पर विक्रम सं० ११८२ या ११६२ अर्थात् ई० सन् ११२५ या ११३५ का लेख खुदा हुआ है जिसके द्वारा यह विदित होता है कि यह मूर्ति आ० रत्नकीर्ति द्वारा निर्मित की गई थी'। डा० हीरालाल जैन का कथन है कि मंदिर पूर्णतः पाषाण खण्डों से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह, सभामंडप युक्त प्रदक्षिणा रहित है। जिनसे प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो की कलासे मेल खाता है। चतुर्द्वार होनेसे दो मंदिर चौबारा डेरा कहलाते हैं। स्तम्भों पर की कुछ पुरुषस्त्री रूप आकृतियां शृंगारात्मक अति सुन्दर और पूर्णतः सुरक्षित हैं। यद्यपि इस चौबारा डेरा मंदिर का शिखर ध्वस्त हो गया है। फिर भी ऊन के सुन्दरतम अवशेषों में से एक है। मंडप के सम्मुख ही एक बड़ा बरामदा है। किन्तु आसपास कोई बरामदा नहीं है। मंडप आठ स्तम्भों वाला वर्गाकार है। मध्य में गोल गुम्बद है तथा चार द्वार हैं जिनमें से एक देवालय की ओर पूर्व और पश्चिम वाले द्वार बाहर की ओर तथा शेष बचा हुआ चौथा द्वार मंडप की ओर है देवालय छत रहित है, लेकिन इसमें दिगम्बर मूर्तियां हैं। उनमें से एक पर विक्रम सं० १३ (१२४) का एक लेख है।

इस मंदिर से कुछ ही दूरी पर दूसरा जैन मंदिर है जो आज कल ग्वालेश्वर का मंदिर कहलाता है। इसका यह नाम इसलिये पड़ा कि यहाँ पर ग्वालें प्रतिकूल मौसम (गमी-वर्षा) में आश्रय लेते हैं। इनकी रचना शैली आदि भी चौबारा डेरा मंदिर जैसी ही है। इस मंदिर में भी दिगम्बर जैन मूर्तियां हैं। मध्य वाली प्रतिमा १२॥ फुट के लगभग ऊँची है। कुछ मूर्तियों पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। जिसके अनुसार वे विक्रम सं० १२६३ अर्थात् ई० सन् १२०६ में भेंट की गई थी। यहाँ उसी प्रकार की सीढ़ियाँ बनी

हुई हैं। जिस प्रकार की सीढ़ियाँ खजुराहो की ऋषभदेव प्रतिमा के पास और गिरनार में बनी हुई हैं। ये मंदिर ११वीं और १२वीं सदी के आसपास निर्मित किये गए हैं'।

इस स्थान को पावागिरि ठहराया गया है जिसका प्राकृत निर्वाण काण्ड में दो बार उल्लेख आया है^१—

रामसुग्रा वेणिं जणा लाडणरिदाण पच्च कोडीगो।

पावागिरि वर सिंहरे णिब्बाण गया णमो तेसिं ॥ ५ ॥

पावागिरि वर सिंहरे सुवण्ण भट्ठाई-मुणिबरा चउरो।

चलणा-णई-तडगमे णिब्बाण गया णमो तेसिं ॥ १४ ॥

चूक क्षेत्र के आसपास सिद्धवर कूट तथा बड़वानी के दक्षिण में चूलगिरि शिखर का सिद्धक्षेत्र है तथा आसपास और भी प्राचीन अवशेष व स्थल हैं। इसी से यह स्थान डा० हीरालाल जैन^२ को दूसरा पावागिरि प्रमाणित लगता है। किन्तु प० नाथूगम प्रेमी दूसरा पावागिरि ऊन को न मानते हुए ललितपुर एवं भासी के निकट "पवा" नामक ग्राम को पावा शब्द के अधिक निकट मानते हैं^३। अर्थात् प्रेमी जी पवा को पावागिरि मानते हैं।

११वीं सदी में जैन मंदिरों के कुछ अवशेष नरसिंह गढ़ जिला राजगढ़ (व्यावग) से ६ मील दक्षिण में स्थित बिहार नामक स्थान पर भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ जैसे मंदिरों के साथ ही हिन्दू, बौद्ध व इस्लाम धर्म के अवशेष मिले हैं^४। इसके अतिरिक्त डा० एच० डी० त्रिवेदी^५ ने निम्नांकित स्थानों पर भी जैन मंदिरों के अवशेष बताये हैं जो इसी काल के हैं।

(१) बीजवाड़ा—यह स्थान देवास जिले में है तथा देवास के दक्षिण पूर्व में इन्दौर से ४५ मील की दूरी पर

१ Progress Report of Archaeological Survey of India W.C. 1919 PP. 63-64

२ डा० हीरालाल जैन वही पृ० ३३१ से उद्धृत

३ वही पृ० ३३१

४ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४३०-३१

५ Bibliography of Madhya Bharat Part I Archaeology Page 7

६ Bibliography of Madhya Bharat पृ० ७, ८, ९, १४, १८, २१, २४, ३३, ४४

१ Progress Report of Archaeological Survey of India W.C. 1919 PP. 61

२ भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० ३३१

स्थित है। यहाँ प्राचीन कालिक १०वी-११वी शताब्दी के जैन मंदिरों के अवशेष मिले हैं। विक्रम संवत् १२३४ का एक लेख भी यहाँ से मिला है।

(२) बोंथला —बूढी चंदेरी जिला गुना से ५ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यहाँ १२वी सदी के जैन-मन्दिरों की प्राप्ति हुई है।

(३) बोरो —यह ग्राम जिला भाबुआ में स्थित है। यहाँ भी जैन मन्दिर मिले हैं तथा एक सीढ़ीदार कुआँ भी मिला है।

(४) छपेरा — जिला राजगढ़ (व्यावरा) में है। जैन व हिन्दू मन्दिर मिले हैं। तीन मूर्तियों पर लेख भी उत्कीर्ण है।

(५) गुरिला का पहाड़ —यह स्थान चंदेरी जिला गुना से आठ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ दो दिगम्बर जैन मन्दिर मिले हैं। वहाँ के एक मन्दिर में एक यात्री का सं० १३०७ का लेख यह मिट्टी करता है कि यह मंदिर इसके पूर्व का बना हुआ है।

(६) कड़ोद :—घार से उत्तर पश्चिम की ओर १४ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ एक जैन मन्दिर व हिन्दू मन्दिर तथा सीढ़ीदार कुआँ मिला है।

(७) पुरागुलाना :—मन्दसौर जिले में बोलिया ग्राम से ४ मील की दूरी पर स्थित है तथा गरोंठ के डामर रोड से जुड़ा हुआ है। यहाँ ११वी शताब्दी १२वी शताब्दी का एक जैन मन्दिर व कुछ प्रतिमाएँ हैं। यहाँ से एक संस्कृत का शिलालेख भी मिला है किन्तु उस पर कोई तिथि नहीं है। यह अभी इन्दौर पुरातत्त्व संग्रहालय में विद्यमान है।

(८) बई खेड़ा —मन्दसौर के समीप थंडा रेलवे स्टेशन से २ मील की दूरी पर है। यहाँ पर एक जैन मन्दिर है। दीवालें और छत पर अच्छी चित्रकारी है। दरवाजे की चौखट पर १२वी शताब्दी का नामवाला एक लेख भी है। यहाँ का भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर लगभग १००० वर्ष पूर्व बना प्रतीत होता है^१। यह जैनियों का तीर्थस्थान भी है।

१ जैन तीर्थ सर्वसंग्रह भाग २ पृ० ३३४

इसके अतिरिक्त "लक्ष्मणी" जिला भाबुआ में भी एक जैन मन्दिर और मूर्तियाँ मिली हैं। यह स्थान भी जैन तीर्थ है। इसकी प्राचीनता इस बात से सिद्ध होती है कि संवत् १४२७ में निमाड की तीर्थ-यात्रा पर निकले जैन-तीर्थ-यात्री श्री जयानन्द मुनि ने अपने प्रवासगीति में इस तीर्थ का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार यहाँ पर जैनियों के २००० घर थे तथा १०१ शिखर बन्द मन्दिर थे। संवत् १४२७ के उल्लेख में यह बात प्रमाणित होती है कि यहाँ के मन्दिर संवत् १४२७ के पूर्व बने होंगे। "मुकुत सागर" में ऐसा उल्लेख मिलता है कि पेशव कुमार मन्त्रीश्वर के पुत्र भाभण कुमार ने माडवगढ़ से शत्रुजय का मघ निकाला था जो लक्ष्मणी आया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सोलहवी शताब्दी तक पूर्णरूपेण सभी जैनियों को यह तीर्थ विदित था^२। सोलहवी सदी में या इसके पश्चात् यह स्थान किस प्रकार ध्वस्त हुआ, कोई जानकारी नहीं मिलती है। यदि पूरे मालवा के जैनमंदिरों का इतिहास खोजा जाए तो उसमें अधिकांश मध्यकालीन मिलेंगे। किन्तु इन जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के परिणाम स्वरूप ये अपनी मौलिक स्वरूप खोने लगे और इस प्रकार उनकी प्राचीनता नष्ट होती गई।

माडव और घार में भी जैनमंदिरों का बाहुल्य था। किन्तु अब सब नष्ट हो चुके हैं। कुछ जैन मंदिरों का उपयोग मस्जिदों के रूप में कर लिया गया है^३। माडव में ७०० जैन मन्दिर होने का उल्लेख मुकुतसागर में मिलता है जिनमें से ३०० जैन श्वेताम्बर मन्दिरों पर पेशवदेव और उनके पुत्र भाभणदेव ने सोने के कलश चढ़ाए थे^४। माडवगढ़ के जैन मन्दिरों को ध्वस्त करने अथवा परिवर्तित करने का एक अलग प्रकरण हो जाता है। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि यदि माडवगढ़ में इतनी अधिक संख्या में मन्दिर थे तो वे कहाँ गये? माडवगढ़ में आज भी अनेक भग्नावशेष हैं, उनकी वास्तविकता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। परमार काल में घार में

१ जैन तीर्थ सर्वसंग्रह भाग २ पृ० ३१३-१४

२ फर्गुसन वही पृ० २६३-६४

३ श्री माडवगढ़ तीर्थ-नदलाल लोढ़ा पृ० १८

संगमरमर के जैन मन्दिर का भी निर्माण हुआ था^१।

इस युग में जिस प्रकार जैन मन्दिरों का बाहुल्य है ठीक उसी प्रकार जैन प्रतिमाओं का भी होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि बिना प्रतिमा के मन्दिर कसा ? मन्दिरों के अतिरिक्त भी प्रतिमाओं के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। प्राचीन मन्दिरों के उल्लेखित स्थानों पर तो प्रतिमाओं के सुन्दर उदाहरण हैं ही किन्तु कुछ प्रतिमाओं के और नमूने मिले हैं जिनमें घसोई जिला मदसौर, गधावल जिला देवास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। घसोई के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वहाँ पर मूर्तियाँ इस बाहुल्य के साथ प्राप्त होती हैं कि खेतों, खालिहानों एवं घरों की दीवारों पर भी इनके उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

गधावल में भी घरों, कुओं, उद्यानों एवं खेतों में बिखरी हुई प्रस्तर प्रतिमाएँ हैं जिनकी संख्या लगभग दो सौ है^२। ये प्रतिमाएँ भी परमार युगीन दसवीं शताब्दी की हैं। बाबू छोटेलाल जैन^३ ने अपने एक लेख “उज्जैन के निकट दि० जैन प्राचीन मूर्तियों” में गधावल के जैन पुरातत्त्व की विशेष चर्चा की है। गधावल के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय यह है कि यहाँ सभी दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ हैं।

विशाल प्रतिमाओं की परम्परा में बड़वानी नगर के समीप चूलगिरि पर्वत श्रेणी के तलभाग में उत्कीर्ण ८४ फीट ऊँची खड्गासन प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। इसे बावनगजा के नाम से भी पुकारते हैं। इसके एक ओर यक्ष तथा दूसरी ओर यक्षिणी उत्कीर्ण हैं^४। दि० जैन डिरेक्टरी के अनुसार चूलगिरि में २२ मन्दिर हैं। मंदिरों

के जीर्णोद्धार का समय १२३३, १३८० और १५८० वि० सवत है^५।

जैन प्रतिमाओं का एक विशाल संग्रह “श्री जैन पुगत्तत्त्व भवन जयसिंहपुग उज्जैन” में भी है। यहाँ पर विभिन्न तीर्थकरों की प्रतिमाओं के साथ ही अन्य प्रतिमाएँ भी हैं। अधिकांश प्रतिमाएँ दिगम्बर हैं। कुछ श्वेताम्बर प्रतिमाएँ भी दिखाई देती हैं। इस संग्रह की सभी प्रतिमाएँ कहीं न कहीं से खण्डित हैं। कई प्रतिमाओं के मिर नहीं हैं तो कई के घड़ नहीं हैं। कुछ प्रतिमाओं के हाथ पैर टूटे हैं। ये प्रतिमाएँ यहाँ अनेक स्थानों से लाकर रखी गई हैं। जिनमें से प्रमुख गुना जिला है। कुछ प्रतिमाएँ मुरु-जेर, बदनावर तथा रतलाम जिलों में भी यहाँ ग्राई हैं। अधिकांश प्रतिमाओं पर लेख उत्कीर्ण हैं। किन्तु अधिक घिस जाने के कारण स्पष्ट रूप से पढ़ने में नहीं आते हैं। एक खण्डित प्रतिमा जिसका केवल निम्न भाग ही शेष है, पर सवत १२२२ का लेख है। इस प्रतिमा पर “स्वात्मिक” चिन्ह है—जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि यह प्रतिमा १०वें तीर्थकर भगवान शोतलनाथ जी की है। भगवान अजितनाथ जी की एक प्रतिमा जो कि खण्डित है गुना से प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा पर स० १२३१ का लेख उत्कीर्ण है किन्तु घिस जाने के कारण पढ़ने में बराबर नहीं आता है। भगवान पार्श्वनाथ की जितनी प्रतिमाएँ हैं उनमें सर्पफण अभी भी लगभग पूर्ण है। यहाँ के संग्रहालय की लगभग सभी प्रतिमाएँ लाल अथवा भूरे रेतिले पत्थर की हैं। कोई कोई प्रतिमा ही काले पत्थर की दिखाई देती हैं।

सम्पूर्ण मालवा के जैन पुरातत्त्व के विषय में अन्वेषण आवश्यक है जिससे अनेक रहस्य प्रकट होने की सम्भावना है।

१ उज्जयिनी दर्शन पृ० ८४

२ अनेकान्त वर्ष १९११-२ पृ० १२६

३ अनेकान्त वर्ष १२।१० पृ० ३२४-२८

४ डा० हीरालाल जैन वही पृ० ३५०

५ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४४२

उपाध्याय मेघविजय के मेघमहोदय में उल्लिखित :

कतिपय अप्राप्त रचनाएँ

अगरचन्द नाहटा

जैन विद्वानों ने प्राचीन साहित्य के संरक्षण और नवीन साहित्य के सृजन में जैसी तत्परता दिखाई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस समय भुव्ण की सुविधा नहीं हुई थी उस समय हस्तलिखित प्रतियों को लिखना कितना कष्टसाध्य था इसकी कुछ भाँकी कतिपय प्रतियों के लेखकों ने लेखन के अन्त में कुछ श्लोक दिये हैं उनसे मिल जाती हैं। जैन विद्वान जो भी अच्छा ग्रंथ जहाँ भी जिस किसी के पास देखने उसकी नकल अपने व्यक्तिगत उपयोग या जानभण्डारों के लिए कर लिया करते थे। इसी कारण जैन ही नहीं जैनतर हजारों-छोटी-बड़ी रचनाएँ उनके द्वारा लिखी हुई आज भी प्राप्त हैं। यद्यपि जितनी बड़ी सख्या में हस्तलिखित प्रतियाँ लिखी गई थी उसका बहुत बड़ा अंश नष्ट हो चुका है फिर भी बहुत-सी ऐसी जैनतर रचनाएँ जैन भण्डारों में हैं जिनकी अन्य कोई भी प्रति किसी जैनतर संग्रहालय में नहीं मिलती। हस्तलिखित प्रतियाँ प्राचीनतम एवं शुद्ध ही जैन भण्डारों में अधिक मिलती हैं। इतनी तत्परतासे वृद्धि और संरक्षण करने पर भी आज हजारों जैन रचनाएँ भी अलभ्य हो गई हैं। उनमें से कुछ का उद्धरण और कुछ का उल्लेख अन्य ग्रंथों में पाया जाता है। जिससे विदित होता है कि उस समय तक तो वे रचनाएँ प्राप्त थी पर आज उनका कहीं भी पता नहीं लगता। यद्यपि जैन भण्डार या ग्रंथ-संग्रह भारत के कोने-कोने और सैकड़ों स्थानों में हैं और सबकी सूची नहीं बनी है जिनकी सूची बनी हुई है उनकी भी जानकारी प्रकाशित नहीं हुई है इसीलिए यह सम्भव है कि वे अलभ्य मानी जाने वाली रचनाएँ उन संग्रहालयों में अब भी सुरक्षित हो जिन संग्रहालयों की सूची एवं जानकारी अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाई। विगत कुछ वर्षों में ऐसी अलभ्य रचनाएँ खोज में भी प्राप्त हुई हैं इसीलिए

जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई है उनके सम्बन्ध में शोध प्रेमी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत लेख में ऐसी ही कुछ रचनाओं की चर्चा की जा रही है।

१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उपाध्याय मेघविजय एक बहुत बड़े विद्वान हो गए हैं। जिन्होंने कई महाकाव्य प्रबन्ध काव्य लघुकाव्य और विलक्षणकाव्य बनाने के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष, आदि अनेक विषयों के ग्रंथ बनाए हैं। इनके बहुत से ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुके हैं। कई वर्ष पहले मैंने इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में एक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित किया था। मुनि जिन विजयजी सम्पादित सिध्दी जैन ग्रंथमाला में मेघविजय जी के २-३ ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं। उनके सम्पादकों ने भी मेघविजयजी की रचनाओं का विवरण दिया है। खेद है जिस महान विद्वान को स्वर्गवासी हुए केवल २७५ वर्ष भी पूरे नहीं हुए उनकी रचनामयी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। हमारे संग्रह में उनके चरित्र एक चित्र काव्य विजयि लेख है जिसकी पूर्ण प्रति अभी तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुई। महोपाध्याय विनयसागर जी ने मेघविजयजी की रचनाओं के सम्बन्ध में एक खोज पूर्ण निबन्ध लिखा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इसमें उनकी कुछ ऐसी रचनाओं का भी उल्लेख किया गया है जो अब तक अज्ञात थी मैंने भी ऐसी दो अज्ञात रचनाओं की खोज पहले की थी और १-२ लेख जैन मत्स्य प्रकाश आदि में प्रकाशित किये थे। सिध्दी जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित की।

प्रस्तावना में मेघविजयजी की रचनाओं की नामावली दी है। उनमें कुछ की प्रतियाँ अभी तक हमें देखने को नहीं मिली। उनका उल्लेख भी विनयसागर जी के रचित मेघ महोदय-वर्ष प्रबोध नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ में

उल्लिखित अन्य विद्वानों की ऐसी रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है जिनका उपयोग मेघविजयजी ने अपने उक्त ग्रन्थ में किया है। पर उनकी पूरी प्रतियां मेरी जानकारी में प्राप्त नहीं हैं। जिस किमी मज्जन को वे रचनायें कही मिल जायें तो उसकी वे जानकारी भूके सूचित करने या प्रकाशित करने का कष्ट करें। चूंकि मेघ-महोदय में मेघ अर्थात् वर्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण विवरण है। इसलिए यह ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है। और इस ग्रन्थ में जितने अलम्ब्य रचनाओं का उद्धरण व उल्लेख हैं वे भी अवश्य ही महत्व की होंगी। मेघ महोदय हिन्दी अनुवाद सहित पं० भगवानदास जैन ने सन् १९८३ में बीकानेर में रहते समय प्रकाशित किया था। उनसे भी इन अलम्ब्य रचनाओं सम्बन्धी पूछा गया तो उत्तर मिला कि ग्रन्थ प्रकाशन को ४० वर्ष हो जाने पर भी इन रचनाओं की प्रतियां उन्हें कही भी नहीं मिल सकी हैं।

मेघ महोदय में 'हीर मेघमाला' नामक ग्रन्थ का उल्लेख और उद्धरण अनेक स्थानों में मिलता है इस ग्रन्थ के नाम से जैसा कि लगता है कि इसकी रचना तपागच्छ के हीरविजय सूरि ने की और इसका स्पष्ट उल्लेख मेघ-महोदय में है। इस ग्रन्थ के उद्धरण मेघमहोदय के ४४ ४१-६२, २३७, २३६, २५३, २५८, २६०, २६४, २८६, २६२, ३११, ३१६, ३४०, ३४२, ३५०, ३८५, ४१४, ४५१, ४६०, ४६१, ५१२, इन स्थानों में हुआ है। उद्धृत गाथायें व श्लोक प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं के हैं। यहाँ कतिपय उद्धरण दिये जा रहे हैं —

हीर मेघमालायामपि—

परिवेष वाय वहल संभारागं च इंदधनु होइ ।

हिम करइ गज्ज विज्जु घंटा गढभो भणिर्एहि ॥२१८

जीवेम्यः पुट्टालाः सूत्रे पृथगेव समोरिताः ।

तेन केचिबजीवाः स्युर्महावृष्टेऽच हेतवः ॥२१९

जलयोनिकजीवादेः सद्भूतिः प्रच्युतिर्यथा ।

विचार्यते देशतस्ते तथा ग्रामे च मण्डले ॥२२०

यद्दिनेऽभ्रादिसम्भूतिर्मेघशस्त्रे निरूपिता ।

यथा सा वृष्टि हेतुः स्यात् तथाभ्रादेः परिच्युतिः ॥२२१

यदुक्तम्—

आर्द्रादौ दश ऋणाक्षि ज्येष्ठे शुक्ले निरीक्षयेत् ।

साभ्रेषु हन्यते वृष्टिनिरभ्रे वृष्टिरुत्तमां ॥२२२
एवं देशनिवेश पुट्टालजलप्राण्यादि संमूर्च्छनाद् ।
हेतून् प्रागवगम्य सम्यगुदकासारस्य सारस्यदीन् ।

हीरविजयसूरि का तो कही पता नहीं चलता पर मेघजी हीरजी बम्बई से सन् १९२५ में प्रकाशित 'मेघ माला' विचार का रचयिता विजयप्रभसूरि बतलाया है। तथापि उसके ग्रन्थ में विजयप्रभसूरि के रचे जाने की प्रशस्ति नहीं है।

श्रीहीर विजयसूरि कृत मेघमालायां प्रोक्तम्—

रज्जुच्छबन्धि बाधो उत्तरो वहइ धननिष्फत्ति ।

पुष्पाई नीरबहु तो पच्छिम वाएण करवरयं ॥१०४

दक्षिण वाय दुकालो अहवा बज्जेई वाउ चउदितो ।

तह लोय उवद्वष जुज्झइ राधा खओ लोए ॥१०५

क्वचित्तु-पूर्ववाते तीइशुका मत्कुणा मूषकादयः ।

वारुणे तु युगन्धर्या निष्पत्तिर्बहुला भुवि ॥१०६

दूसरे ग्रन्थ दुर्गदेव के मृष्टि सवत्सर के उद्धरण मेघ-महोदय में पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ की भी अन्य कोई पूरी प्रति जानने में नहीं आई। दुर्गदेव के अन्य कई ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमें से 'रिष्टसमुच्चय' तो प्रकाशित भी हो चुका है। दुर्गदेव ज्योतिष आदि के अच्छे जैन विद्वान् मालूम होते हैं। अतः उनका मृष्टि सवत्सर अवश्य ही उल्लेखनीय कृति है जिसकी खोज की जानी चाहिए। दुर्गदेव की रचनायें प्राकृत भाषा की प्राप्त हैं। मेघमहोदय के प्राग्भ में संस्कृत और फिर प्राकृत मूलगाथा दी गई है। उद्धरण इस प्रकार हैं :—

अथ जैनमते दुर्गदेवः स्वकृतषष्टि संवत्सरग्रन्थे पुनरेवमाह—

ओं नमः परमात्मनं वन्दित्वा श्रीजिनेश्वरम् ।

केवलज्ञानमास्थाय दुर्गदेवेन भाष्यते ।१

पार्थ उवाच—

भगवन् दुर्गदेवेश ! देवानामधिप ! प्रभो !

भगवन् कथ्यतां सत्यं संवत्सरफलाफलम् ॥२

दुर्गदेव उवाच—

शृणु पार्थ ! यथावृत्तं भविष्यन्ति तथाद्भुतम् ।

दुर्भिक्षं च सुभिक्षं च राजपीडा भयानि च ॥३

एतद् योऽत्र न जानाति तस्य जन्म निरर्थकम् ।

तेन सर्वं प्रवक्ष्यामि विस्तरेण शुभाशुभम् ॥४

प्रभव विभवौ शुभौ, शुक्लोऽशुभः, प्रमोद प्रजापती—
शुभौ, अङ्गिरा अशुभः, श्रीमुखभावौ शुभौ, युवा विरुद्धः,
धाना समः, ईश्वर बहुधान्यौ शुभौ, प्रमाथी विरुद्धः,
विक्रमवृषभौ शुभौ, चित्रभानुविरुद्धः, सुभानुतारणी शुभौ,
पार्थिवो विरुद्धः, व्ययः समः ॥इति प्रथमा विशतिका॥
भणियं दुग्गदेवेण जो जाणइ वियक्खणो ।

सो सव्वत्थ वि पुज्जो णिच्छयओ लद्धलच्छोय ॥१

डा० गोपाणी के कथनानुसार रिष्ट समुच्चय का दूसरा नाम कालज्ञान भी है। अर्थात् मृत्यु के पहले उसका ज्ञान प्राप्त करने का विवरण इस रिष्ट समुच्चय में है। प्रत्येक मानव के लिये विशेष अन्तिम आराधना की तैयारी के लिए मृत्यु ज्ञान की विशेष आवश्यकता है ही।

रिष्ट समुच्चय अपने ढंग का एक ही ग्रन्थ है। इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। पहला संस्करण अध्यापक अमृतलाल गोपाणी ने संस्कृत छाया और अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। दूसरा संस्करण उन्ही के सम्पादित सिंधी जैन ग्रन्थमाला से विस्तृत रूप में प्रकाशित हुआ। तीसरा संस्करण डा० नेमीचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य का हिन्दी अनुवाद सहित जवरचन्द फूलचन्द गोधा जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर से संवत् २००५ में निकला। उसमें दुर्गदेव की अन्य रचनाओं में अरघ कांड, मत्र महोदधि और मरण कण्डिका है। रिष्ट समुच्चय और मरण कण्डिका एक ही विषय की लघु-वृद्ध रचनाएं हैं। अरघकाण्ड में तेजी मदी का विवरण १४६ गाथाओं में है। मत्र महोदधि ३६ गाथा का छोटा सा ग्रन्थ है जिसके अन्तिम उल्लेख से दुर्गदेव दिगम्बर सिद्ध होने हैं।

श्री नेमीचन्द्र शास्त्री ने अरघकाण्ड का परिचय देते हुए लिखा है कि 'इसमें ६० सवत्सरो के फलाफल का भी संक्षेप में सुन्दर वर्णन है।' अतः सम्भव है मेघविजय में उल्लिखित दुर्गदेव का सृष्टि सवत्सर अरघकाण्ड का ही अंग हो। उक्त ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत पाठ मिलाकर निर्णय करना आवश्यक है।

तीसरा अलभ्य ग्रन्थ दिगम्बर केवलकीर्ति के मेघमाला का उल्लेख एवं एक श्लोक इस प्रकार है—

केवलकीर्ति—दिगम्बर कृत मेघमालायां पुनरेव—
आगच्छति यथा भूपे गेहे गेहे महोत्सवः ।

तथा वर्षाधिपेलोके दीप्तदीपोत्सवः स्मृतः ॥२३

केवलकीर्ति दिगम्बरोऽप्याह—

माघस्य शुक्लसप्तम्यां यदाध्रं जायतेऽभितः ।

तदा वृष्टिर्घना लोके भविष्यति न संशयः ॥११८॥

स्वातियोगः—

माघे च कृष्णसप्तम्यां स्वातिवोगेऽभ्रगजितम् ।

हिमपाते चण्डवाते संबंधान्यः प्रजामुखम् ॥३१६

तथैव फाल्गुने चैत्रे वंशाखे स्वाति योगजम् ।

विद्युद्भ्रादिकं श्रेष्ठ-माषाढ़ेऽपि सुभिक्षकृत ॥३२०

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ३२४-३७४ और ४४३ में चातुर्मासिकुलक और पृ० ३५६ और ४८१ में तिथिकुलक की गाथाएं उद्धृत हैं। इनमें से पृ० ३७४ वाली उद्धृत गाथा से चातुर्मासिकुलक का ऊपर नाम देने पर भी मूलग्रन्थ का नाम अरघकाण्ड सिद्ध होता है। प्राकृत भाषा का यह अर्घकाण्ड दुर्गदेव के अर्घकाण्ड से भी भिन्न है। यह नेमीचन्द्र शास्त्री के उद्धृत दुर्गदेव के अर्घकाण्ड के प्रारम्भिक पद्य से स्पष्ट है। चातुर्मासिकुलक और तिथिकुलक कितने बड़े हैं यह तो उनकी पूरी प्रति प्राप्त होने पर ही विदित हो सकता है। मेघ महोदय में दिये गए उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं जिनसे इन ग्रन्थों को खोजने में सुविधा रहेगी।

चतुर्मास कुलके—

आषाढपुर्णिमाए पुष्पासाढा हविज्ज दिनराई ।

सा चत्तारि वि मासा खेम सुभिक्षं सुवासं च ॥६०

अह हेट्ठिमाय पुण्णिम मूलेण जाइ पढम बे पुहरा ।

ता वुन्न वि मासाओ दुभिक्षं उवरि सुभिक्षं ॥६१

अह उवरि बे पुहरा पुष्पासाढा हविज्ज नक्खत्तं ।

ता होइ दुण्णि मासा खेमसुभिक्षं वियाणाहि ॥६२

अहव पविसिऊण मूलं भुजइ चत्तारि पुहर जइ कहवि ।

ता चत्तारि वि मासा दुभिक्षं होइ रसहाणि ॥६३

अहवा उत्तरसाढा भुजइ चत्तारि पुहरमवियारं ।

ता जाणह दुक्कालं मासा उत्तरह चत्तारि ॥६४

अह भुजइ बे पुहरा पुष्पाउडुम्मि उत्तरसाढा ।

ता उवरि बे मासा होइ सुभिक्षाओ रसहाणि ॥६५

अह भुजइ बे पुहरा मूलं पुटवं हविज्ज नक्खत्तं ।

उवरि पुष्पासाढा दुक्खं पच्छा सुहं होइ ॥६६

नमिऊण तिलोयरवि जगबल्लह जलहरं महावीरं ।
 बुच्छामि अग्घकण्डं' अं कहियं जिणवरिदेण ॥२०६
 कत्तियपूनमविवसे कत्तियरिक्खं च होइ संपुनं ।
 ता चत्तारि वि मासा होइ सुभिक्षं सुहं लोए ॥२००
 सुरगुरु रविमुय घरणिमुय, जइ एकत्थ मिसंति ।
 भूमिकवाले मंडिया, भारी भीख भमन्ति ॥१४२
 जइ वक्कइ घरवि सुओ बिताहमहमूलकत्तियारुडो ।
 अन्नं कुणइ महगं इक्कं निवडं विणासेई" ॥१४२

तिथिकुल के विशेषः—

तिय उत्तरा य अद्दा पुणव्वसू रोहिणी य जइ कहवि ।
 हुंति किर पुणिमाए तम्मासे जाण दुब्भिक्षं ॥१२२
 फग्गुण पुणिमदिवसे पुव्वाफग्गुणि हविज्ज णक्खत्तं ।
 चत्तारि वि पुहराओ ता चउरो माससुभिक्षं ॥२५३
 बे पुहरा अहव महाणक्खत्तं होइ कहवि देववला ।
 ता जाणइ दुबे मासा होइ महगं ण संवेहो ॥२५४
 अह पुणा तदिवसे होइ महारिक्खयं जया कहवि ।
 चत्तारि वि मासा खलु ता जाणह विडुरं काल ॥२५५
 अह पुणिम दो पुहरा पुव्वाफग्गुणी हविज्ज णक्खत्तं ।
 उवरि उत्तरफग्गुणी दो पुहरा होइ जइ कहवि ॥२५६
 ता पढमा दो मासा होइ सुभिक्षं सुहं न संवेहो ।
 दो उवरि पुणो मासा सस्सविणासेण बुक्कालो ॥२५७
 अट्ठ प्पहरा चउरो अहवा जइ होइ उत्तरा जोगो ।
 सस्साणं ता हाणी रसाण तह तिल्लवब्बाणं ॥२५८

तिथिपयन्ना (प्रकीर्णक) नामक एक रचना का उल्लेख तो जिनरत्नकोश में प्राप्त होता है। तिथिकुलक उससे भिन्न है या एक है इसका निर्णय तो तिथिपयन्ना में उप-रोक्त गाथाएं प्राप्त हैं या नहीं यह खोजने पर ही आधारित है।

जैसा कि पहले कहा गया है मेघमहोदय एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें अनेको ग्रन्थों का उल्लेख है। जैनोत्तर मेघमाला आदि का भी उपयोग किया गया है। एक विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ की चर्चा भी यहाँ कर देना आवश्यक है कि भद्रबाहु संहिता नामक ग्रन्थ संस्कृत का

१ अर्धकाण्ड का चातुर्मासकुलक के नाम से उल्लेखित किया जाना विचारणीय है।

तो प्रकाशित हो चुका है पर मेघविजय ने इस ग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं के भी उद्धरण दिए हैं। भद्रबाहु की रचना प्राकृत भाषा में होनी चाहिए, अतः इस प्राकृत भद्रबाहु संहिता की खोज अत्यावश्यक है। यहाँ मेघमहोदय में उद्धृत भद्रबाहु संहिता की श्रुत गाथाएं दी जा रही हैं :-

यदाहुः श्रीभद्रबाहु गुरु पादाः—

रेहाहिं किस्तियाइ अट्ठावीसं पि ठवह पंतीए ।
 निप्पाइऊण ताहिं सत्ताहिं नाडीहिं महभोई ॥६०
 नाडीइ जत्थ चंदो पावो सोमोय तत्थ जइ बोबि ।
 हुंती तहिं जाण बुट्टी इय भासइ भद्रबाहु गुरु ॥६१
 एसोवि य पुणचंदो संजुत्तो केवल्लोव जइ होइ ।
 केवल्लचन्दो नाडीइ ता नियमा दुट्ठिणं कुणइ ॥६२
 एयाणं पि य मज्जे अमियाइ तिए जलासओ अहिओ ।
 तुरियाए वायमिस्सो सेसासु समीरणो अहिओ ॥६३
 जइ सव्वाण वि जोगो गहाण अमियाइ तिगे अनावुट्टी ।
 अट्ठार १८ वार छुट्टुट्ठिण सेसासु फल जहापत्तं (?) ॥६४
 विजला वि वाउनाडी देइ जलं सोमखइरवहुजोगा ।
 जलनाडी तुच्छजलं पावाहिय जोगओ देइ ॥६५
 जइ वाउनाडीपत्ता सणिभोमा किमवि नहु जलं दिति ।
 सोमजुआ तेउ जलं अइसय जोएण बरिसंति ॥६६
 विससपर कुभमीणा सीहो कक्कडय विच्छियतुलाओ ।
 सजलाओ रासीओ सेसा मुक्का वियाणाहि ॥६७
 रविसणिभोममुक्का चंदविट्ठपो य बुहगुरु मुक्को ।
 एए सजला णिच्चं णायव्वा आणपुव्वोए ॥६८॥

—इति भद्रबाहुसंहिताया

मेघ महोदय के पृ० ३७ में भद्रबाहु के नामसे निम्नोक्त बात संस्कृत श्लोक में कही गई है—

क्रूरसंयुक्तसूर्येन्द्रोर्ग्रहणे नृपतिशयः ।

राष्ट्रभङ्ग इति प्राहुर्भद्रबाहुमुनीश्वराः ॥२०१॥

उपलब्ध संस्कृतभाषा की भद्रबाहु संहिता में इस आशय का कथन है या नहीं, अन्वेषणीय है।

मेघमहोदय में गौतम स्वामी भाषित राशिमंडल पृष्ठ १६६ से २०६ में दिया गया है। और पृ० ५०७-५०८ में इति गौतमीय ज्ञानं श्लोक ८७ से ९५ तक में दिया है। यह (शेष पृष्ठ ४८ पर)

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द शास्त्री

[अनेकान्त वर्ष २० किरण ५ से आगे]

बखतावरमल और रतनलाल ने वर्तमान चौबीसी पूजा पाठ सन् १८६२ में बनाया था^१। उस समय दिल्ली में अकबर (द्वितीय) का राज्य था। अकबर द्वितीय आलमशाह द्वितीय के बाद सन् १८०६ (वि० स० १८६३) में गद्दी पर बैठा था, इसने सभवत १३ वर्ष के लगभग राज्य किया। अतएव स० १८६४ तक इसी का राज्य रहा है। उस समय दिल्ली में राजा सुगनचन्द की शैली का विस्तार था। सुगनचन्द का पुत्र प० गिरधारी लाल था। जो प्राकृत-संस्कृत और हिन्दी का अच्छा विद्वान था। और अपने प्रपिता (पितामह) द्वारा बनवाए हुए मन्दिर की शाम्भ सभा में शास्त्र प्रवचन करता था। दिल्ली की उस शैली में प० सुगनचन्द, प० गिरधारीलाल म्नेहीलाल, कानजीलाल, जैजलाल, गुपालराय और साहिब सिंह आदि सज्जन थे। पचकल्याणक पूजापाठ की रचना भी इन्होंने स० १८६२वे में की थी^२।

सहारनपुर के लाला सौदागरमल ने एक पत्र बखतावरमल को, 'जिनदत्तचरित्र' की भाषा करने के लिये लिखा था और प्रेरणा की थी कि इसकी भाषा जल्दी बन जाय, तो बड़ी कृपा होगी। इन्होंने अपने मित्र की सलाह से भाषा बनाना स्वीकार कर लिया था। और इसके लिये उन्होंने प० गिरधारीलालजी से प्रार्थनाकी थी कि आप हमें संस्कृत का हिन्दी अर्थ बनला दे। तब गिरधारीलालने उन्हें संस्कृत पद्यों का हिन्दी में अर्थ बतलाया और तब उन्होंने उसकी भाषा बनानेका उपक्रम किया। लाला आनन्दरायने भी प्रेरणा की थी। तब इन्होंने स० १८६४ में माघ कृष्ण नवमी के दिन उक्त ग्रन्थ का पद्यानुवाद किया था^३।

१ सवत् अष्टादशशत और बाणवे जान ।

फागुन कारी सप्तमी भौमवार पहचान ॥

२ संवत् अष्टादश जु कहिये और बाणवे तापर दीन ।

भादों की दोयज सुखकारी चन्द्रवार दिन पूरन कीन ॥

पश्चात् दोनों मित्रों ने संवत् १८६६ में आराधना कथा कोप का पद्यानुवाद सवत् १८६६ में पूर्ण किया था^४। उस समय दिल्ली में बहादुरशाह (द्वितीय) का राज्य था। वह सन् १८३७ (वि० स० १८६४) में तख्त पर बैठा था। कवि ने उसी के राज्य में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ भी पहले प्रकाशित हो चुका है। इस तरह दिल्ली के इन दोनों विद्वानों ने गृह कार्यों में रत रहते हुए जो साहित्य-सेवा की है वह अनुकरणीय है।

३५वें पं० फतेहचन्द जी है। आप का जन्म अग्रवाल कुल में हुआ था। आपके द्वारा लिखी हुई 'जैन यात्रा दर्पण' नामकी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

३६वें कवि जगदीशराय है। आप का वंश भी अग्रवाल था। आप हिन्दी और फारसी भाषा के अच्छे विद्वान थे। आप का जन्म संवत् १६०२ में हुआ था। आप बाल्य अवस्था से ही जैन सिद्धान्त के रसिक थे। आपने ज्योतिष और रमल में भी अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। आप के पद बड़े सुन्दर और सरल हैं। आप की एक मात्र रचना 'जगदीश विलास' है, जो प्रकाशित हो चुका है आपके पदों में फारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग जहाँ-तहाँ हुआ है। आपका अवसान ६१ वर्ष की अवस्था में सन् १६६३ में हुआ था।

३७वे विद्वान् प० गिरधरलाल जी है, जो राजा सुगनचन्द के पुत्र और राजा हरमुखराय के पौत्र थे। आपने सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी प्राकृत-संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था। और जैन सिद्धान्तके अनेक

३ सवत् विक्रम नृपति का अट्टारहमै मान ।

तापे अधिक चौरानवे, माघ कुण्ण पक्ष जान ॥

४ संवत् विक्रम नृपति को वृष अरु ज्ञान मिलाय ।

नारायण लेश्यातनी संज्ञा सर्व गिनाय ॥

ग्रीष्म ऋतु वंशाख फल पक्ष जान अभियार ।

सिद्ध जोग शुभपंचमी वृश्चिक शशि गुरुवार ॥

ग्रन्थों का मनन किया था, जिससे वे उसके रहस्य से परिचित हो गए थे। वे धर्मपुरा के नये मन्दिर की शास्त्र सभा में प्रवचन करते थे। और जो जिज्ञासु साधर्मी आजाते थे उन्हें उसका अर्थ बतला देते थे। अनेक कवियों ने उनसे प्राकृत और संस्कृतका अर्थ सीखा था। आपने दिल्लीमें हिसार पानीपत अग्रवाल दि० जैन पचायत को कायम किया था। उस समयकी जनतामें वे बड़े प्रतिष्ठित माने जाते थे। आप ने कोई ग्रन्थ रचना नहीं की। किन्तु रचयिताओं के कार्य में महयोग अवश्य दिया करते थे। जैनमित्रमंडल की लायब्रेरी में उनका फोटो भी लगा हुआ है। धनी होकर विद्वान होना कठिन है।

अडतीसवें विद्वान बाबू मूरजमान जी हैं, बाबू जी का जन्म नकुड़ जिला सहारनपुर में वि० सं० १९२५ में हुआ था। आप के पितामह लाला नागरमल जी तहसील दार थे और पिता लाला खुशवन्तराय जी नहर के जिलेदार थे।

सात वर्ष की उम्र के बाद आप जब तक पढ़ते रहे तब तक आप प्रायः अपने चाचा लाला अमृतराय जी के साथ रहे, आपके चाचा पेमायश और नक्शाकसी के मास्टर थे पहले होशियारपुर में और फिर लाहौर में। होशियारपुर में आपने मिडिल पास किया और लाहौर में सन् १८८५ (वि० सं० १९४२) में मैट्रिक। इसके बाद आप कालेज में भर्ती हुए; परन्तु इसी समय पिता जी का देहान्त हो जाने से आपको नकुड़, वापिस आना पड़ा।

नकुड़ में घर पर रह कर ही सन् १८८७ में आपने लोअर सब आर्डिनेट प्लीडर परीक्षा की तैयारी की और सन् १८८७ में पास हो गए। उन दिनों यह परीक्षा इलाहाबाद हाईकोर्ट की तरफ से होती थी।

प्लीडर हो जाने पर पहले एक साल तक तो आपने सहारनपुर में वकालत की, और उसके बाद आप देवबन्द आ गए और वहाँ सन् १९१४ तक वकालत करते रहे।

वकालत का पेशा आपको पसन्द न था, परन्तु परिस्थितियोंने कुछ ऐसा मजबूर किया कि आपको वकालत का कार्य करना ही पड़ा। परन्तु मन में उसके प्रति कसक बनी रही। और तीन-चार वर्षके बाद एक दिन तो मन में ऐसा उद्वेग हुआ और वकालत छोड़ने का निश्चय कर

लिया। आपने अपने बाबा से पूछा, परन्तु उन्होंने इस कारण कोई उत्तर न दिया, उन्होंने सोचा कि यह तार्किक व्यक्ति है। मैं न छोड़ने की दलीलें दूंगा, तो इसे ज़िद चढ़ जायगा। अन्त में आपने अपनी पत्नी से सलाह ली, तो पत्नी ने कहा इसे छोड़ो तो नहीं, परन्तु यह निश्चय कर लो कि सच्चे मुकदमे ही किया करूंगा, भूठे नहीं। आमदनी थोड़ी होगी, तो थोड़े में ही गुजर कर लूंगा। यह बात बाबूजीको जँच गई। उन्होंने उक्त निश्चयानुसार वकालत जारी रखी और थोड़े ही दिनों में आपकी सचाई की शोहरत हो गई और उसका हाकिमो पर भी महाप्रभाव पड़ा।

आपका विवाह सन् १८८२ में ११ वर्ष की अल्प उम्र में हो गया था, परन्तु सन् १८८६ के लगभग पत्नी का वियोग हो गया। पश्चात् सन् १८९० में दूसरा विवाह हुआ। इससे आपके दो पुत्र हैं। कुलवन्तराय और सुखवन्तराय। कुलवन्तराय इन्जीनियर, और सुखवन्तराय इलाहाबाद में ओवरसियर हैं।

बाबूजी का सारा खानदान उर्दू, फारसी-दाँ था, धर्म से किमी को विशेष रुचि नहीं थी, माथमें अरुचि भी नहीं। पर्वों एवं त्यौहारों पर लोग मन्दिर जाते थे और उर्दू लिपिमें णमोकार मन्त्र, पद विनती आदि लिख पढ़ लिया करते थे। किन्तु स्त्रियाँ प्रति दिन मंदिर जाया करती थी।

आपने सबसे पहले होशियारपुर में लगभग बारह वर्ष की उम्र में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मुनि आत्माराम के व्याख्यान सुने जो वहाँ चातुर्मास में आकर रहे थे।

लाहौर में आपके चाचा का मकान जैनमन्दिर के पास ही था। यह मन्दिर दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों का संयुक्त था। आप उसमें रोज दर्शन करने जाते थे और शास्त्र भी सुनते थे। उससे आपको जैनधर्म के जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

उन्ही दिनों फर्रुखनगर से चौधरी जियालाल ने 'जैन प्रकाश' नामका मासिक पत्र निकाला, आपको वह अत्यन्त प्रिय लगा, और आपने घर-घर घूम कर उसके अनेक ग्राहक बनाये। वहाँ के प्रायः सभी दिगम्बर घरों में वह पत्र आने लगा था। जैन समाज में हिन्दी का संभवतः

यह पहला पत्र था। दक्षिण की जैन समाजको जागृत करनेवाले सेठ हीराचन्द नेमचन्द द्वारा संभवतः उस समय 'जैन बोधक' भी निकलने लगा था।

सन् १८८५ के लगभग मुरादाबाद के मुंशी मुकुन्द-रायजी और प० चुन्नीलालजी ने निश्चय किया कि जैन समाजकी उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न किया जाय। मुंशी जी संस्कृत, फारसी और अरबी के पंडित थे और जमींदार भी थे और प० चुन्नीलालजी संस्कृतज्ञ विद्वान् थे और आदतका काम करने थे। दोनों विद्वानों ने जगह-जगह भ्रमण किया, जैन सभाएं तथा जैनपाठशालाएं स्थापित की। इन्होंने एक 'जैन पत्रिका' भी प्रकाशित की थी, जिसमें उनके भ्रमणका वृत्तान्त रहता था और वह सब जगह मुफ्त भेजी जाती थी। मुंशी मुकुन्दरायजी बड़े सभा-चतुर थे। अपने प्रवाम में उन्होंने बड़े कार्य किये—एक तो मथुरा में जैन महासभा की स्थापना की और राजा लक्ष्मणदास जी सी० आई० ई० को उसका अध्यक्ष बनाया और दूसरे अलीगढ़ में प० छेदालालजी की अधीनता में एक बड़ी पाठशाला जैन विद्वान तैयार करने के लिए की।

उक्त दोनों विद्वानों के कार्य का बाबूजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बाबूजी उन्हें अपना गुरु मानते थे, और उन्होंने उनके पदचिन्होंका अनुसरण भी किया। अब बाबूजीने जैन ग्रन्थों के स्वाध्याय में मन लगाया और धीरे-धीरे जैनधर्म की यथेष्ट जानकारी प्राप्त कर ली।

देवबन्द में वकालत करते हुए सन् १८९२ या ९३ में बाबूजी ने 'जैन हितोपदेशक' नामका मासिक पत्र उर्दू में जारी किया। उसमें 'उपदेशक फण्ड' कायम करने की अपील की गई और वह कायम भी हो गया। उसके मंत्री मुंशी चम्पतराय जी डिप्टी मजिस्ट्रेट बनाए गए और ज्योतिपरत्न चौधरी जियालाल ने उक्त फण्ड की ओर से दौरा शुरू किया।

दीपावली की छुट्टियों में सरमावा के हकीम उग्रसैन जी के साथ बाबूजी ने भी उक्त फण्ड की ओरसे एक लम्बा दौरा किया। इस दौरे में उन्हें मुरादाबाद में मालूम हुआ कि मथुरा में स्थापित महासभा का प० प्यारेलाल जी अलीगढ़ की कृपासे विघटन हो गया है। क्योंकि सोलापुर के स्व० सेठ हीराचन्द नेमचन्द ने महासभा के जलसे में

जैन ग्रन्थों के छपने का प्रस्ताव किया था। अतएव प० प्यारेलाल जी ने सोचा कि यदि महासभा रही तो जैनग्रन्थ छपने का बखेड़ा खड़ा हो जायगा इससे महासभा को समाप्त कर देना ही श्रेयस्कर है।

तब बाबूजी ने महासभा को फिर से पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया, जिसका प० चुन्नीलालजी ने अनुमोदन किया। और इटावा जाकर मुंशी चम्पतराय जी की भी अनुमति ली, अन्तर्गतवा मथुराके मेलेमें महासभा को पुनरुज्जीवित किया गया। बाबू चम्पतरायजी उसके महा-मंत्री बनाये गये। सभा की ओरसे एक साप्ताहिक पत्र भी निकालने का निश्चय किया गया और उसका नाम 'जैन गजट' रखा गया और उसके सबसे पहले सम्पादक बाबू सूरजभान जी बनाए गए। यह बात जैन गजट के प्रथम सम्पादक, यह घटना संभवतः सन् १९०१-२ की है।

बाबूजी ने 'जैन गजट' का सम्पादन कार्य डेढ़ वर्ष के लगभग किया। उसके अनेक ग्राहक बनाये जिनकी संख्या ५०० के हो गई थी। बाबूजी ने परिश्रम करके उसका मंचालन किया, उसका प्रचार खूब किया। वकालत करते हुए निस्वार्थ भाव से सेवा करना बहुत ही कठिन कार्य है। उस समय उनकी वकालत अच्छी चल रही थी। यद्यपि वकालत की ओर उनका आन्तरिक झुकाव न था, फिर भी उन्हें करना ही पड़ता था। उसे करते हुए भी सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में कमी नहीं आने देते थे। जैन गजट के जीवन की सबसे उल्लेखनीय घटना यह थी कि बाबूजी ने उसे दशलक्षण पर्व में दस दिन के लिए दैनिक बना दिया था और ऐसा प्रबन्ध किया था कि प्रत्येक ग्राहक को वह दस दिनों तक पढ़ने को मिलता था।

इधर जैन ग्रन्थों की छपाई के सामाजिक विवाद के कारण उत्तरोत्तर विरोध बढ़ता गया, तब मुंशी चम्पतरायजी की सम्मति में बाबूजी ने जैनगजट की सम्पादकी से स्तीफा दे दिया। परन्तु 'जैन हितोपदेशक' को बराबर चालू रखा। महारनपुर के लाला उग्रसैन जी बाबूजी को बहुत चाहते थे, उन्होंने बाबूजी को वहाँ जैन सभाका मंत्री बनाया था। महासभा के मेले पर जब छापे का सगठित विरोध हुआ तब उग्रसैन जी बोले कि महारनपुर जिले का जुम्मा मैं नेता हूँ कि शास्त्र जी नहीं छप पायेंगे। तब बाबू

जीने गरज कर कहा कि शास्त्रों की छपाई का काम तो सबसे पहले सहारनपुर जिले में ही होगा, देखे कौन रोक्ता है।

अनंतर बाबूजी ने नकुड़ के रईस ला० निहालचन्दजी की सम्मति से जैन ग्रन्थों के छापने और उनके प्रचार के लिए एक संस्था स्थापित की और लगभग एक हजार रुपया इकट्ठा कर ग्रन्थ छापने का कार्य शुरू भी कर दिया। पहले शायद रत्नकरन्ड श्रावकाचार छपा था। बाबू ज्ञानचन्दजी इसमें शामिल थे। उन्होंने लाहौरसे कई ग्रन्थ छपवाये थे। इस तरह छापे का जितना विरोध हुआ उसके बावजूद ग्रन्थों का प्रकाशन बराबर बढ़ता ही चला गया। यद्यपि छापानेवालों से सहानुभूति रखनेवालों का भी समाज ने बहिष्कार किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। जैन हिनोपदेशक पत्र भी बन्द हो गया। उसके बाद हिन्दी में 'ज्ञान प्रकाशक' नामका पत्र निकाला।

कुछ वर्षों के बाद सन् १९०७ में महासभा का जल्सा कलकत्ता में हुआ और उसमें बाबूजी शामिल हुए। उन दिनों जैन गजट की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। उसके लिए योग्य सम्पादक की आवश्यकता थी। तब बाबूजी ने अपने सहयोगी पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार के सुपुर्द कराया, और जैन गजट का सम्पादन प्रकाशन देवबन्द (सहारनपुर) से होने लगा। देवबन्द में आकर जैन गजट खूब चमका और उसके १५०० ग्राहक हो गये। पं० जुगलकिशोर जी ने उसका अच्छा सम्पादन ३ वर्ष तक किया। उसमें बाबूजी का पूरा-पूरा सहयोग रहा। उन्हीं दिनों बाबूजी ने आर्य समाज के प्रतिवाद में 'आर्यमत लीला' ऋग्वेद के बनानेवाले ऋषि आदि महत्त्वपूर्ण लेख लिखे।

१२ फरवरी सन् १९१४ को बाबूजी ने अपनी चलती हुई वकालत छोड़ दी। और समाज-सेवा में अपना जीवन अर्पण कर दिया। बाबूजी बड़े मिलनसार और प्रगतिशील विचारवाले विद्वान थे। समाज-सेवा में वे अग्रणी रहे, किन्तु प्रगतिशील विचारों के कारण लोकप्रिय न बन सके। समाज-सेवा के बदले में उन्होंने कभी पुरस्कार नहीं चाहा, और न नामवरी की इच्छा ही की। उन्होंने यशो-लिप्साकी कभी चाह नहीं की, पर सेवा-कार्य से मुख मोड़ना भी नहीं जानते थे। वे कहा करते थे कि 'नेकी करो और

कुएं में डाल'। सेवा से वे घबराते भी नहीं थे, मुस्तार सा० की प्रेरणा से वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा में कितने ही महीने रहे, गोत्र कर्माश्रित ऊँचता-नीचता पर लेख भी लिखे, भाग्य और पुरुषार्थ नामका लेख लिखा। अनेकान्त में उनके कई लेख प्रकाशित हुए, उनसे मुझे लेख लिखने की प्रेरणा मिली। शोधकार्य में भी उनकी प्रेरणा रही। उन्होंने मुझे अपनी जीवनी के कुछ नोट्स कराये थे, पर उनमें से कुछ नष्ट हो गए, जितने मिले उनके आधार पर ही यह लेख लिखा है।

बाबूजी ने कई पुस्तकें लिखी हैं, कई ग्रन्थोंके अनुवाद हिन्दी में किये हैं, उनमें द्रव्यसंग्रह की टीका अच्छी है। जीवन-निर्वाह, जननी और शिशु, विधवा कर्त्तव्य, व्याही बहू, असली नकली धर्मात्मा, तारादेवी, रामदुलारी, सती सतवती, गृहदेवी, मंगलादेवी, मनमोहिनी उपन्यास, भाग्य और पुरुषार्थ, आर्यमत लीला, ऋग्वेद के बनानेवाले ऋषि, आदिपुराण पद्मपुराण-समीक्षा, द्रव्यसंग्रह, षट्पाहुड़, परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थ सिद्धचुपाय और वसुनन्दि श्रावकाचार। ज्ञान सूर्योदय दो भाग, जैनधर्मप्रवेशिका, श्राविका धर्मदर्पण, युवकों की दुर्दशा आदि।

इन पुस्तकों में से कुछ मैंने पढ़ी हैं। भाषा अच्छी और सरल है, उसमें दुरुहता नहीं है। कुछ पुस्तकोंका प्रकाशन पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई ने किया है। उनके अनेक लेख भी जैनहितैषी में प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्पादन प्रेमीजी ने किया था। उनके समीक्षा-लेखों पर विवाद चला, पं० लालारामजी शास्त्री ने उनका उत्तर लिखा, तो भी बाबूजी ने उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं लिखा, उनकी आलोचना की ओर मैंने ध्यान भी दिलाया, तब वे कहने लगे कि विवाद में पड़ना निरर्थक है, मैंने अपने विचार लिखे हैं, जनता को अच्छे लगे मान लेगी, न लगे नहीं मानेगी, परन्तु सिद्धान्त की बात एक है कि अपनी बात कह देना और चुप हो जाना। कालान्तर में उसका प्रभाव पढ़े बिना नहीं रहता।

आज बाबूजी यहाँ नहीं हैं, वे परलोकवासी हो चुके हैं, किन्तु उनका साहित्य ही उनकी सेवा का मूल्यांकन कराता रहेगा।

(क्रमशः)

साहित्य-समीक्षा

१ बाबू छोटेलाल जी जैन स्मृति ग्रन्थ—प्रकाशक बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समिति कलकत्ता । आकार २०×३० अठपैजी पृष्ठ संख्या ७००, सजिल्द प्रति का मूल्य २०) रुपया ।

इस ग्रन्थ की सामग्री का सकलन और अभिनन्दन समिति का निर्माण बाबू छोटेलालजी के जीवन काल में ही हो गया था किन्तु उक्त बाबू साहब का स्वर्गवास हो जाने से अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन स्मृति ग्रन्थ के रूप में करना पड़ा है । फिर भी यह कम सन्तोष की बात नहीं है कि उसका प्रकाशन इतने सुन्दर रूप में हुआ है । जब जैन समाज में जीवित समाज सेवियों को कोई नहीं पूछता, तब मरने पर तो कहना ही क्या है ?

ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है हिन्दी विभाग और अंग्रेजी विभाग । हिन्दी विभाग ४०० पृष्ठों में, और अंग्रेजी विभाग ३०० पृष्ठों में है । दोनों ही विभागों में लेखों का चयन बहुत सुन्दर हुआ है । मर्तों का कोई भी लेख नहीं है, हिन्दी विभाग तीन खण्डों में विभाजित है । प्रथम खण्ड में सस्मरण और अर्द्धांजलियाँ हैं दूसरे खण्ड में इतिहास' पुरातत्त्व-विषयक २६ लेख हैं, तीसरे खण्ड में साहित्य धर्म-दर्शन विषयक १८ लेख हैं । और अंग्रेजी विभाग में ४३ लेख हैं । जो जैन विषयों से सम्बद्ध हैं । हिन्दी अंग्रेजी में सभी लेख जैन जैनेतर विशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं । चूँकि बाबू छोटेलाल जैन पुरातत्त्व के प्रेमी विद्वान थे, अच्छे लेखक और विचारक थे उनकी भारत के पुरातत्त्व विद्वानों से बड़ी मित्रता थी । अंग्रेजी में १०-११ लेख इस विषय पर हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, और वे पुरातत्त्व के विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं । जिनमें पद्म विभूषित डा० टी० एन० रामचन्द्रन भी हैं । ग्रन्थ उपयोगी पठनीय व संग्रहणीय है । इस ग्रन्थका कुल व्यय भार बाबू जुगमन्दिरदास जी कलकत्ता ने वहन किया है । जो बाबू छोटेलाल जी के प्रिय मित्र थे । उन्होंने अपने साधर्मिक कर्तव्यका पूर्ण रूप से पालन किया है, इसके लिये वे धन्यवाद

के पात्र हैं । इस ग्रन्थ के सम्पादनादि का सब कार्य जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान पं० चैनसुखदास जी जयपुर और उनके सहयोगियों ने किया है । इसके लिये वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं ! ग्रन्थ मगाकर प्रत्येक लायब्रेरी पुस्तकालय में रखना आवश्यक है ।

२ युगवीर निबन्धावली द्वितीयखण्ड—लेखक जुगल-किशोर मुख्तार, प्रकाशक पं० दरबारीलाल कोठिया मंत्री वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट २१ दरियागज, दिल्ली । पृष्ठ संख्या ६००, मूल्य आठ रुपया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ, जैन समाज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के द्वारा समय समय पर लिखे गये लेखों का सकलन मात्र है, जिससे ग्रन्थ का नाम 'युगवीर निबन्धावली' नाम सार्थक है । ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित है, पहले खण्ड में ५१ भौतिक निबन्ध दिये हुए हैं । और दूसरे खण्ड में ६५ निबन्ध आत्मसात हुए हैं । जो उत्तरात्मक, समालोचनात्मक, स्मृति परिचयात्मक, विनोद शिक्षात्मक और प्रकीर्णक रूप में विभक्त हैं । ये सब निबन्ध संवत् १९०७ से १९६६ तक के हैं जो जैन हितैषी, जैनगजट, जैनजगत और अनेकान्त आदि पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं । मुख्तार सा० वयोवृद्ध विद्वान हैं उनकी लेखनी से प्रायः सभी जन परिचित हैं । वे जो लिखते हैं वह सब सयुक्तिक और सप्रमाण होता है । उन्होंने जैन साहित्य और जैन समाज की बड़ी सेवा की है, वे ६२ वर्ष की इस वृद्धावस्था में भी निख रहे हैं । जैन समाज उनकी इस अपूर्व देन का गौरव करे । उनकी सेवाओं का मूल्य आके । और उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करे । ग्रन्थ के सभी निबन्ध महत्वपूर्ण हैं । इसका प्राक्कथन डा० ज्योतिप्रसाद जी लखनऊ ने लिखा है । प्रत्येक पुस्तकालय और लायब्रेरियों में इसका संग्रह होना चाहिए ।

३ वर्णों अध्यात्म पत्रावली—संयोजक श्री वर्णी स्नानक परिपद् सतना, प्रकाशक गणेशवर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी । मूल्य एक रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तक प्रातः रमणीय पूज्य आध्यात्मिक सत गणेश प्रसाद वर्णी द्वारा समय समय पर विभिन्न ध्यस्तियों को लिखे गये उन आध्यात्मिक पत्रों का सकलन मात्र है, जो आध्यात्मिक, उपदेशिक और सम्बोधक है। वर्णी जी समयसार के रसिया थे। उनका प्रत्येक पत्र अध्यात्म रस में सराबोर है, उन्हें पढ़ते ही आत्मा पर जो प्रभाव अकित होता है वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वर्णी स्नातक परिषद् ने इस पुस्तक को बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। छपाई सफाई आकर्षक है। मूल्य भी अधिक नहीं है। अध्यात्म के जिज्ञासुओं को इसे मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

४ श्री भंवरीलाल वाकलीवाल स्मारिका—मम्पादक प० इन्द्रलाल शास्त्री, प० वर्धमान पार्ष्वनाथ शास्त्री, डा० लालबहादुर शास्त्री। प्रकाशिका—भा० शांतिवीर दि० जैन सिद्धान्तसरक्षिणी सभा के अन्तर्गत भंवरीलाल

वाकलीवाल स्मारक समिति जयपुर। पृष्ठ संख्या ४४०। मूल्य १५ रूपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ राजस्थान के प्रसिद्ध सेठ भवरीलाल जी वाकलीवाल की स्मृति में प्रकाशित किया गया है। जिसमें उनका जीवन परिचय श्रद्धाजलिया, सस्मरण और विशिष्ट लेख है। ग्रन्थ उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक चित्र भी दिये गये हैं, जिससे उनके कार्यों का और कुटुम्ब का अच्छा परिचय मिल जाता है श्रद्धाजलिया और सस्मरणों में सेठ जी के प्रति श्रद्धापूर्ण उद्गार प्रकट किये गये हैं। इससे स्वर्गीय आत्मा का विस्तृत जीवन परिचय मिल जाता है। विशिष्ट लेखों का चयन सुन्दर बन पड़ा है। अनेक लेख ऐतिहासिक शोध-खोज को लिये हुए हैं। ग्रन्थ की छपाई सफाई सुन्दर है प० इन्द्रलाल जी शास्त्री को इसमें विशेष श्रम करना पड़ा है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

—:०:—

(पृ० ४२ का शेषांश)

राशिमंडल और ज्ञान कोई ग्रन्थरूप में तो गौतम स्वामी के नाम से ज्ञात नहीं है। पता नहीं मेघविजय उपाध्याय ने यह कहाँ से लिया है।

मेघमहोदय में उपरोक्त रचनाओं के अतिरिक्त कई जैन आगमों व ग्रन्थों का उद्धरण है। जैनतर ग्रन्थों में जगनमोहन, गिरधरानन्द, शर्माविनोद, वारासंहिता, नर-पतिजयचर्या, अगस्ति, भृगुमुत्त, रुद्रीयमेघमाला, रत्नमाला, सारसग्रह, कश्यप, बालबोध, गार्गीयसंहिता आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं उनमें से कुछ ग्रन्थ सम्भव हैं अप्रसिद्ध हों। कही कही पर ग्रन्थ के नाम निर्देश बिना उद्धरण दे दिये हैं। कही केवल मेघमाला या मेघमालाकार लिख दिया है। पता नहीं वहाँ किसके रचित कौन सी मेघमाला की मूचना है। कई जगह अर्धकाण्ड के उद्धरण हैं। पर

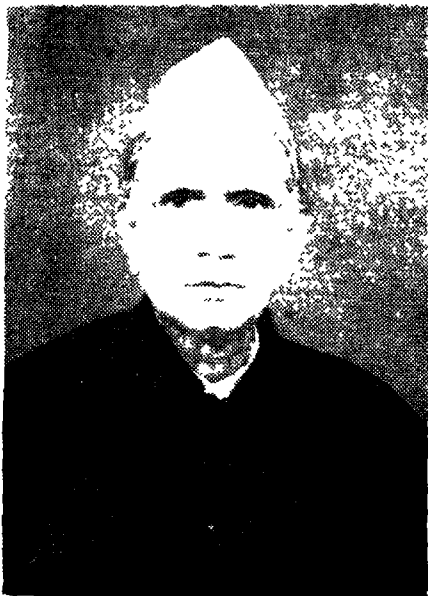
अर्धकाण्ड कई व्यक्तियों के मिलते हैं। इसलिए यहाँ ग्रन्थ-कार को किसके रचित अर्धकाण्ड की मूचना अभीष्ट है, कहा नहीं जा सकता। पृष्ठ ४२० में इत्यगर्त संहिताया रोहिणी सकटयोग लिखा है यह संहिता कौन-सी है? पृष्ठ १५४ में जीर्णग्रन्थ के पाठान्तर दिये हैं। पर ग्रन्थ और कर्त्ता का नाम नहीं दिया।

मेघमहोदय में उल्लिखित पर अनुपलब्ध ग्रन्थों में २ सबसे अधिक उल्लेखनीय है। हीरविजय सूरी की हीर-मेघमाला और दिगम्बर केवलकीर्ति की मेघमाला। इसी तरह भद्रबाहु संहिता की प्राकृत गायत्री उद्धृत है तो प्राकृत भाषा की उक्त संहिता कही प्राप्त है? दुर्गदेव के षष्टि संवत्सर के नाम से जिन पद्यों को उद्धृत किया है वे पद्य दुर्गदेव के रचित अर्धकाण्ड में मिलते हैं, या इस नाम का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है? इत्यादि बातों पर विशेषज्ञ और शोध प्रेमी प्रकाश डालें।

—:०:—

पंडित अजितकुमार जी का आकस्मिक वियोग

प० अजितकुमार जी शास्त्री पचावती पुरवाल जाति के उच्चकोटि के समाज-सेवी विद्वान थे। उनका जन्म चावली जिला आगरा में हुआ था। अध्ययन के बाद वे मुलतान चले गये थे। वहाँ उनका अकलक प्रेस था। मुलतान जैन



प० अजितकुमार शास्त्री

समाज में उनका अच्छा सम्मान था। वे हिन्दुस्थान पाकिस्तान बंटवारे के समय अपना प्रेस लेकर पहले महारनपुर आये थे और बाद में देहली। दिल्ली में उनका अभय प्रेम चलता है। शास्त्रीजी बड़े परिश्रमी सुयोग्य लेखक और विचारक थे। आपने आर्य समाजियों के खडन में पुस्तकें लिखी थी, तथा इवेताम्बर मत समीक्षा, दैनिक जैनधर्म-चर्या, विधिका विधान, तात्त्विक विचार, जैनधर्म परिचय आदि अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। जैनबधु और जैनदर्शन पत्रों का प्रकाशन भी किया किया। भा० दिगम्बर जैनसंघ के वे सदस्य रहे। आर्य समाज से होने वाले शास्त्रार्थों में बराबर योग देने रहे। वर्षों में वे जैन-गजट के सम्पादक थे। वे प्राचीन पीढ़ी के विद्वान थे। उनकी लेखनी सरल और भाषा मुहावरेदार थी। वे वीरसेवामन्दिर की कार्यकारिणी के भी सम्मानित सदस्य थे। उनके अकस्मात् निधन में जो भारी क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना संभव नहीं है। आप अपने पीछे पत्नी, एक पुत्री और एक पुत्र अविवहित छोड़ गए हैं। उनके वियोग में दि० जैन लाल मन्दिर में अनेक सस्थाओं—भा० दि० जैन महामभा, दि० जैन परिषद्, वीर सेवामन्दिर, जैनमित्र मण्डल, भादृत-जैन

महामण्डल, जैन मण्डन सभा, शास्त्री परिषद्, मुल्तान जैन समाज, पचावती पुरवाल जैनपचाटन और पार्श्वनाथ जैन युवक मण्डल आदि—की ओर से आयोजित सभा में जो नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक अध्यक्ष कुमारजी जैन की अध्यक्षता में हुई थी, उनके जीवन परिचय और समाज-सेवा का उल्लेख करने हुए उक्त सस्था मंचालको ने अपनी भावभरी श्रद्धाजलि अर्पित की थी, अनेक विद्वानों के साथ वीर सेवामन्दिर के संयुक्त मंत्री बाबू प्रेमचन्द जैन कदमीरु वालों ने भी वीर सेवामन्दिर की ओर से अपनी हादिक श्रद्धाजलि अर्पित की।

हम अनेकान्त परिवार की ओर से दिवंगत आत्मा के लिए शान्ति की कामना करते हुए शोक सतप्त परिवार के प्रति अपनी हादिक समवेदना प्रकट करते हैं।

वीरशासन जयन्ती—

इस वर्ष वीरशासन जयन्ती १० जुलाई बुधवार के दिन मन् १९६८ को अवतरित हुई है। अन्य वर्षों की भांति इस वर्ष भी वीरशासन जयन्ती का महोत्सव १० जुलाई को वीर सेवामन्दिर २१ दरियागजम प्रातः काल मनाया जावेगा। सर्व महानुभाव पधार कर धर्मलाभ लें।

—सं० प्रेमचन्द जैन

- (१) पुरातन-जैनबाण्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आध्यात्मिक परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दग्गारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) ग्रन्थात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपादर्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक माहिर्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—ग्रन्थात्मक कृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाष्येन्द्रिय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुस्तार कृत (समाप्त) २५
- (१७) ग्रन्थात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००
- (२०) कसायपाहुड सुत—मूलग्रन्थ की रचना ग्राज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

द्व मासिक

जून १९६८

अनेकान्त



कल्पवृक्ष पर कमलाशीन तीर्थंकर
राजघाट, वाराणसी

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	चिदात्मवदना— मुनिपद्मनन्दि	४६
२.	व्याप्ति अथवा अविनाभाव के मूल स्थान की खोज— पं० दरबारीलाल	५०
३.	पारस्परिक विभेद में अभेद की रेखाएं - साध्वी कनककुमारी	५३
४.	आगम और त्रिपिटको के संदर्भ में अज्ञातशत्रु कुणिक—मुनि श्री नगराज	५६
५.	पंडित भगवतीदास कृत ज्योतिषसार— डा० विद्याधर जोहरापुरकर	६५
६.	'टूडे' ग्राम का अज्ञात जैन पुगतत्त्व— प्रो० भागचन्द 'भागन्दु' एम. ए.	६७
७.	संस्कृत से अस्मिन् कयो ?— पं० गोपीलाल 'अमर' एम. ए.	७१
८.	देवागम स्तोत्र व उसका हिन्दी अनुवाद— पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	७५
९.	चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ— पं० नेमचन्द धन्नुसा जैन	८३
१०.	महावीर का मार्ग— मोहिनी सिधवी	८५
११.	दिगम्बर परम्परा में आचार्य सिद्धसेन— पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री	८६
१२.	भ० शुभकीर्ति और शान्तिनाथ चरित्र— पं० परमानन्द शास्त्री	९०
१३.	अग्रवालो का जैन संस्कृति में योगदान— परमानन्द शास्त्री	९१
१४.	साहित्य-समीक्षा— परमानन्द शास्त्री	९५

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। — व्यवस्थापक अनेकान्त

वीर-सेवा मन्दिर को सहायता

२१) ला० केशोचन्द जी जैन डिप्टीगज ने ला० पन्नालाल जी के स्वर्गवास के समय निकाले हुए दान में से सवर्ग्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'



अनेकान्त को सहायता

११) ला० पन्नालाल जी के स्वर्गवास के समय निकाले हुए दान में से ग्यारह रुपया अनेकान्त को फर्म ला० धमण्डीलाल नन्हमल जैन कंसरे सदर बाजार से सवर्ग्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

२१ दरियागज, दिल्ली



न्याय-दीपिका

आचार्य अभिनव धर्मभूषण की न्याय-दीपिका का दूसरा सम्करण तय्यार हो गया है। इस ग्रन्थ के संपादक और अनुवादक पं० दरबारीलाल जी कोठिया एम. ए. न्यायाचार्य वागणसी है। प्राक्कथन, प्रस्तावना और परिशिष्टादि से अलंकृत मूल्य सजिल्द प्रतिका ७) रुपया। ग्रन्थ पौने मूल्य में दिया जाएगा। और विद्यार्थियों को विशेष रूप से ५) रुपये में दिया जाएगा। मगाने की जल्दी करे। डाक खर्च अलग होगा।

व्यवस्थापक :

वीर सेवामन्दिर

२१, दरियागज, दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया। एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पं०

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २१
किरण २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४६४, वि० सं० २०२५

{ जून
सन् १९६८

चिदात्म वन्दना

चिदानन्दं सद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।

प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥१॥

खादि पञ्चक निर्मुक्तं कर्माष्टकविर्जितम् ।

चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवद्रूपजितम् ॥२॥

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोध चक्षुषाम् ।

सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ॥३॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—जिस परमात्मा के चेतन स्वरूप अनुपम आनन्द का सद्भाव है तथा जो अविनश्वर एवं शान्त है उसके लिए मैं (पद्मनन्दि मुनि) अपने समस्तकर्मों को शान्त करने के लिए सदा नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो आकाश आदि पाच (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) द्रव्यों से अर्थात् शरीर से तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से भी रहित हो चुकी है और देवों के इन्द्रों से पूजित है ऐसी उस चैतन्यरूप उत्कृष्ट ज्योति को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियों के लिए अस्पष्ट तथा सम्यग्ज्ञानियों के लिए स्पष्ट है और मयस्त वस्तुओं में श्रेष्ठ है उस चेतन आत्मा के लिए नमस्कार हो ॥३॥

व्याप्ति अथवा अविनाभाव के मूल स्थान की खोज

श्री दरबारोलाल कोठिया

अनुमान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य अङ्ग व्याप्ति है। इसके होने पर ही साधन साध्य का गमक होता है, उसके अभावमें नहीं। अतएव इसका दूसरा नाम अविनाभाव भी है।

देखना है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग कबसे आरम्भ हुआ है। अक्षपादके^१ न्यायसूत्र और वात्स्यायनके^२ न्यायभाष्यमें न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्यमें^३ इतना मिलता है कि लिङ्गीमें सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध होने हैं। पर वह सम्बद्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। गौतमके हेतु लक्षण-प्रदर्शक सूत्रोंसे^४ भी केवल यही ज्ञात होता है कि हेतु वह है जो उदाहरणके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे साध्यका साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतु को पक्ष में रहने के अतिरिक्त सपक्षमें विद्यमान और विपक्षसे व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतु लक्षणसूत्रोंसे ध्वनित होता है, हेतु को व्याप्त (व्याप्ति विशिष्ट या अविनाभावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई सकेत नहीं मिलता। उद्योतकरके^५ न्यायवात्तिक में अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त होते हैं। पर उन्हें उद्योतकरने पर मत के रूप में प्रस्तुत किया है तथा उनकी मीमांसा भी की है। इससे प्रतीत होता है कि

१. न्यायसू० १।१।५, ३४, ३५।

२. न्यायभा० १।१।५, ३४, ३५।

३. लिगलिगिनो. सम्बन्धदर्शन लिगदर्शन चाभिसम्बध्यते लिगलिगिनो सम्बद्धयोर्दर्शनेनलिगस्मृतिरभिसम्बध्यते।

—न्यायभा० १।१।५।

४. न्या० सू० १।१।३४, ३५।

५. अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत्...तन्न...।

—न्यायवा० १।१।५, पृ० ५० तथा १।१।५, पृ० ५५, ५६।

न्यायवात्तिककारको भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकार की तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर^६ अविनाभाव और व्याप्ति की समीक्षा कर तो गये, पर स्वकीय सिद्धान्त की सिद्धि में उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्धरूपमें किया है। उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्रने^७ अविनाभावको हेतुके पाँच रूपोंमें समाप्त कहकर उसके द्वारा ही समस्त हेतुरूपाका सग्रह किया है। पर वे भी अपने कथनको परम्परा-विरोधी देखकर अविनाभावका परित्याग करके उद्योतकरके अभि-प्रायानुसार पक्ष धर्मत्वादि पाँच हेतु रूपोंको ही महत्व देने हैं, अविनाभाव को नहीं। जयन्तभट्टने^८ अविनाभाव को स्वीकार करते हुए भी उसे धर्मत्वादि पाँच रूपोंमें समाप्त बतलाया है। और उसे व्याप्ति, नियम तथा प्रतिबन्ध कहा है।

इस प्रकार वाचस्पति और जयन्तभट्ट के द्वारा जब स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्तिका प्रवेश न्यायपरम्परा में हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारोंने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दी। यही कारण है कि बौद्धताकिकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैन तर्कग्रन्थकारों के द्वारा प्रधानतया प्रयोगमें आनेवाले अविनाभाव एवं

६. न्यायवा० १।१।५; पृ० ४७, ४८।

७. यद्यप्यविनाभावः पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समा-प्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि सगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः सग्रहे गोवलीवद्व्या-येन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वावाधिन विषयत्वानि संगृह्णाति।

—न्यायवा० तात्प० १।१।५, पृ. १७८।

८. एतेषु पञ्चलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते।

—न्यायकलिका पृ० २।

व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकरके बाद न्यायदर्शनमें समाविष्ट हो गये व उन्हें एक-दूसरे का पर्याय माना जाने लगा। जयन्तभट्टने^१ अविनाभाव का स्पष्टीकरण करनेके लिए व्याप्ति नियम प्रतिबन्ध साध्याविनाभावित्व इन सबको उसीका पर्याय बतलाया है। वाचस्पति^२ कहते हैं कि लिंग का कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिए और स्वाभाविकका अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकार का लिंग (साधन) ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (लिंगी) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्ति शब्दों पर जोर नहीं है। पर उदयन,^३ केशव मिश्र,^४ अन्नम्भट्ट^५ विश्वनाथ^६ प्रभृति नैयायिकोंने तो व्याप्ति शब्दको अपनाकर उसीका विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मताके साथ उसे अनुमानका प्रमुख अंग बतलाया है। गणेश और उनके अनुवर्ती वद्धमान उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वामुदेव मिश्र, रघुनाथ दिगोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधरभट्टाचार्य आदि नव्यनैयायिकोंने^७ व्याप्तिपर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन किया है। गणेशने तत्त्वचिन्तामणिमें 'तत्र व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानजन्य ज्ञानमनुमिति। तत्करणमनुमानम्'^८ शब्दों द्वारा अनुमान लक्षण प्रस्तुत करके व्याप्ति^९ और पक्षधर्मता^{१०} दोनों अनुमानागोका नव्यपद्धति से असाधारण परिष्कार एवं विवेचन किया है।

प्रशस्तपादभाष्यमें^{११} भी अविनाभावका प्रयोग उपलब्ध होता है। उसमें अविनाभूत लिंगको लिंगीका गमक बतलाया गया है। पर वह वहाँ त्रिलक्षण रूप ही अभिप्रेत है,^{१२}

१. वही पृ० २।
२. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।
३. किरणा० पृ० २६०, २६४, २६५-३०२।
४. तर्कभा० पृ० ७२, ७८, ८२, ८३, ८८।
५. तर्कस० पृ० ५२-५७।
६. सिद्धान्तमु० का० ६८, पृ० ५१-५५।
७. इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभय से यहाँ अप्रस्तुत है।
८. तत्त्वचि० अनु० खण्ड पृ० १३।
९. वही, पृ० ७७-८२, ८६-८६, १७१-२०८, २०६-४३२।
१०. वही, अनु० ख० पृ० ६२३-६३१।
- ११-१२. प्र० भा० पृ० १०३ तथा १००।

शुद्ध अविनाभाव नहीं। यही कारण है कि टिप्पणकार ने^१ अविनाभाव का अर्थ 'व्याप्ति' एवं 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शकर मिश्र द्वारा किये गये अविनाभाव के खण्डनसे सहमति प्रकट की है और "वस्तुतस्त्व नोपाधिक सम्बन्ध एव व्याप्तिः"^२ इस उदयनोक्त^३ व्याप्ति लक्षण को ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभाव वैशेषिक दर्शन की भी स्वीपज्ञ एवं मौलिक मान्यता नहीं है।

कुमारिलके मीमांसा श्लोकवार्तिक^४ में व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिमूत्रमे वे हैं और न शबरस्वामी के शाबरभाष्यमें।

बौद्धतात्त्विक शकर स्वामीके न्यायप्रवेशमें^५ अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थ का बोधक नान्तरीयक (अनन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति^६ धर्मोत्तर,^७ अर्चट,^८ आदि बौद्ध नैयायिकोंने इन दोनों शब्दोंके अतिरिक्त उक्तार्थ प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थोमें बहुलतया उपलब्ध है।

तब प्रश्न है कि इन (अविनाभाव और व्याप्ति) का मूल स्थान क्या है? अनुमानचान करने पर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिलसे पूर्ववर्ती जैन तार्किक समन्तभद्र द्वारा, जिनका समय विक्रम की २ री, ३ री शती माना जाता है^९, अविनाभाव शब्द प्रथम प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने^{१०} अस्तित्व को नास्तित्व का और नास्तित्व को

१. वही, टिप्प० पृ० १०३।
२. वही, टिप्प० पृ० १०३।
३. किरणा० पृ० ५।
४. मी० श्लो० अनु० ख० श्लो० ४, १२, ४३ तथा १६१।
५. न्यायप्र० पृ० ४, ५।
६. प्रमाणवा० १।३, १।३२ तथा न्यायवि० पृ० ३०, ६३; हेतुवि० पृ० ५४।
७. न्यायवि० टी० पृ० ३०।
८. हेतुवि० टी० पृ० ७, ८, १०, ११ आदि।
९. 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १६६, श्रीजगलकिशोर मुस्तार।
१०. अस्तित्व प्रतिषेधेना विन. भाव्येकधर्मिणा। नास्तित्व प्रतिषेधेनाविनाभाव्येकधर्मिणा।

—आप्तमी० का० १७, १८।

अस्तित्वका अविनाभावी बतलाया है। एक दूसरे स्थलपर भी उन्होंने^१ अविनाभावको स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभावका निर्देश मान्यता के रूपमें सर्व प्रथम समन्तभद्रने किया प्रतीत होता है। प्रशस्तपादकी तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षण रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परामें हेतुलक्षण रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया और जिसका निर्देश भी स्वयं समन्तभद्र ने^२ 'अविरोधतः' शब्द के द्वारा किया है तथा अकलङ्क^३ और विद्यानन्द^४ जैसे उनके व्याख्याकारोंने उसका अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) परक व्याख्यान भी किया है। पूज्यपादने,^५ जिनका अस्तित्व-समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी है, अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। पात्र स्वामी,^६ सिद्धसेन,^७ कुमार-

नन्द,^८ अकलक,^९ माणिक्यनन्द^{१०} प्रभृति जैन तर्कग्रन्थ-कारोंने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनों का व्यवहार पर्याय शब्दोंके रूपमें किया है। जो (साधन) जिस (साध्य) के बिना न हो या उपन्न न हो उसे अविनाभाव या अन्यथानुपपन्न कहा गया है^{११}। असम्भव नहीं कि शावरभाष्यगत^{१२} अर्थापत्त्युत्थापक 'अन्यथानुपपद्यमान' और प्रभाकर की बृहती में^{१३} उसके लिए प्रयुक्त 'अन्यथानुपपत्ति' शब्द अर्थापत्ति और अनुमानको अभिन्न मानने वाले जैन तात्त्विकोंसे अपनाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रन्थोंमें ही अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त पाये जाते हैं और उद्योतकर,^{१४} शान्तरक्षित^{१५} आदि प्राचीन तात्त्विकोंने उनका समालोचन एवं उद्धरण जैन मतके रूपमें ही किया है। मीमांसक आदि के रूपमें नहीं। अतः उनका उद्गम जैन तर्कग्रन्थोंसे ही प्रतीत होता है।

१. धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया ।

—वही, का० ७५ ।

२. सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादिविरोधतः ।

—आप्तमी० का० १०६ ।

३. अष्टदा० आप्तमी० १०६ ।

४. अष्टश० आप्तमी० १०६ ।

५. सर्वार्थसि० ५।१८, १०।४ ।

६. तत्त्वसं० पृ. ४०६ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्व...' आदि कारिका ।

७. न्यायवा० का० १३, १८, २०, २२ ।

८. प्रमाणप० पृ. ७२ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपत्त्येक लक्षण...' आदि का० ।

९. न्यायवि० २।१८७, ३२३, ३२७, ३२९ ।

१०. परीक्षामु० ३।११, १५, १६, ६४, ६५, ६६ ।

११. साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्न...

—न्यायवि० २।६९ तथा प्रमाणसं० का० २१ ।

१२. शावरभा० १।१।५, बृहती पृ. ११० ।

१३. बृहती पृ. ११०, १११ ।

१४. न्यायवा० १।१।३५, पृ. १३१ तथा १।१।५, पृ. ५५ ।

१५. तत्त्वल० ४०५-४०८ ।

आशा के दास

आशाया ये भवेद्दासाः ते दासाः सर्वलोकस्य ।

आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः ॥

आशा के जो दास हैं, वे सारे लोक के दास हैं। जिन्होंने अपनी आशा को दास बना लिया, उनके लिए सारा लोक दास है। हे आत्मन् ! यदि तू अविनाशी सुख का पात्र बनना चाहता है तो आशा का दास मत बन। उसे विजित करना ही तेरी सफलता का मूल है। इच्छाएँ अनन्त हैं, उनका कहीं अन्त दिखाई नहीं देता। मानव के मानस समुद्र में वे उद्वेलित होती रहती हैं। और मानव को विवेक भ्रष्ट कर अनीति और अत्याचार के मार्ग पर चलने के लिए बाध करती है। उनके पास में फँसा बुद्धिशाली व्यक्ति भी कि कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। न्याय अन्याय का उसे भान नहीं रहता। अतः हे मुमुक्षु, तू सावधान हो। विवेक को जागृत कर, आशा पिशाचिनी का दमन कर। ऐसा होने पर तेरी लोक में प्रतिष्ठा तो होगी ही, किन्तु तू निश्चयसः का पात्र भी बनेगा।

आगम ग्रन्थों के आधार पर :

पारस्परिक विभेद में अभेद को रेखांक

साध्वी कानकुमारी

सामयिक परम्परा और विधि-विधान रूढ़ बनकर कितना दुष्परिणाम लाते हैं, इसका सजाव प्रमाण है जैन-सभों का विभक्तिकरण ।

भगवान महावीर ने विशाल सघ की मुविधा और सूत्रवस्था के लिए विभक्तिकरण की व्यवस्था दी^१ । उस समय वह व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक थी, क्योंकि तब हजारों साधु-साध्विया एक ही महावीर के धर्म-सघ में प्रव्रजित थे । वृहत्समुदाय का सुचारुरूप से संचालन करने के लिए अनेक सुयोग्य व्यक्तियों की अपेक्षा होती है । सब एक ही गण में रहकर एक साथ योग्यता प्राप्त कर सकें, कम संभव था, इसलिए भगवान महावीर ने अपने वृहत्तर धर्म-सघ को पृथक्-पृथक् गणों में विभक्त कर दिया ।

धीरे-धीरे विभाजन का विस्तार हुआ और समय की गति के साथ-साथ वह वृहत्तर सघ अनेक इकाइयों में बंट गया, फिर भी एक शृंखला में आवद्ध था इसलिए उस सघ के सदस्य पृथक् गणों में विभक्त होने हुए भी एक-दूसरे से निकट थे ।

मूल आगम और उनका व्याख्या-साहित्य इस बात का प्रमाण है कि उस समय के धर्म प्रवर्तकों के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई दुर्गाव नहीं था । भावनाओं में सकीर्णता और विचारों में रूढ़ता नहीं थी । इसलिए वे असांभोगिक, अमाधार्मिक और भिन्न सामाचारिक सघों में अपने शिष्या को उपसपदा के लिए भेज देते थे ।

आवश्यक निर्युक्ति में उपसपदा समाचारी का

१. यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है । भगवान महावीर ने सघभेद की कोई व्यवस्था नहीं दी । सघ-भेद तो महावीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय हुआ है । —सम्पादक

विश्लेषण करते हुए कुछ लिखा गया है—प्राचीनकाल में साधुओं के अनेक गण थे । व्यवस्था की दृष्टि से एक गण का साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता था । उसके कुछ अपवाद भी थे । अपवादिक विधि के अनुसार तीन कारणों से भिन्न सामाचारिक गणों में जाना विहित था । दूसरे गण में जाने को उपसपदा कहा जाता था । उपसपदा के तीन प्रकार हैं—ज्ञानार्थ उपसपदा, दर्शनार्थ उपसपदा और चारित्रार्थ उपसपदा । ज्ञानकी वर्तना (पुनरावृत्ति या गुणन) सघान (वृद्धि ज्ञान को पूर्ण करना) और ग्रहण के लिए जो उपसपदा स्वीकार की जाती उसे ज्ञानार्थ उपसपदा कहा जाता था । इसी प्रकार दर्शन की वर्तना (स्थिरीकरण) मन्धान और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए जो उपसपदा स्वीकार की जाती, उसे (दर्शनार्थ उपसपदा) कहा जाता था । वैयावृत्य और तपस्या की विशिष्ट साधना के लिए जो उपसपदा स्वीकार की जाती उसे (चारित्रार्थ उपसपदा) कहा जाता था । ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष उपलब्धि के लिए दूसरे गण में जाना विहित था ।

निशीथभाष्य में आलोचना विषयक विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है कि आलोचना तीन प्रकार की होती है^२ । विहार आलोचना, उपसपदा आलोचना और अपराध आलोचना । उपसपदा के तीन प्रकार हैं—ज्ञान उपसपदा, दर्शन उपसपदा और चारित्रउपसपदा । उपसपदा

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६६८ :

उवसपया ते तिविहा नाणे तह दसणे चरित्तये ।
दसणनाणे निहिहा दुविहाय चरित्त भट्ठाए ॥

२. निशीथ भाष्य ६३१० . आलोचना । तिविहा विहारा-
लोचना, उवसपयालोचना अवराहालोचना ।

के लिए एक गण के मुनि दूसरे गण में जाते थे और वे प्रतिच्छिन्न कहलाते थे। वे मुनि दो प्रकार के होते थे, पंजरभग्न और पंजराभिमुख। यतमान मुनियों के पास जो मुनि जाता, वह पंजरभग्न कहलाता और परिभवमान यानी पार्श्वस्थों के पास से जो मुनि जाता वह पंजराभिमुख कहलाता था। पंजर उस गण का नाम है जो गण आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर और गणावच्छेदक से परिगृहीत होता है।

वृहत्कल्पसूत्र के मूल पाठ में उपसपदा के लिए आने वाला मुनि किनकी अनुज्ञा से आए एतद् विषयक परिचर्चा की गई है^१।

प्राचीन परम्पराओं के अनुसार श्रमणसंघ-व्यवस्था में सात पद होते थे—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. स्थविर, ४. प्रवर्तक, ५. गणी, ६. गणधर, ७. गणावच्छेदक जो मुनि उपसपदा के लिए अपने गण से दूसरे गण में जाता, वह आचार्य, उपाध्याय, स्थविर प्रवर्तक गणि गणधर और गणावच्छेदक की बिना अनुज्ञा कही नहीं जा सकता था। और गीतार्थ ही जा सकता था, अगीतार्थ नहीं जा सकता था।

व्यवहार सूत्र में भी एतद् विषयक प्रसंग किया गया है^२। जब एक मुनि अपने गण से उपसपदा के लिए दूसरे

गण में जाने के लिए संनद्ध होता है, तब सभी साधार्मिक और रत्नाधिक मुनि उसे पूछते हैं—क्या तुम उपसपदा के लिए दूसरे गण में जाना चाहते हो? वह मुनि उनसे पूछे कि मुझे किस गण में और कौन से आचार्य से उपसपदा लेनी चाहिए? बहुश्रुत मुनि जिस गण में और जिस आचार्य के लिए कहे, वह उस गण में और उस आचार्य के पास जाकर उपसपदा स्वीकार करे।

उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि के लिए दस समाचारी का विश्लेषण किया गया है। वहां उपसपदा समाचारी के विषय में भी चर्चा की गई है^३।

प्रस्तुत प्रसंग इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि उस समय के धर्म-संघों के प्रवर्तक बहुत उदार होते थे, इसलिए अपने शिष्यों को दूसरे गण में भेजने में और दूसरे गण के शिष्यों को अपने गण में सम्मिलित करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। पर अपने गण में सम्मिलित करने वाले आचार्य कौन मुनि किस हेतु से इस गण को स्वीकार करना चाहता है, इस बात की परीक्षा किए बिना उसे अपने गण में सम्मिलित होने की अनुज्ञा नहीं देते थे। निशीथ-भाष्य में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है।

समनोज्ञ और असमनोज्ञ दोनों ही प्रकार के मुनि उपसपदा के लिए जाते थे^४। समान सामाचारिक मुनि समनोज्ञ कहलाते और भिन्न सामाचारिक मुनि असमनोज्ञ। समनोज्ञ मुनि उपसपदा के लिए जाते उसके दो हेतु होते थे—ज्ञान और दर्शन। चारित्र उन दोनों गणों में एक रूप होता था। असमनोज्ञ सविन्न मुनि दूसरे गणों में जाते, उसके तीन हेतु होने थे। वे ज्ञान, दर्शन के साथ चारित्र का भी विकास चाहते थे।

समनोज्ञ और असमनोज्ञ दोनों ही प्रकार के मुनि जिज्ञाता विहरसि ? जे तत्थ सव्व राइणीए तं वएज्जा, अह भते कस्स कप्पाए ? जे तत्थ बहुसुए त वएज्जा। ज वा से भगव व क्खइ तस्स आणा उव-वायणा निद्देसे चिट्ठस्सामि ।।

४. उत्तराध्ययन, अ० २६, गा० ४ :

५. व्यवहार भाष्य, ६४ :

समणुण्ण दुगणिमित्त उवसंपज्ज ते होइ एमेव ।

अमणुण्णेणं नवरि विभागतो कारणे माइत्तं

१. निशीथभाष्य ६३४६ : जयमाण परिह्वे ते आगमण तस्य दोहि ठाणेहि ।

पंजरभग्न अभिमुहे आवायमादि आयरिए ।।

२. वृहत्कल्पभाष्य, उ० ४, सूत्र १५ : भिक्खू य गणाय-वकम्म इच्छेज्जा अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । नो से कप्पह अणापुच्छित्ता आयरिय वा, उवज्जाय वा, पवित्ति वा धेर वा, गणि वा, गणधर वा, गणावच्छेयं वा, अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । तेय से वियरंति, एव से कप्पह अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । तेय से नो कप्पह अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

३. व्यवहारकल्प, उ० ४, सू० १८ : भिक्खू य गणाओ अवकम्म अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, त च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा कं च अज्जो उवसपा-

दूसरे गण में जाते तो सबसे पहले उनके आने का उद्देश्य पूछा जाता था। आचार्य की अनुज्ञा से और पवित्र उद्देश्य से आनेवाला मुनि आचार्य की अनुमति मिलने पर उस गण में मिल जाता था। पर जो मुनि निम्नलिखित दस कारणों को लेकर दूसरे गण में सम्मिलित होना चाहता:—

१. कलह करके आता, २. विगय [दूध दही आदि] न मिलने पर आता, ३. योग का उद्वहन करने में असमर्थ होकर आता, प्रत्यनीक के भय से आता, अथवा आने वाला मुनि ५. स्तब्ध ६. लुब्ध, ७. उग्र, ८. आलसी, ९. अनुबन्ध वर और १०. स्वच्छन्द मांते होता तो उसको अस्वीकार कर दिया जाता था।

प्रत्येक प्रतिच्छक के आने पर आचार्य उसे पूछते तुम अपने सध और आचार्य को छोड़कर यहाँ क्यों आए हो? पूर्वोक्त दशकारणों के आधार पर आने वाला मुनि अपने गण की जीभर आलोचना करता, क्योंकि वह उस गण को छोड़ना चाहता था।

अपनी बुराइयों को छिपाने की और दूसरों की भूलों को प्रकाशित करने की आदत आधुनिक जन-मानस की तरह अतीत में भी उस रूप में थी, क्योंकि मानवीय दुर्बलता सदा एक रूप में चली आ रही है।

कलह करके आने वाला मुनि अपनी स्थिति इस प्रकार प्रकट करता—उस सध के सदस्य बहुत भगड़ालू प्रकृति के हैं। बात-बात में मेरे से भगड़ लेते हैं। मैं शान्त रहने की कोशिश करता हूँ फिर भी शान्त नहीं रहने देते, इसलिए मैं यहाँ आया हूँ। भगड़ा गृहस्थों और साधुओं दोनों के साथ हो सकता था।

विगय^१ न मिलने से आने वाला मुनि अपना आत्म-निवेदन इस प्रकार करता कि उस सध के आचार्य मुझे

१. निशीथभाष्य ६३२७ : अहिगरण विगति जोए पडिणीए थदु लुद्ध णिद्धम्मे ।

अन्वसाण बद्धवैरो स्वच्छंदमती परिहियवे ॥

२. निशीथभाष्य ६३२८ : गिहिसजए अहिगरणे । विगति ण देति घेतु मोत्तु पूरित्त च गहि तेवि ॥

३. वही, ६३२९ : णय वज्जियाय देहो पगतीए दुबलो अह भते ।

तब्भाविस्स एविहं ण य गहणं धारणं कत्तो ॥

खाने के लिए विगय नहीं देते हैं। मैं भुक्त शेष विगय खाना चाहता हूँ। उसका भी निषेध कर देते हैं। मेरा शरीर प्रकृति से दुर्बल है, मैं खाने में दूध, घी, दही आदि कुछ भी ले लेता हूँ तभी शरीर से कुछ काम कर सकता हूँ अन्यथा नहीं ले सकता। क्योंकि मेरा शरीर विगय भावित है। विगय के अभाव में न नवीन ज्ञान प्राप्त कर सकता हूँ और न पूर्व गृहीत ज्ञान को स्थिर रख सकता हूँ। क्या मैं भी उन वृषभ मुनियों की तरह प्रव्रजित नहीं हूँ जो उन्हें तो मनचाही विगय मिल जाती है और मुझे नहीं मिलती।

योगवाही^२ अपनी दुविधा इस प्रकार रखता है—हमारे सध के आचार्य योगवाही मुनि को एकान्तर उपवास करवाते हैं अथवा एकान्तर आर्याविल करवाते हैं या निर्विकृतिक आहार देते हैं। इस प्रकार तप करता हुआ मैं योग का वहन नहीं कर सकता इसलिए मैं यहाँ आपकी अनुशासना में आया हूँ।

प्रत्यनीक^३ के भय से आने वाला मुनि अपनी दलील इस प्रकार देता है, उस सध में एक मुनि मेरा विरोधी है। हरक्षण वह मेरी भूल देखता है, समाचारी में कही भी मेरी भूल हो जाती है तो वह सबके बीच में मुझे टोकता है, तथा भूल न होने पर भी आचार्य को शिकायत करता है फिर आचार्य मेरी भत्सना करते हैं। उस स्थिति में मैं वहाँ समाधिस्थ नहीं रह सकता, इसलिए मैं आपके सध में सम्मिलित होना चाहता हूँ।

स्तब्ध^४ मुनि आत्म-विश्लेषण करता हुआ कहता है कि उस सध की समाचारी के अनुसार आचार्य का बहुमान करना पड़ता है। आचार्य चहलकदमी करते हैं तो उनके साथ इधर-उधर घूमना पड़ता है व्याख्यान देने के लिए जाते हैं अथवा सजाभूमि के लिए जाते हैं तो हर समय उठना पड़ता है। मेरी कमर में वायु से बहुत दर्द रहता

४. वही, ६३३० : एगतर णिव्विगतो जोगो ।

५. वही, ६३३० पच्चत्थिको व तहि साहू । चक्क खलितेसु गेण्हति छिद्वाणि कहेति त गुरुण ॥

६. वही, ६३३१ : चकमणादोव्व उट्टुण कडि गहणे काधो णत्थि तद्धवं ।

है, इसलिए बार-बार उठना-बैठना मेरे लिए संभव नहीं होता, न उठने से उस संध की समाचारी का भग होता है, उसका भग होने से मुझे कड़ा दण्ड मिलता है। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ।

लुब्धमुनि^१ अपनी समस्या इस प्रकार रखता कि भिक्षा में तो कुछ भक्षणिय या अभिलाषणीय पदार्थ लड्डू-जलेबी आदि मिलते हैं, उन्हें या तो आचार्य स्वयं खा लेते हैं या बाल, वृद्ध, रुग्ण और अतिथि मुनियों को देते हैं। उस विषम स्थिति में रहना मेरे लिए संभव नहीं है, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ।

शिद्धम^२ (उग्र) मुनि कहता है कि समय पर आवश्यकता नैषिधिकी करने में कभी भूल हो जाती है अथवा प्रमाज्जन ठाक नहीं होता है तो आचार्य अत्यन्त उग्र दण्ड देते हैं। मेरा दिल कोमल है, मैं उग्र प्रायश्चित्त वहन करने में असमर्थ हूँ, इसलिये मैं उस संध को छोड़कर आपकी नित्रा में आया हूँ।

आलसी^३ मुनि अपने आनंद का उद्देश्य स्पष्ट करता हुआ कहता है कि उस संध की भिक्षाचरी बहुत कठिन है। उस संध के आचार्य अपने लिए आहार पर्याप्त होने पर बाल वृद्ध और रुग्ण मुनियों के लिए बहुत लम्बी गोचरी करवाते हैं। क्षेत्र छोटा होता है तो रोजाना दूसरे ग्रामों में जाना पड़ता है, फिर भी आहार पर्याप्त नहीं होता तो आचार्य कहते हैं—क्या तुम्हारे लिए यहाँ रसोई बनी हुई है, जो इतना सा आहार लेकर आ गए? वापिस जाओ, घूमो पूरा समय और पूरा श्रम लगाकर पर्याप्त आहार लेकर आओ इस प्रकार दीर्घ भिक्षाचर्या से ऊबकर मैं आपके पास आया हूँ।

अनुबद्ध^४ वैर मुनि अपनी स्थिति का चित्रण करता

१. निर्गोथभाष्य, ६३३१ . उक्कोसमय भुजति देतऽण्णोसि तु लुद्धेवे ।
२. वही, ६३३२ : आवसिय पज्जयणा अकरण अतिउग्ग दण्ड णिद्धम्मे ।
३. वही, ६३३२ : बाला, दट्ठा, दीहा भिक्षालमिओ य उव्भास ।
४. वही, ६३३३ : पाण सुणगाहि य भुजति एकउ असखडेव मणुवद्धो ।
पाणसुणाव भुजति एगत्तो भडि उंप्पि अणुवद्धो ॥

हुआ कहता है कि—उस संध में थोड़े बहुत आहार-सामग्री मिलने पर सब सदस्य कुत्ते आदि प्राणियों की तरह एक दूसरे पर टूट पड़ने हैं, अन्तर इतना ही है कि इस प्रकार का आचरण करके फिर भिच्छामि दुकड़ कर लेते हैं। उन भिक्षुओं के साथ मेरा मन नहीं लगता, इसलिए मैं आपकी अनुशासन में आना चाहता हूँ।

जो मुनि^५ आचार्य के अनुशासन को बन्धन मानकर आता है, वह अपनी दुविधा प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि उस संध में वैयक्तिक स्वतंत्रता बिलकुल नहीं है। संधीय मर्यादा के अनुसार सघाटक के बिना कहीं भी नहीं जा पाना और तो क्या मज्जाभूमि (देह चिन्ता से निवृत्त होने के लिए) भी अकेला नहीं जा सकता। इतनी पराधीनता मुझसे सह्य नहीं गई, इसलिए मैं यहाँ आया हूँ। इन सब कारणों से जो मुनि उपसपदा के लिए आता, उसे आचार्य अपने संध में सम्मिलित होने की स्वीकृति नहीं देते थे।

अगर कोई मुनि इन कारणों में अनिरिक्त कारण—जान, दर्शन और चार्ित्र की विशेष उपलब्धि के लिए आता और अपनी स्थिति इस प्रकार प्रकट करता कि मेरे आचार्य के पास जो सूत्रार्थ था उसे तो मैंने ग्रहण कर लिया है। मैं मेरे आचार्य की अनुज्ञा से विविपूर्वक यहाँ आया हूँ। आप अनुग्रह कर मुझे सूत्रार्थ की विशेष वाचना दें। ऐसे पवित्र उद्देश्य को लेकर आने वाले मुनि को उपसपदा की आज्ञा न दें तो आचार्य प्रायश्चित्त के भागी होते हैं, क्योंकि ऐसे पवित्र उद्देश्य को लेकर आने वाले मुनि की अवहेलना ज्ञान की अवहेलना है। अतः आचार्य अपने संध के सदस्यों से परामर्श लेकर उस मुनि को संध में प्रवेश कराने की अनुज्ञा दे देते थे।

परामर्श लेने की विधि बहुत मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि संध के सदस्यों को बिना पूछे आचार्य केवल अपनी ही इच्छा से नए सदस्य को संध में स्वीकार कर लेते हैं। तो आने वाले नए व्यक्ति के प्रति संध के सदस्यों की सहानुभूति और सहयोग नहीं रहता। बिना सहानुभूति और सहयोग के कोई समाचारी को स्वीकार करने वाले व्यक्ति

५. वही, ६३३३ : एकलस्स न लब्भा चलितु पेवतु सच्छंदो ॥

का वहाँ मन नहीं लगता। और सध के लिए भी यह स्थिति हितकर नहीं होती। उपसपदा समाचारी के अनुसार किसी व्यक्ति के परिहार और स्वीकार में सध का परामर्श लेना, होता था।

प्रतिच्छक के आने की विधि—

विधि के अनुसार आने वाला प्रतिच्छक ही उपसपदा के लिए योग्य माना जाता था। जो मुनि अपने आचार्य को अकेला छोड़कर या शैष्य मुनियों के भरोसे छोड़कर आता, वह उपसपदा के लिए योग्य नहीं माना जाता है।

जो मुनि वृद्ध आचार्य को अथवा सूत्रार्थ में शक्ति आचार्य को छोड़कर आता, उसे भी उपसपदा के योग्य नहीं माना जाता था।

सध का कोई सदस्य ग्लान^१ अथवा बहुरोगी होता, उनका आधार वह एक ही मुनि होता तथा मद धर्मी शिष्य उसके सिवाय आचार्य की भी आज्ञा नहीं मानते, वह मुनि भी अपने सध को छोड़कर उपसपदा के लिए अन्यत्र नहीं जा सकता था।

अनिवार्य परीक्षण—

उपसपदा के लिए आने वाले मुनि की योग्यता का परीक्षण करना भी अनिवार्य था। क्योंकि परीक्षण किए बिना नए व्यक्ति को स्वीकार करने से समय पर आचार्य तथा सध दोनों के लिए चिन्ता का विषय हो सकता है। परीक्षाक्रम में सबसे पहले उसकी दिनचर्या देखी जाती थी। अगर वह मुनि अपनी दिनचर्या में सजग रहता, आवश्यकी नैपिधिकी विधि-पूर्वक करता, प्रतिक्रमण—प्रतिलेखन आदि मौलिक क्रियाओं में अन्तर नहीं आने देता तथा जिस सध में सम्मिलित हुआ है उस सध के सदस्यों में घुसमिल जाता, वह मुनि उपसपदा के योग्य माना जाता था।

परीक्षण की पद्धति एक ही प्रकार की नहीं होती थी किन्तु विविध प्रकार की विधियों से आगन्तुक मुनि की

परीक्षा ली जाती थी। आचार्य यह भी देखते थे कि मैं अपने सध के सदस्यों को भूल होने पर उन्हें सावधान करता हूँ, अध्ययन और साधना आदि विषयों में प्रेरित करता हूँ पर प्रतिच्छक के प्रति उदासीन रहता हूँ। इस प्रकार के व्यवहार से उसके मानस पर क्या प्रतिक्रिया होती है ?

यदि उस उपेक्षाभाव का उसपर कुछ असर होता और निवेदन करते-करते उसकी आँखों से आँसू छलक जाते और गद्गद् स्वर में प्रार्थना करता कि गुरुदेव! मुझ जैसे निराधार के आधार आप ही हैं, मैं भी आपकी शरण-गत हूँ। अपने शिष्यों की तरह मुझे भी गलती होने पर सावधान रहने की प्रेरणा दे तो उस मुनि को उपसपदा के लिए स्वीकार कर लिया जाता था जिस मुनि पर आचार्य को उदामीनता का कोई असर ही नहीं होता। उस मुनि को इन्कार कर दिया जाता था।

प्रतिच्छक के द्वारा परीक्षा—

जिस प्रकार आचार्य प्रतिच्छक मुनि की परीक्षा लेते वैसे ही वह मुनि भी जिस गण में जाता, उस गण के आचार्य की परीक्षा करता। उस गण के सदस्यों में कोई भी सदस्य आवश्यक समाचारी में भूल करता तो वह आचार्य को निवेदन करता। आचार्य उस नवागन्तुक के निवेदन पर उस भूल करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त देने और आगे भूल न करे इस प्रकार प्रेरित करते तो वह मुनि उस गण और आचार्य को स्वीकार करता; अन्यथा उपसपदा के लिए अन्यत्र चला जाता था।

उपसपदा के लिए आने वाला मुनि यदि योग्य नहीं होता तो गीनार्थ को स्पष्ट मनाह कर देने, क्योंकि वह स्थिति में अनजान नहीं होता। और यदि वह अगीतार्थ होता तो उसे मनोवैज्ञानिक पद्धति से समझा देने थे।

प्रतिषेध पद्धति—

जो मुनि सूत्रार्थ की विशेष वाचना के लिये आता पर उसके योग्य नहीं होता, उस मुनि से कहा जाता था कि

१. निशीथ भाष्य ६३३५ : व्यवहार भाष्य ७४ : अहवा एगे परिणते अप्पाहारे य थेरए।

२. वही, ६३३५ : गिलाणे बहुरोगे य मद-धम्मे य पाट्टे।

१. निशीथ भाष्य ६३४६ : व्यवहार भाष्य ८६ :

जो पुण चोइज्जतो, दट्ठूण तत्तो, नियत्तता ठाणा।
मपाति अहं मे चत्तो, चोदेह ममपि सीदतं ॥

तुम जिस सूत्रार्थ को प्राप्त करना चाहते हो,^१ वह अभी मेरे पास नहीं है। यदि वह कहे कि मैंने तो आपके पास है, ऐसा सुना है और स्वयं भी देखा है। ऐसा कहने वाले को आचार्य कहते, तुम ठीक कहते हो, पहले मैं जो सूत्रार्थ देता था पर अब कई स्थल शंकित हो गए हैं। शंकित सूत्रार्थ की वाचना देना आगम निषिद्ध है। अतः तुम उस गण में जाकर वाचना लो, जहाँ आचार्य निःशंकित होकर वाचना देते हैं।

स्वच्छन्द मुनि का प्रतिषेध^२—

हमारे सघ को समाचारी के अनुसार भी अकेला मुनि और कही तो जा ही नहीं सकता, किन्तु संज्ञाभूमि के लिए भी अकेला नहीं जा सकता, इसलिए इस सघ में रहना भी तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है।

अनुबद्ध वर का प्रतिषेध^३—

हमारे सघ की समाचारी भी मंडलाधीन है। खान-पान और अध्ययन मण्डलीस्य करना होता है, इसलिए यहां तुम्हारे लिए कठिनाई है।

अलसी मुनि का प्रतिषेध^४—

हमारे यहाँ स्वस्थ और तरुण ही नहीं पर बाल, वृद्ध और रुग्ण मुनि भी दीर्घ भिक्षा के लिए घूमते हैं तो फिर तुम्हें छूट कैसे मिलेगी ?

१. वही, ६३५४ : णत्थेय मे जमिच्छिए सुत्त मए आगम सकिय त तु ।
नय सकिय तु दिज्जइ णिस्मक सुत्ते गवेसाहि ॥
२. निशीथ भाष्य ६३५५; व्यवहार भाष्य ८६५ :
एकत्तेण णलब्भा वीयारादी विजयणा सच्छदे
३. वही, ६३५५ : भोयण सुत्ते मडाले अपद्धते विणिओ अति ।
४. वही, ६३५६ : अलस भणति वाहि जीत हिडसि, अम्ह एत्थ बालाती ।

उग्र मुनि का प्रतिषेध^५—

हमारे सघ में जो मुनि दिनचर्या में लापरवाह रहता है, अथवा प्रमाज्जन ठीक नहीं करता, उसे हाडाहड—तत्काल वहन करने योग्य—प्रायश्चित्त मिलता है।

योगवाही मुनि का प्रतिषेध^६—

यहाँ भी जो मुनि योग का वहन करते हैं, वे मनचाही विषय नहीं ले सकते। इस विधान के अनुसार इस सघ में भी तुम्हें कोई सुविधा नहीं मिलेगी।

इस प्रकार जो मुनि जिस सुविधा के लिए अपने गण को छोड़कर आता, उसे वंसी कठिनाई दिखाकर प्रतिषेध कर दिया जाता था।

उक्त विवेचन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय के धर्म-संघों के प्रवर्तकों में परस्पर कोई तनाव के भाव नहीं थे, इसलिए शिष्यों के आदान-प्रदान में भी उन्हें किसी प्रकार का सकोच नहीं होता था, आज धर्म-संघ अपनी वैचारिक संकीर्णता और रूढ़ता के कारण एक-दूसरे से टूटकर इस प्रकार विलग हो चुके हैं कि पुनः उनको जोड़ना कठिन नहीं, किन्तु असम्भव सा लग रहा है। स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि कोई उदारचेता आचार्य किसी धर्म-संघ के आचार्य से चरचा भी कर लेते हैं तो कट्टर सम्प्रदायवादी लोगों में बहुत बड़ी हलचल मच जाती है। उनकी धारणा के अनुसार असाभोगिक, असाधमिक और भिन्न सामाचारिक संघों का मिलना ही मिथ्यात्व का प्रतीक है।

वर्तमान परिस्थिति के सदर्थ में अगर धर्म-संघ इस प्रकार की धारणा को लेकर एक-दूसरे से टूटते रहे तो धर्म और समाज का कोई उद्धार नहीं कर सकेंगे। अतः प्रत्येक धर्माचार्य अपनी दृष्टियों में सशोधन करे और एक-दूसरे से निकट होकर अपनी विच्छिन्न परम्परा को पुनः शृङ्खलाबद्ध करे।

५. वही, ६३५६ : पच्छिद हाडाहड आवि ।

६. वही, ६३५६ : उवसग्गं तहा विगति ।

आगम और त्रिपिटकों के संदर्भ में अजातशत्रु कूणिक

मुनि श्री नगराज

नाम-भेद

जैन और बौद्ध, दोनों परम्पराओं में नाम-भेद है। जैन परम्परा जहाँ उसे 'सर्वत्र 'कूणिक' कहती है, वहाँ बौद्ध परम्परा उसे सर्वत्र 'अजातशत्रु' कहती है। उपनिषद् और पुराणों में भी अजातशत्रु नाम व्यवहृत हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि कूणिक मूल नाम है और अजातशत्रु उसका एक विशेषण (epithet) कभी-कभी मूल नाम से भी अधिक उपाधि या विशेषण प्रचलित हो जाते हैं। जैसे-वर्धमान मूल नाम है, महावीर विशेषतापरक, पर व्यवहार में 'महावीर' ही सब कुछ बन गया है। भारतवर्ष के सामान्य इतिहास में केवल अजातशत्रु ही नाम प्रचलित है। मथुरा संग्रहालय के एक शिलालेख में 'अजातशत्रु कूणिक' लिखा गया है। वस्तुतः इसका पूरा नाम यही होना चाहिए। नवीन साहित्य में 'अजातशत्रु कूणिक' शब्द का ही प्रयोग किया जाये, यह अधिक यथार्थताबोधक होगा।

'अजातशत्रु' शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं। न जातः शत्रुर्यस्य अर्थात् 'जिसका शत्रु जन्मा ही नहीं' और अजातोऽपि शत्रु अर्थात् 'जन्म से पूर्व ही (पिता का) शत्रु'। दूसरा अर्थ आचार्य बुद्धघोष का है और वह अग्ने-आप में सगत भी है, पर यह युक्ति-पुरस्सर है और पहला अर्थ सहज है। कूणिक बहुत ही शौर्यशील और प्रतापी नरेश था। अनेकों दुर्जेय शत्रुओं को उसने जीता था। अतः

अजातशत्रु विशेषगर्हा का द्योतक न होकर उसके शौर्य का द्योतक अधिक प्रतीत होता है।

'कूणिक' नाम 'कूणि' शब्द से बना है। 'कूणि' का अर्थ है—अंगुली का घाव। 'कूणिक' का अर्थ हुआ—अंगुली के घाव वाला।

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

रूढव्रणादि सा तस्य कूणिता भवदगुलि ।

ततः सर्पांशुरमर्णः सोऽभ्यश्चीयत कूणिका" ॥

आवश्यक कूणि में कूणिक को 'अशोक चन्द्र' भी कहा गया है। पर यह विरल प्रयोग है।

महाशिला कटक युद्ध और वज्जी-विजय—

अजातशत्रु के जीवन का एक ऐतिहासिक घटना-प्रसंग जैन शब्दों में 'महाशिला कटक-युद्ध' तथा बौद्ध शब्दों में 'वज्जी-विजय' रहा है। दोनों परम्पराओं में युद्ध के कारण, युद्ध की प्रक्रिया और युद्ध की निष्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलती है; पर इसका सत्य एक है कि वैशाली गणतन्त्र पर वह मगध की ऐतिहासिक विजय थी। इस युद्धकाल में महावीर और बुद्ध; दोनों वर्तमान थे। दोनों ने ही युद्ध विषयक प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। दोनों ही परम्पराओं का युद्ध विषयक वर्णन बहुत ही लोमहर्षक और तात्कालिक राजनैतिक स्थितियों का परिचायक है। जैन विवरण, भगवती सूत्र निरयावलिका सूत्र तथा आवश्यक कूणि में मुख्यतः उपलब्ध होता है। बौद्ध विवरण बोधनिकाय के महावीरनिम्बाण सुत्त तथा उसकी अट्ठकथा में मिलता है।

१. Dialogues of Buddha, Vol. II, p. 78

२. वायु पुराण, अ० ६६, श्लो० ३१६; मत्स्य पुराण, अ० २७१, श्लो० ६

६. Dr. Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. V, Part IV, pp. 550-51.

४. Dialogues of Buddha, Vol. II, p. 78.

५. बोधनिकाय अट्ठकथा, १, १...

२. Apte's, Sankrit-English Dictionary, Vol. I, p. 580.

३. त्रिषष्टशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ३०६।

४. असोपगवण...

महाशिलाकंटक संग्राम

चम्पा नगरी में आकर कूणिक ने कालीकुमार आदि अपने दश भाइयों को बुलाया। राज्य, सेना, धन आदि ग्यारह भागों में बाटा और आनन्दपूर्वक वहा राज्य करने लगा। कूणिक राजा के दो सगे भाई (चेल्लणा के पुत्र) हल्ल और विहल्ल थे। राजा श्रेणिक ने अपनी जीवित-वस्था में ही अपनी दो विशेष वस्तुएँ उन्हें दे दी थी—सेचनक हस्ती और अठारहसरा देवप्रदत्त हार^१।

प्रतिदिन विहल्लकुमार सेचनक हस्ती पर सवार हो, अपने अन्तःपुर के साथ जल-श्रीडा के लिए गंगा तट पर जाता। उसके आनन्द और भोग को देखकर नगरी में चर्चा उठी—“राजश्री का फल तो विहल्लकुमार भोग रहा है, कूणिक नहीं।” यह चर्चा कूणिक की रानी पद्मावती तक पहुँची। उसे लगा—“यदि सेचनक हाथी मेरे पास नहीं, देवप्रदत्त हार मेरे पास नहीं तो इस राज्य-वैभव से मुझे क्या?” कूणिक से उसने यह वार्ता कही। अनेक बार के आग्रह से कूणिक हार और हाथी मागने के लिए विवश हुआ। हल्ल और विहल्लकुमार को बुलाया और कहा—“हार और हाथी मुझे सौंप दो।” उन्होंने उत्तर दिया—“हमें पिता ने पृथक् रूप से दिये हैं। हम इन्हें कैसे सौंप दें?” कूणिक इस उत्तर से रुष्ट हुआ। हल्ल और विहल्लकुमार अवसर देखकर हार, हाथी और अपना अन्तःपुर लेकर वैशाली में अपने नाना चेटक के पास चले गये। कूणिक को यह पता चला। उसने चेटक राजा के पास अपना दूत भेजा और हार, हाथी तथा हल्ल-विहल्ल को पुनः चम्पा लौटा देने के लिए कहलाया। चेटक ने कहा—“हार हाथी हल्ल-विहल्ल के हैं। वे मेरे गरण आये हैं। मैं उन्हें वापिस नहीं लौटाता। यदि श्रेणिक राजा का पुत्र, चेल्लणा का आत्मज, मेरा नप्तृक (दोहिता) कूणिक हल्ल-विहल्ल को आधा राज्य दे तो मैं हार-हाथी उसे दिलवाऊँ।” उसने पुनः दूत भेजा और कहलाया—“हल्ल और विहल्ल मेरी अनुज्ञा के बिना हार हाथी ले गये हैं। ये दोनों वस्तुएँ हमारे राज्य मगध की हैं।” चेटक ने पुनः

१. कहा जाता है—सेचनक हस्ती और देवप्रदत्त हार का मूल्य श्रेणिक के पूरे राज्य के बराबर था।

(आवश्यक जूणि, उत्तरार्ध, पत्र १६७)

नकारात्मक उत्तर देकर दूत को विमर्जित किया। दूत ने कूणिक को सारा सवाद कहा। कूणिक उत्तेजित हुआ। आवेश में आकर उसके ओठ फड़कने लगे आँखें लाल हो गईं। ललाट में त्रिवली बन गई। दूत से कहा—“तीसरी बार और जाओ। मैं तुम्हें लिखित पत्र देता हूँ। इसमें लिखा है—‘हार-हाथी वापिस करो या युद्ध के लिए सज्ज हो जाओ।’ चेटक की राज सभा में जाकर उसके सिंहासन पर लान मारो। भाले की अणी पर रखकर मेरा यह पत्र उसके हाथों में दो।” दूत ने वंसा ही किया। चेटक भी पत्र पढ़कर और दूत का व्यवहार देखकर उसी प्रकार उत्तेजित हुआ। आवेश में आया दूत से कहा—“मैं युद्ध के लिए सज्ज हूँ। कूणिक शीघ्र आये, मैं प्रतीक्षा करता हूँ।” चेटक के आरक्षकों ने दूत को पकड़ा और गलहत्या देकर सभा से बाहर किया।

कूणिक ने दूत से यह सब सुना। कालीकुमार आदि अपने दश भाइयों को बुलाया व कहा—“अपने-अपने राज्य में जाकर समस्त सेना से सज्ज होकर यहाँ आओ। चेटक राजा से मैं युद्ध करूँगा।” सब भाई अपने-अपने राज्यों में गये। अपने अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र घोड़े, तीन सहस्र रथ, और तीन करोड़ पदातिकों को साथ लेकर आये। कूणिक ने भी अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र अश्व तीन सहस्र रथ और तीन करोड़ पदातिकों को सज्ज किया। इस प्रकार तेतीस सहस्र हस्ती, तेतीस सहस्र अश्व, तेतीस सहस्र रथ और तेतीस करोड़ पदातिकों की बृहत् सेना को लेकर कूणिक वैशाली पर आया।

राजा चेटक ने भी अपने मित्र नव मल्लकी, नवलच्छवी, इन अठारह काशी कोशल के राजाओं को एकत्रित किया। उनसे परामर्श मागा—“श्रेणिक राजा की चेलणा रानी का पुत्र, मेरा नप्तृक (दोहिता) कूणिक हार और हाथी के लिए युद्ध करने आया है। हम सब को युद्ध करना है या उसके सामने समर्पित होना है?” सब राजाओं ने कहा—“युद्ध करना है, समर्पित नहीं होना है।” यह निर्णय कर सब राजा अपने-अपने देश में गये और अपने-अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र अश्व, तीन सहस्र रथ और तीन करोड़ पदातिकों को लेकर

आये इतनी ही सेना से चेटक स्वयं तैयार हुआ। ५७ सहस्र हाथी, ५७ सहस्र अश्व, ५७ सहस्र रथ और ५७ करोड़ पदातिकों की सेना लिए चेटक भी सग्राम भूमि में आ डटा।

राजा चेटक भगवान महावीर का उपासक था। उपासक के १० व्रत उसने स्वीकार किये थे। उसका अपना एक विशेष अभिग्रह था—“मैं एक दिन में एक से अधिक बाण नहीं चलाऊंगा।” उसका बाण अमोघ था अर्थात् निष्फल नहीं जाता। पहले दिन अज्ञातशत्रु की ओर से कालीकुमार सेनापति होकर सामने आया। उसने गरुड व्यूह की रचना की। राजा चेटक ने शकट व्यूह की। भयकर युद्ध हुआ। राजा चेटक ने अपने अमोघ बाण का प्रयोग किया। कालीकुमार घराशायी हुआ। इसी प्रकार एक-एक कर अन्य नव भाई एक-एक दिन सेनापति होकर आये और राजा चेटक के अमोघ बाण से मारे गये। महावीर उस समय चम्पा नगरी में वर्तमान थे। कालीकुमार आदि राजकुमारों की माताएँ काली आदि दश रनिशों ने युद्ध-विषयक प्रश्न महावीर से पूछे। महावीर ने कालीकुमार आदि की मृत्यु का सार वृत्तांत उन्हें बताया। उन रानियों ने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

इन्द्र की सहायता—

कूणिक ने तीन दिनों का तप किया। शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की। वे प्रकट हुए। उनके योग से प्रथम दिन महाशिलाकंटक सग्राम की योजना हुई। कूणिक शक्रेन्द्र द्वारा निर्मित वज्रप्रतिरूप कषच से सुरक्षित होकर युद्ध में आया ताकि चेटक का अमोघ बाण भी उसे मार न सके। घमासान युद्ध हुआ। कूणिक की सेना द्वाग डाला गया ककर तृण व पत्र भी चेटक की सेना पर महाशिला जैसा प्रहार करता था। एक दिन के सग्राम में ८४ लाख मनुष्य मरे। दूसरे दिन रथमूसल सग्राम की विकीर्णता हुई। चमरेन्द्र देव-निर्मित स्वयं चालित रथ चला। अपने चारों ओर से मूसल की मार करता हुआ सारे दिन वह शत्रु की सेना में घूमता रहा। एक दिन में ६६ लाख मनुष्यों का सहार हुआ। चेटक और नवमल्लवी,

नवलच्छवी, ऐसे अट्टारह कागी-कोशल के गण राजाओं की पराजय हुई, कूणिक की विजय हुई।^१

वंशाली प्राकार भंग—

पराजित चेटक राजा अपनी नगरी में चला गया। प्राकार के द्वार बन्द कर लिये। कूणिक प्राकार को तोड़ने में असफल रहा। बहुत समय तक वंशाली को घेरे वह वही पड़ा रहा, एक दिन आकाशवाणी हुई—“श्रमण कूलबालक जब मागधिका। देश्या में अनुरक्त होगा, तब राजा अशोकचन्द्र (कूणिक) वंशाली नगरी का अधिग्रहण करेगा।” कूणिक ने कूलबालक का पता लगाया। मागधिका को बुलाया। मागधिका ने कपट श्राविका वन कूल बालक को अपने आप में अनुरक्त किया। कूल बालक नैमित्तिक वेप बना जैसे-तैसे वंशाली नगरी में पहुँचा। उसने जाना कि मुनिमुव्रत स्वामी स्तूप के प्रभाव से यह नगरी बच रही है। लोकों ने शत्रु सकट का उपचार पूछा, तब उसने कहा—यह स्तूप टूटेगा, तभी शत्रु यहाँ से हटेगा। लोकों ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। एक बार कूणिक की सेना पीछे हटी, क्योंकि ऐसा समझा कर आया था। ज्यों ही सारा स्तूप टूटा, कूणिक ने कलबालक के कहे अनुसार एका एक आक्रमण कर वंशाली प्राकार भंग किया।

हल्ल-विहल्ल हार और हाथी को शत्रु से बचाने के लिये भगे। प्राकार की खाई में प्रच्छन्न आग थी। हाथी सेचनक इसे अपने बिभङ्ग-ज्ञान से जान चुका था। वह

२. भगवती सूत्र, ७, उद्देशक ६, सूत्र ३०१,
३. ‘कूलबालक’ नदी के कूल के समीप आतापना करता था। उसके तपः प्रभाव से नदी का प्रभाव थोड़ा मुड़ गया। उससे उसका नाम, ‘कूलबालक’ हुआ। (उत्तराध्ययन सूत्र लक्ष्मीवल्लभकृत वृत्ति (गुजराती अनुवाद सहित) अहमदाबाद, १९३५, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ८।
४. समणे जह कूलबालए, मागहिअ गणिअ रमिस्सए।
राया अ असोगचदए देमालि नयरी गहिस्सए ॥
—वही, पत्र १०
५. वही, पत्र ११

आगे नहीं बढ़ा। बलान् बढ़ाया गया तो उसने हल्ल-विहल्ल को नीचे उतार दिया और स्वयं अग्नि में प्रवेश कर गया। मर कर अपने शत्रु अर्धवसायो के कारण प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुआ। देवप्रदत्त हार देवताओं ने उठा लिया। हल्ल-विहल्ल को शासनदेवी ने भगवान् महावीर के पास पहुँचा दिया वहाँ वे निगठ-पर्याय में दीक्षित हो गये।^१

राजा चेटक ने प्रच्छन्न स्थान में आभरण अनशन किया व अपने शत्रु अर्धवसायो से सद्गति प्राप्त की।^२

बौद्ध परम्परा—वज्रियों से शत्रुता :

गंगा के एक पत्तन के पास पर्वत में रत्नों की खान थी^३। अजातशत्रु और लिच्छवियों में आधे-आधे रत्न बाट लेने का समझौता था। अजातशत्रु—“आज जाऊँ, कल जाऊँ” करते ही रह जाता। लिच्छवी एक मन हो, सब रत्न ले जाते। अजातशत्रु को खाली हाथों लौटना पड़ता। अनेको बार ऐसा हुआ। अजातशत्रु क्रुद्ध हो सोचने लगा—“गण के साथ युद्ध कठिन है, उनका एक भी प्रहार निष्फल नहीं जाता^४, पर कुछ भी हो, मैं महर्द्धिक वज्रियों को उच्छिन्न करूँगा, उनका विनाश करूँगा।” अपने महामंत्री वस्सकार ब्राह्मण को बुलाया और कहा—“जहाँ भगवान् बुद्ध है, वहाँ जाओ मेरी यह भावना उनसे कहो। जो उनका प्रत्युत्तर हो, मुझे बताओ।”^५

उस समय भगवान् बुद्ध राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे। वस्सकार वहाँ आया। अजातशत्रु की ओर से सुख-प्रश्न पूछा और उसके मन की बात कही। तब भगवान् ने वज्रियों के सात अपरिहानीय नियम बतलाये—

१. सन्निपात-बहुल है अर्थात् उनके अविवेशन में पूर्ण उपस्थिति रहती है।

१. भरतेश्वर बाहुबलीवृत्ति, पत्र १००-१०१

२. बुद्धचर्या के अनुसार पर्वत के पास बहुमूल्य सुगन्ध वाला माल उतरता था। पृ. ४८४।

३. दीघनिकाय अट्टकथा, सुमंगलविलासिनी, खण्ड २, पृ. ५२६; विमलचरण ला, बुद्धघोष, पृ. १११; हिन्दू सभ्यता, पृ. १८७।

४. दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त, २:३(१६)

२. वज्जी एकमत से परिषद् में बैठते हैं, एकमत से उत्थान करते हैं, एक ही करणीय कर्म करते हैं। वे सन्निपात भेरी के मुनते ही खाते हुए, आभूषण पहनते हुए या वस्त्र पहनते हुए भी ज्यों के त्यों एकत्रित हो जाते हैं।

३. वज्जी अप्रज्ञप्त (अवैधानिक) को प्रज्ञप्त नहीं करते। प्रज्ञप्त का उच्छेद नहीं करते।

४. वज्जी महल्लको का (वृद्धों का) सत्कार करते हैं, गुरुकार करते हैं; उन्हें मानते हैं, पूजते हैं।

५. वज्जी कुल-स्त्रियों और कुल कुमारियों के साथ बलात् विवाह नहीं करते।

६. वज्जी अपने नगर के बाहर और भीतर के चैत्यो का आदर करते हैं। उनकी मर्यादाओं का लघन नहीं करते।

७. वज्जी अर्हतों की धार्मिक सुरक्षा रखते हैं, इसलिए कि भविष्य में उनके यहाँ अर्हत आते रहे और जो हैं, वे सुख से विहार करने रहे।

जब तक ये सात अपरिहानीय-नियम उनमें चलते रहेंगे, तब तक उनकी अभिवृद्धि ही है, अभिहानि नहीं।^६

वज्रियों में भेद :—

वस्सकार पुनः अजातशत्रु के पास आया और बोला—“बुद्ध के कथनानुसार तो वज्जी अजेय हैं, पर उपलापन (रिश्वत) और भेद से उन्हें जीता जा सकता है।”^७

राजा ने पूछा—“भेद कैसे डालें?”

वस्सकार ने कहा—“कल ही राजसभा में आप वज्रियों की चर्चा करें। मैं उनके पक्ष में कुछ बोलूंगा। आप मेरा तिरस्कार करें। कल ही मैं वज्रियों के लिए एक भेंट भेजूंगा। उस दोषारोपण में मेरा शर मुड़वा कर मुझे नगर से निकाल देना। मैं कहता जाऊँगा—“मैंने तेरे प्राकार, परिखा आदि बनवाये हैं। मैं दुर्बल स्थानों को जानता हूँ। शीघ्र ही मैं तुम्हें सीधा न कर दूँ, तो मेरा नाम वस्सकार नहीं है।”

अगले दिन यही सब घटित हुआ। बात वज्रियों तक भी पहुँच गई। कुछ लोगों ने कहा—“यह ठगी है। इसे गंगा पार मत आने दो।” पर अधिक लोगो ने कहा—“यह घटना बहुत ही अपने पक्ष में घटित हुई है। वस्स-

१. वही।

कार का उपयोग अजातशत्रु करता था। यह बुद्धिमान है, इसका उपयोग हम ही क्यों न करें? वह शत्रु का शत्रु है; अतः आदरणीय है।” इस धारणा पर उन्होंने वस्स-कार को अपने यहाँ अमात्य बना दिया।

थोड़े ही दिनों में उसने वहाँ अपना प्रभाव जमा लिया। अब उसने वज्जियों में भेद डालने की बात शुरू की। बहुत सारे लिच्छवी एकत्रित होते, वह किसी एक से एकान्त होकर पूछता—“खेत जोतते हो?”

“हाँ, जोतते हैं।”

“दो बैल जोत कर?”

“हाँ, दो बैल जोतकर।”

दूसरा लिच्छवी उस लिच्छवी को एकान्त में जाकर पूछता—“महामात्य ने क्या कहा?” वह सारी बात उसे कह देता; पर उसे विश्वास नहीं होता कि महामात्य ने ऐसी साधारण बात की होगी। “मेरे पर तुम्हें विश्वास नहीं है; सही नहीं बतला रहे हो।” यह कह सदा के लिए वह उमसे टूट जाता। कभी किसी लिच्छवी को वस्सकार कहता—“आज तुम्हारे घर में क्या शाक बनाया था?” वही बात फिर घटित होती। किसी एक लिच्छवी को एकान्त में ले जाकर कहता—“तुम बड़े गरीब हो।” किसी को कहता—“तुम बड़े कायर हो।” किसने कहा? पूछे जाने पर उत्तर देता—“अमुक लिच्छवी ने, अमुक अमुक लिच्छवी ने।”

कुछ ही दिनों में लिच्छवियों में परस्पर इतना अविश्वास और मनोमालिन्य हो गया कि एक रास्ते से भी दो लिच्छवी नहीं निकलते। एक दिन वस्सकार ने सन्निपात भेरी बजवाई। एक भी लिच्छवी नहीं आया तब उसे निश्चय हो गया कि अब वज्जियों को जीतना बहुत आसान है। अजातशत्रु को आक्रमण के लिए उसने प्रच्छन्न रूप से कहला दिया। अजातशत्रु ससैन्य चल पड़ा। वैशाली में भेरी बजी—“आओ चले, शत्रु को गंगा पार न होने दे।” कोई नहीं आया। दूसरी भेरी बजी—“आओ चलें, नगर में न घुसने दे। द्वार बन्द करके रहे।” कोई नहीं आया। भेरी सुनकर सब यही बोलते—“हम तो गरीब हैं, हम क्या लड़ेंगे?”; हम तो कायर हैं, हम क्या लड़ेंगे?”; “जो श्रीमन्त हैं और शौर्यवन्त हैं, वे

लड़ेंगे?” खुल्ले ही द्वार अजातशत्रु नगरी में प्रविष्ट हुआ, वैशाली का सर्वनाश कर चला गया।

महापरिनिव्वान मुत्त के अनुसार—अजातशत्रु के दो महामात्य सुनीध और वस्सकार ने वज्जियों से सुरक्षित रहने के लिए गंगा के तट पर ही पाटलिपुत्र नगर बसाया। जब वह बसाया जा रहा था, सयोगवश बुद्ध भी वहाँ आये, सुनीध और वस्सकार के आमन्त्रण पर भोजन किया। चर्चा चलने पर पाटलिपुत्र की प्रशंसा की और उसके तीन अन्तराय बताये—आग, पानी और पारस्परिक भेद। बुद्ध के कथनानुसार त्रयस्त्रिंश-देवों के साथ मन्त्रणा करके सुनीध और वस्सकार ने यह नगर बसाया था।

समीक्षा

दोनों ही परम्पराएँ अपने-अपने ढंग मगध-विजय और वैशाली-भंग का पूरा-पूरा व्योरा देती हैं। बुद्ध का निमित्त युद्ध का प्रकार आदि दोनों परम्पराओं के सर्वथा भिन्न है। जैन परम्परा चेटक को लिच्छवी-नायक के रूप में व्यक्त करती है; बौद्ध परम्परा प्रतिपक्ष के रूप में केवल वज्जीसघ (लिच्छवी-सघ) को ही प्रस्तुत करती है। जैन परम्परा के कुछ उल्लेख, जैसे—कूणिक व चेटक की क्रमशः ३३ करोड़ व ५७ करोड़ की सेना, शक्र और असुरेन्द्र का सहयोग, दो ही दिनों में १ करोड़ ५० लाख मनुष्यों का वध होना, कूल बालक के सम्बन्ध से आकाश-वाणी का सहयोग होना, स्तूपमात्र के टूट जाने से लिच्छवियों की पराजय हो जाना आदि बातें आलंकारिक जैसी लगती हैं। बौद्ध परम्परा का वर्णन अधिक सहज और स्वाभाविक लगता है। युद्ध के निमित्त में एक और रत्न-राशि का उल्लेख है, तो एक और महार्घ्य देव-प्रदत्त हार का। भावनात्मक समानता अवश्य है। चेटक के बाण को जैन परम्परा में अमोघ बताया गया है। बौद्ध परम्परा का यह उल्लेख—“उन (वज्जिगण) का एक भी प्रहार निष्फल नहीं जाता”, उसी प्रकार का संकेत देता है।

जैन परम्परा स्तूप के प्रभाव से नगरी की सुरक्षा बताती है, बुद्ध कहते हैं—“जब तक वज्जी नगर के बाहर व भीतर के चैत्यो (स्तूपों) का आदर करेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही है, हानि नहीं।”

युद्ध के पात्रों का व्यवस्थित व्योरा जितना जैन परम्परा देती है, उतना बौद्ध परम्परा नहीं। चेटक तथा ६ मल्ल की, ६ लिच्छवी, अट्टाग्रह गणराजाओं का यत्किञ्चित् विवरण भी बौद्ध परम्परा नहीं देती।

वैशाली-विजय में छद्म-भाव का प्रयोग दोनों ही परम्परा ने माना है। जैन परम्परा के अनुसार युद्ध के दो भाग हो जाते हैं :—

१. पखवाडे का प्रत्यक्ष युद्ध और

२. प्रकार-भंग।

इन दोनों के बीच बहुत समय बीत जाता है। डा० गाथाकुमुद मुखर्जी की धारणा के अनुसार यह अवधि कम-से-कम १६ वर्षों की हो सकती है^१। बौद्ध परम्परा के अनुसार वस्सकार लगभग तीन वर्ष वैशाली में रहता है और लिच्छवियों में भेद डालता है। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि बौद्ध परम्परा का उपलब्ध वर्णन केवल युद्ध का उत्तरार्ध मात्र है।

रानियाँ और पुत्र

जैन परम्परा में कूणिक की तीन रानियों के नाम मुख्यतया आते हैं—पद्मावती^२, चारिणी^३ और मुभद्रा^४। आवश्यक चूणि के अनुसार कूणिक ने ८ राजकन्याओं के साथ विवाह किया था^५, पर वहाँ उनका कोई विशेष परिचय नहीं है।

बौद्ध परम्परा में कूणिक की रानी का नाम वजिरा आता है। वह कोशल के प्रसेनजित् राजा की पुत्री थी। कूणिक के पुत्र का नाम जैन परम्परा में उदायी और बौद्ध परम्परा में उदायीभद्र आता है। जैन परम्परा के अनुसार यह पद्मावती का पुत्र था और बौद्ध परम्परा के अनुसार वह वजिरा का पुत्र था। वजिरा का होने में

एक असंगति आती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार उदायी-भद्र का जन्म उसी दिन हुआ, जिस दिन श्रेणिक का शरीरान्त हुआ^६, जबकि वजिरा का विवाह भी श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् हुआ^७।

मृत्यु—

कूणिक (अजातशत्रु) की मृत्यु दोनों परम्पराओं में विभिन्न रूप से बताई गई है।

जैन परम्परा मानती है—कूणिक ने महावीर से पूछा—चक्रवर्ती मर कर कहाँ जाते हैं? उत्तर मिला—चक्रवर्ती पद पर मरने वाला सप्तम नरक में जाता है।

“मैं मर कर कहाँ जाऊँगा?”

“तुम छठे नरक में जाओगे।”

“क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ?”

“नहीं हो।”

इस पर उसे चक्रवर्ती बनने की धुन लगी। कृत्रिम चोदह रत्न बनाये। पट्खण्ड विजय के लिए निकला। तिमिल गुफा में देवता ने रोका और कहा—“चक्रवर्ती ही इस गुफा को पार कर सकता है और चक्रवर्ती वारह हो चुके हैं।” कूणिक ने कहा—“मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती हूँ।” इस अनहोनी बात पर देव कुपित हुआ और उसने उसे वहीं भस्म कर दिया^८।

बौद्ध परम्परा बताती है कि उदायीभद्र ने राज्य-लोभ से उसकी हत्या की^९।

इस विषय में दोनों परम्पराओं की समान बात यही है कि कूणिक मर कर नरक में गया। जैन परम्परा जहाँ तमः प्रभा का उल्लेख करती है, वहाँ बौद्ध परम्परा लोह-कुम्भीय नरक का उल्लेख करती है^{१०}। कुल नरक जनों के

१. हिन्दू सम्प्रदाय, पृ. १८६

२. “तस्स ण कूणियस्स रत्तो पउमावई नामं देवी……”

—निरयावलिक सूत्र, (पी. एल. वैद्य संपादित), पृ. ४

३. “तस्स ण कूणियस्स रत्तो चारिणी नाम देवी……”

—औपपातिक सूत्र (सटीक), सूत्र ७, पत्र २२

४. वही, सूत्र ३३, पत्र १४४

५. आवश्यक चूणि, उत्तरार्ध, पत्र १६७

६. आचार्य बुद्धघोष, सुभगलविलासिनी, खण्ड १, पृ. १३७

७. जातक अट्टकथा, खण्ड ४, पृ. ३४६; Encyclopaedia Buddhism, 317.

८. स्थानाग सूत्र वृत्ति, स्था. ४, तथा उ० ३ तथा आवश्यक चूणि, उत्तरार्ध, पत्र १६७-७७।

९. महावंश ४-१

१०. दीघनिकाय अट्टकथा, खण्ड १, पृ. २६७-३८

पण्डित भगवतीदास कृत ज्योतिषसार

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

पण्डित भगवतीदास के वैद्यविनोद का परिचय हमने अनेकान्त्र में प्रकाशित कराया है। इस लेख में इन्हीं की दूसरी रचना ज्योतिषसार का परिचय दिया जा रहा है।

अन्तिम प्रशस्ति (जो अशुद्ध संस्कृत तथा हिन्दी में है) के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना स० १६९४ में पूरी हुई थी। इसकी रचना के लिए मेघराज के पुत्र बिहारीदास साधना के पुत्र उदयचंद मुनि की प्रेरणा कारण हुई थी। ग्रंथकर्त्ता भगवतीदास अग्रोतक श्रन्वय (अग्रवाल जाति) के वंशल गोत्र में उत्पन्न हुए थे तथा काष्ठासघ माथुर-

गच्छ के भ० गुणचन्द्र के शिष्य भ० सकलचन्द्र के शिष्य भ० महेन्द्रसेन के शिष्य थे। प्रशस्ति के मूल पद्य इस प्रकार है—

वर्षे षोडशसत्चतुर्नवतिमिते श्रीविक्रमादित्यके
पंचम्यां दिवसे विशुद्धतरके मासास्वने निर्मले ।
पक्षे स्वातिनक्षत्रयोगशुक्ले वारे बुधे सस्थिते
राजत्साहसहावदीन भवने साहिजहां कथ्यते ॥
श्रीभट्टारकपद्मनदिसुधियो देवा बभूवुर्भुवि
काष्ठासघसिरोमणीभ्युदयदे ख्यातौ गणे पुष्करे ।

अनुसार सात है, बौद्धों के अनुसार आठ है^१। बौद्ध परंपरा के अनुसार अज्ञातशत्रु अनेक भवों के पश्चात् विदित विशेष अथवा विजितावी नामक प्रत्येक बुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करेगा^२।

पूर्व भव—

कृष्णिक के पूर्वभवों की चर्चा भी दोनों परंपराओं में मिलती है^३। घटनात्मक दृष्टि से दोनों चर्चाएं भिन्न हैं, पर तत्त्व रूप से वे एक ही मानी जा सकती हैं। दोनों का हार्द है—श्रेणिक के जीव ने कृष्णिक के जीव का किसी एक जन्म में वध किया था।

१. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा, महातमः प्रभा (तरतमाप्रभा)। भगवती सूत्र, शतक १, उद्देशक ५।

२. संजीव, कालसुत, संघात, जालरौरव, धूमरौरव, महा-अवीचि, तपन, पतापन। (जातकट्टकथा, खण्ड ५, पृ. २६६, २७१) दिव्यावदान में ये ही नाम हैं, केवल जालरौरव के स्थान पर रौरव और धूमरौरव के स्थान पर महारौरव मिलता है। (दिव्यावदान, ६७), सधुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा सुत्तनिपात में १० नरकों के नाम आये हैं—अव्वुद, निरव्वुद, अबव, अटट, अहह, कुमुद, सोगन्धिक, उप्पल, पुण्डरीक, पडुम। (स० नि० ६-१-१०; अ० नि० (PTS), खण्ड ५, पृ. १७३; सुत्तनिपात महावग्ग, कोकलिय सुत्त, ३।३६) अट्टकथाकार के अनुसार ये नरकों के नाम नहीं, पर नरक में रहने की अवधियों के नाम हैं। आगमों में भी इसी प्रकार के काल-मानों का

उल्लेख है। (उदाहरणार्थ देवे, भगवती सूत्र, शतक ६, उद्देशक ७) बौद्ध साहित्य में अन्यत्र ५ नरकों की सूची भी मिलती है। (मज्झिमनिकाय, देवदूत सुत्त) तथा जातकों में स्फुट रूप से दूसरे नामों का उल्लेख भी है। 'लोहकुम्भी निर्गय' का उल्लेख भी स्फुट नामों में है (जातकट्टकथा, खण्ड ६, पृ. २२; खण्ड ५, पृ. २६६; सुत्तनिपात अट्टकथा, खण्ड १, पृ. ५६।)

३. Dictionary of Pali Proper Names, Vol I, P. 35.

४. जैन वर्णन—निरयावलिका सूत्र, घासीलालजी महाराज कृत सुन्दर बोधनी टीका, पृ. १२६-१३३;

बौद्ध वर्णन—जातकट्टकथा, सकिच्चजातक, जातक संख्या ५३०।

गच्छे माथुरनाम्नि जोजतिवरा कीर्तिप्रशः तत्पदात्

... ..

तत्पट्टे गुणचंद्रवेवगणिनस्तत्पट्टपूर्वाचले
सूर्याभा सकलाविचंद्रगुरवस्तत्पट्टशोभाकराः
संजाता हि महेन्द्रसेनविपुला विद्यागुणालंकृता
नानाशास्त्रसमूहपद्धतिधरा दुर्वादिविच्छेदकाः ॥
तत्सिष्यं बुधसेवको हि सततं अग्रोतका अन्वये
वंशलगोत्रपवित्र साधुमुनयः चरणांबुजे षट्पदः ।
भगवद्दासभिधान तेन लिखितं ग्रंथमिव ज्योतिषं
सर्वं दुःकृतकर्मना क्षयकरं जीयात् तदेतन्निचरं ॥
वर्धमान के देहुरई नीतन कोट हिसार ।
दास भगोती ने भन्यो सो पुणु परोपकार ॥
अतिविस्तर सब छोडके सार लिया मथि सोइ ।
बुधि जन सब संवारयहु हीनु अधिक् तहं होइ ॥
मेघराज मुतु साधना नाउ बिहारीदासु ।
ताको सुत गुरुभक्तियुत उदचंडु मुणि तासु ॥
तिसु उपदेश लिख्यो कछुक ज्योतिषसार बनाइ ।
पढहि गुणहि परबीण नर तिन घरि कमला थाइ ॥
सोलहसइ चौराणुवइ अस्वन सुवि बुधवारि ।
शुक्लयोग शुभ दिन तिहां स्वाति नक्षत्र विचारि ॥
ताविन लिखि पूरण भया ससुप्तइ चतुर सुजाण ।
पचगोठि हईसार कहु क्षेम सुसल कल्याण ॥
वाजहि तूर अनंद के घरि घरि मंगलचार ।
कवि सु भगोती इउ लवइ सदाजु हर्ष विथार ॥

इस ग्रंथ में तीन काण्ड हैं—प्रथम द्वादशमासफल-
शुभ कथन काण्ड में १४३ पद्य हैं । इसके कुछ उदाहरण
इस प्रकार हैं—

पाखि अंधारइ चंतकई वृद्धि होई तिय कोइ ।
पाखि चांदणे फिरि घटइ अन्न धणेरा होइ ॥०
बरसइ पुन्यो साठकी मास एक सुरभिभ ।
पाछे होइ महर्घता समा सुभिभ दुभिभ ॥२३
दोज तीज सुवि माह की शुक्र शनीचर मेलु ।
खांडा वाजइ देसमहि रुहर महो महि रेलु ॥४४
सनि आइचिह्नि मगलिहि जेइ कक्कह संकति ।
अन्न महग्घा तुच्छ जलु के नर वं जुज्झंति ॥५६
चित्तस्य तेयपक्खे पडिबइ जइ सुखासरो होइ ।

ता वाइस्सइ वाऊ वरसणकालेण णिबंभंतो ॥६६

इस काण्ड के अन्तिम भाग में आधारभूत ग्रंथकर्ता के
रूप में लेखक ने भड्डली का नाम दिया है—

पुब्बापरिपरिह जो भणित भड्डलि भासित आसि ।

ते सब जोडि मिलाइया कबिसु भगोतीदासि ॥१३८

दूसरे काण्ड का नाम नक्षत्रसार ग्रंथदीपक है तथा
इसमें १०७ पद्य हैं । इसके उदाहरण—

पदा सूर्यसुतो पूर्वाफाल्गुनीसंस्थिता ध्रुवं ।

चितावस्था भवे राजा संसारं भयदाशनं ॥१४

महमूलकतियासु रुढो वं कं घरेइ धरणिमुबो ।

घान्नु करेइ महग्घं गरवइ-छत्तं विणासेइ ॥८३

तीसरे काण्ड में ३०१ पद्य हैं । इसका नाम लेखक ने
नहीं दिया है । इसमें बारह राशियों में ग्रहों के शुभाशुभ
फल, ग्रहण के फल, १०८ केतूदय के फल, ग्रहों के मिलने
तथा वक्र होने का फल और वर्षा के भविष्य आदि का
वर्णन है । इसके उदाहरण—

मिथुने भास्करे जातः कर्पासं कंदमूलकं ।

सर्षपा तिलतलं च महर्घं जायते ध्रुवं ॥

चंती पुन्यो निम्मली भली भणिज्जइ लोइ ।

अह मंडलु ससि ग्रहणु मुणि उलकापातु जु द्दोइ ॥

ऊपर के वर्णन तथा उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि
लेखक ने इस ग्रंथ में सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी
इन चारों भाषाओं के पद्यों का उपयोग किया है । उन्होंने
ये पद्य अन्य ग्रंथों से संकलित किये हैं ऐसा निम्न कथन से
प्रतीत होता है—

सुगम श्लोक जे लखे भइ अरु गुय बिये लखाइ ।

बहु ते ग्रंथनि दूँवकइ लिखे ठकाणो साइ ॥

इसी कारण ग्रंथ के विषय प्रतिपादन में सुसूत्रता नहीं
आ सकी है । ये पद्य मूलतः काफी अशुद्ध भी हैं ।

यह ज्योतिषसार ग्रंथ भी उसी हस्तलिखित में मिला
है जिसमें से वैद्यविनोद का परिचय पहले दिया गया है ।
हस्तलिखित के पत्र ५८ से ७६ तक यह ग्रंथ है । यह
हस्तलिखित संवत् १८१० से १८१६ तक लिखा गया है
ऐसा इसकी पुष्पिकाओं से स्पष्ट होता है । इसका लेखन
बुरहानपुर में लाइ आति के नेमासा भीखासा के लिए
प्रेमलाभ ने पूर्ण किया था ।

“ढूँड़े” ग्राम का अज्ञात जैन पुरातत्त्व

प्रो० भागचन्द्र जैन “भागेन्दु”, एम. ए., शास्त्री

भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व को समृद्ध बनाने में मध्य प्रदेश का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मध्यप्रदेश में वैदिक, जैन और बौद्ध संस्कृतियाँ प्राचीन काल से ही पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुई, उनमें से अनेक स्थानों का सर्वेक्षण, अन्वेषण और अनुशीलन समय-समय पर विभिन्न मान्य विद्वानों और पुरातत्त्व प्रेमियों द्वारा किया कराया जा चुका है। किन्तु स्थानों की दूरवर्तिता, अग्रम्यता, दुर्लभता, मार्गों और आवागमन के साधनों के अभाव, वन्य पशुओं और दस्युओं आदि के उपद्रवों तथा आतंकों के कारण बहुत से स्थानों का सर्वेक्षण, अनुशीलन और अध्ययन अभी भी शेष है। सुरक्षा के अभाव, काल के क्रूर-प्रहार और स्थानीय जनता की अनभिज्ञता तथा उदासीनता के कारण ऐसे ही महत्व के बहुतसे स्थान नष्ट हो गये हैं एवं होते जा रहे हैं। ऐसे स्थानों के सर्वेक्षण, अध्ययन और अनुशीलन से भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व के क्षेत्र में अनेक नवीन उन्मेष होंगे। मध्यप्रदेश के पन्ना जिले में “ढूँड़ा” ग्राम भी ऐसा ही स्थान है, जो अब तक पुरातत्त्वज्ञों की दृष्टि से ओझल है, किन्तु अपने समृद्ध और गौरवपूर्ण अतीत के लिए उल्लेखनीय है।

ढूँड़ा—यह ग्राम वर्तमान मध्य प्रदेश के पन्ना जिले में स्थित है। इस ग्राम के निकट से ही जबलपुर जिले की सीमाएँ प्रारम्भ होती हैं। यहाँ पहुँचने के लिए मध्य रेलवे के कटनी-बीना लाइन के रीठी स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से यह स्थान लगभग आठ मील दूर है। कटनी से सलैया जाने वाली पक्की सड़क पर पटोहा और रीठी से भी यहाँ पहुँचने के लिए रास्ते हैं। वहाँ से यह क्रमशः पाँच और आठ मील उत्तर में है। यहाँ जीप, साइकल और बैलगाड़ी से पहुँचा जा सकता है। यहाँ की जनसंख्या लगभग १५०० है यह ग्राम जैन और वैदिक

संस्कृति का अत्यन्त समृद्ध केन्द्र रहा प्रतीत होता है। ग्राम के पूर्व में ‘संन्यासियों का मठ’ तथा तालाब, पश्चिम में “सिद्धों का मठ” एवं दक्षिण में ‘सुरई’ (शिवरयुक्त) नामक बावड़ी और उसी के निकट एक कलापूर्ण शिव-मन्दिर विद्यमान है।

प्रस्तुत निबन्ध में विशेषरूप से इस ग्राम के प्राचीन जैन पुरातत्त्व का अनुशीलन किया जा रहा है—

१. **तालाब**—इसके उत्तरीय बाध पर वटवृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर कुछ अजैन और जैन मूर्तियों के अवशेष रखे हैं। अजैन परम्परा में शिवलिंग, नादी हनुमान के घड में ऊपर का भाग, तथा कुछ अन्य देवियों के खडित अंग रखे हैं। जैन परम्परा में आदिनाथ और पार्श्वनाथ हैं :—

(अ) **आदिनाथ**—पश्चामन में, ध्यानमुद्रा से ऊपर का अंग खण्डित। ऊँचाई दस इंच, चौड़ाई एक फुट दस इंच। कमलासन पर आसीन। इस मूर्तिखण्ड के पाद-पीठ में (दायें) गोमुख यक्ष तथा बायें चक्रेश्वरी यक्षी

१. “सव्येतरोर्ध्वकरदीपपरश्वधाक्ष-
सूत्र तथा-घरकराकफलेष्टदान।

प्रागोमुखं वृषमुख वृषग वृषाक
भक्त यजे कनकभ वृषचक्रशीर्षम्।

—प० आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार, बम्बई, वि० सं० १९७४, अ० ३ पृष्ठ १२६।

२. “भर्माभाय करद्वयालकुलिशा चक्राकहस्ताष्टका,
सव्यासव्यशयोत्तलसत्फलवरा यन्मूर्तिरास्तैर्बुजे।
ताक्ष्ये वा सह चक्रपुष्करचक्रत्यागश्चतुभिः करैः,
पचेष्वास शतोनतप्रभुनता चक्रेश्वरी ता यजे ॥”

—प० आशाधर, वही अ० ३, पृ० १५६।

इस यक्षी के लक्षणों के लिए और भी देखिये—

(i) यतिवृषभः तिलोय पण्णात्ति, ४-६३७

(ii) नेमिचन्द्रदेवः प्रतिष्ठा तिलक, ७-१ आदि।

का लघु आकृतियों में सुन्दर अंकन है स्तम्भ कृतियों के मध्य शार्दूल दिखाये गये हैं। पादपीठ में भक्तिविभोर श्रावक-श्राविका भी दर्शनीय है।

(ब) पाशर्वनाथ—कायोत्सर्गसिन में, ऊँचाई दो फीट चार इंच, चौड़ाई ९ इंच। यद्यपि पापाण में दरार पड़ जाने से इस मूर्ति का अग्रभाग गिर गया है तथापि फणावली से स्पष्ट है कि यह मूर्ति पाशर्वनाथ की थी। इस मूर्ति के दोनों पाशर्वों में भक्तिमग्न श्रावकयुगल चवर दुरा रहे हैं।

(स) पाशर्वनाथ—इस प्रतिमा का केवल शीर्षा से ऊपर का भाग शेष है। ऊँचाई ९ इंच, चौड़ाई एक फुट दो इंच। फणावली के अतिरिक्त तीर्थंकर का मुख और बायीं ओर उड़ान भरता हुआ मालाधारी विद्याधर तथा मध्य में छत्रा कृतिया ही शेष हैं। शेष अंश खण्डित हो चुका है।

२. सिद्धों का मठ—

ग्राम के पश्चिम में मौजूद यह मठ अब भी “सिद्धों का मठहा” कहा जाता है। इसके नाम, स्थापत्य एवं शिल्प-सामग्री से स्पष्ट है कि यह प्राचीन जैन मन्दिर है। यद्यपि अब इस ग्राम में एक भी जैन धर्मानुयायी नहीं है, तथापि इस मठ के आस-पास की जमीन अभी भी खेती के काम में नहीं लायी जाती और ग्रामवासी विभिन्न अवसरों पर इसे बड़ी श्रद्धा के साथ पूजते हैं। इसके आसपास के भूभाग के विभिन्न नाम भी हमें इस स्थान के वैभव तथा प्राचीनता आदि की ओर सोचने को बाध्य करते हैं। जैसे—इसके पूर्व के एक बड़े खेत को अब भी ‘तलैया’ कहते हैं। तथा दक्षिण के बहुत बड़े भूभाग को अब भी ‘वाजार’ कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि पहले इस स्थान के आसपास अत्यन्त समृद्ध वस्ती थी। आसपास के खडहरो से उसकी स्थिति अब भी अनुमित हो सकती है।

इस मठ का सर्वेक्षण अभी तक नहीं हुआ और न ही इसकी शिल्प सामग्री की सुरक्षा का ही कोई प्रबन्ध

३. मडहा, संस्कृत के ‘मठ’ शब्द का अपभ्रंश रूप है।

वृन्देलखण्ड में आज भी ‘मड़ा’ शब्द बहुत प्रचलित है।

हुआ। ग्रामवासियों की श्रद्धा-भावना के कारण ही यह मठ जिस किसी रूप में सुरक्षित रहा प्रतीत होता है। यद्यपि इसका अधिकांश धराशायी हो चुका है किन्तु इसका मण्डप, प्रवेशद्वार तथा महामण्डप के कुछ खम्भे और दीवारों के कुछ अंश अब भी अपने मूलरूप में मौजूद हैं। यह सपाट छत (Flat rooted) का जैन मन्दिर था, इसकी स्थिति तथा सामग्री के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है। मठ के पिछले हिस्से के गिर जाने से यद्यपि अनेक मूर्तियाँ खण्डित हो गई हैं। बहुत सी आस-पास के खेतों तथा भाड़ियों में जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं।

मठ के शिखर का ग्रामलक या अन्य कोई चिन्ह यहाँ किसी भी रूप में नहीं है तथा मूर्तियों की कला के आधार पर इसे ईसा की सातवीं-आठवीं शती की कृति माना जाना चाहिए। अग्रिम पक्कियों में इसी मठ तथा यहाँ की उन मूर्तियों का सर्वेक्षण तथा अनुशीलन किया जा रहा है, जो जमीन में नहीं दबी हैं। आस पास के खेतों में फैली हुई जैन-मूर्तियों तथा मठ की सामग्री में दबी हुई या जमीन में दबी हुई जैन मूर्तियों का अनुशीलन नहीं किया जा सका है।

सर्वेक्षण :

सिद्धों का मठ : (उत्तराभिमुख)

माप—

अधिष्ठान—

पूर्व-पश्चिम—चौतीस फीट।

उत्तर-दक्षिण—अड़तीस फीट छह इंच।

प्रथम अधिष्ठान पर से द्वितीय अधिष्ठान की ऊँचाई एक फुट।

मण्डप—

द्वितीय अधिष्ठान पर से मण्डप की ऊँचाई—सात फीट नौ इंच।

मण्डप की चौड़ाई—सात फीट तीन इंच। मण्डप में आगे के मध्यवर्ती केवल दो स्तम्भ शेष हैं, जबकि पाशर्व के एक+एक=दो स्तम्भ टूट गये हैं किन्तु उनके स्थान अब भी मूल रूप में मौजूद हैं। परवर्ती चारो स्तम्भ सुरक्षित हैं और दीवार के साथ सटे हुए हैं। इस मण्डप पर आज भी सपाट छत अच्छी हालत में मौजूद है।

प्रवेश-द्वार :

ऊँचाई—छह फीट :

चौड़ाई—चार फीट डेढ़ इंच ।

सिरदल के मध्य में $1'3'' \times 3''$ के कोष्ठक में एक पद्मासन तीर्थंकर उत्कीर्ण है । तीर्थंकर की दृथेलियाँ, घुटने तथा मुख का कुछ भाग खडित हो गया है । इनके पार्श्व में (दोनों ओर) त्रिभग-मुद्रा के एक-एक इन्द्र तथा उनके ऊपर मालाधारी विद्याधर (उड़ान भरते हुए) दर्शित हैं । तीर्थंकर के मस्तक पर तीन छत्र और उनके भी ऊपर उद्घोषक का सुस्पष्ट प्रकट हुआ है छत्रों के दोनों ओर पद्मासन में डेढ़-डेढ़ इंच की दो-दो तीर्थंकर आकृतियाँ भी आलिखित हैं ।

महामंडप और गर्भगृह :

प्रवेशद्वार में आगे बढ़ने पर आठ फीट तीन इंच के अन्तर पर महामंडप के खम्भों की प्रथम पंक्ति प्रारंभ होती है । उनमें से प्रवेश द्वार के सामने का केवल एक स्तंभ खड़ा हुआ है, जिस पर छत के ‘बंडे’ (Lintel) तथा अन्य पत्थर मौजूद हैं । शेष सभी धराशायी हैं । ग्रामवासियों का कहना है कि कुछ वर्षों पूर्व तक महामंडप अच्छी स्थिति में था । बात सत्य प्रतीत होती है । सभी सामग्री यथास्थान विद्यमान है ।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस मन्दिर में गर्भगृह की योजना पृथक् से थी अथवा इसी महामंडप में । किन्तु महामंडप के पीछे का अधिष्ठान वाला कुछ भाग आगे के हिस्से की अपेक्षा काफी सकीर्ण है । उस पर दीवार होने का भी आभास होता है । मेरा अनुमान है कि महामंडप से जुड़ा हुआ यह भाग गर्भगृह रहा होगा । वर्तमान में मूर्तियाँ भी इसी भाग में रखी हुई हैं और इसके आसपास के भाग में जमीन में दबी हुई हैं । खुदाई होने पर इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है ।

वर्तमान में मठ से लगा हुआ एक प्राचीन इमली का वृक्ष है, इसी के नीचे अनेक, पद्मासन और कायोत्सर्गसन

तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा शासन देवों की मूर्तियाँ टिकी हुई हैं । मेरी राय में इस मठ के धराशायी होने में एक कारण यह विशाल वृक्ष भी है । इसी वृक्ष के बगल से गर्भगृह की दीवार होने का आभास होता है । इस वृक्ष के नीचे दो पद्मासन और एक कायोत्सर्गसन तीर्थंकर तथा एक धरणेन्द्र (यक्ष) की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं । उनका परिचय निम्न प्रकार है :—

१. आदिनाथ :—

तीन फुट आठ इंच ऊँचे, दो फुट छह इंच चौड़े तथा एक फुट छह इंच मोटे शिलाफलक पर पद्मासन में यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दरता और भव्यता के साथ निर्मित है । पादपीठ में आदिनाथ के यक्ष-यक्षी क्रमशः गोमुख ($11'' \times 6''$) तथा चक्रेश्वरी ($1'' \times 6''$) बहुत मोहक मुद्रा में उत्कीर्ण हैं । पादपीठ में ही, शार्दूलो के अप्रभाग में विनयावनत श्रावक-श्राविका अपनी भव्य वेश भूषा में निर्दिष्ट हैं । आदिनाथ कमलाकृति आसन पर विराजमान हैं । यद्यपि उनके दाँतों हाथ खण्डित हैं किन्तु सौम्य और ध्यानस्थ मुख मुद्रा दर्शक को प्रभावित किये बिना नहीं रहती । कन्धों पर केशराशि छिटकी हुई है । श्रीवत्स अत्यन्त लघु आकार में दर्शाया गया है ।

परिकर तथा अन्य सज्जातत्त्वों का अभाव, श्रीवत्स की लघुता तथा अन्य विशेषताएँ—इसे लगभग सातवीं शताब्दी की कृति सिद्ध करते हैं । इस मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की स्थिति का अनुमान खडित होने से बच रहे उनके भामडल और पैरों से ही कर सकते हैं ।

२. आदिनाथ :

चार फुट ऊँचे, एक फुट छह इंच चौड़े तथा एक फुट मोटे शिलापट्ट पर कायोत्सर्ग मुद्रा में आलिखित यह मूर्ति भी आदिनाथ की है । इसके हाथ खडित हो चुके हैं । यद्यपि चक्रेश्वरी (यक्षी) नष्ट हो चुकी है, किन्तु गोमुख (यक्ष) अभी भी अपने मूलरूप में उपस्थित है । आसन के शार्दूलो के पार्श्वों में श्रद्धावनत श्रावक-श्राविका के उपर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर तथा उनके ऊपर (दोनों ओर)

४. तीर्थंकर की वाणी की दुन्दुभि पीट कर त्रिलोक में गुंजा देने वाला ।

क्रमशः एक-एक गजमुख, व्यालमुख और मकरमुख शार्दूल बहुत सुन्दरता से निदर्शित है। उनके भी ऊपर (दोनों-ओर) एक-एक कायोत्सर्ग किन्तु अब शिरविहीन तीर्थंकर दर्शये गये हैं। सुन्दर मुखाकृति मुस्कराती सी प्रतीत होती है। मस्तक पर के तीनों छत्र अब भी मौजूद हैं, किन्तु उद्धोषक टूट गया है।

३-आदिनाथ :

अत्यन्त सौम्य और प्रभावशील मुखमुद्रा वाली आदिनाथ की यह प्रतिमा तीन फुट ऊँचे, दो फुट चौड़े एवं एक फुट मोटे शिलाफलक पर पद्मासन में उत्कीर्ण की गयी है। इसके हाथ और पैर प्रायः खंडित हो चुके हैं। जटाएँ कंधों पर लहरा कर आदिनाथ की दीर्घकालीन तपस्या का स्मरण दिलाती हैं। इसके पादपीठ में (बायें) गोमुख यक्ष के ऊपर एक इन्द्र शेष है, जबकि दायी ओर का इन्द्र खंडित हो गया है, मात्र उसके नीचे की चक्रेश्वरी (यक्षी) शेष है।

४. धरणेन्द्र (यक्ष) :

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेन्द्र का यह अकेली मूर्ति, इस श्रेणी की बिरली प्रतिमाओं में गिनी जायगी। धरणेन्द्र का अंकन प्रायः पद्मावती के साथ मिलता है। किन्तु यहाँ की कला में, उसकी स्वतन्त्र मूर्ति भी बनी, यह एक उल्लेखनीय तथ्य है। यद्यपि इस मठ में जमीन के ऊपर मौजूद मूर्तियों में पार्श्वनाथ की मूर्ति नहीं दिखायी पड़ी, तत्प्रायः पर भी पार्श्वनाथ की जो खंडित मूर्तियाँ मौजूद हैं वे भी आकार-प्रकार तथा कला आदि की दृष्टि से इससे नितान्त भिन्न हैं। इससे यह अनुमान सहज ही होता है कि जमीन में दबी हुई मूर्तियों में पार्श्वनाथ की तथा यक्षी पद्मावती की भी होना चाहिए।

वर्तमान में दो फुट एक इंच ऊँचे, दो फुट एक इंच

चौड़े और नौ इंच मोटे शिलापट्ट पर धरणेन्द्र की खड़ी हुई मूर्ति है। इस मूर्ति के घुटनों से नीचे का हिस्सा खंडित हो चुका है। इसमें सर्पों की फणावलि मस्तक के पीछे तो दिखायी ही गयी है, दो सर्प मालाकार होकर वक्ष पर्यन्त लटक भी रहे हैं। फणावलि के ऊपर लघु आकार में पद्मासन में तीर्थंकर पार्श्वनाथ आलिखित है। गजमुख, सिंहमुख और मकरमुख शार्दूलों की सज्जा भी दर्शनीय है। इसके दोनों ओर चार-चार हाथ हैं। ऊपर दोनों ओर विद्यावर युगल उड़ते हुए अंकित किये गये हैं। इस यक्ष के भीने वस्त्राभूषण भी बड़े आकर्षक हैं।

अन्तिम—टूडे ग्राम के इस जैन स्मारक और मूर्तियों के अध्ययन से अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। पहला यह कि इस प्रदेश में ईसा की सातवीं शती में जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था और आदिनाथ तथा पार्श्वनाथ की बहुत अधिक उपासना होती थी। दूसरा यह कि शिखरविहीन सपाट-छत (Flat Yooted) के मन्दिर बनते थे। इस मन्दिर के सपाट छत आदि के कारण इसका निर्माण काल छठी शती ई० तक भी पहुँच सकता है। तीसरा यह कि मूलनायक की अपेक्षा शासन-देव-देवियों की मूर्तियाँ अपेक्षा-कृत काफी छोटी बनती थी, किन्तु उनकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी बनने लगी थी। निर्माण कार्य में स्थानीय लाल और भूरे बलुआ पत्थर का उपयोग होता था। यदि शासकीय स्तर पर या अन्य किसी ढंग से उत्खनन कार्य कराया जाय तो और भी बहुत सी सामग्री प्रकाश में आकर इस क्षेत्र के इतिहास पर नया-प्रकाश डालेगी। ●

५. "ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवामुकिरुद्राधः

सव्यान्यपाणिफणिपाशवरप्रणता ।

श्रीनागराजकुद धरणोभ्रनीलः

कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ॥"

—पं. आशाधर : प्र. सा., अ. ३ पद्य १५१

संस्कृत से अरुचि क्यों

श्री गोपोलाल 'अमर' एम. ए.

संस्कृत भाषा के वाङ्मय की-सी विविधता और विपुलता ससार की किसी भी भाषा में कदाचित् ही होगी। संस्कृत का महाग्रन्थ ऋग्वेद ससार की प्राचीनतम पुस्तकों में प्रथम है। आदिकवि बाल्मीकि और महाकवि कालिदास का स्थान विश्वप्रसिद्ध कतिपय महाकवियों में सर्वोपरि है। संस्कृत के व्याकरण की कोई जोड़ नहीं। मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू पर संस्कृत ने प्रकाश डाला है। संस्कृत में जहाँ सहस्राब्दियों पूर्व की सभ्यता के दर्शन होते हैं सहस्राब्दियों के पश्चात् आने वाली सभ्यता की भविष्यवाणी भी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें दर्शन, विज्ञान और जीवन का अद्वितीय समन्वय मिलता है। संस्कृत साहित्य ही से विश्व के लिए गान्तिमय सन्देश प्रसारित होता है।

परन्तु उसी संस्कृत को आज की स्थिति में देखकर हमें उस सरस्वती का स्मरण आता है जिसे ब्रह्मलोक त्याग कर मर्त्यलोक आना पड़ा था। सरस्वती तो फिर भी अमृत कहलाती रही परन्तु संस्कृत को 'मृत' तक कह डाला गया। आज यह स्थिति है कि संस्कृत परम्परागत पुजारी कहलाने वाले हमी लोग उससे अरुचि करने लगे हैं, उसके अध्ययन-मनन को अपनी गौरव हानि समझने लगे हैं। यही नहीं, संस्कृत से हमारी अरुचि उत्तरोत्तर बढ़ रही है जिसके उदाहरण हैं वे शतशः विद्यालय और पाठशालाएँ जो छात्रा भाव के कारण अन्तिम साँसें ले रही हैं, वे दिग्गज संस्कृत विद्वान् जो इस लिए हमारे सम्मान के पात्र नहीं रहे कि वे केवल संस्कृतज्ञ हैं और वे हम और हमारे विविध नेता जिन्हें, संस्कृत विद्या का प्रचार-प्रसार तो दूर रहे, उसे यथा स्थिति कायम रखना भी दुष्कर है।

कारण

हाँ ब्रह्मलोक त्यागकर मर्त्यलोक में सरस्वती को तो दुर्वासा के शाप से आना पड़ा था, लेकिन संस्कृत को उस स्थिति में क्यों आना पड़ा ? उसका तो एक ही कारण

था लेकिन इसके अनेक कारण हैं। आइए, उन कारणों पर हम कुछ विचार करें—

भारत के भूतपूर्व शासकों द्वारा विरोध :

प्राचीनकाल से ही भारत अनेक आकर्षणों का केन्द्र रहा है। कदाचित् इसीलिए विदेशी शासकों ने इस देश पर मनचाहा शासन किया। उनके शासन तक तो फिर भी कुशल थी पर उसे स्थाई बनाए रखने के लिए यहाँ की संस्कृति को भी उन्होंने क्षत-विक्षत करने की चेष्टा की। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति प्रायः संस्कृत विद्या में ही केन्द्रित थी। अतः उन्होंने उसी पर अनेक घातक प्रहार किए, संस्कृत के विद्वानों और काव्यकारों को आश्रयहीन किया, मठ और गुरुकुल ध्वस्त किए, ग्रन्थों को अग्निसात् या जलमग्न किया और अन्ततोगत्वा उसे 'मृत भाषा' बनाकर ही छोड़ा।

संस्कृत की वर्तमान स्थिति के लिए ये विदेशी शासक बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। कुछ विद्या-प्रेमी उदार-हृदय शासकों की चर्चा हम नहीं कर रहे हैं।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रति मोह :

अंग्रेजी शासनकाल में भारतीयों का मोह पाश्चात्य सभ्यता के प्रति तीव्र वेग से बढ़ा। यह परम्परा आज भी बहुत अंश में कायम है। सूट-बूट से सजे आज के अप-टू डेंट नौजवानों को संस्कृत विद्या में 'पण्डिताऊपन' की भूलक मिलती है, उसका अध्ययन-मनन कोरा 'पुराणपथ' प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने तो संस्कृत का श्रेष्ठ अध्ययन किया है लेकिन पाश्चात्य सभ्यता से मोहित इन तथाकथित भारतीय विद्वानों और नेताओं को संस्कृत में साहित्यिक और आध्यात्मिक तत्त्व नजर नहीं आते। उसमें उन्हें मनोविज्ञान और मानव-जीवन के विश्लेषक तत्त्वों की कमी खटकती है। ये भ्रान्त धारणाएँ पाश्चात्य सभ्यता

के प्रति मोह से जन्मी है। और सस्कृत के प्रति अरुचि को जन्म दे रही है।

अध्यापन शैली के दोष :

विश्वविद्यालयों, कालिजों और कुछ स्कूलों में सस्कृत की शिक्षा मनोवैज्ञानिक तथा परिष्कृत शैली में दी जाने लगी है। परन्तु प्राचीन पद्धति की पाठशालाओं और चटशालों में जो अध्यापन शैली प्रचलित है वह अत्यन्त दोषपूर्ण हो गई है। इनके अध्यापक मनोविज्ञान से प्रायः अपरिचित होते हैं। इनमें और बहुत-सी कमियाँ हुआ करती हैं। कालिदास और भवभूति के नाटकों का दसों बार अध्यापन कर चुकने वाले भी अध्यापक कदाचित् उन नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में हिचकेंगे। इन पाठशालाओं और चटशालों में ऐसे भी कोई अध्यापक मिलेंगे जिन्होंने दसों बार मेघदूत का अध्यापन किया होगा, पर वे उसमें उल्लिखित स्थानों पर भौगोलिक टिप्पणियाँ न लिख सकेंगे। वे अध्यापक भी मिल सकते हैं जिनकी जिह्वा पर नाचती होगी वेद-चतुष्टय की ऋचाये लेकिन उनमें से अधिकांश ने इस युग के प्रथम वेद संस्कारक मेक्समूलर और वेबर के नाम भी न सुने होंगे। मैं एक ऐसे अध्यापक को जानता हूँ जिन्हें कई सस्कृत ग्रन्थ अक्षरशः मुखाग्र हैं, पर वे यह नहीं बता सकते कि उन ग्रन्थों में आये हुये उद्धरण किन ग्रन्थों से लिये गये हैं। आश्चर्य नहीं जो इन पाठशालाओं और चटशालों में ऐसे अध्यापक भी मिल जाय जिन्हें अपने वर्षों से मुखाग्र किये ग्रन्थों के ग्रन्थकारों का भी नाम ज्ञात न हो, उनके व्यक्तिगत और साहित्यिक परिचय की तो बात ही क्या !

अध्यापन करते समय ये अध्यापक वर्षों के रटे-रटाये विषय को ही टेप-रिकार्डर की भाँति छात्रों के सामने रख देते हैं, आकर्षण और मनोविज्ञान के तत्त्व तो उस विषय में पहले से ही नहीं रहते। छात्रों के अहोभाग्य जो वे उसमें से कुछ सीख निकलते हैं।

इन अध्यापकों और पंडितों द्वारा प्रत्यक्ष में भले ही संस्कृत के प्रति अरुचि उत्पन्न न की जाती हो, परन्तु परोक्ष में तो ये उसके मूल कारण ही हैं। इनमें अध्ययन करने वाला आज का विज्ञान प्रेमी छात्र निश्चय ही इनसे

कुप्रभावित होकर सस्कृत के प्रति गलत धारणा बना लेगा।

संस्कृत के विद्वानों और विद्यालयों की शोचनीय स्थिति :

आज सस्कृत के विद्वान और विद्यालय, दोनों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। अधिकांश विद्यालयों का संचालन विभिन्न समाजों और व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। उनकी आयु के खेत भी उनके संचालकों तक ही सीमित रहते हैं। शासकीय अनुदान उन्हें प्रायः नहीं मिलता। ये विद्यालय संस्कृत विद्या के प्रचार के लोभ में चलाये ली जाते हैं पर धनाभाव के कारण उनमें न तो शिक्षा के पर्याप्त और उपर्युक्त साधन होते हैं और न बड़ा के अध्यापकों को पर्याप्त वेतन ही दिया जाता है। बहुत से विद्यालय समाज में चन्दा उगाड़ने के लिए प्रचारक रखे रहते हैं। ये प्रचारक प्रायः अल्पशिक्षित और अप्रामाणिक होते हैं - इनके माध्यम में भी जनसाधारण की श्रद्धा और रुचि संस्कृत में हट जाती है। उच्च वेतन प्रयोजन मिलने से अध्यापक उदास रहने हैं और उम्मी उदासी में वे छात्रों को शिक्षा देने हैं उसमें छात्र परिपक्व नहीं होने पाते। बारह वर्ष तक तन, मन और धन में जुटकर अचार्य बने, अन्त में उम्मी इस ग्राममान छूने वाली मड़गाई के युग में भी सौ या उससे भी कम रुपये मिले, उसमें बढकर संस्कृत की अप्रतिष्ठा और क्या हो सकती है ?

संस्कृत व्याकरण के आधुनिक संस्करण का अभाव

संस्कृत का व्याकरण अपनी सुव्यवस्था और वैज्ञानिकता के लिये जगत्प्रसिद्ध है। पाणिनि और पतञ्जलि आदि के व्याकरणों के संस्करण भी प्रामाणिक रूप में प्रकाशित हुये हैं। पर बात कुछ और है। युग की माँग उस व्याकरण की तो है लेकिन उसके वर्तमान संस्करण के रूप में नहीं। आवश्यकता ऐसी संस्करण की है जिसमें सम्पूर्ण व्याकरण को उसका एक भी शब्द परिवर्तित किये बिना ही एक नये सिरे से, नयी शैली में लिखा गया हो। इस प्रकार का सराहनीय प्रयत्न हुआ है कोप ग्रन्थों के विषय में। संस्कृत के प्राचीन कोप ग्रन्थों से शब्दावली लेकर उसे आज की 'डिक्शनरियो' में संजोया गया है जो

न केवल अधिकतर वैज्ञानिक बन पड़ा है बल्कि सुविधाजनक भी हो गया है। व्याकरण के ऐसे संस्करण का अभाव भी संस्कृत के प्रति आवश्यक रुचि नहीं उत्पन्न होने देता।

संस्कृत ग्रन्थों के आधुनिक शैली में प्रकाशन का अभाव :

प्रथम तो संस्कृत के सम्पूर्ण ग्रन्थ ही प्रकाश में नहीं आए हैं और जो आ भी गये हैं, उनमें बहुत ही कम ऐसे हैं जिन्हें आधुनिक शैली में सम्पादित और प्रकाशित किया गया है। विशेषतः संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन में अर्थोपार्जन का चक्कर बहुत बड़ा अभिशाप बनकर सामने आया है। जिनके प्रकाशन देश-देशान्तरी में बिकते हों उन प्रकाशकों से भी अपने ग्रन्थों को अत्यन्त हीन दशा में प्रकाशित पाकर संस्कृत निश्चय ही अपना भाग्य कोसती होगी। सैकड़ों उदाहरणों में से हम एक हितोपदेश जैसे शिक्षाप्रद और विश्वप्रिय ग्रन्थ को ले। एक जगत्प्रसिद्ध प्रकाशक ने इस ग्रन्थ का एक छात्रोपयोगी संस्करण निकाला था जिसकी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी होगी और बिक रही होंगी। इस संस्करण का कागज, जिल्द, छपाई, गेट अप आदि तो अत्यन्त निम्न कोटि के हैं ही, प्रफ की अगणित अशुद्धियाँ, सम्पादन की अवैज्ञानिकता, साथ में संजोई गई टीका की क्लिष्टता, हिन्दी अनुवाद का पुरानापन और शिक्षा मनो-विज्ञान के अनुसार आवश्यक भूमिका, प्रस्तावली, परिशिष्ट आदि का अभाव इत्यादि भी शोचनीय हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्रकाशित किये गये और किये जा रहे हैं जो किसी भी गहनवन से कम नहीं होते। उनमें विराम चिह्नों, अनुच्छेदों, शीर्षकों और खण्ड-उपखण्डों आदि की योजना तो होती ही नहीं, यह भी ढूँढे नहीं मिलता कि अध्याय या परिच्छेद कहाँ बदल गये हैं।

यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे प्रकाशनों से संस्कृत के प्रसार में कितनी बाधा पहुँच पाती है। यह भी स्पष्ट है कि उत्तम प्रकाशनों के अभाव में लाखों विद्यार्थियों को संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से वंचित रह जाना पड़ता होगा।

समालोचना और तुलनात्मक अध्ययन की कमी :

आज का युग समालोचना का है। बाङ्गमय को प्रकाश

में लाने का सर्वोत्तम माध्यम है समालोचना। संस्कृत में इने-गिने ग्रन्थों की ही अभी समालोचना प्रस्तुत की जा सकी है। संस्कृत ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययनकी भी बड़ी कमी है। इसी तरह विश्लेषण, व्याख्या, टीका, अनुवाद आदि बहुत मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं।

इन सब कमियों और अभावों की पूर्ति किये बिना संस्कृत के प्रति समुचित रुचि जाग्रत नहीं हो सकती।

नवीन साहित्य-सर्जना की कमी :

किसी भी उन्नत भाषा का यह प्रधान लक्षण है कि उसमें साहित्य सर्जना निरन्तर होती रहे। इस दृष्टि से वर्तमान युग में संस्कृत भाषा को उन्नत नहीं कहा जा सकता। स्व० पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, डा० के० एस० नागराजन् और पण्डित क्षमागव आदि ने कुछ साहित्य लिखा है और है भी वह उच्चकोटि का, परन्तु मात्रा की दृष्टि से वह सब नगण्य है।

विश्वविद्यालयों द्वारा अपर्याप्त सहयोग :

अधिकांश विश्वविद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था है। संस्कृत के प्रचार-प्रसार में उनका यह सहयोग सराहनीय है, पर पर्याप्त नहीं। आज संस्कृत की अनेक शिक्षा-संस्थाएँ और परीक्षालय चल रहे हैं। उनमें से कुछ अत्यन्त उच्चकोटि के हैं और कुछ स्वयं शासन द्वारा संचालित होते हैं। पर इन्हें भी ये विश्वविद्यालय मान्यता नहीं देते। और तो और, एक शासन द्वारा संचालित विश्वविद्यालय भी है। जिसकी आचार्य परीक्षा को बी० ए० के बराबर मान्यता देने वाले दो-तीन ही विश्वविद्यालय हैं। फलस्वरूप बी० ए० और एम० ए० के माध्यम से पल्लवग्राही संस्कृतज्ञ तो बहुत तैयार हो रहे हैं, पर शास्त्री और आचार्य के माध्यम से तैयार होने वाले ठोस और पारगामी संस्कृतज्ञ, दिनों-दिन कम होने जा रहे हैं।

हिन्दी के प्रति विरोध :

कुछ अंग्रेजी प्रेमी विद्वान् और नेता हिन्दी का विरोध करने पर तुले हुए हैं। हिन्दी के प्रति अपने विरोध को पुष्टतर करने के लिए वे यदा-कदा संस्कृत पर भी दूट

पडते हैं। वैसे भी हिन्दी के प्रति विरोध से संस्कृत के प्रति विरोध स्वयमेव हो जाता है क्योंकि भाषा विज्ञान, शब्दावली, व्याकरण और सामान्य लक्षणों की दृष्टि से संस्कृत हिन्दी का प्राण है। हिन्दी के प्रति विरोध में संस्कृत का और संस्कृत के प्रति विरोध में हिन्दी का जीवन स्थिर नहीं रह सकता। हिन्दी की उन्नति के लिए संस्कृत की और संस्कृत की उन्नति के लिए हिन्दी की उन्नति अनिवार्य है।

क्षेत्रीय भाषाओं के योगदान का अभाव :

क्षेत्रीय भाषाओं से संस्कृत के प्रचार और प्रसार में योगदान प्राप्त नहीं होता। संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद क्षेत्रीय भाषाओं में नहीं के बराबर हुआ है। इन भाषाओं में ऐसे भी ग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं जिनमें संस्कृत ग्रन्थों की समालोचना, व्याख्या और विश्लेषण आदि हो। संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दकोष जैसे संस्कृत-बंगाली, संस्कृत-गुजराती और संस्कृत-मराठी आदि भी कदाचित् ही बने होंगे। क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से संस्कृत के अध्यापन की व्यवस्था भी आवश्यक है।

पत्र-पत्रिकाओं के सहयोग की कमी :

कुछ पत्र-पत्रिकाएँ संस्कृत भाषा में भी प्रकाशित होती हैं। इनसे संस्कृत के प्रति रुचि का वर्धन होना स्वाभाविक है पर वह पर्याप्त नहीं। संस्कृतेतर पत्र-पत्रिकाओं से, उनकी अपनी समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए जो प्रोत्साहन संस्कृत को मिलना चाहिए वह नहीं मिल रहा है। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ तो संस्कृत को यदा-कदा छू भी लेती हैं, पर अंग्रेजी और अन्य भाषाओं की पत्रिकाएँ यह भी नहीं करती। लेखकों, कवियों, समालोचकों इतिहासज्ञों और पुरातत्त्वज्ञों आदि की कलम तो संस्कृत का पुनर् स्पर्श ही नहीं कर पाती, सम्पादकीय लेख भी कालिदास जयन्ती आदि जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर भी नहीं देखे गये हैं।

विदेशों में प्रचार का अभाव :

शासन, विभिन्न संस्थाओं और कुछ विद्या-प्रेमी श्री-

मानों द्वारा भारत में तो संस्कृत विद्या का प्रचार किसी मात्रा में हो भी रहा है; पर विदेशों में किसी भी मात्रा में नहीं। गीता, पञ्चतन्त्र और शकुन्तला आदि की भाँति और भी सैकड़ों ग्रन्थ, विदेशी भाषाओं में अनूदित होने योग्य हैं। संस्कृत साहित्य का इतिहास जर्मन और अंग्रेजी भाषाओं के अतिरिक्त किसी विदेशी भाषा में नहीं लिखा गया है। समालोचना और कोष-ग्रन्थ केवल अंग्रेजी में ही सुलभ हैं। संस्कृत के विद्वानों, ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं की विदेशों में प्रचारार्थ भेजने की व्यवस्था भी अभी नगण्य है।

शासकीय सहयोग की अपर्याप्तता :

केन्द्रीय और राज्य शासनों का ध्यान संस्कृत की ओर गया है; परन्तु संस्कृत की पाठशालाओं और विद्यालयों को या तो मान्यता ही न देना या प्राथमिक शालाओं के समकक्ष ही मानना, उन्हें पर्याप्त और सविशेष अनुदान न देना, संस्कृत संस्थाओं का स्वतः अत्यल्प मात्रा में संचालन करना, संस्कृत और संस्कृतज्ञों के हितों का सर्वोपरि ध्यान न रखना आदि अनेक ऐसी कमियाँ हैं जिनके कारण शासन का सहयोग पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

शिक्षा का अर्थप्रधान उद्देश्य :

संस्कृत का उद्देश्य 'स्वान्ता सुखाय' है, जबकि आज की शिक्षा का उद्देश्य प्रधानतः अर्थोपार्जन हो गया है। एक का उद्देश्य आध्यात्मिक है और दूसरी का भौतिक। यह भी एक कारण है जिससे जन-साधारणकी रुचि संस्कृत विद्या के प्रति उत्पन्न नहीं होने पाती।

उपसंहार :

संस्कृत विद्या के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यह अरुचि गम्भीर चिन्ता का विषय है। यह केवल एक भाषा या विद्या का ही नहीं प्रत्युत भारतीय संस्कृति के जीवन-मरण का प्रश्न है। अतएव देश, समाज, संस्कृति और साहित्य के कर्णधारों का ध्यान इस ओर अविलम्ब आना चाहिए।

देवागम स्तोत्र व उसका हिन्दी अनुवाद

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्रा

आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र के जिस मंगल-श्लोक में 'आप्त के असाधारण स्वरूप का निर्देश किया गया है उस आप्त की भीमांसा—समीक्षा—रूप प्रस्तुत देवागमस्तोत्र स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा रचा गया है। यह शब्द-शरीर से कृश होते हुए भी गम्भीर अर्थरूप आत्मा से बलिष्ठ है। इसमें स्याद्वादका आश्रय लेकर गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। स्वामी समन्तभद्र दृढश्रद्धाली जिनभक्त थे। उनकी जो भी कृतियाँ उपलब्ध हैं वे सब ही प्रायः—रत्न-करण्डश्रावकाचार को छोड़कर स्तुतिपरक हैं। यह स्तुति भी उनकी कोरी स्तुति—मात्र गुणगाथा—न होकर गम्भीर दार्शनिक तथ्यों से परिपूर्ण है। वे तर्कणाशील होते हुए भी अतिशय विवेकी थे। प्रस्तुत देवागम अल्पमति भव्य जीवों के हितार्थ रचा गया है। उनका एक यही अभिप्राय रहा है कि आत्महितैषी जन स्याद्वादरूप समीचीन दृष्टि से आप्त को देखकर—उसके स्वरूप का निर्णय कर—उसके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को यथार्थ समझते हुए तदनुसार सन्मार्ग में प्रवृत्त हों। कारण यह कि जब तक यथार्थ वस्तु-

स्वरूप का प्रत्यय नहीं होता तब तक स्थिर श्रद्धा नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से वे स्वयं परीक्षाप्रधानी बनकर आप्त की भीमांसा में—'आप्तभीमांसा अपर नाम प्रस्तुत देवागम की रचना में—प्रवृत्त हुए हैं।

प्रस्तुत देवागम में ११४ श्लोक—दार्शनिक सूत्रात्मक कारिकाएँ—हैं। प्रारम्भ में (१-५) उन्होंने देवागमनादि रूप बाह्य वैभव, निःस्वेदता आदि रूप शारीरिक अतिशय आगमप्रणयन को महत्त्व न देकर—इन्हें अव्यभिचरित आप्त का स्वरूप न मानकर—अज्ञानादि दोषों (भावकर्मों) और आवरणों (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों) के अभावस्वरूप वीतरागता, मोक्षमार्गप्रणेतृत्व और सर्वज्ञता को महत्त्व दिया है तथा अकाट्य अनुमान प्रमाण के द्वारा इस सर्वज्ञता को सिद्ध किया है। तत्पश्चात् यथार्थवक्तृत्व की हेतु-भूत इस निर्दोषता—वीतरागता—को भगवान् अर्हत में सिद्ध करते हुए उन्हें आप्त मान अन्य एकान्तवादियों में

वताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छता सम्यग्मिध्योपदेशार्थ-विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तभीमांसां विदधानाः श्रद्धा-गुणज्ञ-ताभ्या प्रयुक्तमनसः 'कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं महान् नामिष्युतः' इति स्फुट पृष्टा इव स्वामि-समन्त-भद्राचार्याः प्राहुः —

(अष्टसहस्री पृ. ३)

४ इति तद्वत्तया भगवन् नोऽस्माकं परीक्षा-प्रधानानां महान् न स्तुत्योऽसि । आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशा-दिक [त्रिदशागमादिक] परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रति-पद्येरन्, नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्ववि भावात् । (अष्ट-सहस्री पृ. ३)

५. इत्यावरणस्य द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भाव-कर्मणो भूभूत इव महतोऽयन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभूता भेता मोक्षमार्गस्य प्रणेता स्तोतव्यः समदतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च । (अष्टसहस्री पृ. ५५)

१. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म-भूभूताम् ।

ज्ञातारं विद्वत्तत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

२. सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यचन चापि ते,

हस्तावज्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।

सुस्तुत्या व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते,

तेजस्वी सुजानोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४

—स्तुतिविद्या

३. इतीयमाप्तभीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।

सम्यग्मिध्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥

(देवागम ११४)

तदेवं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मङ्ग-लार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भग-

सदोषता के कारण उस आप्तता का निषेध व्यक्त किया है (६-७) ।

भाव-अभाव, एक-अनेक, भेद-अभेद और नित्यत्व-अनित्यत्वादि परस्पर विरोधी दिखनेवाले तत्त्वों में से किसी एक ही तत्त्व को अथवा परस्पर निरपेक्ष दोनों को भी मानने वाले उन एकान्तवादियों के यहाँ चूक पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक आदि की व्यवस्था सम्भव नहीं है, अतएव वे न केवल परवचक हैं, अपि तु आत्मवचक भी हैं—स्वयं अपना भी अहित करने वाले हैं । इसीलिए ऐसे दुराग्रहियों को तो स्व-परशत्रु ही समझना चाहिए (८) । इस प्रकार प्रारम्भ में स्थिर भूमिका को बाधकर आगे के ग्रन्थ में ऐसे ही कुछ एकान्तवादों का विवेचन किया गया है—

भाव-अभाव एकान्त

इनमें प्रथमतः भावैकान्त का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वस्तु को यदि सर्वथा सद्भावस्वरूप ही स्वीकार कर अभाव का—अन्योन्याभाव, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव और अत्यन्तताभाव इन अभावों का—सर्वथा प्रतिषेध किया जाता है तो इन अभावों के अभाव में क्रम से सबके सर्वरूपता, अनादिता, अनन्तता और निःस्वरूपता का—जीव की चेतनता और अजीव की जड़ता जैसे नियत वस्तु स्वरूप के अभाव का—प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा (९-११) ।

इसके विपरीत भाव को न मानकर केवल अभाव को—सकल शून्यता को—ही माना जाता है तो सद्भाव स्वरूप वस्तुमात्र के अभाव में बोध—विवक्षित अभीष्ट तत्त्व की सिद्धि और अनिष्ट वस्तुस्वरूप को दूषित करने रूप ज्ञान (स्वार्थानुमान)—और वाक्य—अन्य को समझा सकने योग्य वचन (परार्थानुमान)—का भी विलोप अवश्यभावी है । तब वैसी दशा में वस्तुस्वरूप को स्वयं कैसे समझा जा सकता है तथा अन्य को समझाया भी कैसे जा सकता है—वैसी दशा में (ज्ञान और शब्द के अभाव में) स्वयं को अभीष्ट उस अभावैकान्त को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है (१२) ।

परस्पर निरपेक्ष—स्याद्वाद सरणि के बिना—भाव व अभाव दोनों के मानने में विरोध का प्रसंग दुर्निवार होगा । इसके अतिरिक्त तत्त्व को भाव व अभावस्वरूप से

यदि सर्वथा अवक्तव्य—नहीं कहा जा सकने योग्य—माना जाय तो वैसी स्थिति में 'तत्त्व अवक्तव्य है' इस प्रकार कहना भी अयुक्त होगा (१३) ।

इस प्रकार भाव और अभाव के दुराग्रह को दूर करते हुए पूर्व में (६) अविच्छिन्न वक्तृत्व की सिद्धि में जो यह कहा गया था कि 'आपका अभीष्ट तत्त्व किसी प्रमाण के द्वारा खण्डित नहीं होता' इसकी यथार्थता के स्पष्टीकरण स्वरूप स्याद्वाद का आश्रय लेकर कथञ्चित् भावाभावादि रूप—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति इत्यादि—सात भगों की योजना नयविधि के अनुसार की गई है और वहाँ (२०) कहा गया है कि हे भगवन् इस प्रकार स्याद्वाद की भित्ति पर खड़ा होने से आपके शासन में—अभीष्ट तत्त्व में—किसी प्रकार का विरोध सम्भव नहीं है । वस्तु की अर्थ-क्रिया—प्रवृत्ति-निवृत्ति की साधनता—भी तभी बन सकती है जब कि उसे भाव (विधि) अथवा अभाव (निषेध) स्वरूप से निर्धारित न किया जाय । यह अवश्य है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तु के उन धर्मों में प्रत्येक अपने पृथक्-पृथक् प्रयोजन को लिए हुए है । अतः प्रयोजन के अनुसार उन विविध धर्मों में जब किसी एक धर्म की विवक्षा की जाती है तब वह मुख्य व इतर सब गौण हो जाते हैं, पर उनका कुछ लोप नहीं हो जाता—आवश्यकतानुसार उनमें से प्रत्येक को प्रमुखता प्राप्त हुआ करती है । प्रकरण के अन्त में यह भी निर्देश कर दिया है कि इसी प्रकार से इस सप्तभंगी की योजना एक-अनेक व नित्य-अनित्य आदि इतर परस्पर विरोधी दिखाने वाले धर्मों के विषय में भी करना चाहिए (१४-२३) ।

अद्वैत-द्वैत एकान्त

इस प्रकरण में प्रथमतः अद्वैत एकान्त पर विचार करते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा अद्वैत—एकमात्र परब्रह्म विज्ञान, शब्द अथवा चित्ररूपता आदि—को मानकर इतर सभी पदार्थों का प्रतिषेध किया जाता है तो वैसी अवस्था में कर्ता आदि कारको और अवस्थिति व गमनादि क्रियाओं में जो प्रत्यक्षतः भेद देखा जा रहा है वह विरोध को प्राप्त होगा । इस पर कहा जाता है कि वह कारकभेद और क्रियाभेद तो एक में भी सम्भव है, वह भला विरोध

को क्यों प्राप्त होगा ? उदाहरणार्थ वृक्ष के एक होते हुये भी उसमें कर्ता आदि कारको का भेद इस प्रकार देखा जाता है—वृक्ष वन में स्थित हो रहा है (कर्ता), वृक्ष को बेले लिपट रही है (कर्म), वृक्ष के द्वारा गिरता हुआ हाथी मारा गया (करण), वृक्ष के लिए जल देना चाहिए (सम्प्रदान), इत्यादि। इसी प्रकार अग्नि के एक होते हुए भी उसमें जलाने और पकाने आदि जैसा क्रियाभेद देखा ही जाना है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि अद्वैत में वह भेद सम्भव है तो यह बताया जाय कि उक्त भेद नित्य है या अनित्य ? नित्य तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि, जब तब ही वह देखा जाता है—सर्वदा नहीं देखा जाता। तब यदि उसे अनित्य माना जाता है तो पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनित्य होने पर वह उत्पन्न कहाँ से हुआ ? उत्तर में यदि यह कहा जाय कि उसी परब्रह्म से (अथवा विज्ञान आदि से) तो ऐसी अवस्था में अद्वैतकान्त का विघातक कारण-कार्य का भेद आकर उपस्थित होता है, क्योंकि, अपने आपमें कभी किसी की उत्पत्ति सम्भव नहीं है (२४)।

उपयुक्त अद्वैत की कल्पना में पुण्य-पाप, उनका फल—सुख-दुख, इहलोक-परलोक, ज्ञान-अज्ञान और बन्ध-मोक्ष की भी जो द्विविधना प्रमाणसिद्धि दिख रही है वह असम्भव हो जावेगी। इसके अतिरिक्त इन अद्वैतवादियों से पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के अगोचर उस अद्वैत की सिद्धि आप क्या किसी हेतु (युक्ति) से करते हैं या बिना ही हेतु के ? यदि उसकी सिद्धि किसी हेतु से की जाती है तो वह हेतु और साध्यभूत अद्वैत ये दो पदार्थ उस अद्वैत के विघातक स्वयं सिद्ध हो जाने हैं। ऐसी अवस्था में वह सर्वथा अद्वैत कहा रहा ? इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि उसकी सिद्धि हेतु के बिना आगम से की जाती है तो ऐसा

मानने में भी द्वैत का प्रसंग अनिवार्य रहेगा, क्योंकि अद्वैत के अतिरिक्त आगम को भी मानना पड़ता है। और यदि हेतु व आगम दोनों के बिना ही उस अद्वैत की सिद्धि की जाती है तो फिर वचन मात्र से द्वैत की भी सिद्धि क्यों न हो जायगी ? अभिप्राय यह है कि कहने मात्र से कभी किसी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती। उसके लिये युक्ति आदि का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसके साथ यह भी एक अटल नियम है कि निषेध वस्तु का निषेध उसकी विधिपूर्वक ही हुआ करता है। उदाहरणार्थ गाय-भैंस आदि इतर पशुओं में जब सींग उपलब्ध होते हैं तभी घोड़ा व गधे आदि के उनका निषेध किया जाता है, अन्यथा उनके निषेध की कल्पना ही नहीं हो सकती थी। तदनुसार द्वैत के बिना उसका निषेध—अद्वैत—भी सम्भव नहीं है (२५-२७)।

इसके विपरीत जो वैशेषिक, नैयायिक और बौद्ध आदि विविध द्रव्य-गुणादि पदार्थों को परस्पर में सर्वथा पृथक् ही स्वीकार करते हैं—परस्पर में किसी भी अपेक्षा से अभेद नहीं मानते हैं—उनके इस अभिमत को अयुक्तिसंगत बतलाते हुए प्रथमतः वैशेषिका को लक्ष्य करके कहा गया है कि जिस पृथक्त्व गुण के आश्रय से द्रव्य और गुण आदि पदार्थों में सर्वथा पार्थक्य स्वीकार किया जाता है वह पृथक्त्व गुण उन द्रव्य और गुण आदि से अपृथक् है या पृथक् ? अपृथक् तो उसे माना नहीं जा सकता, क्योंकि, वैसा मानने पर अभीष्ट पृथक्त्वेकान्त का विरोध होता है—गुण और गुणी आदि पदार्थों में जो वैशेषिकों के द्वारा सर्वथा पृथक्ता स्वीकार की गई है वह बाधा को प्राप्त होती है। तब यदि उसे उक्त द्रव्य और गुण से पृथक् ही माना जाता है तो फिर उसके उनसे सर्वथा पृथक् रहने पर तत्कृत पृथक्ता उनमें नहीं रहती—इस प्रकार से तो उक्त द्रव्य-गुण अपृथक् ही ठहरते हैं। कारण यह कि कथंचित् तादात्म्यके बिना जैसे घट और पट संबंधा भिन्न हैं वैसे ही उस पृथक्त्व गुण के भी उनसे सर्वथा भिन्न रहने के कारण 'उनका यह गुण है' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैशेषिक मतानुसार वह किसी एक पृथक्त्ववान् में नहीं रहता—अनेक में युगपत् उसका अवस्थान माना गया है, जो असंगत है (२८)।

बौद्ध सम्प्रदाय में एकत्व (अभेद) को किसी प्रकार से

१. वृक्षस्तिष्ठति कानने कुमुमिने वृक्ष लताः सञ्चिताः वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देय जलम् । वृक्षादानय मञ्जरी कुमुमिता वृक्षस्य शाखोन्नता वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे ॥ दूसरा उदाहरण 'धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्म बुधाश्चिन्वते' आदि भी हैं।

भी स्वीकार न कर विवक्षित सन्तान व इतर सन्तान गत भिन्न भिन्न क्षणक्षयी विशेषों को ही माना गया है। इसे लक्ष्य में रखकर यहां कहा गया है कि एकत्व के अपलाप में सन्तान, समुदाय, साधर्म और परलोक गमन—जो निर्वाध सिद्ध है—नहीं बनता। यथा—सन्तान की व्यवस्था तब तक नहीं बन सकती जब तक विविध सन्तानों में—देवदत्त चित्तक्षणों और जिन दत्त चित्तक्षणों में—अन्वय-रूप से रहने वाली पृथक् पृथक् एक आत्मा को स्वीकार किया जाय। इन सन्तान क्षणों में परस्पर और इतर सन्तान क्षणों से सर्वथा पार्थक्य के होने पर यह अमुक सन्तान है, यह व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। इसी प्रकार एक स्कन्ध के अवयवों में रहने वाला समुदाय भी तभी बन सकता है जब उनमें देश की समनन्तरतारूप एकता को स्वीकार कर लिया जाय। अन्यथा, अन्य स्कन्ध के अवयवों के समान विवक्षित स्कन्ध के अवयवों में भी सर्वथा भेद के रहने पर विवक्षित समुदाय की भी व्यवस्था कैसे बन सकती है? इसी प्रकार सद्गता रूप एकता के बिना साधर्म और एक अन्वित आत्मा के बिना परलोक की भी व्यवस्था असम्भव होगी दूसरे, ज्ञान को यदि सत्-स्वरूप से भी ज्ञेय से पृथक् मांगा जाता है तो ऐसी अवस्था में ज्ञान असत् ही ठहरता है। और जब ज्ञान ही असत् हो गया तब उसके बिना ज्ञेय की सत्ता सुतरा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार से इस मान्यता में बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही तत्त्वों का लोप हो जाता है (२६-३०)।

इसके अतिरिक्त बौद्धमतानुसार संकेत की शक्यता न होने से शब्दों द्वारा विशेषों का कथन नहीं होता—वे अवाच्य हैं। शब्दों का अभिधेय सामान्य है। परन्तु उन्हीं की मान्यता के अनुसार सामान्य अवस्तुभूत है, अतः उसका वस्तुतः अभाव ही समझना चाहिये। इस प्रकार शब्दों का अभिधेय जब अवस्तु है—वस्तुभूत नहीं है—तब वैसी अवस्था में संकेतग्रहण और शब्दों के उच्चारण से क्या लाभ है—बहु निरर्थक ही सिद्ध होता है। इस प्रकार से उनकी उक्त मान्यता के अनुसार समस्त वचन असत्य ठहरते हैं (३१)।

आगे जाकर परस्पर की अपेक्षा से रहित उन दोनों

(पृथक्त्व-अपृथक्त्व) के मानने में विरोध और अवाच्य बतलाने में उसकी भी अशक्यता को पूर्व के समान (१३) प्रगट करके यह सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार ऐक्य से निरपेक्ष होने के कारण पृथक्त्व अवस्तु है उस तथा पृथक्त्व से निरपेक्ष होने के कारण ऐक्य भी अवस्तु है उस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार एक दूसरे की अपेक्षा रखने से वे दोनों अवस्तुभूत नहीं हैं, किन्तु वस्तुभूत व अविरुद्ध ही हैं। जैसे साधन—विपक्षाद् व्यावृत्ति से निरपेक्ष सपक्षसत्त्व और सपक्ष सत्त्व से निरपेक्ष विपक्षाद् व्यावृत्ति में साधन असाधन होता है, पर विपक्षाद् व्यावृत्ति से सापेक्ष सपक्ष सत्त्व और सपक्ष सत्त्व सापेक्ष विपक्षाद् व्यावृत्ति के मानने पर वह साधन साधन ही होता है, असाधन नहीं। इसी को स्पष्ट करने हुए आगे कहा गया है कि सत्सामान्य की अपेक्षा सभी जीवादि पदार्थों में एकता (अभेद) और है क्योंकि द्रव्यभी सत् है, गुण भी सत् है, इस प्रकार निर्वाध एकत्व की प्रतीति उन सब में देखी जाती है। साथ ही यह द्रव्य है, गुण नहीं है, यह गुण है, द्रव्य नहीं है; इस प्रकार चूंकि पृथक्त्व की प्रतीति भी उनमें अस्वलित देखी जाती है, अतएव वे पृथक् पृथक् भी हैं। इस प्रकार भेद और अभेद की विवक्षा में उन दोनों के एकत्र रहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे असाधारण हेतु—पक्षधर्मत्व, सपक्षमत्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति आदि भेद की विवक्षा में उसमें पृथक्ता है—केवलान्वयी व केवल व्यतिरेकी आदि का भेद है। साथ ही हेतुत्व सामान्य आविनाभावित्व की अपेक्षा उसमें एकता भी है। अनन्त धर्म विशेष पदार्थ में अभीष्ट धर्म के अभिलाषियों द्वारा जो विशेषण की विवक्षा और अविवक्षा की जाती है सो सत् विशेषण—उक्त एकत्व आदि—की ही की जाती है, न कि असत् की। इस प्रकार प्रमाण सिद्ध होने से वे भेद और अभेद परमार्थ सत् ही हैं काल्पनिक नहीं हैं। गौणता और प्रमुखता की अपेक्षा उन दोनों के एक पदार्थ में युगपत् रहने में कुछ भी विरोध नहीं है। (३२-३६)

इसी क्रम से आगे नित्यत्व-अनित्यत्व (३७-०), कार्य-कारण आदि की भिन्नता व अभिन्नता (६१-७२) अपेक्षा-अनपेक्षा (७३-७५), हेतु सिद्ध-अहेतु (आगम)

सिद्ध (७६-७८), अन्तरग-बहिरंग (७९-८७), दैव-पौरुष (८८-९१), अन्य को दुख और स्वको सुख के उत्पादन में पाप तथा अन्य को सुख और स्व को दुख के उत्पादन में पुण्य (९२-९५), तथा अज्ञान से बन्ध व अल्पज्ञान से मोक्ष (९६-१००), इन अन्य एकान्तवादों का भी निराकरण करने हुए अनेकान्तवाद के आश्रय से उपर्युक्त उभय धर्मों के अस्तित्व को अविरोध सिद्ध किया गया है।

प्रसंगवश यहाँ कर्मबन्ध के प्रकरण में (९८-१००) बतलाया गया है कर्मबन्ध (स्थिति-अनुभागरूप) अज्ञान से—क्रोधादि कषायों के साथ रहने वाले मिथ्या ज्ञान से—हुआ करता है, कषाय रहित अज्ञान—छद्मस्थ के अल्पज्ञान—से नहीं। तथा मोक्ष अग्रहत् अवस्थारूप जीवन मुक्ति—उस अल्पज्ञान से होता है जो क्षीण कषाय गुण स्थान के अन्तिम समय में होता है, न कि सूक्ष्म साम्प्रदाय पर्यन्त रहने वाले मोह युक्त अल्पज्ञान से। काम-क्रोधादि-रूप कार्य—भवससार—इस कर्मबन्ध के अनुसार हुआ करता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि काम-क्रोधादि-रूप कार्य महेश्वर के निमित्त से होता है। इस आशका का निराकरण करते हुए यह कहा गया है कि वह कामादि—राग द्वेषादि की उत्पत्तिरूप—कार्य चूँकि अनेक प्रकार का है, अतः उसका कारण भी अनेक स्वभाव वाला होना चाहिये, न कि नित्य व एक ही स्वभाव से सदा अवस्थित रहने वाला महेश्वर। सो वह कारण अनेक विधि कर्म का—ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों का—बन्ध ही हो सकता है। जिसके अनुरूप वह कामादि कार्य घटित होता है। और वह कारणों के अनुसार—राग द्वेष एव मोह आदि के अनुरूप—बन्ध करता है। इस पर पुनः यह आशका होती है कि यदि कामादि रूप वह कार्य—भाव ससार—कर्मबन्ध के अनुसार हुआ करता है तो बस कर्मबन्ध के समान रहते हुए किन्हीं जीवों के मुक्ति और किन्हीं के ससार की व्यवस्था घटित नहीं होती। इस आशका का निराकरण करते हुए कहा गया है कि शुद्धि-अभिव्यक्ति—और अशुद्धि—अभिव्यक्ति—के आधार से प्राणियों के मुक्ति और ससार की व्यवस्था में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। कारण यह कि वे जीव न तो साक्ष्यों के समान सर्वथा शुद्ध माने गये हैं और भीमांसकों के समान

सर्वथा अशुद्ध ही। किन्तु वे शुद्धि—अभिव्यक्ति शक्ति—और अशुद्धि—अभिव्यक्ति शक्ति—से संयुक्त दो प्रकार के माने गये हैं। जैसे—उड़द के अधिकांश कण पाक्य शक्ति—पकने की योग्यता—से संयुक्त होते हैं, पर उनमें ऐसे भी कुछ दाने होते हैं जो उस पाक्य शक्ति से रहित होते हैं। यह प्रत्यक्ष में देखा गया है। उनमें शुद्धि शक्ति की अभिव्यक्ति सादि हैं, क्योंकि, उसके अभिव्यक्त जो सम्यग्दर्शन आदि है वे सादि हैं। पर अशुद्धि शक्ति—की अभिव्यक्ति अनादि है, क्योंकि, उसके अभिव्यक्त जो मिथ्यादर्शनादि है वे प्रवाह स्वरूप से अनादि हैं। ये शुद्धि-अशुद्धि शक्तियाँ चूँकि स्वाभाविक हैं, अतः ऐसा क्यों है? इस प्रश्न के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है (९८-१००)।

प्रमाण व उसका फल

अब उपेय तत्त्व जो सर्वज्ञता व वीनरागता आदि है तथा उपाय तत्त्व जो हेतुवाद व काल लब्धिआदि है उनका ज्ञान चूँकि प्रमाण और नयके आश्रय से होता है, अतः उनमें प्रथमतः प्रमाण का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो तत्त्व ज्ञान है—सशयादि से रहित यथार्थ ज्ञान है—उसे प्रमाण कहाँ जाता है। वह दो प्रकार का है—एक तो युगपत् सर्व पदार्थों के प्रतिभासन रूप केवल ज्ञान और दूसरा क्रम से होने वाला—मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्ययस्वरूप क्षायोपशमिक—ज्ञान। स्याद्वाद व नय से संस्कृत वह तत्त्व, ज्ञान कथञ्चित्—समस्त पदार्थों के प्रतिभास की अपेक्षा—अक्रम है, कथञ्चित्—कुछ नियमित विषयों के ग्रहण की अपेक्षा—क्रमभावी हैं, इत्यादि प्रकार से उक्त तत्त्वज्ञान के विषय में सप्तभगी की योजना की सूचना की गई है (१०१)।

उनमें प्रथम प्रमाण का व्यवहित (पारम्परित) फल उपेक्षा है, क्योंकि, केवलज्ञान के प्रगट हो जाने पर कृत कृत्य हो जाने से राग द्वेष के अभाव में किसी भी पदार्थ के ग्रहण और छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। शेष मत्यादिरूप प्रमाण का वह फल उपेक्षा के साथ ग्रहण और त्याग के विवेक को उत्पन्न करना भी है। साक्षात् फल दोनों का ही अपने विषय में अज्ञान की निवृत्ति है (१०२)।

स्याद्वाद का विचार

वह तत्त्वज्ञान स्याद्वादनय से किसी प्रकार संस्कृत है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए आगे कहा गया है कि हे भगवन् ! आपको तथा अन्य केवलियों—को वाक्यों में मत्-असन् और नित्य-अनित्य आदि रूप सर्वथा एकान्त के विरोधी ऐसे अनेकान्त को प्रकाशित करने वाला तथा गम्य-ध्वनित होने वाले प्रतिपक्षभूत-अर्थ के प्रति विशेषण रूप 'स्यात्' शब्द (निपात) (विधि-निमज्जन आदि का द्योतक—जैसा कि जैनेन्द्र व्या० २ । ३ । १५२ में निर्दिष्ट है—'अम् धातु के विधिलिङ्ग के रूपभूत 'स्यात्' क्रियापद नहीं) अभीष्ट है । कारण यह कि उसके बिना सम्बद्ध अर्थ का बोध सम्भव नहीं है । अभिप्राय यह है कि सम्बद्ध अर्थ को व्यक्त करने के लिये, स्यात् जीबः, स्यात् घटः' जैसे 'स्यात्' शब्द से युक्त वाक्यों का उपयोग करना चाहिए । यहाँ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक होकर गम्य मान अजीव और अघट रूप अर्थ का सूचक भी है । इस विशेषता को प्रगट करने के कारण उसे गम्य अर्थ के प्रति विशेषण कहा गया है । (१०३)

आगे इस 'स्यात्' शब्द के पर्यायस्वरूप 'कथञ्चित्' शब्द के निर्देश पूर्वक स्याद्वाद के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि सर्वथा एकान्त को—नित्यत्व या अनित्यत्व आदि किसी एक ही धर्म की मान्यता रूप दुराग्रह को छोड़कर जो कि-वृत्त-चिद्विधि—'किम्' शब्द से उत्पन्न चिद्विधि—अर्थात् कथञ्चित् आदि रूप विधान है—अपेक्षा बाद है, इसका नाम स्याद्वाद है । वह स्याद्वाद सात भगो और अनेक भेद-प्रभेदरूप द्रव्याधिक व पर्यायाधिक नयो की अपेक्षा रखता हुआ हेय और उपादेय की विशेषता को प्रगट करने वाला है । उसके बिना हेय-उपादेय की व्यवस्था बन नहीं सकती । वह स्याद्वाद रूप श्रुत वस्तुतः केवल-ज्ञान के ही समान द्रव्य पर्याय स्वरूप समस्त तत्त्वों का प्रकाशक है । भेद यदि उन दोनों में है तो केवल यही है कि केवलज्ञान जहाँ उन सब तत्त्वों को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करता है वहाँ यह स्याद्वाद परमाणुम उन्हे परोक्ष रूप से ग्रहण करता है—अन्य भेद उनमें कुछ भी नहीं ग्रहण किया जाता उसे अन्यतम—तृतीय पक्ष के रूप में—अवस्तु ही समझना चाहिये । (१०४-५)

हेतुवाद में नय व हेतु का स्वरूप

पूर्व में प्रमाणभूत तत्त्वज्ञान को स्याद्वाद और नय से संस्कृत बतलाया जा चुका है । उनमें स्याद्वाद से जहाँ परमाणुम अभिप्रेत है वहाँ नय से हेतुवाद अभिप्रेत इसी-लिये प्रमाणानुसार यहाँ हेतु का निरूपण करते हुए कहा गया है कि साध्य का—साध्य के आधारभूत धर्मों का (जैसे अग्नि के अनुमान में पर्वत)—सधर्मा—समान धर्म वाले दृष्टान्त धर्मों (उक्त अनुमान में जैसे महानस) के ही साथ—न कि विपक्ष के साथ (विपक्ष के साथ तो उसका वैधर्म्य है)—साधर्म्य (समानता) होने से जो विरोध से रहित—अन्यथानुपपत्तिक स्वरूप होने से असिद्ध-विरुद्धादि हेतु दोषों से रहित—स्याद्वाद के द्वारा प्रविभक्त अनेकान्तात्मक अर्थ के विशेष को—नित्यत्व आदि को—प्रगट करता है उसे नय—नय के साथ हेतु भी—कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जो स्याद्वाद से प्ररूपित अनेकान्तात्मक अर्थ के विविध अर्थों का प्रतिपादक है उसे और अनुमान के विषयभूत साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति-रूप होने से जो साधक होता है उसे हेतु कहते हैं । 'नीयते अनेन इति नय' इस निरुक्ति के अनुसार जो गम्य अर्थ को सिद्ध करता है उसे नय हेतु कहा जाता है । (१०६)

स्याद्वाद और केवलज्ञान का जो विषय नहीं है वह अवस्तु है, यह कह आये हैं । तब फिर वस्तु क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले नय और उसकी शाख-प्रशाखाभूत उपनयों के जो तीनों कालों सम्बन्धी एकान्त हैं—विपक्ष का निराकरण न करके उसकी उपेक्षा रूप विषय (पर्याय विशेष)—है उनके कथञ्चित् तादात्म्य रूप समुदायक को वस्तु या द्रव्य कहते हैं, जो एक अनेकादि स्वरूप से अनेक प्रकार है । इस पर यदि यह कहा जाय कि एकान्तों को जब मिथ्या कहा जाता है तब उनका समुदाय भी मिथ्या क्यों न होगा; इस आशंका का परिहार करते हुए यह भी कहा गया है कि यदि वे नय निरपेक्ष हैं—विरुद्ध धर्म का निराकरण करने वाले हैं—तो उनका समुदाय भी मिथ्या होगा ही । परन्तु यदि वे सापेक्ष हैं—विरुद्ध धर्मकर निराकरण न करके प्रयोजन के अभाव में केवल उनकी अपेक्षा

करने वाले हैं—तो हे भगवन ! वे आपके यहा सुनय है—मिथ्या नहीं है, अतः उनका समूह अर्थ क्रिया कारी होने से वस्तु ही है। इस प्रकार उनका समूह मिथ्या ही हो. ऐसा हमारे यहाँ एकान्त नहीं है। (१०७-८)

वाक्यार्थ विषयक विचार

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वस्तु अनेकान्तात्मक है तब वाक्य के द्वारा उसका नियमन कैसे किया जा सकता है, जिससे कि प्रतिनियत विषय में लोगो की प्रवृत्ति हो सके ? इसके उत्तर स्वरूप यहाँ यह कहा गया है कि विधिरूप अथवा निषेधरूप वाक्य के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व उसी प्रकार से—विधिरूप से अथवा निषेधरूप से—अवश्य नियमित किया जाता है। कारण यह कि इसके बिना—यदि वह उक्त प्रकार से नियमित नहीं किया जाता है तो प्रतिषेध से रहित विधि के और विधि से रहित प्रतिषेध के विशेषणता के घटित न होने से विशेषण के बिना वह विशेष्य ही न ठहरेगा। (१०९)

प्रत्यक्षादि प्रमाण की विषयभूत वस्तु तत्-अनन्त स्वरूप है—विरुद्ध धर्म से अधिकृत है। तब यह तत्स्वरूप—विधिरूप—ही है, इस प्रकार उसे एकान्त स्वरूप से कहने वाला वचन सत्य नहीं हो सकता। ऐसी दशा में तत्त्वार्थ का—जीव जीवादि पदार्थों का यथार्थ उपदेश कैसे दिया जा सकता है—एमे असत्य वचनों के द्वारा दिया जाने वाला उपदेश यथार्थ न होने से ग्राह्य नहीं हो सकता है। वचन का यह स्वभाव है कि वह इतर वचनों के अर्थ के निषेध में स्वतन्त्र होकर अपने अर्थसामान्य का प्रतिपादन करता है—अपने अर्थसामान्य के प्रतिपादन के बिना वह केवल इतर वचनों के अर्थ का कथन नहीं करता। कारण यह कि अपने अर्थसामान्य का प्रतिपादन और इतर का निषेध इन दोनों में से किसी एक के बिना वचन का बोलना न बोलने के ही समान है—उसका उच्चारण करना निरर्थक ही है इसका भी कारण यह है कि वैसे अवस्था में उसका विषयभूत अर्थ 'इस प्रकार से है और इस प्रकार से नहीं है' ऐसी प्रतीति आकाश कुसुम के समान असम्भव है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति' इत्यादि सामान्य वचन यदि विशेष में वर्तमान है—अन्यापोह का

वाचक है—तो शब्द का अर्थ जब कोई सद्भावरूप पदार्थ नहीं है तब वैसे अवस्था में वह (वचन) असत्य ही ठहरता है। कारण यह है कि शब्द का अर्थ जब अन्यापोह—अन्यव्यावृत्ति—माना जाता है तो गायको लाओ' ऐसा कहने पर अगोव्यावृत्तिरूप कोई पदार्थ नहीं है, जिसके लाने में श्रोता प्रवृत्त हो सके। इसीलिए सत्यता का चिह्न स्यात्कार—स्याद्वाद—ही है, क्योंकि, स्याद्वाद के आश्रित वचन के बोलने में अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है। तदनुसार 'गाय को लाओ' ऐसा कहने पर श्रोता स्वरूप से सत् और पर (अश्व आदि) रूप से असत् गाय के लाने में प्रवृत्त होता है। अतः स्याद्वाद के आश्रित वचन सत्य और इतर असत्य है, यह सिद्ध ही है। जो प्रतिषेध—नास्तित्व आदि—का अविरोधी—अविनाभावी—होकर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति का कारण होता है वही विधेय है, क्योंकि, अभिप्राय—पूर्वक जिसका विधान किया जाता है वही विधेय कहलाता है। तथा आदेय और हेय की व्यवस्था भी उसी प्रकार से—परस्पर के अविनाभाव से ही—बनती है। कारण यह कि विधेय के एकान्त में जिस प्रकार किसी की हेयता नहीं बनती है उसी प्रकार प्रतिषेध के एकान्त में कोई भी अभीष्ट पदार्थ आदेय नहीं बनता। इससे उपर्युक्त स्याद्वाद की सिद्धि होती ही है। (११०-१३)

अन्त में ग्रन्थकार आचार्य समन्तभद्र इस आप्तमीमासा—सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा—की रचना विषयक अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जो भव्य जीव आत्महित के—मुक्ति के—इच्छुक है वे समीचीन—सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्षमार्ग विषयक—और मिथ्या—ससार परिभ्रमण के कारण भूत मिथ्यादर्शनाविषयक—उपदेश को सत्यता और असत्यता का निर्णय कर सके, इसी अभिप्राय से यह आप्तकी भीमांसा की गई है (११४)

हिन्दी अनुवाद

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान व समन्तभद्र-भारती के अनन्य उपासक श्रद्धेय प० जुगल किशोर जी मुख्तार के द्वारा किया गया है, जो वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन की ओर से अभी कुछ समय पूर्व (जून १९६७) ही प्रकाशित हुआ है।

इसके पूर्व इसका अनुवाद श्री ५० जयचन्द्र जी छावड़ा के द्वारा भी किया जा चुका है और वह अनन्त-कीर्ति ग्रन्थमाला से प्रकाशित भी हो चुका । ५० जयचन्द्र जी जैसे ख्याति नामा विद्वान् थे, तदनुरूप ही यह उनका अनुवाद है । उन्होंने अधिकतर कारिकागत पदों के आश्रय से कारिकाओं के अर्थ को स्पष्ट किया है, साथ ही अष्ट-सहस्री के आधार से जहाँ तहाँ कुछ विशेष अभिप्राय भी व्यक्त किया है । पर यह सब दूधारी भाषा में उनकी अपनी शैली का है । इससे सर्वसाधारण उससे अधिक लाभ नहीं ले पाते थे, इसके लिए शुद्ध हिन्दी में उसके अनुवाद की विशेष आवश्यकता थी । प्रसन्नता की बात है कि इसकी पूर्ति उपर्युक्त ५० जुगल किशोर जी मुख्तार के अनुभवपूर्ण अनुवाद से हो जाती है ।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में जो पूर्व में कुछ थोड़ा सा परिचयात्मक विवेचन किया गया है उसे देखकर पाठक यह अनुमान लगा सकते हैं कि केवल ११४ श्लोकों में रचित वह छोटा सा दिखने वाला ग्रन्थ कितने गम्भीर अर्थों को लिए हुए है । यही कारण है जो उसके ऊपर आचार्य भट्ट अकलकदेवके द्वारा आठ सौ श्लोक प्रमाण 'अष्टशती' जैसे टीका लिखी गई । पर वह भी इतनी गम्भीर रही है कि साधारण जन की बात तो क्या, विशेष विद्वान् भी उसके समझने में कठिनाई का अनुभव कर सकते थे । इसीलिए आ. विद्यानन्द ने उक्त अष्टशती से गर्भित अष्टसहस्री नाम की आठ हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका लिखी । अतः ऐसे महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद करना सरल नहीं है—साधारण विद्वान् के वश का यह कार्य नहीं है । ऐसे अर्थगम्भीर ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद उनका महान् अध्येता ही कर सकता है । आदरणीय मुख्तार सा.

ऐसे ही गम्भीर अध्येता—विशेषकर आ. समन्तभद्र की कृतियों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं । इससे पूर्व उक्त कृतियों में से स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और रत्नकरण्डक (समीचीन धर्मशास्त्र) के अनुवाद भी उनके द्वारा सम्पन्न हो चुके हैं ।

प्रकृत अनुवाद में ग्रन्थ के हार्द को सरल व सुबोध भाषा में व्यक्त किया गया है । यह अनुवाद मूलानुगामी होकर अन्तस्तत्त्व का भी प्रकाशक है । साधारण संस्कृत का ज्ञाता भी यदि रुचिपूर्वक संलग्नता के साथ इस अनुवाद को पढ़े तो वह ग्रन्थगत कारिकाओं के शब्दार्थ और भावार्थ को समझ सकता है । प्रकृत अनुवाद में प्रथमतः कारिकागत पद या वाक्य के अर्थ को काले टाइप में व्यक्त करके तत्पश्चात् उसका स्पष्टीकरण मफेद टाइप में दो डैस(—) चिह्नों के मध्य में बड़ी खूबी के साथ किया गया है । इसके पश्चात् आवश्यकतानुसार यत्र तत्र विशेष व्याख्यात्मक अर्थ भी लिखा गया है ।

कारिका ३१ का अर्थ—विशेषकर कोष्ठकगत सदर्थ ठीक से मुझे समझने में नहीं आया, सम्भव है मुद्रणदोष कुछ रहा हो । इसी प्रकार कारिका १०६ का अर्थ भी, जिस रूप में मुद्रित हुआ है, कुछ अव्यवस्थित सा दिखा है ।

इस अनुवाद के साथ श्री ५० दरबारी लाल जी न्यायाचार्य एम० ए० के द्वारा लिखी गई जो महत्वपूर्ण प्रस्तावना सम्बद्ध है वह भी ग्रन्थ परिचय के साथ अनेक तथ्यों पर प्रकाश डालने वाली है । इससे ग्रन्थ की महत्ता और भी बढ़ गई है ।

मुख्तार श्री जो इस वृद्धावस्था में इस प्रकार की आश्चर्यजनक साहित्य सेवा कर रहे हैं, यह अतिशय स्तुत्य है । वे दीर्घ जीवी होकर ऐसे साहित्य का मृजन करते रहे यह हादिक कामना है ।

आत्म-संबोधन !

हे आत्मन् ! अपने चैतन्य स्वरूप को जानो । उसका काम देखना जानना है । इसके अतिरिक्त जो भी काम होगा वह पर सम्बन्ध से होगा और उस पर जो अपना मानना ही सर्व आपदाओं का मूल है । पर अपना न हुआ, न है, न होगा । फिर उसको अपना मानना ही अनन्त ससार का कारण है । यदि इस अनन्त ससार से वचना चाहते हो तो शीघ्र ही इससे सम्बन्ध छोड़ दो ।

—वर्णो वाणी

चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ

श्री पं० नेमचन्द धन्नुसा जैन

श्री जैन मन्दिर के आगे मानस्तंभ की रचना एक विशेष गौरवास्पद है। क्योंकि वह मान कषाय का हरण करनेवाला होता है, इसीलिए मानस्तंभ को जैन मन्दिर का पर्याय से निज मन्दिर का दर्शक कहा है। मानस्तंभ का अस्तित्व सभी सातिशय क्षेत्रों में दिखाई देता ही है। प्रायः दिगंबर जैन संप्रदाय में ही यह प्रथा प्रचलित है। समवशरण में चार दिशा के द्वार के सामने एक-एक मानस्तंभ होने की सूचना शास्त्रों में मिलती ही है। यद्यपि इसके उद्देश्य के बारे में विवाद है, तथापि अस्तित्व निर्विवाद ही है। मानस्तंभ का ही स्थान आगे कई जगह कीर्तिस्तंभों ने ले लिया है। मानस्तंभ का सुधारा हुआ रूप यानी कीर्ति स्तंभ ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

यहां पर मैं सिर्फ चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ के काल के बारे में चर्चा करूंगा। बहुत अच्छा होता कि इस लेख के लिखने के पहले मैं उस स्थान को गौरव से देख लेता। लेकिन तब तक इस विषय को बाजू भी न रख सका। इसके उल्लेख मैंने तीन जगह देखे। (१) मुनि काति-सागरकृत—खंडहरों का वैभव में (२) डा. जोहरापुरकर-कृत—भट्टारक संप्रदाय में, तथा (३) डा. ज्योतिप्रसाद जैनकृत—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि में।

तीनों के ही कर्तृत्व व काल के विषय पर एक मत है और वह यह कि, बघेरवाल बशी शाह जीजा के पुत्र शाह पुनसिंह ने जिसने कारंजामे सवत १५४१ में प्रतिष्ठा की थी—यह कीर्तिस्तंभ स्थापित किया। इस नये विचार को बदलने वाला प्रभाव प्राप्त हुआ है। मैं इस विचार को नया इस लिए कहता हूँ कि पहले इसका काल १२वीं सदी या उसके पहले का बताया जाता था। लेकिन मुनि काति सागर के लेख के बाद इस मत में नया पन आया। वह कैसा? इसलिए दोनों के मत आगे देकर बाद में अपने को प्राप्त मूर्ति लेख का उल्लेख करूंगा।

(१) खण्डहरों का वैभव पृष्ठ ८३—“चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ-१५वीं शताब्दी की कला का भव्य प्रतीक है। उसमें जैन मूर्तियों का खुदाव आकर्षक बन पड़ा है। इसका शिल्प भास्कर्य प्रेक्षणीय है।... इस स्तंभ के सूक्ष्मतम अलंकरणों को शब्द के द्वारा व्यक्त करना तो सर्वथा असंभव ही है। इतना कहना उचित होगा कि संपूर्ण स्तंभ का एक भाग भी ऐसा नहीं, जिसपर सफलतापूर्वक सुललित अंकन न किया गया हो। सचमुच में यह श्रमण सस्कृति का एक गौरव स्तंभ है।

“इसकी ऊंचाई ७५।।। फुट है। ३२ फुट का व्यास है। अभी तक लोग यह मानते आए हैं कि इसका निर्माण १२वीं सदी या इसके उत्तरवर्ती काल में बघेरवाल वंशीय शाह जीजा ने करवाया था और कुमारपाल ने इसका जीर्णोद्धार कराया।” एक मत ऐसा भी है कि यह वि. स. ८६५ में बना।^१ मेरे ख्याल से उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक है। आश्चर्य होता है निर्णायक पर कि उन्होंने इसकी निर्माण शैली को तनिक भी समझने की चेष्टा नहीं की। अस्तु।

“इस गौरव स्तंभ के निर्माता मध्यप्रदेशातर्गत कारंजा (अभी महाराष्ट्र में है) निवासी पुनसिंह है और १४वीं शताब्दी में उसने इसे बनवाया था। जैसा कि नादगाव के मन्दिर की एक धातु प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है। लेख इस प्रकार है—“स्वस्ति श्री सवत १५४१ वर्षे शाके १४६१ (१४०६) प्रवर्तमाने क्रोधिता (न) संवत्सरे उत्तर गणे [ज्येष्ठ] मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वाति नक्षत्रे... योगे र कणे मि. लगने श्रीवराट् (इ) देशे कारजा नगरे श्री सुपाश्वनाथ चैत्यालये श्रीमूलसधे सेनगणे पुष्करयच्छे श्रीमत वृषभसेन-गणधराचार्य पारपरागत श्रीदेववीर भट्टाचार्याः। तेषा पट्टे श्रीमद्रायराज गुरुवसुधराचार्य महावाद, वादी-

(१) प्राचीन जैन स्मारक।

(२) जैन सत्य प्रकाश वर्ष ६, पृष्ठ १६६।

श्वर रायवादि पिबामहा ? सकल विद्वज्जन सार्व भौम सा-
भिमान वादीभ सिंहाभिनय—त्रैः—[विद्य] विश्व सोमसेन
भट्टारकाणामुपदेशात् श्री बघेरवाल जाति खटणाड गोत्रे
अष्टोत्तर शत महोत्तुगशिखरबद्धप्रसादसमुद्धरणधीर, त्रिलोक
श्री जिनविबोद्धारक अष्टोत्तर शत श्री जिन महा
प्रतिष्ठा कारक अष्टादस स्थाने अष्टादस कोटि श्रुतभंडार
संस्थापक, सवालक्षवदी मोक्ष कारक, मेदपाट देशे चित्रकूट
नगरे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र चैत्यालय स्थाने निज भुजो
पाजितवित्तबलेन श्री कीर्तिस्तभ आरोपक शाह जिजा
सुत साह पुनसिंहस्य...साहदेउ तस्य भार्या पुई तुकार ।
तयोः पुत्रः चत्वारः । तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण.....
चैत्यालयोद्धरण धीरेण निजभुजोपाजितवित्तानुसारेण महा-
यात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ क्षेत्र.....।

“दुर्भाग्य से यह लेख इतना ही प्राप्त हुआ है । कारण
की आगे का भाग प्रयत्न करने पर भी मैं न पढ़ सका ।
घिस सा गया है । फिर भी उपलब्ध ग्रन्थ से एक चलनी
हुई भ्रामक परंपरा को प्रकाश मिला ।

(२) भट्टारक संप्रदाय पृष्ठ ३१— देवसेन के पट्ट
पर सोमसेन अधिष्ठित हुए । विदर्भ स्थित कारजा शहर में
इनके शिष्य बघेरवाल जातीय पूना जी खटोड में रहते थे ।
आपने १०८ मन्दिर बनवाए थे । और १- स्थानों पर
शास्त्र भंडार स्थापित किए थे । चित्तौड़ किले पर चद्रप्रभ
मन्दिर के सामने आपने एक कीर्तिस्तभ स्थापित किया
था । आपका यह वृत्तान्त जिस लेख से मिलता है उसमें
संवत् १५४१ और शक १४९१ के अंक हैं जो गलत हैं ।
क्योंकि इन दोनों में उक्त क्रोधित संवत्सर नहीं आता है ।
यह विषय अनुसंधान की अपेक्षा रखता है ।

(३) भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृष्ठ ४४३-१४वीं
शती के उत्तरार्ध में मेवाड़ के बघेरवाल जैनी साह जीजा
ने चित्तौड़ में प्राचीन चद्रप्रभु चैत्यालय के निकट एक
सतखना उत्तुग एव अत्यन्त कलापूर्ण कीर्तिस्तभ या मान-
स्तभ बनवाया था । कहा जाता है इस धर्मात्मा सेठ ने
१०८ प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार, उतने ही नवीन
मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा की थी ।...उसके सुरु
दिग्बराचार्य सोमसेन भट्टारक थे ।

मुनि कांतिसागर ने अनेकान्त वर्ष ८ पृष्ठ १४२ में इस

विषय में धर्चा की है ऐसा पता चला है, मगर धरे सामने
बहु अंक नहीं हैं । लेकिन उनके लिखाव से इतना तो स्पष्ट
है कि उनको जो अपूर्ण लेख मिला, उससे उनकी जो गलत
धारणा हुई, वह उनके पूर्व अनुश्रुतियों से एकदम उलटी
थी । और उनके लिखाव की ही छाप उत्तरवर्ती लेखकों
के लिखाव पर पड़ी ।

मुनि श्री के ही शब्दों में मैं यही कहूँगा कि बास्तु व
शिल्प की दृष्टि से आपने उसका काल कैसा निश्चित
किया ? या उस लेख से ही वह अनुमानित किया ? लेख
से निर्माण शैली पर प्रकाश पड़ना शिल्प शास्त्रज्ञों के लिए
अध्यानुकरण होगा । तो भी, जिस लेख से इसके इतिहास
पर प्रकाश पड़ता है वह लेख और भी प्रकाश में आया है ।
यह नया मिला हुआ लेख पौतलके नन्दीश्वर ५२ चैत्यालय
की प्रतिमा पर का है, जो अकोला शहरके सेनगण दिग्बर
जैन मन्दिर में सुरक्षित है । लेख इस प्रकार है—‘स्वस्ति
श्री संवत् १५४१ वर्षे शके १४०६ प्रवर्तमाने मंत्रि.....
संवत्सरे जेष्ठमासे शुक्ल पक्षे ११ दिने भानुवासरे.....
(स्वाति) नक्षत्रे पहिरवाद्या योगे, गरकरने मत गरी वृत्ताड
देशे कारजा नगरे श्री पार्श्वनाथ चैत्यालये श्री मूलसधे
(इसके आगे सवालक्ष वदी मोक्षदायक तक मजमून एक ही
है ।)....चित्रकूट नगरे श्री कीर्तिस्तभस्यारोपक सा. जिजा
सुत सा. पुनसिंहस्य अम्नाये सा. देकु (३) भार्या तुकार्ई
तयो पुत्राश्चत्वारः । तेषा मध्ये प्रथम पुत्र साह लखमन
भार्या—बाई ज सुभाई सुत संघवी हसराज भार्या हिराई ।
द्वितीय पुत्र साह निमा । तृतीय पुत्र संघवी वीर भार्या
संघवीनी गौराई । चतुर्थ पुत्र सहदेव भार्या सहबाई ।...
यात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ क्षेत्र.....रक्षा शालिनः ।.....सधा-
धिपति वीर.....परमाभ्युदय बिबोदित...जिनालय प्रति-
ष्ठाप्य प्रणमन्ति ।”

इस मूर्ति लेख से इतना तो स्पष्ट हुआ कि भ० सोम-
सेन साह जीजाके गुरु नहीं थे, किंतु वे सधाधिपति वीर के
गुरु थे । क्योंकि यह प्रतिष्ठा संघवी वीर ने की थी । वे
साह लखमन के तृतीय पुत्र थे । और लखमन साह पुनसिंह
के अम्नाय वाले वंश में उत्पन्न हुए थे । अम्नाय शब्द से
स्पष्ट होता है कि साह जीजा सुत पुनसिंह का सिर्फ कीर्ति
व नाम ज्ञात था । और साक्षात् सम्बन्ध बताने जैसी परं-

परा व काल ज्ञात न था। साथ ही साह जीजा चित्तीड़ के रहिवासी थे तो वे कारंजा यानी मूल स्थान से सँकड़ो नहीं हजारों मील दूरी पर आ बसे थे। मतलब उनको निजी पूर्वजों की कीर्ति याद थी। बस उसका ही उन्होंने सिर्फ उल्लेख किया। एक विस्मृत इतिहास को जगाया; न कि निर्माण किया। अतः लेख का संवत् १५४१ यह काल श्री सोमसेन का तो है लेकिन कीर्तिस्तम्भ के निर्माता साह जीजा या उनके पुत्र का नहीं। वे कितने पूर्व हुए यह विषय सच्चे शिल्पकाल मर्मज्ञों से ठहरा जा सकता है तथा उनके अन्य कार्यक्षेत्र में सशोधन कर उनके कर्तृत्व व काल पर प्रकाश पड़ सकता है।

शिरपुर के प्राचीन हेमाडपंथी श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ के मन्दिर पर जो शके १३३८ का शिलालेख है उसमें

‘खटवड’ शब्द पाया जाता है। अतः इस गोत्र के साहु पुरुषों का इतिहास अन्वेषणीय हुआ है। बहुत जगह इन्होंने कई प्रतिष्ठाएँ की हैं। उन सबका सफलन करने से उनके जीवन पर तथा कार्य पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

बहुत कुछ यह भी संभव है कि वघेरवाल जाति के भाट होते हैं, उनके पास हजारों साल की वंशावली मिलती है। उनको प्राप्त कर सशोधन करने से यह कार्य पूरा हो सकता है। आशा है कोटा जिले के विद्वान इसके लिए आगे आयेगे या पूरा सहयोग देगे। इस कार्य से और भी मौलिक इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा। अतः जिस दिन इस कार्य का प्रारंभ होगा वह हमारे लिए सुदिन ठहरेगा। अस्तु। ●

महावीर का मार्ग

मोहिनी सिंघवी

महावीर !
चले चल ! कि बड़े चल
यह सत्पथ है
जिस पर तू चल रहा है
यही महावीर मार्ग है
यही विजेता का पथ है
इस पर भड़ा टिका,
यह देख सामने
डोल शिलार
अपनी अटल भद्रा लिए हुए
सदा तूफानों के साथ
सुमता हुआ अडिग खड़ा है।

ओ साधक !
पीछे मुख न मोड़
यह देख कल कल करती
सरिता कंकरीले, पथरीले
पथ की परवाह न करती हुई
बहती चली जा रही है,
कहती चली जा रही
‘पीछे न मुड़’
यही श्रेय है
यही प्रेय है
यही निश्चय है
चले चल बड़े बज

दिगम्बर परम्परा में आचार्य सिद्धसेन

श्री कंलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा के प्रख्यात तार्किक और ग्रन्थकार थे। जैन परम्परा दोनों ही शाखाओं में उन्हें समान आदर प्राप्त था। किन्तु आज उनकी कृतियों का जो समादर श्वेताम्बर परम्परा में है वैसा दिगम्बर परम्परा में नहीं है। किन्तु पूर्वकाल में ऐसी बात नहीं थी। यही दिखाना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

नामोल्लेख :

उपलब्ध दि० जैन साहित्य में सिद्धसेन का सर्वप्रथम नामोल्लेख अकलकदेव के तत्त्वार्थवातिक में पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के तेरहवें सूत्र में आगत 'इति' शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन करते हुए अकलकदेव ने एक अर्थ 'शब्दप्रादुर्भाव' किया है। और उसके उदाहरण में श्रीदत्त और सिद्धसेन का नामोल्लेख किया है। यथा—

'वचचिच्छब्दप्रादुर्भावे वर्तते-इति, श्रीदत्तमिति सिद्धसेनमिति'
(त० वा० पृ० ५७)

श्रीदत्त दिगम्बर परम्परा में एक महान् आचार्य हो गये हैं। आचार्य विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थ^१ श्लोकवातिक में उन्हें त्रैलोक्यवादियों का जेता तथा 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थ का कर्ता बतलाया है। अतः उनके पश्चात् निर्दिष्ट सिद्धसेन प्रसिद्ध सिद्धसेन ही होना चाहिए। अकलकदेव की कृतियों पर उनके प्रभाव की चर्चा हम आगे करेंगे। अतः अकलकदेव ने श्रीदत्त के साथ उन्हीं का स्मरण किया, यही विशेष सभ्य प्रतीत होता है।

गुणस्मरण :

विक्रम की नवीं शताब्दी में दिगम्बर परम्परा में दो जिनसेनाचार्य हुए हैं। उनमें से एक हरिवंशपुराण के

१. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रतिभगोचरम्।

त्रिषष्टेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥

—त० श्लो० वा० पृ० २५०।

रचयिता थे और दूसरे थे महापुराण (आदिपुराण) के रचयिता। दोनों ने ही अपने-अपने पुराणों के प्रारम्भ में अपने पूर्वज आचार्यों का स्मरण करते हुए सिद्धसेन का भी स्मरण किया है।

हरिवंशपुराण में स्मृत आचार्यों की नामावली इस प्रकार है : समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिहनन्दि, शान्त, विशेषवादि, कुमारमेनगुरु और वीरसेनगुरु और जिनसेन स्वामी।

आदिपुराण में स्मृत आचार्यों की तालिका इस प्रकार है : सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, काणभिक्षु, देव (देवनन्दि), भट्टकलक, श्रीपाल, पात्रकेसरी, वादिसिंह, वीरसेन, जयसेन, कवि परमेश्वर।

प्रायः सभी स्मृत आचार्य दिगम्बर परम्परा के हैं। उन्हींमें सर्वोपरि सिद्धसेन को भी स्थान दिया गया है जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हरिवंश पुराणकारने सिद्धसेन का स्मरण इस प्रकार किया है—

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।

बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूतयः ॥३०॥

जिनका ज्ञान जगत में सर्वत्र प्रसिद्ध है उन सिद्धसेन की निर्मल सूक्तियाँ ऋषभदेव जिनेन्द्र की सूक्तियों के समान सज्जनों की बुद्धि को प्रबुद्ध करती हैं।

इसके पूर्व समन्तभद्र के वचनों को वीर भगवान् के वचनतुल्य बतलाया है। और फिर सिद्धसेन की सूक्तियों को भगवान् ऋषभदेव के तुल्य बतला कर उनके प्रति एक तरह से समन्तभद्र से भी अधिक आदर व्यक्त किया है। यहाँ सूक्तियों से सिद्धसेन की किसी रचनाविशेष की ओर संकेत प्रतीत नहीं होता। किन्तु महापुराण में तो अवश्य ही उनके सन्मत्तिसूत्र के प्रति संकेत किया गया है। यथा—

प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः।

सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनस्यराङ्कुरः ॥४२॥

सिद्धसेन कवि जयवन्त हों, जो प्रवादीरूपी हाथियों के भुण्ड के लिए सिंह के समान है तथा नय जिसके केसर (गर्दन पर के बाल) हैं और विकल्प पैंने नाखून है।

सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र में प्रधान रूप में यद्यपि अनेकान्त की चर्चा है, तथापि प्रथम काण्ड में अनेकान्तवाद की देन नय और सप्तभगी की मुख्य चर्चा है। तथा दूसरे काण्ड में दर्शन और ज्ञान की चर्चा है, जो अनेकान्त की ही अग्रभूत है। इस चर्चा में आगम का अवलम्बन होते हुए भी तर्क की प्रधानता है। और तर्कवाद में विकल्प-ज्ञान की मुख्यता होती है जिसमें फँसाकर प्रतिवादी को परास्त किया जाता है। अतः जहाँ सन्मतिसूत्र के प्रथम-काण्ड सिद्धसेनरूपी सिंह के नयकेसरत्व का परिचायक है, वहाँ दूसरा काण्ड उनके विकल्परूपी पैने नखों का अनुभव कराता है। दर्शन और ज्ञान का केवली में अभेद सिद्ध करने के लिए जो तर्क उपस्थित किये गये हैं, प्रतिपक्षी भी उनका लोहा माने बिना नहीं रह सकते। अतः जिनसेनाचार्य ने अवश्य ही सन्मतिसूत्र का अध्ययन करके सिद्धसेनरूपी सिंह के उस रूपाका साक्षात्परिचय प्राप्त किया था, जिसका चित्रण उन्होंने अपने महापुरुषाणके सम्मरण में किया है।

सन्मतिसूत्र की आगमप्रमाणरूप में मान्यता :

यह जिनसेन वीरसेन स्वामीके शिष्य थे और वीरसेन-स्वामी ने अपनी धवला और जयधवला टीका में नयो का निरूपण करते हुए सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र की गाथाओं को सादर प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। दोनों टीकाओं में निक्षेपो में नयो की योजना करते हुए वीरसेन स्वामी ने अपने कथन का सन्मतिसूत्र के साथ अविरोध बतलाने हुए सन्मतिसूत्र को आगमप्रमाण के रूप में मान्य किया है। किन्तु सन्मतिसूत्र के दूसरे काण्ड में केवजान और केवल-दर्शन का अभेद स्थापित किया गया है और यह अभेदवाद जहाँ क्रमवादी श्वेताम्बर परम्परा के विरुद्ध पड़ता है वहाँ युगपद्वादी दिगम्बर परम्परा के भी विरुद्ध पड़ता है। अतः सिद्धसेन के इस अभेदवादी मत को जैसे श्वेताम्बर परम्परा ने मान्य नहीं किया और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में उसकी कठोर आलोचना की, वैसे ही सन्मतिसूत्र को आगमप्रमाण के रूप में मान्य करके भी वीरसेन स्वामी ने उसमें प्रतिपादित अभेदवाद को मान्य नहीं किया और मीठे शब्दों में उसकी चर्चा करके उसे अमान्य कर दिया।

यह एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है कि एक ग्रन्थ को प्रमाणकोटि में रखकर भी उसके अमुक मतको अमान्य कर दिया जाता है अथवा अमुक मत के अमान्य होने पर भी उस मत के प्रतिपादक ग्रन्थ को सर्वथा अमान्य नहीं किया जाता और उसके रचयिता का सादर सस्मरण किया जाता है।

अकलंकदेव पर प्रभाव :

आचार्य अकलंकदेव आचार्य समन्तभद्र की वाणीरूपी गंगा और सिद्धसेन की वाणीरूपी यमुना के मगमस्थल है। दोनों महान् आचार्यों की वाङ्माराएँ उनमें सम्मिलित होकर एकाकार हो गई है। समन्तभद्र के 'प्राप्तमीमांसा' पर तो अकलंकदेव ने अष्टशती नामक भाष्य रचा है, किन्तु सिद्धसेन के द्वारा तात्त्विक पद्धति से स्थापित तथ्यों को भी अपनी अन्य रचनाओं में स्वीकार किया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नयो की पुरानी परम्परा सप्तनयवाद की है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्पराएँ इस विषय में एकमत हैं। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर नैगम को पृथक् नय नहीं मानते। शायद इसी से वह पङ्क्त्यवादी कहे जाते हैं। अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्र के व्याख्यान के अन्तर्गत नयसप्तभगी का विवेचन करते हुए द्रव्याधिक-पर्यायाधिक नयो को सग्रहाद्यात्मक बतलाया है तथा छ ही नयो का आश्रय लेकर सप्तभगी का विवेचन किया है। तथा लघीयस्त्रय में यद्यपि नैगमनय को लिया है तथापि कारिका ६७ की स्वोपज्ञ वृत्ति में सन्मति की गाथा १-३ की शब्दशः संस्कृत छाया को अपनाया है। यथा—

तत्थयर बयण संगह्वितेसपत्थारमूलवागरणी ।

द्ववदिठयो य पज्जवणओ य सेसा विवग्घासि ॥ सन्मति ।

१. कसायपाहुड, भा० १, पृ० २६१। खट्खण्डागम पु० १, पृ० १५। पु० ६ पृ. २४४। पु० १३, पृ. ३५४।

२. कसायपाहुड, भा० १ पृ. ३५७।

३. पृ० २६१।

तथा तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकरणौ
द्रव्याधिकपर्यायाधिकौ निश्चेतव्यौ । ल० स्वी०

सिद्धसेन ने सन्मति में एक नई स्थापना और भी की है। और वह है पर्याय और गुण में अभेद की। अर्थात् पर्याय से गुण भिन्न नहीं है। यह चर्चा तीसरे काण्ड में गाथा ८ से आरम्भ होती है। इस चर्चा का उपसंहार करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने उसका प्रयोजन शिष्यों की बुद्धि का विकास बतलाया है, क्योंकि जिनोपदेश में न तो एकान्त से भेदभाव मान्य है और न एकान्त से अभेदवाद, अतः उक्त चर्चा के लिए अवकाश नहीं है।

(सन्मति ३-२५, २३)

अकलकदेव ने भी तत्त्वार्थवार्तिक में पाचवें अध्याय के 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥३७॥' सूत्र के व्याख्यान में उक्त चर्चा को उठाकर उसका समाधान तीन प्रकार से किया है। प्रथम तो आगम प्रमाण देकर गुण की सत्ता सिद्ध की है, 'फिर गुण एव पर्यायः' समास करके गुण को पर्याय से अभिन्न बतलाया है। यही आचार्य सिद्धसेन की मान्यता है। इस पर से यह शका की गई है कि यदि गुण ही पर्याय है तो केवल गुणवत् द्रव्य या पर्यायवत् द्रव्य कहना चाहिए था—'गुण पर्याय वद् द्रव्य' क्यों कहा? तो उत्तर दिया गया कि जनेतर मत में गुणों को द्रव्य से भिन्न माना गया है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए दोनों का ग्रहण करके यह बतलाया है कि द्रव्य के परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। उसी के भेद गुण है, गुण भिन्न जातीय नहीं है। इस प्रकार इस चर्चा में भी अकलकदेव ने सिद्धसेन के मत को मान्य किया है। अतः अकलकदेव पर सिद्धसेन का प्रभाव स्पष्ट है।

आचार्य विद्यानन्द और सिद्धसेन :

आचार्य विद्यानन्द एक तरह से अकलंक के अनुयायी और टीकाकार थे। उन्होंने समन्तभद्र के आप्तमीमांसा और उस पर अकलंकदेव के अष्टशती भाष्य को आवेष्टित करके अष्टसहस्री नामक महान् ग्रन्थ की रचना की थी। तथा जैसे न्यायदर्शन के सूत्रों पर उद्योतकर की न्यायवार्तिक से प्रभावित होकर अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थवार्तिक की रचना की थी, वैसे ही विद्यानन्द ने भीमासक कुमारिल के भीमांसा श्लोकवार्तिक से प्रभावित

होकर तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक की रचना की थी। इस तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में प्रथम अध्याय के अंतिम सूत्र पर नयों का सुन्दर सक्षिप्त विवेचन है। इस विवेचन के अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है कि विस्तार से नयों का स्वरूप जानने के लिए नयचक्र को देखना चाहिए; यह नयचक्र सभवतया मल्लवादीकृत नयचक्र होना चाहिए; क्योंकि उपलब्ध देवसेनकृत लघुनयचक्र और माइल्ल धवलकृत नयचक्र प्रथम तो सक्षिप्त ही है, विस्तृत नहीं है, इनसे तो विद्यानन्द ने ही नयों का स्वरूप अधिक स्पष्ट लिखा है, दूसरे, उक्त दोनों ही ग्रन्थकार विद्यानन्द के पीछे हुए हैं। अतः विद्यानन्द उनकी कृतियों को देखने का उल्लेख नहीं कर सकते थे, अस्तु। इस नयचर्चा में विद्यानन्द ने सिद्धसेन के पङ्क्त्यवाद को स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसका विरोध किया है। उनका कहना है कि नैगमनय का अन्तर्भाव न तो संग्रह में होता है, न व्यवहार में और न ऋजुसूत्रादि में। अतः परीक्षकों को 'संग्रह आदि छै नय ही हैं' ऐसा नहीं कहना चाहिए।

संग्रहे व्यवहारे वा नान्तर्भावः समीक्ष्यते ।

नैगमस्य तयोरेकवस्त्वंशप्रवणत्वतः ॥२४॥

नर्जुसूत्रादिषु प्रोक्तहेतवो वेति षण्णया ।

संग्रहादय एवेह न वाच्याः प्रपरीक्षकः ॥२५॥

—त० श्लो० वा० ६, २६६ ।

यहां 'प्रपरीक्षक' शब्द सभवतया सिद्धसेन के लिए ही आया है, क्योंकि परीक्षा के आधार पर उन्होंने ही पङ्क्त्यवाद की स्थापना की थी। परीक्षक के साथ प्रकर्षत्व के सूचक 'प्र' उपसर्ग से भी इस बात की पुष्टि होती है, क्योंकि सिद्धसेन साधारण परीक्षक नहीं थे।

इसी तरह विद्यानन्द ने पांचवें अध्याय के 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' इस सूत्र की व्याख्या में गुण और पर्याय में अभेद मानकर भी सिद्धसेनानुगामी अकलंक का अनुकरण नहीं किया, किन्तु गुण और पर्याय दोनों के ग्रहण के आधार पर एक ऐसा तथ्य फलित किया जो अनेकान्तदर्शन के इतिहास में उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है—

१. संक्षेपेण नयास्तावद् व्याख्यातास्त्र सूचिताः ।

तद्विशेषाः प्रपञ्चेन सचिन्त्या नयचक्रतः ॥१०२॥

त० श्लो० वा० पृ० २७६

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये ।

तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥

—त० श्लो० बा० पृ० ४३८

सहानेकान्त की सिद्धि के लिए 'गुणवद् द्रव्यम्' कहा है । तथा क्रमानेकान्त के बोध के लिए 'पर्यायवद् द्रव्यम्' कहा है ।

अर्थात् अनेकान्त के दो प्रकार हैं : सहानेकान्त और क्रमानेकान्त । पस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक वस्तु में स्वीकार अनेकान्त है । उनमें से कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो कालक्रम से एक वस्तु में रहते हैं, जैसे सर्वज्ञता और असर्वज्ञता, मुक्तत्व और ससारित्व । गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी होती हैं अतः एक से सहानेकान्त प्रतिफलित होता है तो दूसरे से क्रमानेकान्त ।

इस तरह विद्यानन्द ने सिद्धसेन के मतों को अमान्य या प्रकारान्तर से मान्य करते हुए भी तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में ही हेतुवाद और आगमवाद की चर्चा के प्रसंग से समन्तभद्र के आप्तमीमांसा के 'ववतर्यनाते' इत्यादि कारिका के पश्चात् ही प्रमाणरूप से सिद्धसेन के सन्मति से भी 'जो हेतुवादपरकम्भि' आदि गाथा उद्धृत करके सिद्धसेन के प्रति भी अपना आदरभाव व्यक्त किया है, यह स्पष्ट है ।

टीकाकार सुमतिदेव :

विद्यानन्द से पहले और सभवतया अकलकंदेव से भी पूर्व दिगम्बर परम्परा में सुमतिदेव नाम के आचार्य हो गये हैं । श्रवण बेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में कुन्द-कुन्द, सिंहनन्दि, बक्रग्रीव, बच्चनन्दि और पात्रकेसरी के बाद सुमतिदेव की स्तुति की गई है और उनके बाद कुमारसेन, वर्द्धदेव और अकलकंदेव की । इससे सुमतिदेव प्राचीन आचार्य मालूम होते हैं ।

पाद्वंनाथचरित (वि० सं० १०८२) के कर्ता वादि-राज ने प्राचीन ग्रन्थकारों का स्मरण करते हुए लिखा है—

नमः सन्मतये तर्मे भूषकूपनिपतिनाम् ।

सन्मतिविवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥२२॥

अर्थात् उस सन्मति को नमस्कार हों जिनने भूषकूप में पढ़े हुए लोगों के लिए सुखधाम में पहुँचानेवाली सन्म-

तिको विवृत किया अर्थात् सन्मतिकी वृत्ति या टीका रची ।

यह सन्मति सिद्धसेनकृत ही होना चाहिए । नमः सन्मतये' में 'सन्मति' नाम सुमति के लिये ही आया है । दोनों का शब्दार्थ एक ही है । किन्तु सन्मति के साथ सन्मति का शब्दालंकार होने से काव्यसाहित्य में सुमति के स्थान में सन्मति का प्रयोग किया गया है ।

जैन ग्रन्थों में तो सुमतिदेव का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने तत्त्व-संग्रहके स्याद्वादपरीक्षा और बहिरर्थपरीक्षा नामक प्रकरणों में सुमति नामक दिगम्बराचार्य की आलोचना की है । यह सुमति सन्मति टीका के कर्ता ही होने चाहिये । संभवतया उसी में चर्चित मत की समीक्षा शान्तरक्षितने की है । वैसे मल्लिषेणप्रशस्ति में उनके सुमति सप्तक नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है । यथा—

सुमतिदेवममु स्तुत येन वः सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम् ।
परिहृतापथतत्त्वपथाथिनां सुमतिकोटि विवर्तिभवातिहृत् ॥

अस्तु, जो कुछ हो, किन्तु इतना निश्चित है कि दिगम्बराचार्य सुमति ने, जो सम्भवतया विक्रमकी सातवीं शताब्दी से बादके विद्वान नहीं थे, सिद्धसेन के सन्मति पर टीका रची थी । इस तरह सिद्धसेन का सन्मतितर्क सातवीं शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक दिगम्बर परम्परा में आगमिक ग्रन्थ के रूप में मान्य रहा । संभवतया सुमतिदेव की टीका के लुप्त हो जाने पर और श्वेताम्बराचार्य अभयदेव की टीका के निर्माण के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में उसकी मान्यता लुप्त हो गई और श्वेताम्बर परम्परा का ही ग्रन्थ माना जाने लगा । किन्तु वह एक ऐसा अनमोल ग्रन्थ है कि जैनदर्शन के श्रम्यासी को उसका पारायण करना ही चाहिए । सन्मतितर्क के सिवाय, जो प्राकृत-गाथाबद्ध है, संस्कृत की कुछ बत्तीसियाँ भी सिद्धसेनकृत हैं । उनमें से एक बत्तीसी का एक चरण पूज्यपाद देवने सर्वार्थसिद्धिटीका के सप्तम अध्याय के १३वें सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है—

'द्वियोजयति चानुभिर्न च वधेन संमुच्यते'

अकलकंदेव ने भी अपने तत्त्वार्थवार्तिक में उक्त सूत्र की व्याख्या में उसे उद्धृत किया है । और वीरसेन स्वामी (शेष पृष्ठ ६६)

भ० शुभकीर्ति और शान्तिनाथ चरित्र

पं० परमानन्द शास्त्री

शुभकीर्ति नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं। उनमें एक शुभकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्ति के पट्टधर थे। इनकी बुद्धि पंचाचार के पालन से पवित्र थी। एकान्तर आदि उग्रतपो के करने वाले तथा सन्मार्ग के विधिविधान में ब्रह्मा के तुल्य थे, मुनियों में श्रेष्ठ और शुभप्रदाता थे। इनका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी है। दूसरे शुभकीर्ति कुन्दकुन्दान्वयी प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य थे। और तीसरे शुभकीर्ति प्रस्तुत शान्तिनाथ चरित अपभ्रंश के रचयिता है। कवि ने अपनी गुरु परम्परा और जीवन घटना के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला। ग्रन्थ की पुष्पिका वाक्य में 'उहयभासाचक्कवट्टि मुहकिर्तिदेव विरह्ये' पद दिया है। जिससे वे अपभ्रंश और संस्कृत भाषा में निष्णात विद्वान थे। कवि ने ग्रन्थ के अन्त में देवकीर्ति का उल्लेख किया है। एक देवकीर्ति काष्ठासंघ माथूरान्वय के विद्वान थे, उनके द्वारा सं० १४६४ आषाढ़ वदी २ के दिन प्रतिष्ठित एक धातु मूर्ति आगरा के कचौड़ा बाजार के मन्दिर में विराजमान है। हो सकता है कि प्रस्तुत शुभकीर्ति देवकीर्ति के समकालीन हों, या कोई अन्य देवकीर्ति के समकालीन, यह विचारणीय है।

प्रस्तुत शान्तिनाथ चरित्र १६ सन्धियों में पूर्ण हुआ है। इसकी एकमात्र कृति नागौर के शास्त्रभंडार में सुरक्षित है। जो सवत् १५५१ की लिखी हुई है। इस ग्रन्थ में जैनियों के १६वें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ पंचम चक्रवर्ती थे, उन्होंने षट्खण्डों को जीत कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। फिर उसका परित्याग कर दिगम्बर

१. तपो महात्मा शुभकीर्तिदेव।

एकान्तराद्युग्रतपोविधानाद्धातेव सन्मार्गविधेविधाने।

—पट्टावली शुभचन्द्रः

तत्पट्टे जनि विख्यातः पंचाचार पवित्रधीः।

शुभकीर्तिमुनिश्रेष्ठः शुभकीर्ति शुभप्रदः॥

—पुद्गल चरित्र

२. श्री कुंदकुदस्य वभूव वशे श्री रामचन्द्रः प्रथतः प्रभावः
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोयना वक्षसि हारभूतः॥७
प्रद्योतते सम्प्रति तस्य पट्ट विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकै रूपसेव्यमानएकान्त वादादिविनाशव्रजम्॥८

—धर्मशर्माभ्युदय लिपि प्र०

३. सं० १४६४ आषाढ़ वदि २ काष्ठासंघे माथूरान्वय श्रीदेवकीर्ति प्रतिष्ठिता।

दीक्षा ले तपश्चरणरूप समाधिचक्र से महादुर्जय मोहकर्म का विनाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में अघाति कर्म का नाश कर अचल अविनाशी सिद्ध पद प्राप्त किया। कवि ने इस ग्रन्थ को महाकाव्य के रूप में बनाने का प्रयत्न किया है। काव्य-कला की दृष्टि में भले ही वह महाकाव्य न माना जाय। परन्तु ग्रन्थकर्ता की दृष्टि इसे महाकाव्य बनाने की रही है। कवि ने लिखा है कि शान्तिनाथ का यह चरित वीर जिनेश्वर ने गौतम को कहा, उसे ही जिनगेन और पुष्पदन्त ने कहा, वही मैंने कहा है।

जं अत्थं जिणराजदेव कहियं जं गोयमेणं सुव,

जं सत्थे जिणसेणदेव रइयं जं पुप्फंताविही।

तं अत्थं मुहकिर्त्तिणा वि भणियं सं रूपचंदत्थिय,

सण्णीणं कुज्जण सहावपरम पीए हिएसगद ॥१०वीं संधि

कवि ने ग्रन्थनिर्माण में प्रेरक रूपचन्द का परिचय देते हुए कहा है कि वे इक्ष्वाकुवंशी (जैसवाल वंश में) आशाधर हुए, जो ठक्कुर नाम से प्रसिद्ध थे और जिन शासन के भक्त थे। इनके 'धनवत्' ठक्कुर नामका एक पुत्र हुआ, उसकी पत्नी का नाम लोनावती था, जिसका शरीर सम्यक्त्व से विभूषित था, उससे रूपचन्द नाम का पुत्र हुआ जिसने उक्त शान्तिनाथ चरित्र का निर्माण कराया है। कवि ने प्रत्येक संधि के अन्त में रूपचन्द की प्रशंसा सूचक आशीर्वादात्मक अनेक पद्य दिये हैं। उसका एक पद्य पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जाता है :—

इक्ष्वाकूणां विशुद्धो जिनवर विभवाम्नाय वंशे समांशे,

तस्मादाशाधरीया बहुजनमहिमा जात जंसाल वंशे।

लीलालंकार सारोद्भव विभव गुणासार सत्कार लुद्धे।

शुद्धि सिद्धार्थसारां परिपणगुणी रूपचन्दः सुचन्द्रः॥

कवि ने अन्त में ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १४३६ दिया है जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

आसीद्विष्णुभूपतेः कनिष्ठगुणे शांतोत्तरे संगते,

सत्यं फौधननामधेय विपुले संवच्छरे संमते।

वसे तत्र चतुर्वंशे तु परमो षट्त्रिंशके स्वांशके।

भासे फाल्गुणि पूर्वपक्षक बुधे सव्यक् तृतीयां तिथी ॥

इससे स्पष्ट है कवि शुभकीर्ति १५वीं शताब्दी के विद्वान हैं। अन्य ग्रन्थभंडारों में शान्तिनाथ चरित्र की इस प्रति का अन्वेषण आवश्यक है। अन्यथा एक ही प्रति पर से उसका प्रकाशन किया जाय।

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द शास्त्री

उनतान्नीसवे विद्वान बाबू दयाचन्द जी गोयलीय है । इनका जन्म गढ़ी अबदुल्लाखा जिला मुजफ्फरनगर में लाला ज्ञानचन्द्र जी अग्रवाल के यहाँ स० १९४५ मार्गशीर्ष पूर्णिमा के दिन हुआ था । आपने सन् १९०७ में देहरादून से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक एबीन्स कालेज बनारस से एफ० ए० और महाराजा कालेज जयपुर से बी० ए० की परीक्षाएँ अच्छे नम्बरों से पास की थी । आप की विद्यार्थी अवस्था में देहरादून में ही सभा सोसाइटी को देवकर समाज सेवा के भाव पैदा हो गए थे । और आपने स्कूल में एक जैन सभा स्थापित की थी । इन्हीं दिनों आप देहरादून के लाला चिरजीलाल जी संस्थापक जैन अनाथाश्रम के सम्पर्क में आये, और उर्दू जैन प्रचारक में लेख लिखने लगे । बनारस और जयपुर के वातावरण से आप में जैनधर्म के अध्ययन करने की रुचि हो गई । और समाज-सेवा के भाव भी सुदृढ़ हुए ।

आपने ललितपुर जिला भासी में सैकण्ड मास्टर का कार्य किया, वे वहाँ की अभिनन्दन जैन पाठशाला के मंत्री थे, । उन्होंने अपने मन्त्रित्व काल में पाठशाला की खूब उन्नति की । वह समय आपके अर्थ सकट का था । आपने वकालत करने का विचार किया किन्तु प० नाथूराम प्रेमी आदि मित्रों के निषेध करने पर उसका विचार छोड़ दिया । पश्चात् वे लखनऊ हाईस्कूल में आ गए, और उनका अर्थसकट भी दूर हो गया ।

आप श्रृणु भद्राचार्यश्रम हस्तिनापुर की प्रबन्ध-कारिणी के सदस्य भी रहे थे । और आश्रम के वार्षिक उत्सवों पर चन्दे की अपील द्वारा आश्रम को अर्थ प्राप्त कराते थे । भारत जैन महामण्डल के जीवदया विभाग के आप मंत्री थे, आपने जीवदया पर अनेक उपयोगी ट्रैक्ट लिखे थे । जैन हितैषी में आपके अनेक लेख छपे हैं । उनमें कुछ अंग्रेजी के अनुवाद रूपमें भी हैं । जाति प्रबोधक नामका पत्रभी आपने निकाला था । और उसे तीन वर्ष तक चलाया ।

साहित्य-सेवा—आपने साहित्य सेवा के लिये स्वार्थ त्याग किया था । आप के द्वारा लिखित बाल बोध जैनधर्म ४ भाग पाठशालाओं में पाठ्य पुस्तकों में अब तक निहित है । आपने सदाचार, मितव्ययता, सादगी, चारित्र्यगठन, देशसेवा, पिता के उपदेश, शान्ति वैभव, सुख की प्राप्ति का मार्ग, मुक्तिमार्ग, सुख सफलता और उसके मूल सिद्धान्त सदाचारी बालक, विद्यार्थी जीवन का उद्देश, अच्छी आदतें डालने की शिक्षा आदि अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं । इनमें अधिकांश पुस्तकें प० नाथूराम जी बम्बई ने प्रकाशित की हैं ।

वे निर्भीक लेखक, जोशीले वक्ता, सुयोग्य शिक्षक और निश्चार्थ-समाज-सेवी थे । खेद है कि आपका ३० वर्ष की अल्पायु में ही अकटूर सन् १९१९ युद्ध ज्वर में स्वर्ग-वास हो गया । आपकी साधना, दृढ़ निश्चय कर्मठ कार्य-कर्ता, बहुत परिश्रम और अपार मनोबल से संयुक्त थे । आपकी महान सेवाएँ कभी भुलाई नहीं जा सकती । आपका साहित्य आप की कीर्ति का उन्नायक है ।

चालीसवे विद्वान ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी हैं, जो लखनऊ के निवासी थे । उनके पिता का नाम लाला मन्मथलाल और माता का नाम श्रीमती नारायणी देवी था । आपका जन्म काला महल में सन् १८७९ में हुआ था । आपने १८ वर्ष की अवस्था में मैट्रिकयुलेशन की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की । तथा ४ वर्ष बाद रूडकी इंजीनियरिंग कालेज से अकाउन्टेन्ट शिप की परीक्षा पास की । परीक्षा पास करने के बाद गवर्नमेन्ट सर्विस मिल गई । यह स्वभाव से ही चंचल, कार्य करने में पटु, उदीयमान विचारक और लेखक थे । उनके विचारों का पता सन् १८९६ के २४ मई के हिन्दी 'जैन-गजट' में प्रकाशित प्रथम लेख के निम्न अंश से चलता है—“ए जैनी पडितो ! यह जैनधर्म आप ही के आधीन है । इसकी रक्षा के लिये द्योती (ज्योति) फैलाइये, स्रोतो को

जगाइये, और तन मन धन परोपकार और शुद्धविचार लाने की कोशिश कीजिये। जिससे आप का यह लोक परलोक दोनों सुधरे।

आपका विवाह कलकत्ता के वैष्णव अग्रवाल छेदी-लाल जी की सुपुत्री से हुआ था। आपने अपनी पत्नी के धार्मिक संस्कारों को आदर्श बनाया था। कुछ समय बाद सन् १९०४ में महामारी (प्लेग) से १३ फरवरी को आपकी पत्नी का वियोग हो गया और नौ मार्च को जननी तथा अनुज पन्नालाल का भी देहान्त हो गया। दुर्दैव की इस घटना से शीतलप्रसाद जी के चित्त को बड़ा आघात पहुँचा। पर सत्संगति और स्वाध्याय से विचलित नहीं हुए, भुक्त भोगी इस घटना जन्य वेदना को स्वयं समझ सकते हैं। उस समय महामारी ने देश में आहिं आहिं मचा दी थी। इससे प्रायः सारे भारत में तहलका मचा हुआ था। अनेक परिवार एकाध व्यक्ति को छोड़ कर समाप्त हो गए थे।

अग्नि परीक्षा—स्नेही जनों के आकस्मिक वियोग से उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यद्यपि वे निरन्तर स्वाध्याय और सामयिक सेवाओं के कारण पर्याप्त बल प्राप्त कर चुके थे। एक ओर सरकारी नौकरी में पदोन्नति और वेतन वृद्धि की बलवती राशि, प्रौढावस्था की उमड़ती हुई हिलोरे। कौटुम्बिक सहयोगियों का पुनः गृहस्थी बसाने का आग्रह, कन्याओं का सौन्दर्य और योग्यता और उनके अभिभावकों द्वारा सम्बन्ध स्वीकार करने की प्रार्थना और दूसरी ओर समाज-सेवा की उत्कट लगन, स्वाध्याय द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त करने तथा समझाने का यत्न। शीतलप्रसाद जी इस अग्नि परीक्षा में खरे उतरे, उन्हें सासारिक विषय-सुखेच्छा विचलित न कर सकी, वे अपने लक्ष्य की सिद्धि में निष्ठा से लगने का यत्न करने लगे। जैन ग्रन्थों के स्वाध्याय ने उनके हृदय में विषयों से विरक्ति और समाज सेवा के लिए मनको बलिष्ठ एवं सक्षम बना दिया था। अतः उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर समाज-सेवा में संलग्न रहकर जीवन बिताना अच्छा समझा। इसी से उन्होंने सन् १९०५ में सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। और जैनधर्म के रहस्य का परिचय पाने के लिए स्वाध्याय में विशेष योग देना

प्रारम्भ किया, साथ ही समाज-सेवा में भी योग देने लगे।

स्व० सेठ भाणिकचन्द जी जे. पी. बम्बई के साथ—

सन् १९०५ के दिसम्बर में भा० दि० जैन महासभा का अधिवेशन सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। इस अधिवेशन के अध्यक्ष बम्बई के सेठ भाणिकचन्द हीराचन्द जे. पी. थे। इसी समय ब्रह्मचारी जी का सेठ जी से परिचय हुआ था। सेठ जी कार्यकर्ताओं के पारखी थे। आपने जिनधर्म भक्त, समाज-सेवी ब्रह्मचारी जी को अपने यहाँ बम्बई में रहने के लिए अनुरोध किया और ब० जी सेठ जी के साथ बम्बई चले गये। ब्रह्मचारी जी ने वहाँ रहकर सेठजी को धर्म एवं समाज-सेवा के लिए उकसाया, प्रेरित किया और अपना सहयोग दिया। सेठजी ने बम्बई सागली, आगरा, अहमदाबाद, शोलापुर, कोल्हापुर और लाहौर आदि स्थानों में जैन बोर्डिंग हाउस स्थापित किये। इन संस्थाओं में विद्यार्थियों के लिए पढ़ने-लिखने और रहन-सहन की सुविधा के साथ जैनधर्म के ग्रन्थों के पढ़ने और उसके महत्व को समझने से उनके संस्कार सुसंस्कृत एवं सरल हो गये।

ब्रह्मचारी जी में सात्त्विक शुद्ध संस्कार और चारित्र्य पालन का भाव बाल्य अवस्था से ही था क्योंकि आपके पितामह ला० मंगलसैनजी अपना अधिकांश समय गोमट-सार और समयसारादि ग्रन्थों के स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा में व्यतीत करते थे। ब्रह्मचारी जी को धार्मिक संस्कार, चारित्र्य पालन, कर्तव्य निष्ठा का उदात्त भाव अपने पूर्वजों से विरासित में मिला था, और स्वाध्याय द्वारा जैनधर्मका मर्म ब्रह्मचारी जी के घट में धर कर गया था। वह उन्हें बाह्य प्रलोभनों से बचने में सहायक हुआ। अतएव आपने ३२ वर्ष की भरी जवानी में सन् १९११ ई० के मगशिर महीने में ऐलक पन्नालाल जी के समक्ष शोलापुर में विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की। ब्रह्मचारी जी आचार-विचार और शुद्ध आहार के पक्षपाती थे। वे त्रिकाल सामायिक, स्वाध्याय, जिनबंदन आदि दैनिकचर्या में कभी कमी नहीं आने देते थे।

जैन साहित्य-सेवा—

सन् १९०२ में ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के निमन्त्रण में महासभा के मुख पत्र 'जैन-गजट' का प्रकाशन दो वर्ष

तक लखनऊ से हुआ। उन्होंने अथक परिश्रम से उसकी विशेष उन्नति की, जिससे उसकी काया ही पलट गई वह पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया। जैनमित्र का संस्थापन अध्येय ५० गोपालदास जी वरैया ने किया था, और उन्हीं के सम्पादकत्व में वह सन् १९०८ तक बम्बई से पाक्षिक रूप में निकलता रहा। किन्तु सन् १९०९ में ही ब्रह्मचारी जी जैन मित्र के सम्पादक नियुक्त हुए। तब से सन् १९२९ तक ब्रह्मचारी जी ने उसका सम्पादन योग्यता और निर्भयता के साथ किया। आपके सम्पादन काल में समाज सुधार, ऐतिहासिक खोज, जैनधर्म प्रचार, सामाजिक संगठन और शिक्षा प्रसार आदि विषयों पर अनेक लेख लिखे गये। सभी लेख अच्छे और जनसाधारण के लिए उपयोगी होते थे। उनका सबसे बड़ा कार्य अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों में जैनधर्म का प्रचार था। बहुत से अंग्रेजी भाषा के विद्वान जैनधर्म के श्रद्धालु, जैन ग्रन्थों के स्वाध्यायी एवं जिनदर्शन करने वाले व्यक्तियों से मालूम हुआ कि वे उक्त ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के उपदेश से ही जैनधर्म के श्रद्धालु बने हैं। और आज वे जैनधर्म के अच्छे ज्ञाता हैं। उनकी सन्तान भी जैनधर्म का पालन करती है। ऐसा महत्वपूर्ण कार्य अन्य किसी ने नहीं किया। वे जैनधर्म का प्रचार करने के लिए भारत में यत्र-तत्र घूमा करते थे और सभाओं, उत्सवों आदि में पहुँच कर अपने उपदेशों द्वारा उन्हें जैनधर्म का प्रेमी बनाने का यत्न करते थे। फिर भी वे अपनी चर्चा में सावधान रहते थे। वे लका भी गए और वहाँ बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन कर जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान नाम की पुस्तक भी लिखी थी।

जैन पुरातत्त्व के सम्बन्ध में भी उन्होंने अंग्रेजी रिपोर्टों एपीग्राफिया इण्डिका, एवं कर्नाटिका, इण्डियन एण्टीक्वेरी आदि ग्रन्थों में जैन पुरातत्त्व विषयक सामग्री का आकलन प्राचीन जैन स्मारकों द्वारा किया। यह कार्य भी कम महत्व का नहीं है। आपने जैन साहित्य की महान् सेवा की है। आपके लिखे हुए २९ ग्रन्थ तो मौलिक हैं, २४-२५ ट्रेक्ट हैं। और २१ टीका ग्रन्थ है। मास्टर बिहारील ल जी चतन्य के वृहत् जैन शब्दार्णव नामक कोष का सम्पादन किया है। वे प्रत्येक चतुर्मास में एक पुस्तक तय्यार कर देते थे। और बहुत जल्दी लिखते थे। उनका भाषण

अच्छा होता था और जनता में उसका समादर होता था। उनकी यह महत्वपूर्ण सेवा भुलाई नहीं जा सकती। उन जैसी लगन का काम करने वाला आज एक भी ब्रह्मचारी विद्वान नहीं है, जो आजके समय में जैन संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार कर सके।

इकतालीसवें विद्वान वैरिस्टर चम्पतराय जी हैं। जिनका दिल्ली के कूचा परमानन्द में लाला चैनसुखदास की हवेली में माता पार्वती के उदर से जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम निहालचन्द और गिता का नाम लाला चन्द्रामल था, जो अपने पिता के समान ही नित्य देवदर्शन, जिनपूजन और स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में तन्मय रहते थे। आपका पत्नी पार्वतीदेवी भी गृहस्थोचित धार्मिक क्रियाओं का पालन तत्परता से करती थीं, और प्रतिज्ञा पालन में मुद्व थी। चम्पतराय का बड़े लाडल्यार से पालन हुआ। यह बाल्यकाल से ही तीक्ष्ण बुद्धि थे, पढ़ने-लिखने में चतुर थे। कौन जानता था कि यह बालक भविष्य में अच्छा विद्वान और जैन संस्कृति की सेवा करेगा। छह वर्ष की अवस्था में माता का वियोग हो गया। अतएव वे जननी के वियोग से वंचित हो गये। लाला चन्द्रामल के वंशज सोहनलाल और बाकेलाल भी थे। ये दोनों सहोदर भाई दिल्ली के प्रसिद्ध धनिकों में थे किन्तु कोई सन्तान न होने से चिन्तित रहते थे। बालक चम्पतराय पर उनका स्नेह जन्म से था। लाला चन्द्रामल ने उन्हें पुत्र की चाह में दुखी देखकर कहा भाई जैसा चम्पत मेरा वैसा ही तुम्हारा है तुम्हीं इसे अपने पास रखो, मैं तुम्हारे मुख में सुखी रहूँगा। इनके पिता के भाई मिट्टनलाल और गुलाबसिंह के भी कोई पुत्र न था। अतः चम्पतराय ७ वर्ष की अवस्था में उनकी गोद चले गये।

इसके बाद उनके रहन-सहन और वेष-भूषा में भी परिवर्तन हो गया। और १३ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह दिल्ली के रईस स्व० लाला प्यारेलाल जी (M. L.A. Central) की पुत्री के साथ हो गया। मेट्रीक्यूलेशन की परीक्षा चम्पतराय ने फर्स्ट डिवीजन में पास की। बाद को देहली के प्रसिद्ध सेट स्टीफिन कालेज में एफ. ए. तक अध्ययन किया। वे कुशाग्र बुद्धि तो थे ही। अतः सन् १८९२ में अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड चले गये।

और सन् १८६७ में वैरिस्टर होकर आ गये ।

विचार परिवर्तन

बिलायत से विद्या अध्ययन करके लौटने पर उन्मुक्त वातावरण ने इनमें अजीब परिवर्तन ला दिया । शिक्षा सहवास और वेष भूषा आदि के साथ चम्पतराय के विचारोमे ऐसा विचित्र परिवर्तन हुआ जिससे बाल्यकालमे प्राप्त धार्मिक शिक्षा के प्रभाव ने भी बिलायत मे विदाई ले ली । वहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव उनके हृदय पटल पर गहरा अंकित हो गया था और वे ईसाइयत की ओर झुकते से नजर आये । खान-पान, आचार-विचार सभी पाश्चात्य सभ्यता मे ढल गया । उनकी जीवन-धारा का बहाव विपरीत दिशा की ओर हो गया । लोक-परलोक आदि के सम्बन्ध मे भी उनका विचार बदल गया । उनके इस विचार परिवर्तन से धार्मिक जनता मे उथल-पुथल मच गई । कुछ को उनकी विचारधारा से आश्चर्य और खेद हुआ । उनके इस असाधारण परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि उनके कुटुम्बी और दिल्ली जैन समाज ने उन्हें नास्तिक समझ कर उनसे बातचीत करना भी छोड़ दिया । कुछ को उनके इस परिवर्तन से बड़ी निराशा हुई, वे चाहते थे कि चम्पत किसी तरह से सन्मार्ग मे लग जाय, किन्तु इस आकांक्षा की पूर्ति होना सुलभ नहीं था । इस सम्बन्ध मे जो प्रयत्न हुए वे आशाजनक नहीं थे । वैरिस्टर साहब का ध्यान जहा ईसायित की ओर झुकता, वहा वे उन ग्रन्थों का अध्ययन भी करते थे, पर तर्कणा के कारण बुद्धि मद्बिबेक की ओर अग्रसर नहीं हो पाती थी । इधर देहली, मुरादाबाद, अमृतसर आदि स्थानो मे वैरिस्टरी का व्यवसाय किया परन्तु वह विशेष लाभप्रद न हुआ । अन्त मे आप स्थायीरूप से हरदोई मे पहुँच गये । वहाँ पर आपने अपनी प्रतिभा, श्रम एवं सुन्दर व्यवहार के कारण साधारण और अपरिचित वैरिस्टर से हरदोई के प्रमुख वैरिस्टर बन गये । इतना ही नहीं किन्तु वार एशोसिएशन के सभापति तथा अन्त मे अवध चीफ कोर्ट के फौजदारी के प्रमुख वैरिस्टर हो गये । उस प्रान्त की जनता मे यह धारणा घर कर गई कि—“फासी की सजा से अग्रर किसी अपराधी को बचाना है तो जैन वैरिस्टर का सहारा ले” । इस प्रसिद्धि से उनके पास जितने केश आये उन

केशों के मुल्जियों को फांसी के तख्ते पर चढ़ने नहीं दिया । आपकी इस सफलता के कारण कानूनी ज्ञान, भारी परिश्रम मे केशों को तैयार करना आदि थे । साथ मे जूनियर वकीलों के साथ सव्यवहार भी शामिल है । इस कारण लोग उन्हें श्रद्धावश ‘अकिल जैन’ के नाम से पुकारते । इससे उन्हें व्यवसाय मे अच्छी सफलता मिली ।

आकस्मिक परिवर्तन

जहाँ धन-जन-संपर्क, पद एवं प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई वहाँ रहन-सहन रीति-रिवाज और व्यवहार मे भी वृद्धि हुई । यह स्वप्न मे भी किसी का ख्याल न था कि वैरिस्टर साहब के जीवन मे छोटी सी घटना भी विरक्ति का कारण बन जायगी । वैरिस्टर साहब का गाढ़ स्नेह लाला रगी-लाल जी से था, जो उनके ससुर बाबू प्यारेलाल जी वकील के लघु भ्राता थे । उनकी आकस्मिक मृत्यु से वैरिस्टर साहब के हृदय पटल पर भारी प्रतिक्रिया हुई । उनका मन, इन्द्रियों के सुख और गार्हस्थ्य से हट कर अशान्ति की ओर गया । पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य भी उनकी इस अशान्ति को दूर न कर सके । अतः आपने स्वामि रामतीर्थ के अग्रंजी मे लिखे वेदान्त के ग्रन्थ पढ़े, उनसे आपका मन कुछ प्रभावित तो हुआ पर पूर्ण सन्तोष न मिला । हाँ अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों की जिज्ञासा जरूर हुई । परिणाम स्वरूप विविध धर्मों के ग्रन्थ पड़े, तर्क ने भी कुछ सहयोग दिया, कुछ मित्रों का अनुरोध भी था । किन्तु तर्क से जो सकाएँ उठती थीं उनका सन्तोषजनक समाधान न मिलता था ।

सन् १८९३ मे सौभाग्य से आपका संपर्क बाबू देवेन्द्र-कुमार जी आरा से हुआ । बाबू देवेन्द्रकुमार जी बड़े उत्साही और लगनशील कार्यकर्ता थे । उन्होंने वैरिस्टर साहब को अन्य धर्म ग्रन्थों के समान ही जैनधर्म के कुछ ग्रन्थों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया । तब आपने जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों को पढ़ना शुरू किया । उनके अध्ययन से चित्त की वह अशान्ति दूर हुई, शंकाओं का सन्तोष-जनक उत्तर भी मिला तब उन्हें स्वयं अपनी भूल का परि-ज्ञान हुआ । और जैनधर्म की सत्यता पर दृढ़ आस्था हुई ।

(क्रमशः)

साहित्य-समीक्षा

१. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—लेखक डा० गोकुलचन्द जैन। प्रकाशक सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति अमृतसर। प्रतिस्थान पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी—५, पृष्ठसंख्या ४०४ मूल्य २० रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक शोध प्रबन्ध है जो हिन्दू विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि के लिए अभी स्वीकृत हुआ है विक्रम की १०वीं ११वीं शताब्दी के महान आचार्य सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू भारतीय संस्कृत बाङ्मय का एक अमूल्य रत्न है। सबसे पहले डा० हिन्द की ने उस पर 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर' नामक विद्वत्ता पूर्ण ग्रंथ लिखा था जो जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ में यशस्तिलक की धार्मिक और दार्शनिक दृष्टियों का मार्मिक विवेचन किया गया था। इस शोध प्रबन्ध में सांस्कृतिक तत्त्वों का बड़ी गहराई के साथ चिन्तन किया गया है इसके अध्ययन करने से पता लगता है कि इस ग्रंथ में भारतीय संस्कृति की महत्व पूर्ण सामग्री भरी पड़ी है। जिसे विद्वान् लेखक ने उसकी गहराई में पंथकर उसे खोजा है और उसे बड़ी सुन्दरता के साथ संजोकर महा निबन्ध के रूप में उपस्थित किया है। इस अध्ययन के पांच अध्याय हैं और एक-एक अध्याय में अनेक अवान्तर परिच्छेद भी हैं। पहला अध्याय है, यशस्तिलक परिशोलन की पृष्ठ भूमि इसके अन्तर्गत तीन परिच्छेद हैं, एक में यशस्तिलक का रचना काल यशस्तिलक का साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वरूप और यशस्तिलक पर अब तक हुए कार्य का लेखा-जोखा। सोमदेव के जीवन और साहित्य पर प्रकाश डालते हुए यशोधर की कथा वस्तु तथा यशोधर के लोक प्रिय चरित्र आधार पर रचे गए ग्रंथों की तालिका दी गई है जिससे ज्ञात होता है कि यशोधर की कथा ने कवियों को कितना अधिक आकृष्ट किया है।

दूसरे अध्याय में यशस्तिलक कालीन सामाजिक जीवन की चर्चा है, इसके अन्तर्गत १२ परिच्छेद हैं, जिनमें तत्कालीन वर्ण व्यवस्था, समाज गठन, आश्रम व्यवस्था

परिवारिक जीवन और विवाह, खान-पान विषयक सामग्री, रोग और उनकी परिचर्या, वस्त्र और वेषभूषा, आभूषण प्रसाधन सामग्री, शिक्षा और साहित्य, कृषि-वाणिज्य और शस्त्रास्त्र इन सभी सांस्कृतिक विषयों पर महत्व पूर्ण प्रकाश डाला गया है, सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। तीसरा अध्ययन ललितकला और शिल्प विज्ञान से सम्बद्ध है। इसमें तत्कालीन गीत वाद्य नृत्य, चित्र कला और वास्तु शिल्पादि का विवेचन है। चौथे परिच्छेद में १० वीं ११ वीं शताब्दी के तत्कालीन भूगोल का चित्रण करते हुए यशस्तिलक में आगत जनपदों (नगरों) ग्रामों, वन पर्वत और नदियों आदि के स्थानादि का निर्देश किया है।

पाचवे अध्याय में यशस्तिलक में आगत प्राचीन, अप्रसिद्ध और अप्रचलित ७६१ शब्दों की सूची अकारादि क्रम से स्थल निर्देश पूर्वक हिन्दी अर्थ के साथ दी गई है। इस सूची से ग्रंथ की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। यशस्तिलक के इस शब्द कोष का उपयोग भाषा को समृद्ध बनाने में उपयुक्त हो सकता है। पश्चात् ६ चित्रफलों में पुरातत्व से प्राप्त सामग्री के आधार पर उस काल में प्रचलित वस्त्रों, आभूषणों, और वाद्यों आदि के चित्र दिये गये हैं जिनसे उनका रूप अधिक स्पष्ट हो गया है। अन्त में सहायक ग्रंथसूची और शब्दानुक्रमणी भी दी है। इस तरह डा० गोकुलचन्द जी का यह महा निबन्ध यशस्तिलक के सांस्कृतिक अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। आशा है विद्वानों में इसका समादर होगा, डाक्टर साहब इसके लिये वधाई के पात्र हैं। समाज को उनसे महत्व पूर्ण कार्यों की बड़ी आशाएँ हैं।

छपाई गेटप् और कागज वर्गरह ग्रंथ के अनुरूप है। लाइब्रेरियों और पुस्तकालयों में इस ग्रन्थ को मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भाग ३—लेखक डा. मोहनलाल मेहता अध्यक्ष पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक—उक्त शोध संस्थान। मूल्य पन्ध्रह रुपया।

यह श्वेताम्बर जैन साहित्य के बृहद इतिहास का तीसरा भाग है। इसमें आगमिक व्याख्या ग्रन्थों का इतिवृत्त दिशा गया है। श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, तूणि और उनके टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं—आवश्यकदि दश निर्युक्तियाँ, १ भाष्य ग्रन्थ है। और १२ तूणिग्रन्थ उपलब्ध हैं और इन पर आचार्य हरिभद्र, शीलांक, अभयदेव और मलयगिरि आदि की विस्तृत टीकाएँ हैं। इस सब विशाल साहित्य का सामूहिक परिचय पृथक्-पृथक् अध्यायोंमें कराया गया है। साधु और साध्वी सम्बन्धी आचार-विचार का वर्णन श्वेताम्बरीय साहित्य में विस्तार से मिलता है। साधु और साध्वीय कल्प अकल्प का कथन विस्तार से बतलाया है, यद्यपि उसमें वस्त्र और पात्र का समर्थन है फिर भी साध्वी, साधवाचार की प्रत्येक क्रिया के विधि-निषेध पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। डा० मेहता ने इस विशाल साहित्य के परिचय को ५४८ पृष्ठों में संक्षिप्त एवं आकर्षक शैली में सुन्दर ढंग से कराया है। उक्त साहित्य का परिचय प्राप्त करने के लिये यह भाग बहुत ही उपयोगी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय एक ही परिवार ने वहन किया है। स्वर्गीय श्रीमुनिलाल जी के सुपुत्रों का यह साहित्यानु-राग अनुकरणीय है ग्रन्थ की भाषा परिमल्लिखित और सरल है। इसके लिये लेखक महानुभाव धन्यवाद के पात्र है।

३. सुख की झलक—सकल्यिता और प्रकाशक कपूर-चन्द वरैया एम० ए० लखर (ग्वालियर) मूल्य एक रुपया पचास पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक पूज्यपाद झलक गणेशप्रसाद जी वर्णी के ईसरी (पार्श्व नाथ) में नवम चातुर्मास के अवसर पर दिए गये मधुर प्रवचनों का सकलन है। वर्णी जी क्या थे और उनकी वाणी में क्या रस था यह तो उनके संपर्क में आने वाले सभी जन जानते हैं। उनका एक-एक वाक्य श्रुतिश्रवणा से श्रोत-प्रोत था। उनकी आत्मा आत्मरस से छलक रही थी। सब जीवों के प्रति उनकी कल्याण भावना कितनी उच्च थी, यह सब उनके पत्रों के अवलोकनसे ज्ञात होती है। भाई कपूरचन्द जी ने वर्णीजी के मधुर भाषणों का सकलन कर उसे प्रकाशित कर वर्णीजी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। अन्त समय में वर्णी जी ने कपूरचन्द जी को जो पत्र लिखा, जिसमें पर सम्बन्ध को त्यागने और अपनी परिणतिको मध्यस्थ रखने को कहा गया है कितना मार्मिक है। मुमुक्षुओं को मगाकर इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

४. वीरवाणी स्मारिका—पं० जैन सुखदास जी डा० कस्तूरचन्द वल्ली ताराचन्द और पं० भवरलाल जी, न्याययोर्थ मणिहारों का रास्ता जयपुर।

प्रस्तुत ग्रन्थ स्व० वल्ली केशरदास जी की स्मृति में प्रकाशित किया गया है। जो वल्ली जी सम्बन्धी लेखों और उनके सस्मरणों से परिपूर्ण है। समय-समय पर लिए गये उनके चित्र भी प्रकट किये गये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वल्ली जी बड़े कर्मठ व्यक्ति थे। उनकी भावना और सेवा कार्य महान था और वे अपनी धुन और लगन के पक्के थे। उनकी स्मृति में स्मारिका का प्रकाशन समुचित ही है। —परमानन्द शास्त्र



(शेष पृ० ८६ का)

ने तो जयधवला टीका भा० १, पृ० १०८) में उक्त चरण से सम्बद्ध पूरा श्लोक ही उद्धृत किया है। तथा अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक में आठवें अध्याय में प्रथम सूत्र की व्याख्या में भी एक पद्य उद्धृत किया है जो द्वात्रिंशतिका का तीसरा पद्य है। इस तरह सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशतिका का भी छठी शताब्दी से ही विगम्बर परम्परा में मान्य रही है। इन्हीं द्वात्रिंशतिकाओं में न्याया-वतार भी है और सिद्धसेनकृत माना जाने के कारण उसे

उसके नाम के अनुरूप जैन परम्परा में न्याय का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु उसमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, और वे अभी तक निर्मूल नहीं हुई हैं। अतः तत्सम्बन्धी विवाद को न उठाकर इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि उसकी दिगम्बर परम्परा में कोई मान्यता नहीं मिलती।

इस तरह विगम्बर परम्परा में सिद्धसेन अपनी प्रख्यात दार्शनिक कृति सन्वत्ति सूत्र या सन्वत्तिक के द्वारा विशेष रूप से समावृत्त हुए हैं।

दो सज्जनों का असमय में वियोग

बाबू धूपचन्द जी का स्वर्गवास

कानपुर निवासी लाला कपूरचन्द जी एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। उनके एकमात्र पुत्र बाबू धूपचन्द जी का हृदय गति रुक जाने से आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। बाबू धूपचन्द जी सरल स्वभावी और सेवानुष्ठान थे। अब तो उन्होंने घर के कार्यों से प्रायः मुक्ति सी लेकर सामाजिक और धार्मिक कार्यों में समय लगाना शक कर दिया था। किन्तु विधि को यह मजूर नहीं था, और कपूरचन्द जी की इस वृद्धावस्था में पिता पुत्र का विल-गाव हो गया। धूपचन्द जैसा पुत्र बड़े भाग्य से मिलता है। उसका असमय में वियोग दुर्भाग्य का ही मूचक है। इससे इनके हृदय को कितनी गहरी चोट पहुँची, इसका अनुमान करना कठिन है। लाला जी वीर सेवामन्दिर का कार्यकारिणी के सदस्य थे। हम लाला जी के तथा उनके परिवार के इस महान् दुःख में अपनी समवेदना प्रकट करते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि लाला कपूरचन्दजी को इस वियोग जन्य दुःख को सहन करने की क्षमता प्राप्त हो।

ला० पन्नालाल जी का स्वर्गवास

डिप्टीगज सदर बाजार के निवासी स्वर्गीय ला० नन्हेमल जी कसेरे के भ्राता लाला पन्नालाल जी का आकस्मिक वियोग हो गया। उनके निधन से जैन समाज की बड़ी क्षति हुई है। हम उनके परिवार के वेदना व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा के लिए सुख-शान्ति की कामना करते हैं।

वीरसेवामन्दिर कार्यकारिणी के पदाधिकारियों और सदस्यों का चुनाव

१६ अगस्त को रात्रि के साढ़े सात बजे वीर सेवामन्दिर की जनरल मीटिंग श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में कार्यकारिणी के सदस्यों और पदाधिकारियों का चुनाव निम्न प्रकार हुआ।

पदाधिकारी :—

१. साहू शान्तिप्रसाद जी

अध्यक्ष

१०. ला० मक्खनलाल जी ठेकेदार

२. ला० श्यामलाल जी ठेकेदार

उपाध्यक्ष

११. ला० प्रेमचन्द जी जैनावाच

३. ला० प्रेमचन्द जी कश्मीर वाले

प्र० मंत्री

१२. बा० देवकुमार जी

४. ला० भगताराम जी

सं० मंत्री

१३. ल० महेन्द्रसेन जी

५. ला० नन्हेमल जी

कोषाध्यक्ष

१४. ला० शान्तिप्रसाद जी जैन बुक एजेन्सी

६. बा० नरेन्द्रनाथ जी

आडीटर

१५. श्री एस. पी. जैन

कार्यकारिणी के सदस्य :—

१६. पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार

७. बाबू नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता

१७. डा० ए. एन. उपाध्ये

८. राय सा० उल्फतराय जी

१८. ला० पन्नालाल जी अग्रवाल

९. ला० पारसदास जी मोटरवाले

१९. श्री यशपाल जी

२०. श्री मती जयवन्ती देवी

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों के उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशीलित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैसे, (१६) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (१७) महावीर पूजा २५
- (१८) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुस्तार कृत (समाप्त) २५
- (१९) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (२०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२१) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७-००
- (२२) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५-००)
- (२३) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२४) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का ग्रंथोजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

वे मासिक

भाग
वर्ष १९६८

अनेकान्त



खण्डगिरी पर विराजमान आदि जिन की प्रशान्त मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	स्वयंभू स्तुति—मुनि पद्मनन्दि	६७
२.	दर्शन और विज्ञान के परिपेक्ष्य में स्याद्वाद और सापेक्षवाद—मुनि श्री नगराज	६८
३.	अपनत्व—मुनि कन्हैयालाल	१०६
४.	मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द सम्बन्धी विशेष जानकारी—अगरचन्द नाहटा	११०
५.	जैन ग्रन्थों में राष्ट्रकूटों का इतिहास—रामवल्लभ सोमानी	११४
६.	दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग : एक तुलनात्मक अध्ययन—प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	११६
७.	कवि छीहल—प० परमानन्द शास्त्री	१२६
८.	कुलपाक के मार्णिक स्वामी—प०के. भुजबली शास्त्री	१३१
९.	कवि टेकचन्द रचित श्रेणिक चरित और पुण्याश्रव कथाकोष—श्री अगरचन्द नाहटा	१३४
१०.	महावीर वाणी—कवि दौलतराम	१३६
११.	सीया चरित : एक अध्ययन—परमानन्द शास्त्री	१३७
१२.	साहित्य-संगोष्ठी विवरण	१४४



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। — व्यवस्थापक अनेकान्त

वीर-सेवा मन्दिर को सहायता

दानवीर-श्रावक शिरोमणी श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी ने इस वर्ष पर्यूपण पर्व दिल्ली में मनाया। जिन पूजन, स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा में अपना समय व्यतीत किया। साहू जी जहाँ उद्योगपति हैं वहाँ वे दानी और विवेकी भी हैं। वर्तमान जैन समाज में उनके समान विचारक, विवेक-शील और समुदार व्यक्ति अन्य नहीं दिखाई देता। वे तीर्थभक्त हैं, जैन तीर्थों के संरक्षण और सर्वर्द्धन में क्रिया-शील हैं। उनकी पत्नी श्रीमती रमागानी भी धार्मिक और सामाजिक कार्यों में बराबर भाग लेती रहती हैं। साहूजी ने दिल्ली की प्रत्येक जैन संस्थाओं की एक हजार एक और दिल्ली के सभी जैन मन्दिरों को एक सौ एक रुपया प्रदान किये हैं। वीरसेवामन्दिर को भी एक हजार एक सधन्यवाद प्राप्त हुआ है। साहू साहब वीरसेवामन्दिर के स्थायी अध्यक्ष हैं। आशा है वीर सेवामन्दिर पर उनका यह बरद हस्त बराबर बना रहेगा। जिससे संस्था अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में समर्थ हो सके।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'

२१ दरियागंज, दिल्ली



अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन ग्राहकों का वार्षिक मूल्य अभी तक भी प्राप्त नहीं हुआ। वे कृपा कर अपना मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से भेज दें। अन्यथा अगला अंक वी. पी. से भेजा जावेगा छुड़ाकर अनुगृहीत करे।

व्यवस्थापक : 'अनेकान्त'

२१, दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २१
किरण ३

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६४, वि० सं० २०२५

{ अगस्त
सन् १९६८

स्वयंभूस्तुति

स्वयंभुवायेन समुद्धृतं जगज्जडत्वकूपे पतितं प्रमादतः ।

परात्मतत्त्वप्रतिपादनोल्लसद्बोधिगुणरादिजिनः स सेव्यताम् ॥१॥

भवारिरेको न परो ऽस्ति देहिनां मुहसु रत्नत्रयमेक एव हि ।

स दुर्जयो येन जितस्तदाश्रयात्ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम् ॥२॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—स्वयंभू अर्थात् स्वयं ही प्रबोध को प्राप्त हुए जिस आदि (ऋषभ) जिनेन्द्र ने प्रमाद के वश होकर अज्ञानता रूप कुएं में गिरे हुए जगत् के प्राणियों का पर-तत्त्व और आत्मतत्त्व (अथवा उत्कृष्ट आत्मतत्त्व) के उपदेशो में शोभायमान वचनरूप गुणो से उद्धार किया है उस आदि जिनेन्द्र की आराधना करना चाहिए ॥

भावार्थ—उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'गुण' शब्द के दो अर्थ हैं—हितकारकत्व आदि गुण तथा रस्सी । उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि अमावधानी से कुएं में गिर जाता है तो इतर दयालु मनुष्य कुएं में रस्सियों को डाल कर उनके सहारे से उसे बाहर निकाल लेने है । इसी प्रकार भगवान् आदि जिनेन्द्र जो बहुत से प्राणी अज्ञानता के वश होकर धर्म के मार्ग से विमुख होने हुए कष्ट भोग रहे थे उनका हितोपदेश के द्वारा उद्धार किया था—उन्हे मोक्षमार्ग में लगाया था । उन्होंने उनको ऐसे वचनों द्वारा पदार्थ का स्वरूप समझाया था जो हितकारक होते हुए उन्हे मनोहर भी प्रतीत होते थे । 'हित मनोहारि च दुर्लभ वचः' इस उक्ति के अनुसार यह सर्वसाधारण को सुलभ नहीं है ॥१॥

प्राणियों का संसार ही एक उत्कृष्ट शत्रु तथा रत्नत्रय ही एक उत्कृष्ट मित्र है, इनके सिवाय दूसरा कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है । जिसने उस रत्नत्रयरूप मित्र के अवलम्बन से उस दुर्जय संसाररूप शत्रु को जीत लिया है उस अजित जिनेन्द्र से मुझे समीचीन सुख प्राप्त होवे ॥२॥

दर्शन और विज्ञान के परिपेक्ष्य में :

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज

स्याद्वाद भारतीय दर्शनों की एक संयोजक कड़ी और जैन दर्शन का हृदय है। इसके बीज आज से सहस्रों वर्ष पूर्व मभाषित जैन आगमों में उत्पाद, व्यय, ध्रुव्य, स्यादस्ति स्यान्नास्ति, द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्त-नय आदि विविध रूपों में बिखरे पड़े हैं। सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने सप्तभगों आदि के रूप में तार्किक पद्धति से स्याद्वाद को एक व्यवस्थित रूप दिया। तदनन्तर अनेकों आचार्यों ने इस पर अगाध वाङ्मय रचा जो आज भी उसके गौरव का परिचय देता है। विगत १५०० वर्षों में स्याद्वाद दार्शनिक जगत् का एक सजीव पहलू रहा और आज भी है।

सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत् में बीसवीं सदी की एक महान् देन समझा जाता है। इसके आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० अल्बर्ट आइंस्टीन हैं जो पाश्चात्य देशों में सर्वसम्मति से संसार के सबसे अधिक दिमागी पुरुष माने गये हैं। सन् १९०५ में आइंस्टीन ने 'सीमित सापेक्षता' शीर्षक एक निबन्ध लिखा जो 'भौतिक शास्त्र का वर्ष पत्र' नामक जर्मनी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध ने वैज्ञानिक जगत् में अजीब हलचल मचा दी थी। सन् १९१६ के बाद उन्होंने अपने सिद्धान्त को व्यापक रूप में दिया, जिसका नाम था—'असीम सापेक्षता'। सन् १९२१ में उन्हें इसी खोज के उपलक्ष में भौतिक विज्ञान का 'नोबेल' पुरस्कार मिला। सचमुच ही आइंस्टीन का अपेक्षावाद विज्ञान के शान्त समुद्र में एक ज्वर था। उसने विज्ञान की बहुत सी बद्धमूल धारणाओं पर प्रहार कर एक नया मानदण्ड स्थापित किया। अपेक्षावाद के मान्यता में आते ही न्यूटन के काल से धाक जमाकर बैठे हुए गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) का सिंहासन डोल उठा। 'ईथर' (Ether) नाम शेष होने से बाल-

बाल ही बच पाया व देश काल की धारणाओं ने भी एक नया रूप ग्रहण किया। अस्तु; बहुत सारे विरोधों के पश्चात् अपनी गणित सिद्धता के कारण आज वह अपेक्षावाद निर्विवादतया एक नया आविष्कार मान लिया गया है। इस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में समुद्भूत स्याद्वाद और वैज्ञानिक जगत् में नवोदित सापेक्षवाद का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

नाम साम्य :

स्याद् और वाद दो शब्द मिलकर स्याद्वाद की संघटना हुई है। स्यात् कश्चित् का पर्यायवाची संस्कृत भाषा का एक अव्यय है। इसका अर्थ है 'किसी प्रकार से' 'किसी अपेक्षा से'। वस्तु तत्त्व निर्णय में जो वाद अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित है, वह स्याद्वाद है। यह इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है।

सापेक्षवाद (Theory of Relativity) का हिन्दी अनुवाद है। वैसे यदि हम इसका अक्षरशः अनुवाद करते हैं तो वह होता है 'अपेक्षा का सिद्धान्त' पर विश्व की रूपरेखा, विज्ञान हस्तामलक प्रभृति हिन्दी ग्रन्थों में इसे सापेक्षतावाद या सापेक्षवाद ही कहा गया है। तत्त्वतः, सापेक्षवाद का भी वही शाब्दिक अर्थ है जो स्याद्वाद का। 'अपेक्षतया सहित सापेक्ष' अर्थात् अपेक्षा करके सहित जो है वह सापेक्ष है। अतः वह अपेक्षा सहित वाद सापेक्षवाद है। इस प्रकार यदि स्याद्वाद को सापेक्षवाद व सापेक्षवाद को स्याद्वाद कहा जाय तो शाब्दिक दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं उठती। यही तो कारण है कि हिन्दी लेखकों ने जैसे थियोरी आफ रिलेटिविटी का अनुवाद सापेक्षवाद (स्याद्वाद) किया वैसे ही सर राधाकृष्णन् प्रभृति अंग्रेजी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में स्याद्वाद का अनुवाद (Theory of

Relativity)' किया। इस प्रकार दो विभिन्न क्षेत्रों से प्रारम्भ हुए दो सिद्धान्तों का तथा प्रकार का नाम-साम्य एक महान् कुतूहल तथा जिज्ञासा का विषय है।

सहज भी, कठिन भी :

दोनों ही सिद्धान्त अपने-अपने क्षेत्र में सहज भी माने गये हैं और कठिन भी। स्याद्वाद को ही लें—इसकी जटिलता विश्व-प्रसिद्ध है। जहाँ जैनतर दिग्गज विद्वानों ने इसकी समालोचना के लिए कलम उठाई वहाँ उनकी समालोचनाएँ स्वयं बोल पड़ी हैं—उन्होंने स्याद्वाद को समझा ही नहीं है। प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति महामहोपाध्याय डा० गंगानाथभा एम० ए०, डी० लिट्, एल० एल० डी० लिखते हैं—“जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा किया गया सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा है। और जो कुछ अब तक मैं जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शंकराचार्य) जैनधर्म को उसके असली ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने को कोई बात नहीं मिलती।”

स्याद्वाद के विषय में उसकी जटिलता के कारण ऐसे विवेचनो की बहुलता यत्र तत्र दीख पड़ती है। इस जटिलता को भी आचार्यों ने कही-कही इतना सहज बना दिया है कि जिससे सर्वसाधारण भी स्याद्वाद के हृदय तक पहुँच सकते हैं। जब आचार्यों के सामने यह प्रश्न आया कि एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता^१ जैसे परस्पर विरोधी धर्म कैसे ठहर सकते हैं तो स्याद्वादी आचार्यों ने कहा—“एक स्वर्णकार स्वर्ण-कलश तोड़कर स्वर्ण-मुकुट बना रहा था, उसके पास तीन ग्राहक आये। एक को स्वर्ण-घट चाहिए था, दूसरे को स्वर्ण-मुकुट और तीसरे को केवल सोना। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ कि यह स्वर्ण-कलश को

तोड़ रहा है। दूसरे को हर्ष हुआ कि यह मुकुट तैयार कर रहा है। तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ भावना में रहा; क्योंकि उसे तो सोने से काम था। तात्पर्य यह हुआ एक ही स्वर्ण में उसी समय एक विनाश देख रहा है, एक उत्पत्ति देख रहा है और एक ध्रुवता देख रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से त्रिगुणात्मक है।” आचार्यों ने और अधिक सरल करते हुए कहा—“वही गोरस दूध रूप से नष्ट हुआ, दधि रूप में उत्पन्न हुआ, गोरस रूप में स्थिर रहा। जो पयोव्रती है वह दधि को नहीं खाता, दधि ब्रती पय नहीं पीता और गोरस त्यागी दोनों को नहीं खाता, पीता।”^२ ये विरुद्ध धर्मों की सकारण स्थितियाँ हैं। इसलिए वस्तु में नाना अपेक्षाओं से नाना विरोधी धर्म रहते ही हैं। इसी प्रकार जब कभी राह चलते आदमी ने भी पूछ लिया कि आपका स्याद्वाद क्या है तो आचार्यों ने कनिष्ठा व अनामिका सामने करते हुए पूछा—“दोनों में बड़ी कौन-सी है? उत्तर मिला—अनामिका बड़ी है। कनिष्ठा को समेट कर और मध्यमा फैला कर पूछा—दोनों अगुलियों में छोटी कौन सी है? उत्तर मिला—अनामिका। आचार्यों ने कहा—यही हमारा स्याद्वाद है जो तुम एक ही अगुली को बड़ी भी कहते हो और छोटी भी। यह स्याद्वाद की सहजगम्यता है।

सापेक्षवाद की भी इस दिशा में ठीक यही गति है। कठिन तो वह इतना है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी इसको पूर्णतया समझने व समझाने में चक्कर खा जाते हैं। कहा जाता है कि यह सिद्धान्त गणित की गुत्थियों से इतना भरा है कि इसे अब तक ससार भर में कुछ सो आदमी

१. घटमौलि सुवणार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम्।

शोक प्रमोद माध्यस्थ जनो याति सहेतुकम् ॥

—शास्त्र वार्ता समुच्चय

२. उत्पन्न दधिभावेन नष्ट दुग्धतया पयः।

गोरसत्वात् स्थिर जानन् स्याद्वादद्विज् जनोऽपिक ॥१॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोर्जति दधिव्रतः।

अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥२॥

३. यथा अनामिकायाः कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वं,

मध्यमा अधिकृत्य ह्रस्वत्वम्।

—प्रज्ञासूत्र वृत्तिः पद भाषा ११

१. इण्डियन फिलोसोफी, पृ० ३०५।

२. जैन-दर्शन, १६ सितम्बर १९३४।

३. उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्त सत्।

—श्रीभिक्षु न्याय कणिका

ही पर्याप्त रूप से जान पाये हैं। सापेक्षवाद की जटिलता के बहुत से उदाहरणों में एक उदाहरण यह भी है जो साधारणतया बुद्धिगम्य भी नहीं हो रहा है कि यदि दो मनुष्यों की भेंट हो तो उन दोनों के बीच का अन्तर एक ही (समान ही) होना चाहिए—यह एक दृष्टिकोण में सत्य है, एक से नहीं। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि वे दोनों घर पर ही रहे हों या उनमें से कोई एक विश्व के किसी दूर भाग की यात्रा करके इसी बीच में आया हो।

सापेक्षवाद की जटिलता को प्रो० मैक्सवॉर्न ने अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंग से समझाया है। वे लिखते हैं—“मेरा एक मित्र एक बार किसी डिनर पार्टी में गया। उसके पास बैठी एक महिला ने कहा—प्राध्यापक महोदय! क्या आप मुझे थोड़े शब्दों में बताने का कष्ट करेंगे कि वास्तव में सापेक्षवाद है क्या? उसने विस्मृत मुद्रा में उत्तर दिया—क्या तुम यह चाहोगी उससे पूर्व मैं तुम्हें एक कहानी सुना दूँ। मैं एक बार अपने फ्रांसीसी मित्र के साथ सैर के लिए गया। चलते-चलते हम दोनों प्यासे हो गये। इतने में हम एक खेत पर आये। मैंने अपने मित्र से कहा—यहाँ हमें कुछ दूध खरीद लेना चाहिए। उसने कहा—दूध क्या होता है? मैंने कहा—तुम नहीं जानते, पतला और धोला धोला.....। उसने कहा—धोला क्या होता है? मैंने कहा—धोला होता है जैसे

१ “It is so mathematical that only a few hundred men in the world are competent to discuss it.”

—Cosmology Old and New, p 127.

२. If two people meet twice they must have lived the some time between the two meetings” is true from one point of view and not from another. It all depends upon whether both of them have been stay-at-home or one has travelled tea distant part of the Universal and them came back in the interim.

—Cosmology Old and New, p. 206.

बनख। उसने कहा—बनख क्या होता है? मैंने कहा—एक पक्षी जिसकी गर्दन मोड़दार होती है। उसने कहा—मोड़ क्या होता है? मैंने अपनी बाँह को मोड़ कर इस प्रकार से टेढ़ी करके दिखाया—मोड़दार इसे कहते हैं। तब उसने कहा—अच्छा अब मैं समझ गया दूध क्या है? इस कहानी को सुन लेने के बाद उस भद्र महिला ने कहा—मुझे सापेक्षवाद क्या है अब यह जानने की कोई दिलचस्पी नहीं रही है।”

सापेक्षवाद की कठिनता के इन कुछ उदाहरणों की तरह सरलता के उदाहरणों की भी कमी नहीं है पर यहाँ मात्र एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सापेक्षवाद के आचार्य प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन से उनकी पत्नी ने कहा—“मैं सापेक्षवाद कैसा है कैसे बतलाऊँ?” आइंस्टीन ने एक दृष्टान्त में जवाब दिया—“जब एक मनुष्य एक मुन्दर लड़की से वान करना है तो उसे एक घण्टा एक मिनट जैसा लगता है। उसे ही एक गर्म चूल्हे पर बैठने दो तो उसे एक मिनट एक घण्टे के बराबर लगने लगेगा—यही सापेक्षवाद है।” इसीलिए कहा गया है कि स्यान्डा और सापेक्षवाद कठिन भी है और सहज भी।

व्यावहारिक सत्य व तात्त्विक सत्य

स्यान्डा में नयी की बहुमुखी विवक्षा है, पर यहाँ केवल व्यवहारनय व निश्चयनय को ही लेते हैं। इनकी व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—“निश्चयनय वस्तु के तात्त्विक (वास्तविक) अर्थ का प्रतिपादन करता है और व्यवहारनय केवल लोक-व्यवहार का।” एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् श्री महावीर से पूछा—“भगवन्! फणित-प्रवाही गुण में कितने वर्ण, गन्ध, रस व

३. Cosmology Old and New, p. 197.

४. तत्त्वार्थ निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम्।

—द्रव्यानुयोगतर्कणा ध२३।

५. फणियगुलेण भन्ते ! कइ वण्णे कइ गन्धे, कइ रसे, कइ फामे पण्णत्ते ? गोयमा ! एत्थण दो नया भवन्ति त निच्छइएणएय। वावहारियणयस्स। वावहारियणयस्स गोइडे फणियगुले, निच्छइयणयस्स पंचवण्णे, दुगन्धे, पचरसे, अठ फामे। —भगवती, १८-६

स्पर्श होते हैं ?” भगवान् महावीर ने कहा—“मे इन प्रश्नों का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहार-नय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से उसमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस व ८ स्पर्श है।” यगला प्रश्न गौतम स्वामी ने किया—“प्रभो ! भ्रमर मे कितने वर्ण है ?” उत्तर मिला—“व्यवहार-नय मे तो भ्रमर काला है अर्थात् एक वर्ण वाला है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से उसमें श्वेत, कृष्ण, नील आदि पांच वर्ण है।” इसी प्रकार राख और शुक-पिच्छि के लिए भगवान् महावीर ने कहा—“व्यवहार-नय की अपेक्षा से यह रक्त और नील है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस व आठ स्पर्श वाले है।” तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु का इन्द्रिय ग्राह्य स्वरूप कुछ और होता है और वास्तविक स्वरूप कुछ और। हम बाह्य स्वरूप को देखते है जो इन्द्रिय ग्राह्य है। सर्वज्ञ बाह्य और आन्तरिक (निश्चयिक) दोनों स्वरूपों को यथावत् जानने है व देखने है। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन भी यही कहते है—“We can only know the relative truth, the Absolute truth is known only to the Universal observer.”

“हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते है, सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही जान है।”

स्याद्वाद मे जिस प्रकार गुड़, भ्रमर, राख, शुक-पिच्छि आदि के उदाहरणों से परमार्थ सत्य व व्यवहार

१. भ्रमरेण भन्ते ! कइवण्णे पुच्छा ? गोयमा ! एत्थण दो नया भवन्ति तज्जा—णिच्छइयणएय, वावहारियणयस्स कालए भमरे, णिच्छइयणयस्स पंचवण्णे जाव अठ फासे । —भगवती, १८-६

२. छारियाण भन्ते ! पुच्छा ? गोयमा ! एत्थण दो नया भवन्ति तज्जा—णिच्छवयणएय, वावहारियणएय । वावहारियणयस्स लुक्खा छारिया, णेच्छइयस्स पंचवण्णे जाव अठफासे पण्णत्ते । —भगवती १८-६

३. मुयपिक्खेण भन्ते ! कइवण्णे पण्णत्ते ? एव चेव णवरं वावहारियणयस्स णीलए मुअपिक्खे, णेच्छइयस्स णयस्स से सन्त चेव । —भगवती १८-६

४. Cosmology Old and New, p. 201.

सत्य को समझाया गया है उसी प्रकार आइंस्टीन ने भी अपने सापेक्षवाद मे ऐसे उदाहरणों का प्रयोग किया है। यहाँ बताया गया है—जिस किसी घटना के बारे मे हम कहते है कि यह घटना आज या अभी हुई; हो सकता है कि वह घटना सहस्रो वर्ष पूर्व हुई हो। जैसे—एक-दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार निहारिकाओं (क, ख) मे बिस्फोट हुए और वहाँ दो नये तारे उत्पन्न हुए। इन निहारिकाओं मे उपस्थित दशकों के लिए अपने यहाँ की घटना तुरन्त हुई मालूम होगी, किन्तु दोनों के बीच लाखों प्रकाश वर्षों की दूरी होने से ‘क’ का दशक ‘ख’ की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित हुई कहेगा जब कि दूसरा दशक अपनी घटनाओं को तुरन्त और ‘क’ की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित होने वाली बतायेगा। इस प्रकार बिस्फोट का परमार्थ काल नहीं, सापेक्षकाल ही बताया जा सकता है।”

उदाहरण को पुष्ट करने के लिए तत्सम्बन्धी वैज्ञानिक मान्यता को स्पष्ट करना होगा। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार प्रकाश एक सैकण्ड मे १,८६,००० मील गति करता है। उसी गति से जितनी दूर वह एक वर्ष मे जाता है, उस दूरी को एक प्रकाश वर्ष कहते है। ब्रह्माण्ड मे एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष दूरी पर अनेकों तारिका पुज है। एक निहारिका में होने वाला प्रकाशात्मक बिस्फोट एक लाख प्रकाश वर्ष दूर स्थित अन्य निहारिकाओं मे या हमारी पृथ्वी पर यदि हम उससे उतनी ही दूर है तो एक लाख वर्ष बाद मे दीखेगा; क्योंकि प्रकाश को हम तक पहुँचने मे १ लाख वर्ष लगेगे। किन्तु हमे ऐसे लगेगा कि यह घटना अभी ही हो रही है जिसे हम देख रहे है। माराश यह हुआ कि मनुष्य बहुत अशो मे व्यावहारिक सत्य को ही अपनाकर चलता है। यदि उस निहारिका का कोई प्राणी हमसे मिले व उस घटना के बारे मे हमसे बात करे तो हमारा और उसका निर्णय एक-दूसरे से उल्टा होगा; पर अपने-अपने क्षेत्र की अपेक्षा से दोनों निर्णय सही होंगे।

स्याद्वाद-शास्त्र की सप्त भगी भी प्रत्येक वस्तु को

३. विद्व की रूपरेखा, अध्याय १, पृ० ६२-६३ प्र०स.।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे 'अस्ति' (है) स्वीकार करती है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्ति नहीं है। स्वीकार करती है। जैसे हम एक घट के विषय में कहते हैं कि यह मिट्टी का घड़ा है, यह राजस्थान का बना है, यह ग्रीष्म ऋतु में बना हुआ है, यह गौर वर्ण अमुक नाम का है; उसी समय उस घट के विषय में दूसरा व्यक्ति कहता है—यह स्वर्ण का घट नहीं है, यह विदर्भ प्रान्त का घट नहीं है, यह हेमन्तकाल का घट नहीं है, यह श्याम वर्ण व अमुक प्रकार का घट नहीं है। यहाँ 'है' व 'नहीं है' देश-काल सापेक्ष है। स्याद्वाद की तरह सापेक्ष-वाद में भी तथाप्रकार के सापेक्ष उदाहरणों की बहुलता है जो नयवाद व सप्त भगी द्वारा समर्थन पाते हैं। प्रो० एडिंगटन दिशा की सापेक्ष स्थितियों पर प्रकाश डालते हुये लिखते हैं—“सापेक्ष स्थिति को समझने के लिये सबसे सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनबर्ग की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से एक अन्य दिशा है। इसी तरह और और अपेक्षाओं से। हम यह कभी नहीं सोचते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या है ?” उसी पुस्तक में आगे वे सत्य और वास्तविक सत्य को सुस्पष्ट करते हुये लिखते हैं—“तुम किसी कम्पनी के आय-व्यय का चिट्ठा लो जो गणितज्ञ के द्वारा परीक्षित है। तुम कहोगे यह सत्य है पर वह वास्तव में सत्य क्या है ? मैं यह किसी धूर्त कम्पनी के लिये नहीं कह रहा हूँ पर सच्ची कम्पनी के चिट्ठे में भी वस्तुओं की उस क्षण की कीमत और उसकी अंकित कीमत में महान् अन्तर होगा; अतः हीडन रिजर्व

(Hidden reserves) की दृष्टि से जितनी अधिक सच्ची कम्पनी होगी, वह उतना ही अधिक होगा।”

स्याद्वाद के क्षेत्र में भगवान् महावीर ने सैकड़ों प्रश्नों का उत्तर अपेक्षाओं के आधार पर विभिन्न प्रकार से दिया। सृष्टि के मूलभूत सिद्धान्तों को भी उन्होंने सापेक्ष बताया। परमाणु नित्य (शास्वत) है या अनित्य—इस प्रश्न पर उन्होंने बताया—“वह” नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्यत्व की अपेक्षा से वह नित्य है। वर्ण पर्याय (बाह्य स्वरूप) आदि की अपेक्षा से अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।” यही उत्तर भगवान् महावीर ने आत्मा के विषय में दिया। प्राकृतिक स्थितियों के विषय में आईस्टीन भी अपेक्षा-प्रधान बात कहते हैं। सापेक्षवाद के पहले सूत्र में उन्होंने यह कहा—“प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही है।” ऐसा क्यों? इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स के शब्दों में पढ़िये—“गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। एक जहाज जो स्थिर है वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाय तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायेगा। किन्तु दोनों

१. परमाणु पोगलेण भन्ते ! सासए, असासए ? गोयमा ! सिय सासए सिय असासए । से केण ठेण भन्ते ! एव बुच्चइ मिय सासए, सिय असासए ? गोयमा ! दब्बठयाए सासए वण्ण पचमेहि जाव फासवज्जवेहि असासए से तेण ठेण जाव सिय सासए ।

—भगवती शतक १४-३४

२. जीवाण भन्ते ! कि सासया असासया ? गोयमा ! जीव सिय सासया सिय असासया । से केण ठेण भन्ते ! एव बुच्चइ जीवा सिय सासया सिय असासया । गोयमा ? दब्बठयाए सासया भावठयाए असासया । —भगवती श० ७, उ० २

३. Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever.

—Mysterious Univers, p. 78

१. A more familiar example of a relative quantity is 'direction' of an object. There is a direction of Cambridge relative to Edinburgh and another direction relative to London, and so on. It never occurs to us to think of this as discrepancy or to suppose that there must be some direction of Cambridge (at present undiscoverable) which is absolute.

The Nature of physical World, p. 27.

तब भी इदं-गिदं के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति-शून्य हो जाये तो भी ग्रह दूरस्थ निहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही मिलेंगे। आकाश में इस प्रकार यदि हम आगे से आगे जायेंगे तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।" तात्पर्य यह हुआ कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व प्रत्येक पदार्थ चर भी है और स्थिर भी है। स्याद्वादी कहते हैं—परमाणु नित्य भी है और अनित्य भी; ससार शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। यहाँ यह देखने की आवश्यकता नहीं कि स्याद्वाद के निर्णय सापेक्षवाद को व सापेक्षवाद के निर्णय स्याद्वाद को मान्य है या नहीं किन्तु देखना यह है कि वस्तुतथ्य को परखने की पद्धति कितनी समान है और दोनों ही वाद किनने अपेक्षानिष्ठ है।

‘अस्ति’, नास्ति, की बात जैसे स्याद्वाद में पद-पद पर मिलती है वैसे ही ‘है और नहीं’ (अस्ति, नास्ति) की

१. Rest and motion are merely relative terms. A ship which is becalmed is at rest only in a relative sense—relative to the earth; but the earth is in motion relative to the sun, and the ship with it. If the earth which stayed in its course round the sun. The ship would become at rest relative to the sun, but both would still be moving through the surrounding stars. Check the sun's motion through the stars and there still remains the motion of the whole galactic system of stars relative to the remote-nebula. And these remote-nebula move towards or away from one another with speeds of hundreds miles a second or more; by going futher into space we not only find standard of absolute rest, but encounter great and greater speed of motion.

—The Mysterious universe by sir James Jeans, p. 79.

बात सापेक्षवाद में भी पद पद पर मिलती है। जिस पदार्थ के विषय में साधारणतया हम कहते हैं कि यह १५४ पौण्ड का है। सापेक्षवाद कहता है यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्य रेखा पर यह १५४ पौण्ड है पर दक्षिणी या उत्तरी ध्रुव पर यह १५५ पौण्ड है। गति तथा स्थिति को लेकर वह और भी बदलता रहता है^२। इसी तरह गुरुत्वाकर्षण के विषय में आइंस्टीन ने एक प्रयोग के द्वारा बताया—एक आदमी लिफ्ट में है। उसके हाथ में सेम है। ज्यों ही लिफ्ट नीचे गिरना शुरू होता, वह आदमी सेम को गिराने के लिए हथेली को आँधा कर देता है। स्थिति यह होगी—क्योंकि लिफ्ट के साथ गिरने वाले मनुष्य की नीचे जाने की गति सेम से भी अधिक है, अतः मनुष्य को लगेगा कि सेम मेरी हथेली से चिपक रही है तथा मेरे हाथ पर उसका दबाव भी पड़ रहा है। परिणाम यह होगा कि पृथ्वी पर खड़े मनुष्य की अपेक्षा से तो सेम गुरुत्वाकर्षण से नीचे आ रही है, किन्तु लिफ्ट में रहे मनुष्य की अपेक्षा से गुरुत्वाकर्षण कोई वस्तु नहीं है^३। इसीलिए वह है भी और नहीं भी। यहाँ आइंस्टीन ने गुरुत्वाकर्षण को केवल उदाहरण के लिए ही माना है। वैसे उसने वैज्ञानिक जगत् से उसका अस्तित्व ही मिटा दिया है।

स्याद्वाद बताता है—“वस्तु अनन्त धर्मात्मक है”।^४ अर्थात् वस्तु अनन्त गुण व विशेषताओं को धारण करने वाली है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ भी कहते हैं तो एक धर्म को प्रमुख व अन्य धर्म को गौण कर देते हैं। हमारा वह सत्य केवल आपेक्षिक होता है। अन्य अपेक्षाओं से वही वस्तु अन्य प्रकार की भी होती है। निम्बू के सामने नारंगी को बड़ी कहते हैं किन्तु पदार्थ धर्म की अपेक्षा से नारंगी में जैसे बड़ा पन है, वैसे ही छोटापन भी। किन्तु वह प्रकट तब होता है जब खरबूजे के साथ उसकी तुलना करते हैं। गुरुत्व व लघुत्व जो हमारे व्यवहार में आते हैं वे मात्र व्यावहारिक या आपेक्षिक हैं। वास्तविक (अन्य) गुरुत्व तो लोकव्यापी महा-

२ Cosmology Old and New, p. 205.

३. Cosmology Old and New, p. 197.

४. अनन्त धर्मात्मक सत्।

स्कन्ध में है और अन्त्य लघुत्व परिमाण में'। अब इसके साथ सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक के वक्तव्य की भी तुलना करें। वे लिखते हैं—“मैं सोचता हूँ हम बहुधा सत्य व वास्तविक सत्य के बीच एक रेखा खींचते हैं। एक वक्तव्य जो कि केवल पदार्थ के बाह्य स्वरूप से ही सम्बन्ध रखता है, कहा जा सकता है कि वह सत्य है। एक वक्तव्य जो कि केवल बाह्य स्वरूप को ही व्यवस्त नहीं करता, परन्तु उसकी सतह में रही सच्चाई को भी प्रकट करता है वह वास्तविक सत्य है।” स्याद्वाद व सापेक्षवाद की तथा प्रकार की विस्मयोत्पादक समता को देखकर यह तो मान लेना पड़ता है कि स्याद्वाद कोई अधूरे तथ्यों का संग्रह नहीं, अपितु वस्तु तथ्य को पाने का एक यथार्थ मार्ग है जो आज से सहस्रो वर्ष पूर्व जैन दार्शनिकों ने खोज निकाला था। उसके तथ्य जितने दार्शनिक हैं उतने ही वैज्ञानिक भी। वह केवल कल्पनाओं का पुलिन्दा नहीं किन्तु जीवन का व्यावहारिक मार्ग है। इसीलिए तो आचार्यों ने कहा है—“उस जगद्गुरु स्याद्वाद महासिद्धान्त को नमस्कार हो, जिसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता।”

सहस्रों वर्ष पूर्व और आज :

स्याद्वाद और सापेक्षवाद के कुछ प्रमग ऐसे हैं जो

१. सौक्ष्म्य द्विविधं अन्त्यसापेक्षिकञ्च । तत्र अन्त्य परमाणोः, सापेक्षिक यथा नालिकेरापेक्षया आम्रस्य । स्थौल्यमपि द्विविधं, तत्र अन्त्य अशेष लोकव्यापिमहास्कन्धस्य, सापेक्षिक यथा आस्रापेक्षया नालिकेरस्य । —श्रीजैन सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश १, सूत्र १२ ।

- २ I think we often draw a distinction between what is true and what is really true. A Statement which does not profess to deal with any thing except appearances may be true; a statement which is not only true but deals with the realities beneath the appearances is really true.

३. जेण विणावि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुं णमो अणेगन्तवायस्स ॥

अनायास गंगा जमुना की तरह एकीभूत होकर बहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि स्याद्वाद के क्षेत्र में वे आज से सहस्रो वर्ष पूर्व एक व्यवस्थित विधि में रख दिये गये हैं और सापेक्षवाद के क्षेत्र में वे आज चिन्तन की स्थिति पर क्रमिक विकास पा रहे हैं। उदाहरणार्थ—सत्यासत्य की मीमासा करते हुए रेखागणित व माप-तोल के विषय में सापेक्षवाद के अनुसार माना गया है—“रेखागणित के अनुसार रेखा वह है जिसमें लम्बाई हो पर चौड़ाई या मुटाई न हो। बिन्दु में मुटाई भी नहीं होती। दुनिया में ऐसी रेखा नहीं देखी गई जिसमें चौड़ाई या मुटाई न हो। वह उपेक्षणीय या नगण्य दीख सकती है, पर वह है ही नहीं, नहीं कह सकते। धरातल की भी यही बात है। भले ही हमारे दिमाग सिर्फ लम्बाई-चौड़ाई को ही ध्यान में लाये सिर्फ उन्हीं दो परिणामों वाली किसी चीज को तो प्रकृति ने नहीं बनाया है। सरल रेखा कागज पर खींची देख कर हम समझ लेते हैं कि इसकी सरलता बिल्कुल स्वाभाविक बात है। सरल से सरल रेखा को भी यदि अधिक बारीक पैमाने से जाँचा जाये तो वह पूरी सरल नहीं उतर सकती।

नाप का भी यही हाल है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के द्वारा हम जिस बिन्दु रेखा, धरातल आदि की व्याख्या करते हैं। उन्हें हम उनकी वास्तविक सापेक्ष स्थिति में न लेकर एक आदर्श मान के रूप में लेते हैं। लम्बाई नापने के लिए कोई स्थिर आदर्श मानदण्ड नहीं मिल सकता। ठोस से ठोस धातु का ठीक से नापा हुआ मानदण्ड लोहे या पीतल का तार या छड़ भी एक दिशा में दूसरी दिशा घूमने मात्र से अपनी लम्बाई का करोड़वा हिस्सा घट या बढ़ जाता है। एक ही जमीन की भिन्न-भिन्न समय में या भिन्न-भिन्न आदमियों द्वारा की गई जितनी नापिया होती है वे सूक्ष्मता में जाने पर एक सी नहीं उतरती। शीशे या प्लाटिनम का खूब सावधानी से निशान लगाया जाये, जरीब से नापा जाये, तो भी नापियों में कुछ न कुछ अन्तर रह ही जाता है, फिर दिशा बदलने से लम्बाई का फर्क होता है, यह अभी कह चुके हैं। साथ ही ताप-मान के परिवर्तन से धातुओं का फैलना-सिकुड़ना लाजमी है और समयान्तर में भीतरी परमाणुओं की स्थिति में जो

लगातार अन्तर पड़ रहा है, वह भी मान में अन्तर डालता है। खुद नापी जाने वाली जमीन के बारे में तो यह बात और भी सच है क्योंकि वह प्लाटिनम जैसी दृढ़ता नहीं रखती और नापने वाला तो यदि अपने औजारों की बात को न माने तो 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' कहावत के अनुसार हर एक नापने वाला अपना-अपना अलग ही परिणाम बतलायेगा। किसी नापी (मानदण्ड) को सच्चा मानने के वक्त हम उसे परमार्थ की कसौटी पर नहीं कसने लगते; क्योंकि यह कसौटी मनुष्य की कल्पना के सिवाय और कहीं है ही नहीं। यह नापी के परिणाम को बिल्कुल भ्रूट कह कर उसे व्यवहार से बहिष्कृत नहीं कर सकते हैं। हमारा सच्चा मान वह है जो कि भिन्न-भिन्न नापियों का माध्यम (औसत) है। सावधानी के साथ जितनी अधिक नापिया की जायेंगी, माध्यम उतना ही ठीक होगा और जो नापी इस माध्यम के समीप होगी वहीं सत्य होगी। इन बातों से यह तो पता लग गया कि तार्किकों ने वास्तविकता की अच्छी तरह छानबीन किये बिना जो सिर्फ तर्क से किसी बात को स्वयं मिट्ट कर डाला है, वह उन्हीं के शब्दों में मान लेने लायक नहीं है। हमारी उक्त परिभाषा ठीक हो सकती है यदि उन्हें परमार्थ-सत्य मानने की जगह हम सापेक्ष-सत्य कहे। अधिक वक्र की अपेक्षा कोई रेखा सरल हो सकती है। अधिक मोटे बिन्दुओं या अत्यन्त क्षुद्र रेखाओं की अपेक्षा किसी बिन्दु को लम्बाई चौड़ाई को हम नगण्य समझ सकते हैं। हमारे सभी माप-तोल सापेक्ष हैं।" स्याद्वाद भी उक्त प्रकार की अपेक्षात्मक समीक्षाओं से भरा पड़ा है। जैन आगम श्रीपञ्चवण-सूत्र में सत्य के भी दश भेद कर दिये गये हैं। जहाँ सापेक्षवादी व्यावहारिक माप तोल आदि को कुछ डरने हुए सत्य में समाविष्ट करने लगते हैं, वहाँ लगभग सभी प्रकार का आपेक्षिक सत्य दस भागों में विभक्त कर दिया गया है। दश भाग इस प्रकार हैं—

१. जनपद-सत्य (देश सापेक्ष सत्य)—भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ होती हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं पर वे सब अपने देश की अपेक्षा से सत्य हैं। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो क्षेत्र-भेद

से एक-दूसरे के विपरीत अर्थवाची हो जाते हैं—जैसे साधारणतया पिता को 'बापू' कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में छोटे बच्चे को उसका पिता व अन्य 'बापू' कहते हैं, पर वे जनपद सत्य के अन्तर्गत आ जाने से असत्य नहीं कहे जाते।

२. सम्मत-सत्य—जन-व्यवहार से जो शब्द मान्य हो गया है। जैसे—पंक से पैदा होने के कारण कमल को पंकज कहा जाता है पर मेढक को नहीं; हालांकि वह भी पंक से पैदा होने वाला है। अतः इस विषय में कोई तर्क नहीं चल सकता कि उसे भी पंकज क्यों नहीं कहा जाये।

३. नाम-सत्य—किसी का नाम विद्यासागर है और वह जानता क, ख, ग भी नहीं। लोग उसे विद्यासागर कहते हैं तो भी असत्यवादी नहीं कहे जाते, क्योंकि उनका कहना नाम-सापेक्ष सत्य है। नाम केवल व्यक्ति के पहचान की कल्पना है। अतः यह नहीं देखा जाता कि उसके जीवन के साथ वह कितना यथार्थ है।

४. स्थापना-सत्य—किसी वस्तु के विषय में कल्पना कर लेना। जैसे १२ इंच का एक फीट, ३ फीट का १ गज। इतने तोलों का सेर है या इतने सेरों का मन है। यह स्थापना देश, काल की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होती है, पर अपनी-अपनी अपेक्षा से जब तक व्यवहार्य है तब तक सब सत्य है। सत्य के इस भेद में अपेक्षावाद के उक्त माप, तीन गणित आदि के सारे विचार समा जाते हैं। वे सब सापेक्ष-सत्य हैं। एक मानदण्ड में सूक्ष्म दृष्टि से चाहे प्रतिक्षण कितना ही अन्तर पड़ता हो, पर जब तक व्यवहार्य है तब तक वह सत्य ही माना जायेगा। वास्तविक दृष्टि में सापेक्षवाद के अनुसार जिस प्रकार मानदण्ड आदि में प्रतिक्षण परिवर्तन माना है, स्याद्वाद शास्त्र में उस परिवर्तन का विवेचन और गंभीर व व्यापक मिलता है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु ही वह है, जिसमें प्रतिक्षण नये स्वरूप की उत्पत्ति, प्राचीन स्वरूप का नाश और मौलिक स्वरूप की निश्चलता हो। प्रतिक्षण परिवर्तन के विषय में दोनों वादों का एक-सा सिद्धान्त एक-दूसरे की सत्यता का पोषक है।

५. रूप-सत्य—केवल रूप सापेक्ष कथन रूप-सत्य है। जैसे—नाट्यशाला में नाट्यकारों के लिए दर्शक कहा

करते हैं—यह हरिश्चन्द्र है, यह रोहताश्व है। रामलीला में कहा करते हैं—यह राम है, यह सीता है।

६. प्रतीति-सत्य—जैसे प्रतीति हो। दूसरे शब्दों में इसे हम सापेक्ष-सत्य भी कह सकते हैं। आम्रफल की अपेक्षा आमलक छोटा है, ऐसी प्रतीति होती है, और गुजा की अपेक्षा वह बड़ा है, यह भी प्रतीति होती है। सापेक्षवाद का एक बड़ा विभाग इसी एक भेद में समा जाता है।

७. व्यवहार-सत्य—लोक भाषा में सम्मत वाक्य व्यवहार सत्य है। जैसे बहुत बार पूछा जाता है, यह सड़क कहाँ जाती है? कोई उत्तर दे सकता है कि महा-शय यह तो कहीं नहीं जाती यही पड़ी रहती है। बटोही थका-मादा गाँव के पास पहुँचता है और कहता है—“अब तो गाँव आ गया है।” पर कोई यह नहीं पूछता कि “तुम आये हो या गाँव चलकर आया है।” तात्पर्य यही है कि लोक व्यवहार से यह कहना असिद्ध नहीं है। अतः यह सत्य का ही एक भेद है।

८. भाव-सत्य—यथावस्थित इन्द्रिय सापेक्ष कथन। जैसे—हम घोला है, कज्जल काला है। पर यह यथावस्थित कथन भी स्थूल दृष्टि की अपेक्षा से है। सूक्ष्म दृष्टि वहाँ भी उपेक्षित है। उसके अनुसार तो हंस और कज्जल में पाँच वर्ण है।

९. योग-सत्य—दो या दो से अधिक वस्तुओं के योग से जो सजा बनी हो। तत्पश्चात् उस योग के अभाव में भी उस सजा का प्रयोग योग-सत्य है। जैसे—दण्डी, छत्री, स्वर्णकार, चर्मकार आदि।

१०. उपमा-सत्य—उपमा अलंकार आदि सारी साहित्यिक कल्पनाएँ इस सत्य में अन्तर्निहित हैं, इसके चार विकल्प हैं—उपमा सद् उपमेय असद्, उपमा असद् उपमेय सद्, दोनों सद् और दोनों असद्।

निरपेक्ष व सम्पूर्ण सत्य :

भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध विचारक सर राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद के विषय में लिखा है “स्याद्वाद निरपेक्ष या सम्पूर्ण सत्य की कल्पना किये बिना तर्क के घरातल पर नहीं ठहर सकता..... वह अपेक्षिक सत्यो को पूर्ण सत्य

मानने की प्रेरणा देता है।” यह एक धारणा जो राधा-कृष्णन् जैसे मनीषी की बनी, लगता है सापेक्षवाद उन्हें स्याद्वाद सम्बन्धी उक्त निर्णय पर पुनः सोचने को प्रेरित करेगा।

जहाँ इनकी धारणा है निरपेक्ष सत्य को माने बिना काम नहीं चल सकता वहाँ सापेक्षवाद बताता है—“परमार्थ मन की कल्पना मात्र है। परमार्थ को प्राकृतिक वस्तुओं और नियमों पर जब हम लादने की कोशिश करते हैं तो यही नहीं कि हम वस्तु सत्य को छोड़ आकाश में उड़ने लगते हैं, बल्की उल्टी धारणाओं के शिकार हो जाते हैं। लेकिन वस्तुओं और उनके गुणों की सापेक्षता का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी सत्ता से इन्कार कर दें। सापेक्षता परमार्थ नामधारी किसी भी पदार्थ को सिद्ध नहीं होने देती, किन्तु सापेक्षता द्वारा

१. The theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.....The Jains admit that things are one in their universal aspect (Jati or Karana) and many in their particular aspect (Vyakti or Karya). Both these, according to them are partial points of view. A plurality of reals is admittedly a relative truth. We must rise to the complete point of view and look at the whole with all the wealth of its attributes. If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another vitally essentially and immanently, it throws over board, its one logic and exalts a relative truth into an absolute one.

—Indian Philosophy Vol. I, pp. 305, 306.

सत्ता से इन्कार करवाना तो उनकी सीमा से बाहर जाना है। सापेक्षता आखिर माननी क्यों पड़ती है? इसलिए तो कि वस्तु सत्ता हमें ऐसा मानने के लिए मजबूर करती है। इस प्रकार सापेक्षवाद स्याद्वाद की अपेक्षावादिता को पूर्णतया पुष्ट करता है।

स्याद्वाद स्वयं भी अपने आप में इतना पुष्ट है कि डा० राधाकृष्णन् का तर्क उसे हतप्रभ नहीं कर सकता। स्याद्वाद भी तो यह मानकर चलता है कि निरपेक्ष सत्य विश्व में कुछ है ही नहीं तो हमारे मन में उसका मोह क्यों उठता है? धर्मकीर्ति ने कहा है—“यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट हो तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते हैं?” सापेक्ष सत्य के विषय में जो सन्देह-शीलता विचारों को लगती है उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य व वास्तविक सत्य से परे सोच लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः सापेक्ष सत्य उनसे भिन्न नहीं है। हर एक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है कि नारंगी छोटी है या बड़ी। यहाँ वास्तविक और पूर्ण सत्य यही है कि वह छोटी भी है और बड़ी भी, अपने बड़े व छोटे पदार्थों की अपेक्षा से। यहाँ कोई यह कहे कि यह तो आपेक्षिक व अघरा सत्य है तो वह स्वयं बताये कि यहाँ निरपेक्ष या पूर्ण सत्य क्या है?

कुछ एक जैन विचारकों ने डा० राधाकृष्णन् की समालोचना के साथ सगति बैठाने के लिए स्याद्वाद को केवल लोक-व्यवहार तक सीमित माना है और जैन दर्शन में प्रतिपादित निश्चय नय को पूर्ण सत्य (absolute truth) बताने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह यथार्थ नहीं कि स्याद्वाद केवल लोक-व्यवहार मात्र है, क्योंकि ‘स्यादस्त्येव सर्वमिति’ और ‘स्यान्नास्त्येव सर्वमिति’ अर्थात् ‘स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सब कुछ है ही’ और ‘परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा सब कुछ नहीं है ही’ यह जो स्याद्वाद का हृदय सप्तभंगी तत्त्व है, उसका

१. विश्व की रूपरेखा, सापेक्षवाद, पृ० ५७-५८.

२. यदिद स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ?

—प्रमाण तात्त्विक २-२०६

३. स्याद्वाद मजरी, जगदीशचन्द्र एम० ए० द्वारा अनु-दित, पृ० २५।

विषय लोक-व्यवहार ही नहीं अपितु द्रव्य मात्र है। इसी लिए तो आचार्यों ने कहा है—“द्वीप से लेकर व्योम तक वस्तुमात्र स्याद्वाद की मुद्रासे अंकित है।” केवली (सर्वज्ञ) व निश्चय नय द्वारा बताया गता तत्त्व भी कहने भर को निरपेक्ष है क्योंकि ‘स्यादस्ति स्यान्नास्ति’ से परे वह भी नहीं है। अतः स्याद्वाद का यह डिङ्गिनाद कि सत्यमात्र सापेक्ष है व पूर्ण सत्य व वास्तविक सत्य उससे परे कुछ नहीं; वह स्वयं सिद्ध है और तर्क की कसौटी पर आधुनिक सापेक्षवाद द्वारा समर्थित है।

समालोचना के क्षेत्र में :

स्याद्वाद व सापेक्षवाद दोनों ही सिद्धान्तों को अपने-अपने क्षेत्र में विरोधी समालोचकों के भरपूर आक्षेप सहन करने पड़े हैं। आक्षेपों के कारण भी दोनों के लगभग समान है। दोनों की ही विचारों की जटिलता को न पकड़ सकने के कारण धुरधुर विद्वानों द्वारा समालोचनाएँ हुई हैं। किन्तु दोनों ही वादों में तथा प्रकार की आलोचनाएँ तत्त्व-वेत्ताओं के सामने उपहासास्पद व अज्ञता मूलक सिद्ध हुई हैं। उदाहरणार्थ शंकराचार्य जैसे विद्वानों ने स्याद्वाद के हाट्रं को न पकड़ते हुए लिख मारा—“जब ज्ञान के साधन, ज्ञान का विषय, ज्ञान की क्रिया सब अनिश्चित है तो किस प्रकार तीर्थंकर अधिकृत रूप से किसी को भी उपदेश दे सकते हैं। और स्वयं आचरण कर सकते हैं, क्योंकि स्याद्वाद के अनुसार ज्ञानमात्र ही अनिश्चित है।” इसी प्रकार प्रो० एस० के० वेलबालकर एक प्रसंग में लिखते हैं—“जैन-दर्शन का प्रमाण सम्बन्धी भाग अनमेल व असंगत है अगर वह स्याद्वाद के आधार पर लिया जाये। S (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता दोनों हो सकते हैं; P (पी) नहीं हो सकता, इस प्रकार का निपेधात्मक और अज्ञेयवादी (एग्नोस्टिक) वक्तव्य कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।” इसी प्रकार कुछ लोगों ने कहा—‘यह अजीब बात है कि स्याद्वाद दही और भैंस को भी परस्पर एक मानता है। पर वे दही तो खाते हैं, भैंस नहीं खाते, इसीलिए स्याद्वाद गलत है।’ स्याद्वाद वेत्ताओं के सामने ये सारी आलोचनाएँ वचनकी सूचक थीं।

४. आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लो० ५

शकराचार्य ने स्याद्वाद को सशयवाद या अनिश्चित-वाद कहा। सम्भवतः उन्होंने 'स्यादस्ति' का अर्थ 'शायद है' ऐसा समझ लिया हो पर स्याद्वाद सशयवाद नहीं है। इसके अनुसार वस्तु अनन्त धर्मवाली है। हम वस्तु के विषय में निर्णय देते किसी एक ही धर्म (गुण) की अपेक्षा करते हैं किन्तु उस समय वस्तु के अन्य गुणों भी उसी वस्तु में ठहरते हैं इसलिए 'स्यादस्ति' अर्थात् 'अपेक्षा विशेष से है' का विकल्प यथार्थ ठहरता है। वहाँ अनिश्चितता और सन्देहशीलता इसलिए नहीं है कि स्यादस्ति के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग और होता है। इसका तात्पर्य स्याद्वादी किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए कहेगा अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है। प्रश्न उठता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाये? इसका उत्तर होगा इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा। अमुक रेखा छोटी है या बड़ी यह प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। जब तक कि हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना न होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, नहीं भी। यह तर्क एस० के० बेलवालकर के तर्क पर लागू होता है। S (एस) हो सकता है, S नहीं हो सकता है आदि विकल्पों को समझने के लिए क्या यह सर्वमान्य तथ्य नहीं होगा कि रेखा बड़ी भी है छोटी की अपेक्षा से। छोटी बड़ी दोनों ही नहीं है मम रेखा की अपेक्षा से। तथा प्रकार से S है अंग्रेजी भाषा की अपेक्षा से, एस लुप्त अक्षर का चिह्न है संस्कृत भाषा की दृष्टि से दोनों हैं भाषाओं की अपेक्षा से, दोनों नहीं हैं अन्य भाषाओं की अपेक्षा से।

स्याद्वाद कोई कल्पना की आकाशी उड़ान नहीं बल्कि जीवन-व्यवहार का एक बुद्धिगम्य सिद्धान्त है। लोगो ने 'है और नहीं भी' के रहस्य को न पकड़ कर उसे सन्देह-वाद या सशयवाद कह डाला, किन्तु चिन्तन की यथार्थ दिशा में आने के पश्चात् वह इतना सत्य लगता है जैसे दो और दो चार। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल व गुण (मान) की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ है और पर द्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ नहीं है, यही 'स्यादस्ति' और 'स्यान्नास्ति' का हार्द्र है। दही व भैंस एक है द्रव्यत्व की अपेक्षा से, एक नहीं हैं दधित्व व महिषत्व की अपेक्षा से।

दही खाने का पदार्थ है दधित्व की अपेक्षा से, न कि द्रव्य होने के मात्र से; इसलिए दही के साथ भैंस की बात जोड़ना मूर्खता है।

सापेक्षवाद की आलोचना का भी लम्बा इतिहास बन चुका है। यह सत्य है कि सापेक्षवाद आज वैज्ञानिक जगत् में गणितसिद्ध सर्वसम्मत सिद्धान्त बन गया है और यह माना जाने लगा है कि इस सदी का वह एक महान् आविष्कार और मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची पहुँच है। पर इसकी जटिलता को हृदयगमन कर सकने के कारण आरम्भ में आलोचकों का क्या रुख रहा, यह एक दिलचस्प विषय है। एक सुप्रसिद्ध व अनुभव इजीनियर सिडने ए० रवि ने कहा है—“आईस्टीन का सिद्धान्त निरी ऊटपटाग बकवास है।” दार्शनिक गगन हेमर ने लिखा है—“आईस्टीन ने तर्क शास्त्र में एक मूर्खतापूर्ण मौलिक भूल की है।” इस प्रकार स्याद्वाद की तरह सापेक्षवाद की भी विचित्र समालोचनाएँ हुईं, पर आज वह वैज्ञानिक जगत् में बीसवीं सदी का एक महान् आविष्कार सर्वसम्मततया मान लिया गया है।

उपसंहार

कुछ एक विचारकों का मत है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद में कोई तुलना नहीं बैठ सकती; क्योंकि स्याद्वाद एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है और सापेक्षवाद मौलिक वस्तुस्थिति यह है कि दोनों ही वाद निर्णय की पद्धतियाँ हैं, अतः कोई भी आध्यात्मिकता या भौतिकता तक सीमित नहीं है। यह एक गलत दृष्टिकोण है कि स्याद्वाद आध्यात्मिकता तक सीमित है। वह तो अपने स्वभाव से

1. Relativity is probably the farthest reach that the human mind has made into “Unkown.”

—Exploring the Universe, p. 197.

2. 'Einstein theory is arrant non-sense.'

—Cosmology Old and New, p. 197.

3. Einstein has made a very silly basic error in logic.

—Cosmology Old and New p. 197.

जितना आत्मा से सम्बन्धित है, उतना पुद्गल (भूत) से भी। जब वह समानतया दोनों के ही विषय में यथार्थ निर्णय देता है, तो इस ग्रंथ में अपने आप सिद्ध हो जाता है कि जितना वह आध्यात्मिक है उतना ही वह भौतिक भी। यद्यपि वैज्ञानिकों का विषय भौतिक विद्या ही है, अतः सापेक्षवाद का लक्ष्य उसमें आगे नहीं बढ़ पाया, इसलिए वह भौतिक पद्धति ही माना जाता है। पर वास्तव में यह भी स्याद्वाद की तरह वस्तु को परम्परे की एक प्रणाली है। इसे आध्यात्मिक या भौतिक कुछ भी कहे यह अधिक यथार्थ नहीं है। फिर भी इसे यदि भौतिक पद्धति भी माने तो भी परमाणु से ब्रह्माण्ड तक के भौतिक (पौद्गलिक) पदार्थ तो स्याद्वाद व सापेक्षवाद दोनों के विषय होने। इसलिए स्याद्वाद और सापेक्षवाद के सम ग्रंथों की तुलना अपना एक महत्त्व रखती है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद की आश्चर्योत्पादक समता से हमारे चिन्तन के बहुत मारे पहलू उभर आते हैं। आज तक जो दर्शन और विज्ञान के बीच की खाई अधिक से

अधिक चौड़ी होती जा रही थी, इस प्रकार से यदि चिन्तन समान धारा से बहने लगेगा, तो सम्भव है कि भविष्य के किन्हीं क्षणों में वह खाई पट सकेगी।

स्याद्वाद को सशयवाद के रूप में समझने की जो एक भूल चली आ रही थी, लगता है, सापेक्षवाद के द्वारा समर्थित उसकी वैज्ञानिकता उसको नामशेष ही कर देगी।

दर्शन से पराङ्मुख व विज्ञान के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों को स्याद्वाद व सापेक्षवाद की पूर्वोक्त समानता यह सांचने का अवसर देगी कि दर्शन जैसा कि वे समझते हैं एक भूभ्रमपूर्ण कल्पना नहीं बल्कि चिन्तन की एक प्रगतिशील धारा है, जिसकी दिशा में विज्ञान आज आगे बढ़ने को प्रयत्नशील है। दोनों वादों की समानता से हर एक तटस्थ विचारक को यह तो लगेगा ही कि स्याद्वाद ने दर्शन के क्षेत्र में विजय पाकर अब वैज्ञानिक जगत् में विजय पाने के लिए सापेक्षवाद के रूप में जन्म लिया है।

अपनत्व

एक दिन कवि बगीचे में जा पहुँचा। वृक्षों व लताओं की शीतल छाया में उसका मानस अतिशय प्रीणित होने लगा। ड़घर-उघर पर्यटन करते हुए सहसा उसकी दृष्टि माली पर पड़ी। वह सबिस्मय मुस्कराया और चिन्तन के उन्मुक्त अन्तरिक्ष में विहरण करने लगा।

माली ने भी उसे निहारा उसकी भाव-भंगिमा देखकर उससे मौन नहीं रहा गया। उसने पूछा—विजवर ! मुस्कराहट किस पर ? प्रकृति के ये वरद पुष्प आपके मन में गुदगुदी उत्पन्न कर रहे हैं या मेरे कार्य को देख कर हँस रहे हैं ?

कवि—माली ! मेरी हँसी का निमित्त अन्य कोई नहीं, तू ही है, जहाँ एक ओर तू कुछ एक पौधों की काट-छाट कर रहा है—निर्दय बनकर कैंची का प्रयोग कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर कुछ पौधे लगा भी रहा है। उनमें पानी सींच रहा है, साग सभाल कर उन्हें पुष्ट कर रहा है। यह तेरा कैसा व्यवहार ! इस भेदबुद्धि के पीछे क्या रहस्य है ? मेरी दृष्टि में सब वृक्ष समान हैं। फिर भी एक पर अपनत्व, अन्य पर परनत्व, एक को पुष्पकारणा और एक को ललकारणा ! तेरे जैसे सरक्षक के व्यवहार में इस अन्तर का क्या कारण है ?

माली—कविवर ! मेरे पूर्वजों ने मुझे यही भली भाँति प्रशिक्षण दिया था कि मनुष्य को अपने कर्तव्य पर अटल रहना चाहिए। मेरा प्रति कदम उसी तत्त्व को परिपुष्ट करने के निमित्त उठता है; क्योंकि मुझे उद्यान की सुन्दरता को सुरक्षित रखना है। इसका प्रतिदिन विकास करना मेरा परम धर्म है। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह भेदबुद्धि से नहीं, अपितु समबुद्धि से कर रहा हूँ। यह मेरा पक्षपात नहीं, साम्य है। केवल बहिरंग को ही न देखकर अन्तरंग की परतों को भी खोलना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो आपको स्पष्ट ज्ञान होगा कि मेरी इस प्रवृत्ति के पीछे प्रत्येक पौधे के साथ मेरा कितना अटूट एवं निश्छल अपनत्व है।

—मुनि कन्हैयालाल

मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द सम्बन्धी विशेष जानकारी

श्री अग्ररचन्द नाहटा

‘सन्मति सदेश’ जनवरी ‘६६ के अंक में “दो जैनो के वैष्णव हो जाने के उल्लेख” शीर्षक मेरा लेख छपा है। उसमें यमुनावल्लभ रचित रसिक भक्तमाल का एक पद्य उद्धृत किया गया था जिसमें सेठ श्री लक्ष्मीचन्द के सबध में यह लिखा गया था कि “जैन धर्म कू त्यागि, भये वैष्णव अनुरागी” इस पंक्ति के सबध में मैंने यह लिखा कि ‘सेठ लक्ष्मीचन्द के वंशज अभी भी विद्यमान होंगे। ये किसी कारण से, कब जैन धर्म को छोड़कर वैष्णव बने इसकी जानकारी मथुरा, वृन्दावन के जैन बंधु प्रकाशित कर सकें तो अच्छा हो’। खेद है कि मेरे उस निवेदन पर मथुरा, वृन्दावन के किसी भी जैन बंधु ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। पर दिल्ली के श्री कुन्दलाल जैन ने तारीख ६-१-६६ के पत्र में मेरे उक्त लेख को पढ़कर लिखा कि “मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द जी का वैष्णव हो जाने का उल्लेख सर्वथा अमपूर्ण है। वे जैन थे और अन्त तक जैन रहे। यह बात दूसरी है कि उनका वैष्णव सम्प्रदाय की ओर झुकाव केवल अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने के लिए हो गया था। मथुरा चौरासी का विशाल जैन मंदिर सेठ लक्ष्मीचन्द जी का ही बनाया हुआ है। जब वे यह जैन मंदिर बनवा चुके तो वैष्णवों का आग्रह हुआ कि आपके द्रव्य का सदुपयोग श्री रंग जी के लिये भी होना चाहिये। उन्होंने अपनी उदारता प्रकट करने के लिये वह मंदिर भी बनवा दिया। वे नगर के सेठ थे। सभी लोग उनसे आशाएं रखते थे और उन्हें सभी को सन्तुष्ट रखना पड़ता था। उनकी औरस सन्तान तो कोई न थी पर गोद की परम्परा आज भी चल रही है। वहां सेठ भगवानदास उसी वंश की गोद में आये हैं। द्वारिकाधीश के मंदिर के सामने उनकी बड़ी विशाल अतुल सम्पत्ति है। मैं मथुरा ५ वर्ष (१९४८-५१) तक रहा हूँ सो मुझे इतनी जानकारी उपलब्ध हो सकी थी। विशेष जानकारी दिगम्बर जैन

सध, चौरासी मथुरा के विद्वान से उपलब्ध की जा सकती है।”

वास्तव में श्रीरंगजी का मंदिर बनवाने के कारण ही रसिक भक्तमाल में उनको वैष्णव अनुरागी होना लिख दिया है। उन्होंने जैन धर्म का त्याग नहीं किया था। रसिक भक्तमाल के पद्य के अन्तिम-चरण में श्री लक्ष्मीचन्द के साथ राधाकिसन और गोविन्ददास का उल्लेख है वे ही रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे। इस बात का स्पष्ट उल्लेख श्री प्रभुदयाल जी भीतल के हाल ही में प्रकाशित ग्रन्थ में हुआ है जिसमें श्री रंग जी के मंदिर को सेठ लक्ष्मीचन्द से छिपाकर सेठ राधाकिसन व गोविन्ददास ने संवत् १९०२ में बनाना आरम्भ किया किन्तु धन की यथेष्ट व्यवस्था न होने से उसका निर्माण-कार्य रोक देना पड़ा। जब सेठ लक्ष्मीचन्द को इस बात की जानकारी हुई तो उन्होंने इसे पूरा करा दिया। इस प्रकार ४५ लाख रुपये की लागत का यह मंदिर संवत् १९०८ में पूरा हुआ।

चौरासी के जैन मंदिर के सबध में श्री प्रभुदयालजी भीतल ने लिखा है कि ‘मथुरा चौरासी नामक प्राचीन सिद्ध क्षेत्र में मनीराम द्वारा निर्मित यह एक दिगम्बर जैन मंदिर है। इसमें पहले श्रीचन्द्रप्रभ की व बाद में श्री अजितनाथ की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गई थी। ब्रज मण्डल जैनधर्म का यह सबसे प्रसिद्ध केन्द्र है।

दिगम्बर जैन मंदिर चौरासी के विद्वानों को वहां के शिलालेख और कागजातों से सही और विस्तृत जानकारी प्रकाश में लानी चाहिए।

उपर्युक्त श्री प्रभुदयाल भीतल का ‘ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास’ प्रथम भाग राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित व प्रसारित हुआ है उसके पृष्ठ ५४६ से ५५० में सेठ मनोराम और लक्ष्मीचन्द तथा उनके वंशजों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्रकाशित हुई है। ‘ब्रज

संस्कृति के सहायक महानुभाव' शीर्षक के अन्तर्गत 'मथुरा का सेठ घराना' उपशीर्षक में सेठ मनीराम, सेठ लक्ष्मीचन्द और उसके उत्तराधिकारी का विवरण दिया गया है व अन्त में सेठ घराने का वंश-वृक्ष भी दे दिया गया है। सबसे पहले भूमिका के रूप में यह लिखा गया है कि "अंग्रेजों के शासनकाल में ब्रज की बिगड़ी हुई धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति को यथासम्भव सुधारने के कार्य में जिन महानुभावों ने अपना योग दिया था उनमें मथुरा के सेठों का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने ब्रज संस्कृति के विविध क्षेत्रों में अपने अपार वैभव का विनियोग करते हुए बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। उनके द्वारा निर्मित मथुरा का श्री द्वारिकाधीश का मन्दिर और वृन्दावन का श्रीरंगजी का मन्दिर ब्रज की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के केन्द्र रहे हैं। सेठ घराने के प्रमुख व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

गोकुलदास पारिख—ग्वालियर में गोकुलदास पारिख एक गुजराती वैश्य था। वह पहले एक सामान्य कर्मचारी था किन्तु अपनी प्रतिभा और कर्तव्य परायणता से सिधिया नरेश का विश्वासपात्र पदाधिकारी और राज्य का खजांची हो गया था। उस काल में उज्जैन के नागा मन्यासियों ने बड़ा उपद्रव कर रखा था। अन्त में दीलत-राव सिधिया ने नागाओं का दमन करने के लिये पारिख जी को राजकीय सैनिकों के साथ उज्जैन भेजा था। पारिख जी के चातुर्य और रण कौशल से नागाओं की पूरी तरह पराजय हो गई। नागा साधुओं द्वारा अनेक वर्षों से संचित करोड़ों की धनराशि पर पारिख जी का अधिकार हो गया। वह उस संचित सम्पत्ति को लेकर ग्वालियर वापस आ गया। राजकीय प्रतिष्ठा के साथ ही पारिख जी का धन-वैभव भी बढ़ गया। जिस स्थान पर वह रहता था वह पारिख जी बाड़ा लक्ष्मर में आज भी प्रसिद्ध है। पारिख जी वल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने अपने निवास स्थान पर श्री द्वारिकाधीशजी का एक मन्दिर बनवाया था। उसके अधीनस्थ कर्मचारियों में दो मुनीम भी थे—(१) मनीराम और (२) चम्पाराम।

१. देखो मेरा वृन्दावन के दीवान चम्पाराम की कृतिया जैनशोधक २२

मनीराम अत्यन्त विश्वासपात्र और चतुर मुनीम था और उसका उत्तराधिकारी समझा जाता था। गोकुलदास पारिख मनीराम आदि के साथ सन् १८७० में नागाओं की सम्पत्ति को लेकर ब्रज में आ गया। मथुरा में श्री द्वारिकाधीशजी का मन्दिर सन् १८७१ में बनाया और सेवा-पूजा में मनीराम मुनीम का बड़ा सहयोग रहा। मनीराम खण्डेलवाल वैश्य और श्रावकी जैन था। उसके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द को पारिख जी ने उत्तराधिकारी घोषित किया और लिखा-पट्टी कर समस्त सम्पत्ति मनीराम को सौंप दी। सन् १८८३ में पारिख जी का देहान्त हो गया। पारिख जी के वृत्तान्त का संक्षिप्तसार देने के बाद मनीराम, लक्ष्मीचन्द आदि का पूरा विवरण नीचे दिया जा रहा है—

सेठ मनीरामः—

वह जयपुर राज्यातर्गत मालपुरा ग्राम का निवासी एक जैनी खण्डेलवाल वैश्य था। घर की दरिद्रता के कारण वह अपने जन्म-स्थान को छोड़कर ग्वालियर आ गया था। और वहां गोकुलदास, पारिख जी की सेवा में रहने लगा था। अपनी योग्यता तथा चतुरता के कारण उसकी उन्नति भी होती गयी थी। जब पारिख जी ने आकर ब्रज में निवास किया, तब वह भी उसके साथ वहां आ गया था। उसके तीन पुत्र थे। (१) लक्ष्मीचन्द (२) राधाकृष्ण और (३) गोविन्ददास।

जैसा पहिले लिखा गया है पारिख जी ने अपनी मृत्यु से पहले लक्ष्मीचन्द को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर अपनी समस्त सम्पत्ति मनीराम को सौंप दी थी। पारिख जी की मृत्यु होने पर उसके भाई-भतीजों ने अपने अधिकार के लिए मनीराम-लक्ष्मीचन्द के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। वह मुकदमा कई वर्ष तक चलता रहा था। अन्त में उसका निर्णय मनीराम-लक्ष्मीचन्द के पक्ष में हो आया था।

मनीराम ने पारिख जी की विपुल संपत्ति को धमदि में लगाने के साथ ही साथ कारबार में भी लगाया था। उसने मनीराम लक्ष्मीचन्द के नामसे एक व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना कर उसके द्वारा लेन-देन का कारबार आरम्भ किया जिससे वह संपत्ति दिन-रात बढ़ने लगी। उसके

प्रतिष्ठान की बड़ी भारी साख थी और वह इस क्षेत्र का सबसे अधिक धनी माना जाता था। ग्वालियर नरेश दौलतराव सिधिया के देहावसान के पश्चात् रानी बायजाबाई ने सेठ मनीराम को ग्वालियर राज्य का खजाची नियुक्त किया था। वहाँ के सरकारी कागजों से ज्ञात होता है कि उस काल मनीराम का ग्वालियर राज्य में बड़ा प्रभाव था।

उसके धार्मिक कार्यों में उसके द्वारा निर्मित चौरासी का जैन मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका देहान्त सन् १८६३ में हुआ था। मनीराम और गोकुलदास पारिख की सुन्दर छतरियाँ मथुरा के 'यमुना बाग' में बनी हुई थी।

चौरासी का जैन मन्दिर :—

मथुरा के चौरासी नामक प्राचीन सिद्धक्षेत्र में मनीराम द्वारा निर्मित यह एक दिगंबर जैन मन्दिर है। इसमें पहिले श्रीचन्द प्रभु की और बाद में श्री अजितनाथ की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थी। ब्रज मण्डल में जैनधर्म का यह सबसे प्रसिद्ध केन्द्र है।

सेठ लक्ष्मी चन्द :—

वह मनीराम का ज्येष्ठ पुत्र और पाण्डि जी का उत्तराधिकारी था। उसने भाग्यवश अपनी बाल्यावस्था में पारिख जी की विपुल सम्पत्ति प्राप्त की थी। मनीराम के जीवन-काल में ही

१ रानी बायजाबाई सिधिया के सरकारी कागज-पत्र में ६६ का अंश इस प्रकार है—“सिधिया दरबार के मुख्य खजाची गोकुल पारिख थे। जब वे (दौलतराव) सन् १८२७ ई० (सन् १८८४) में मर गये। तब उसकी जगह पर बायजाबाई ने जयपुर निवासी मनीराम सेठ को खजाची नियुक्त किया पहिले यह बहुत गरीब थे, परन्तु आगे वे बड़े धनाढ्य हो गये। सिधिया दरबार में उस समय ये अखिल दर्जे के मालदार गिने जाते थे। इनका उस समय इतना प्रभाव था कि उनकी सलाह लिये बिना कोई सरकार को एक पैसा तक कर्ज नहीं देना था। उनकी दुकान का नाम 'मनीचन्द' करके मशहूर था।” काकगोली का इतिहास पृ० ३३।

वह अपने कार-बार को देखने लगा था और उसने अपने व्यापारिक प्रतिष्ठान की बड़ी उन्नति की थी। मनीराम के पश्चात् उसके कार-बार, धन-वैभव और यश की इतनी वृद्धि हुई कि उसका नाम समस्त उत्तर भारत में प्रसिद्ध हो गया था। वह 'नगर सेठ' कहलाता था। और उसके प्रतिष्ठान 'मनीराम लक्ष्मीचन्द की व्यापारिक साख उस काल में सर्वत्र व्याप्त थी उसके विषय में श्री ग्राउस ने लिखा है—

“पिछले अनेक वर्षों तक मथुरा जिले का सर्वाधिक प्रभावशाली पुरुष 'मनीराम लक्ष्मीचन्द' की बड़ी गद्दी का मुखिया रहा है। इस गद्दीकी व्यापक और प्रचुर प्रतिष्ठा इस प्रान्त के किसी अन्य व्यापारिक सस्थान से अधिक ही नहीं है वरन् समस्त भारत में भी उसके समान शायद ही कोई दूगरी गद्दी हो। इसकी शाखाएँ दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई के साथ ही साथ अन्य बड़े व्यापारिक केन्द्रों में भी है। जहाँ सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि है। हिमालय से कन्या-कुमारी तक कहीं भी मथुरा के सेठों की कितनी ही बड़ी हुंडी का भुगतान वैसे ही साख से होता है जैसा इंगलैण्ड के बैंक नोट का लंदन या पेरिस में किया जाता है।”

सांस्कृतिक और जनोपयोगी कार्य :—

सेठ लक्ष्मीचन्द ने अपने यश-वैभव की वृद्धि करने के साथ ही साथ ब्रज के जनोपयोगी और सांस्कृतिक कार्यों की प्रगति में बड़ा योग दिया था। उस काल में यहाँ इस प्रकार के जिनने कार्य किये गये, उनमें प्रमुख प्रेरणा सेठ लक्ष्मीचन्द की थी। क्या धार्मिक, क्या सांस्कृतिक, क्या राजनैतिक सभी क्षेत्रों में उसकी उदारता की धूम थी।

श्री रंगजी का मन्दिर :—

सेठ लक्ष्मीचन्द के दो छोटे भाई राधाकृष्ण और गोविन्द दाम थे। वैष्णव धर्म के रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे। उन दिनों ब्रज में रामानुज सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी गोवर्धन में थी, जिसमें अध्यक्ष श्रीरंगाचार्य नामक एक विद्वान और तपस्वी धर्माचार्य थे। सेठ राधाकृष्ण और सेठ गोविन्ददाम ने अपने ज्येष्ठ भ्राता लक्ष्मीचन्द से छिपाकर वृन्दावन में रामानुज सम्प्रदाय का एक

२ मथुरा-एन्डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण) पृ. १४

विशाल मन्दिर निर्माण करने की योजना बनायी थी। पहले उन्होंने वहाँ पर श्री लक्ष्मीनारायण जी का मन्दिर बनवा कर उसे रंगाचार्य जी की भेंट कर दिया।

बाद में स० १९०१ में उन्होंने श्री रंगजी का विशाल मन्दिर बनवाना आरम्भ किया, किन्तु धन की यथेष्ट व्यवस्था न होने से उसका निर्माण कार्य रोक देना पड़ा। जब सेठ लक्ष्मीचन्द को उसका ज्ञान हुआ, तब उसने स्वयं उसे पूरा किया था। इस प्रकार यह मन्दिर ४५ लाख रुपये की लागत से स० १९०८ में बनकर पूरा हुआ था। यह ब्रज का सबसे विशाल एवं सर्वाधिक वैभव सम्पन्न देव स्थान है और रामानुज संप्रदाय का सबसे बड़ा केन्द्र है। इसमें चैत्र के महीने में 'ब्रह्मोत्सव' का बड़ा धार्मिक समारोह होता है, जो दस दिनों तक चलता है। इसकी संपत्ति एक करोड़ से भी अधिक की मानी जाती है।

हवेली और उद्यान :—

सेठ लक्ष्मीचन्द के निर्माण कार्यों में उसकी हवेली और सुरम्य उद्यान भी उल्लेखनीय हैं। हवेली मथुरा के असिकुड़ा बाजार में श्री द्वारिकाधीश जी के मन्दिर के सामने बनी हुई है और 'सेठ जी की हवेली' कहलाती है। इसका विस्तार असिकुड़ा घाट से लेकर विश्राम घाट तक है। यह हवेली स० १९०२ में बनी थी और इसके निर्माण में उस समय प्रायः एक लाख रुपये की लागत आई थी। उसका उद्यान मथुरा के सदर बाजार के समीप यमुना के किनारे बना हुआ है और 'यमुना बाग' कहलाता है। इसमें दुर्लभ जाति के पेड़-पौधे, सुन्दर इमारतें और रमणीक कुज हैं। इसकी विशेष उन्नति लक्ष्मीचन्द के वंशज राजा लक्ष्मणदास के काल में हुई थी।

विविध कार्य :—

स० १९१४ में जब अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जन-विद्रोह हुआ था, तब मथुरा नगर में भी उपद्रव होने की आशंका हो गयी थी। उस समय सेठ लक्ष्मीचन्द ने अपने प्रभाव से यहाँ शांति और व्यवस्था कायम करने में बड़ा काम किया था। एक ओर उसने विद्रोहियों को आर्थिक सहायता से सन्तुष्ट कर नगर की रक्षा की थी तो दूसरी ओर उसने अंगरेजों की भी बड़ी सहायता की थी। जब विद्रोहियों ने छावनी को जलाकर अंगरेजों पर हमला

किया था, तब उसने स्थानीय कलक्टर मि० थोर्नहिल तथा उसके साथियों को कई दिनों तक अपने मकान में छिपाये रखा था। उसने सरकारी खजाने की रक्षा की थी और नगर को क्षति से बचा लिया था। जब तक विद्रोह जात नहीं हुआ, तब तक दीन-दुखियों और जरूरत मन्दों को उसकी ओर से सब प्रकार की सहायता मिलती रही थी। इसमें उसका प्रचुर धन व्यय हुआ था। उसके उपलक्ष में अंगरेजों ने उसे 'रायबहादुर' की पदवी तथा खिलअत और माफी की भूमि प्रदान की थी।

उसने अकाल पीड़ित लोगों की सहायता करने तथा शिक्षालय बनाने के लिए भी प्रचुर धन दिया था। जब मथुरा से हाथरस तक रेल बनाने का प्रश्न उठा, तब रेल कम्पनी ने उसे इस शर्त पर बनाना स्वीकार किया कि उसके निर्माण-व्यय का कुछ भाग मथुरा के निवासी भी उठावें। तब सेठों ने प्रायः डेढ़ लाख के शेयर लिए थे। और पुल बनवाने का समस्त व्यय-भार भी उठाया था। यहाँ तक कि उन्होंने मदर के ईसाई गिराधर के निर्माणार्थ भी (११००) प्रदान किये थे।

लक्ष्मी चन्द के उत्तराधिकारी :—

सेठ लक्ष्मी चन्द की मृत्यु स० १९२३ में हुई थी। उससे पहले उसके अनुज सेठ राधाकृष्ण का देहान्त स० १९१६ में हो चुका था। सेठ लक्ष्मीचन्द का एकमात्र पुत्र रघुनाथ दास विशेष प्रतिभाशाली नहीं था। और राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदास छोटा बालक था। अतः सेठों का समस्त कारबार सेठ गोविंददास की देख-रेख में चलता रहा। उस समय भी सेठों की प्रतिष्ठा खूब बढ़ी हुई थी। ब्रिटिश शासन में सेठ गोविंददास को स० १९३४ (१ जनवरी, सन् १८७७) में C.S.I. का खिताब दिया था। उसकी मृत्यु स० १९३५ में हुई थी। मृत्यु से पहले उसने श्री द्वारिकाधीश जी के मन्दिर को स० १९३० में कांकरौली के गोस्वामी गिरधरलाल जी को भेंट कर दिया था। सेठ गोविंददास के कोई सन्तान नहीं थी। सेठ लक्ष्मी चन्द के पुत्र रघुनाथ दास के भी कोई सन्तान नहीं हुई थी; इसलिए सेठ राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदास सेठों की गद्दी, जायदाद और सम्पत्ति का एक मात्र स्वत्वाधिकारी हुआ था।

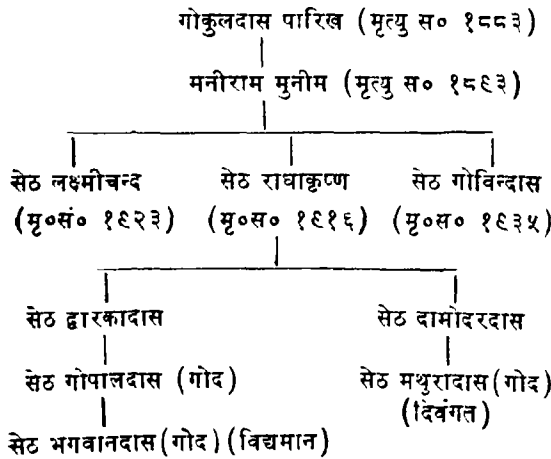
जैन ग्रन्थों में राष्ट्रकूटों का इतिहास

श्री रामवल्लभ सोमानी

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजाओं के गौरवपूर्ण शासनकाल में जैनधर्म की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कई आचार्यों ने उस समय कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की स्रचना की जिसमें समसामयिक भारतके इतिहास के लिए उल्लेखनीय सामग्री मिलती है।

राष्ट्रकूट राज्य की नींव गोविंदराज प्रथम ने चालुक्य राजाओं को जीतकर डाली थी। इसका पुत्र दत्तदुर्ग बड़ा उल्लेखनीय हुआ है। इसका उपनाम साहसतुग भी था।

इसके बाद राजा लक्ष्मणदास इसके वंशज का विवरण देकर फिर मुनीम मांगीलाल (मथुरा का माहेश्वरी वैश्य और सेंट लक्ष्मीचन्द का प्रधान मुनीम) उसके पुत्र लाला नारायणदास, लाला श्रीनिवासदास का विवरण दिया गया है उसे नीचे दिया जा रहा है—



चौरासी के दि० मन्दिर मूर्तियों के शिलालेख व पुराने कागजात प्राप्त है, प्रकाश में लाना चाहिए। मैं मथुरा-दासादि पर विशेष जानकारी प्राप्त नहीं कर सका दि० जैन मन्दिर मूर्तियों के लेख ध्यानपूर्वक संग्रह कर प्रकाश में लाना चाहिए।

जैन दर्शन के महान् विद्वान् भट्ट अकलक इसके समय में हुए थे। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में लघुयस्त्रय, तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक, अष्टशती, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह आदि बड़े प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में यद्यपि सम सामयिक राजाओं का उल्लेख नहीं है किन्तु कथा-कोश नामक ग्रन्थ में इनकी संक्षेप में जीवनी है। इसमें इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम बतलाया है जिन्हें राजा शुभतुग का मंत्री वर्णित किया है। यह राजा शुभतुग निस्सदेह कृष्णराज प्रथम है और इसी आधार पर श्री के. वी. पाठक ने इनको कृष्णराज प्रथम का सम सामयिक माना है। इसके विपरीत श्रवण बेल्गोला की मल्लिषेण प्रशस्ति में इन्होंने राजा साहसतुग की सभा में बड़े गौरव के साथ यह कहा था कि हे राजन् ! पृथ्वी पर तेरे समान तो प्रतापी राजा नहीं है और मेरे समान बुद्धिमान भी नहीं है। 'अकलक स्तोत्र' नामक एक अन्य ग्रन्थ में कुछ पद ऐसे भी हैं जिन्हें किसी राजा की सभा में कहा जाना वर्णित है लेकिन इसमें कई स्थलों पर "देवोऽकलङ्का कलां" पद आया है। अतएव प्रतीत होता है कि ग्रन्थ किसी अन्य के द्वारा लिखा हुआ है। मल्लिषेण प्रशस्ति के उक्त श्लोक सम्भवतः जन श्रुति के आधार पर लिखे गये हैं जो सही प्रतीत होते हैं।

श्री दीर सेनाचार्य भी प्रसिद्ध दर्शन शास्त्री थे। ये

- १ जनरल बम्बई ब्राच रायल एशियाटिक सोसाइटी भा० १८ पृ० २२६, कथाकोष में इस प्रकार उल्लेख है:—
- २ राजन् साहसतुग...सति बहवः श्वेतात पत्रा नृपाः। किन्तु त्वत्सदृशरणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः। तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीम्बरा वाम्मिनो। नाना शास्त्रविचार चारुचतुरधियाः काले कलौमद्विधः॥
—जैन लेख स० भा० २ लेख २६०
- ३ न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका पृ० ५५।

अमोघ वर्ष के शासनकाल तक जीवित थे। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में धवला और जयधवला टीकाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। धवला टीका के हिन्दी सम्पादक डा० हीरालाल जी ने इसे कालिक शुक्ला १३ शक सवत् ७३८ में पूर्ण होना वर्णित किया है और लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट राजा जगतुग राज्य त्याग चुके थे और राजा-धिराज बोद्धराय शासक थे इसे पूर्ण किया श्री ज्योति प्रसाद जी जैन ने इसे अस्वीकृत करके लिखा है कि प्रशस्ति में स्पष्टतः “विक्रम रायम्हि” पाठ है अतएव यह विक्रम सवत् होना चाहिए। अतएव उन्होंने यह तिथि ८३८ विक्रम दी है। भाग्य से ज्योतिष के अनुसार दोनों ही तिथियों की गणना लगभग एकसी है। लेकिन राजनैतिक स्थिति पर विचार करे। तो प्रकट होगा कि यह विक्रमी के स्थान पर शक सवत् ही होना चाहिए। इसका मुख्य आधार यह है कि विक्रमी सवत् का प्रचलन इतना प्राचीन नहीं है। इसके पूर्व इस सवत् का नाम कृत और मालव सवत् मिलता है। विक्रमी सवत् का सबसे प्राचीन तम लेख ८६८ का धोलापुर से चण्ड महासेन का मिला है। लेकिन इसका प्रचलन उत्तरी भारत में अधिक रहा है। गुजरात और दक्षिणी भारत में उस समय लिखे ताम्र पत्रों में शक संवत् या वल्लभी संवत् मिलता है। इसमें उल्लिखित जगतुग नि सन्देह राष्ट्रकूट राजा गोविन्दराज तृतीय है और बोद्धराय अमोघवर्ष। अगर विक्रमी सवत् ८३८ मानने है तो यह तिथि ७८१ ई० ही आती है। उस समय गोविन्दराज का पिता ध्रुव निरुपम भी शासक नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त हरिवशपुराण में वीरसेनाचार्य का उल्लेख है लेकिन उनकी इस धवला टीका का उल्लेख नहीं है। स्मरण रहे कि इस ग्रंथ में समन्तभद्र, देवनन्दि, महासेन आदि आचार्यों के ग्रंथों का स्पष्टतः

उल्लेख है। अतएव यह घटना शक सवत् ७०५ के पश्चात् ही हुई है।

जयधवला के अन्त में लम्बी प्रशस्ति दी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि वीरसेनाचार्य की इस अपूर्ण कृति को जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया था। यह टीका शक संवत् ७५६ में महाराजा अमोघ वर्ष के शासनकाल में पूर्ण की गई थी।

बहुचर्चित हरिवशपुराण की प्रशस्ति के अनुसार शक सं० ७०५ में जब दक्षिण में राजा वल्लभ, उत्तरदिशा में इन्द्रायुध, पूर्व में वत्सराज और सौरमडल में जयवराह राज्य करते थे तब बडवाण नामक ग्राम में उक्त ग्रन्थ पूर्ण हुआ था। शक सं० ७०५ की राजनैतिक स्थिति बड़ी उल्लेखनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा का जो उल्लेख है वह सभ्यतः ध्रुव निरुपम है। गोविन्द द्वितीय की उपाधि भी ‘वल्लभराज’ थी इसी प्रकार श्रवण वेल्गोला के लेख न० २४ में स्तम्भ के पिता ध्रुव निरुपम की भी उपाधि वल्लभराज है। गोविन्दराज का शासनकाल अल्पकालीन है और शक सं० ७०१ के धूलिया के दान पत्र के पश्चात् उसका कोई लेख नहीं मिला है अतएव यह ध्रुव निरुपम के लिए ठीक है। उत्तर में इन्द्रायुध का उल्लेख है। यह भण्डी वशी राजा इन्द्रायुध है। फ्लीट, भण्डारकर प्रभृति विद्वानों ने भी इसे ठीक माना है। कुछ इसे गोविन्दराज (तृतीय) के भाई इन्द्रसेन मानते हैं जो उस समय राष्ट्रकूटों की ओर से गुजरात में प्रशासक था। स्वतन्त्र राजा नहीं। प्रशस्ति में तो स्पष्टतः इन्द्रायुध पाठ है अतएव इस प्रकार के तोड़ मोड़ करने के स्थान पर इसे इन्द्रायुध ही माना जाना ठीक है। पूर्व में वत्स-

७. शकिष्वद शनेषु सत्यमुदिश पञ्चोत्तरेषूत्तरा,
पातीन्द्रायुध नाम्नि कृष्णनृपं श्रीवल्लभे दक्षिणा
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृतनृपे वत्सादिराजेष्वरा,
सौराणामधि मडल जययुते वीरे वराहेऽवति ॥

—हरिवशपुराण ६६-५२।

८. अल्लेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाजम्स पृ० ५२-५३

९. Epigraphica—Indica—Vol. IV P. 196-195

१०. डा० गुलाबचन्द चौधरी-हिस्ट्री आफ नोर्दन इण्डिया फ्रोम जैन सोर्सेज। पृ० ३३।

४. अडतीसम्हि सतसए विक्कमरायं कि एमु सगणामे।

वासे सुतेरसीय भाणु-विलगो धवल-पक्खे ॥

जगतुगदेवरज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे।

सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होने ॥

धवला० १,१,१ प्रस्तावना ४४-४५।

५. अनेकान्त वर्ष ७ पृ० २०७-२१२:

६. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १६६।

राज का उल्लेख है। शक स० ७०० में लिखी गई कुवलयामाला में इस राजा को जालोर का^{११} शासक माना है। अवन्ति प्रतिहार राजाओं के शासन में सभवतः दत्ति-दुर्ग के शासनकाल से ही थी^{१२}।

आचार्य जिनसेन^{१३} जो आदिपुराण के कर्त्ता थे अमोघ वर्ष के गुरु के नाम से विख्यात है। उत्तर पुराण की प्रशस्ति में स्पष्टतः वर्णित है कि वह जिनसेनाचार्य के चरण कमलों में मस्तक रखकर अपने को पवित्र मानता था^{१४}। इसकी बनाई हुई प्रश्नोत्तर रत्नमाला नामक एक छोटी सी पुस्तक मिली है। इसके प्रारम्भ में “प्रणिपत्य वर्द्धमान” शब्द हैं। यद्यपि यह विवादास्पद है कि अमोघ-वर्ष जैनधर्म का पूर्ण अनुयायी था अथवा नहीं किन्तु यह सत्य है कि वह जैनधर्म की ओर बहुत आकृष्ट था। इसी के शासनकाल में लिखा गया महावीर आचार्य का गणित-सार सग्रह नामक ग्रन्थ में अमोघवर्ष के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने समस्त प्राणियों को प्रसन्न करने के लिये बहुत^{१५} काम किया था, जिसकी चित्तवृत्ति रूप अग्नि में पापकर्म भस्म हो गया था। अतएव ज्ञात होता है कि वह बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। इसमें स्पष्टतः जैन-धर्मावलम्बी वर्णित किया है। राष्ट्रकूट शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष कई बार राज्य छोड़कर एकान्त का जीवन व्यतीत करता था और राज्य युवराज को सौंप देता था। सजान के दानपत्र के श्लोक ४७ व

अन्य दान पत्रों में इसका स्पष्टतः उल्लेख है। प्रश्नोत्तर रत्नमाला में अन्तिम दिनों में उसका राज्य से विरक्त होना^{१६} वर्णित है। अगर अमोघवर्ष जैनधर्म की ओर आकृष्ट नहीं होता तो निस्सन्देह जिनसेनाचार्य उसकी प्रशंसा में सुन्दर पद नहीं लिखते^{१७}।

उसमें लिखा है कि उसके आगे गुप्त राजाओं की कीर्ति भी फीकी पड़ गई थी। सजान के दानपत्र में भी इसी प्रकार का उल्लेख है^{१८}। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी राजा कृष्ण (द्वितीय) की^{१९} प्रशंसा की है। किन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि यह राजा जैन था अथवा नहीं। किन्तु इसका सामन्त लोकादित्य जो वनवास देश का राजा था अवश्यमेव जैन था। इसकी राजधानी^{२०} वकापुर थी। यह जैनधर्म का बड़ा भक्त था।

शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भी गोविन्दराज और अमोघवर्ष का वर्णन मिलता है। गगवशी सामन्त चाकि-राज की प्रार्थना पर शक स० ७३५ में गोविन्दराज (तृतीय) ने जालमंगल नामक ग्राम यापनीय सघ को दिया था। यह लेख गोविन्दराज (तृतीय) के शासन-काल का अन्तिम लेख है। उत्तर पुराण में वर्णित लोका-दित्य के पिता बाकेय के कहने पर अमोघवर्ष ने जैनमन्दिर के लिये भूमिदान में दी थी ऐसा एक दानपत्र से प्रकट होता है^{२१}।

महाकवि पुष्पदन्द और सोमदेव उस युग के महान्

११ सगकाले बोलीणे वरिसाण सएहि सत्तहि गएहि।

एगदिणेणूणेहि रइया अवरण्ह वेलाए ॥

परभड भिउडी भंगो पणईयण रोहिणीकलाचदो।

सिरिवच्छराय णामो णरहत्यो पत्थिवो जइया ॥

—कुवलयमाला

१२ अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ४०।

१३ “इत्यमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचित मेघदूत वेष्टिते पार्श्वाम्युदये.....”

(पार्श्वाम्युदय के सर्गों के अन्त की पुष्पिका)

१४ यस्य प्रांशुनखांशु जालविसरद्वारान्तराविर्भव-

त्पादाम्भोज रजः पिशङ्ग मुकुट प्रत्यग्रत्नद्युतिः।

१५ नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य का इतिहास पृ० १५२

१६ अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ८६-९०

१७ गुर्जर नरेन्द्रकीर्तोरन्तः पतिता शशाङ्कशुभ्रायाः।

गुप्तैव गुप्तनृपतेः शकस्य मशकायते कीर्तिः ॥

१८ हत्वा आतरमेव राज्य महरत् देवी च दीनस्तथा,

लक्षकोटिमलेखयत् किलकिली दाता सगुप्तान्वयः।

येनात्याजि तनु स्वराज मसकुत बाह्यायः कंः काकथा,

हस्तिस्पोन्नति राष्ट्रकूट तिलक दातेति कीर्त्यामपि ॥४८

—[E. 1 Vol. 18 P. 235]

१९ उत्तर पुराण की प्रशस्ति श्लोक २६-२७

२० उक्त पुराण की प्रशस्ति श्लोक २६ और ३०

२१ जैन लेखसंग्रह भा० ३ की भूमिका पृ० ६५ से ६७

विद्वान् थे। पुष्पदन्त का एक नाम खड भी था। ये महा-
मात्य भरत और उनके पुत्र नन्न के आश्रित रहे थे। ये
दोनों राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजके लिये “नुडिगु”, “वल्लभ-
नरेन्द्र” और “कण्हराय” शब्द भी प्रयुक्त किये हैं^{२२} :
तिरुक्कलुरुनरम् के शिलालेख में ‘कण्हरदेय’ शब्द इस
राजा के लिये प्रयुक्त^{२३} किया गया है। यह राजा जब
मेलपाटी के सैनिकशिविर में था तब सोमदेव ने यशस्तिलक
चम्पू ग्रन्थ को पूर्ण किया था^{२४}। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से
ज्ञात होता है कि अरिकेशरी के पुत्र वद्दिग की राजधानी
गगधारा में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था। इसमें स्पष्टतः वर्णित
है कि कृष्णराज ने पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि
राजाओं को जीता था। इस बात की पुष्टि सम साम-
यिक पत्रों से भी होती है। पुष्पदन्त के आदिपुराण में
मान्यखेटपुर को मालवे के राजा द्वारा विनष्ट करने का
उल्लेख है^{२५}। यशोधर चरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता
है कि जिस समय सारा जनपद नीरस हो गया था, चारों
ओर दुःख दुःख व्याप्त हो रहा था, जगह जगह मनुष्यों
की खोपडिया और कंकाल बिखर रहे थे, सर्वत्र करक ही
करक दिखाई दे रहा था उस समय महात्मा नन्न ने मुझे
सरस भोजन और सुन्दर वस्त्र दिये अतएव वह चिरायु

हो^{२६}। महाकवि धनपाल की पाइय लच्छी नाममाला^{२७}
के अनुसार यह घटना १०२६ वि० में घटित हुई थी।
राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग के बाद कर्कराज हुआ। परमार
आक्रमण के बाद राष्ट्रकूट राज्य का अन्तः पतन प्रारम्भ
हो गया और शीघ्र ही चालुक्यों ने वापिस हस्तगत कर
लिया।

संस्कृत और प्राकृत के साथ साथ कन्नड भाषा में भी
कई दानपत्र और ग्रन्थ लिखे गये। इनमें सबसे उल्लेख-
नीय महाकवि पम्प है। इसके द्वारा विरचित आदिपुराण
चम्पू और विक्रमार्जुन विजय ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं पिछले ग्रन्थ
में अरिकेशरी की जो चालुक्यवशीय था और जा सोमदेव
के यशस्तिलक चम्पू में भी वर्णित है, वशावली दी गई
है। विक्रमार्जुन विजय ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें राष्ट्र-
कूट राजा गांविन्द (तृतीय) के विरुद्ध उसके सामन्त
राजाओं के आक्रमण करने और राज्य को वद्दिगराज को
मोपने का उल्लेख है। वद्दिग अमोघवर्ष (द्वितीय) का ह्रां
उपनाम प्रतीत होता है^{२८}।

शासन व्यवस्था

राष्ट्रकूट राजाओं के राजनैतिक इतिहास के साथ-
साथ समसामयिक राज्य व्यवस्था का भी जैन ग्रन्थों में
सविस्तार वर्णन मिलता है। आदिपुराण और नीतिवाक्या-
मृत में इसका स्पष्ट चित्र खींचा गया है। राजा और
मन्त्रियों को उस समय वंश परम्परागत अधिकार प्राप्त

२२ सिरिकण्हरायकरयलणिहिमग्रसिजलवाहिणि दुग्गयरि।

—आदिपुराण अ० ३ की भूमिका पृ० १६

२३ E.I. VOL 3 P. 282 एवं साउथ इंडियन इस्क्रीप्सन
भा० १ पृ० ७६.

२४ ‘पाण्ड्य-सिंहल - चोल-चेरम - प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य
मेलपाटी प्रवर्द्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे’...
एवं ८८० शक के दान पत्र में “तं दीण दिण्ण धण
कणयपयरु महिपरिभमतु मेलाडिणयरु” उल्लेखित
है।

२५ दीनानाथ धन सदा बहुजन प्रोत्फुल्ल वल्लीवनं।
मान्याखेटपुरं पुरदर पुरी लीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथ नरेन्द्रकोप शिखिना दग्ध विदग्धं प्रिये।
ववेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः॥
—यह पद सदिग्ध और क्षेपक है) महापुराण ५०वीं
सधि।

२६ जणवय नीरसि दुरियमलीमसि,

कर्णिदायरि दुसहे दुइयरि।

पडियकवालइणरककालइ, बहुरकालइ अइ दुक्कालइ।

पवरागारि सरसाहारि, सार्णह चेलि वरतबोर्लि।

महु उवयारिउ पुण्णि पेरिउ,

गुणभत्तिल्लउ गण्णु महल्लउ।

होउ चिराउमु.....”

—यशोधर चरित ४।३१ पृ० १००

२७ विक्कम कालस्स गए अउणतीमुत्तरे सहस्सम्मि।

मालवनरिदघाडीए लूडिए मन्नेखेडम्मि॥

—पाइयलच्छी नाममाला पृ० ४५

२८ अल्लेकर राष्ट्रकूटाज पृ० १०७-१०८

थे"। मंत्रियों की संख्या सीमित रखने का उल्लेख सोम-देव ने किया है"। मंत्रिमण्डल में मंत्रियों के अतिरिक्त अमात्य (रेवेन्यू मिनिस्टर) सेनापति, पुरोहित, दण्डनायक आदि भी होते थे। गाँवों के मुखियों का उल्लेख आदि पुराण में है। तलार जो नगर अधिकारी था का उल्लेख आदिपुराण, नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक चम्पू में भी है। अष्टादश श्रेणिगण प्रधानों का भी उल्लेख यत्र तत्र मिलता है। नीतिवाक्यामृत में कई प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख है। राज्य कर जो प्रायः धन के रूप में लिया जाता था यह उपज का एक भाग था। इनके अतिरिक्त शुल्क मंडपिकाओं द्वारा भी संगृहीत किया जाता था। राजाओं के ऐश्वर्य का सविस्तर वर्णन है। इनके राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले उत्सवों का भी आदि-पुराण में वर्णन है। राजाओं का अभिषेक भी एक विशिष्ट पद्धति द्वारा कराया जाता था। राज्याभिषेक के समय "पट्टबधन" होता था। यह पट्टबधन युवराज पद पर नियुक्त करते समय भी बाधा जाता था। पट्टबधन" का

२६ 'सन्तान क्रमतोगताऽपि हि रम्या कृष्ठा प्रभोः सेवया'

महामंत्री भरत ने वंश परंपरागत पद को जो कुछ दिनों के लिए चला गया था पुनः प्राप्त किया।

—महापुराण भा० ३ पृ० १३

३० "बहवो मन्त्रिणः परस्पर स्वमतीरुत्कर्षयन्ति। १०—७३

३१ पट्टबन्धापदेशेन तस्मिन् प्राध्व कृतेव सा।

—आदि पु० ११-४२

राजपट्ट बन्धास्य ज्यायासमवधीरयत्।

—आदि पु० ५—२०७

"मण्णो" के शक सं० ७१६ के लेख में—राष्ट्रकूट पल्लवान्वयतिलकाभ्या मूर्द्धाभिषिक्त गोविन्दराज नन्दि वर्मामिधेयाभ्या समुनिष्ठित—राज्याभिषेकाभ्या निजकर घटित पट्ट विभूषित ललाट-पट्टो बिख्यात।" इसी प्रकार पट्टबन्धो जगद्बन्धो. ललाटे विनिवेशित। आ० पु० १६—२३३ का उल्लेख है। पुष्पदन्त ने राजाओं के अभिषेक और चमरो का उल्लेख व्यंग के साथ किया है। "चमराणि उड्ढाविय पाद, अट्टि-सेय धोय सुमणत्तणाइ"।

उल्लेख शिलालेखों में भी मिलता है। अन्तःपुर की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। इसकी रक्षा के लिए वृद्ध कच्चुकी गण नियुक्त थे। राजाओं द्वारा जलक्रीड़ाएँ और कई प्रकार की गोष्ठियाँ किये जाने का भी वर्णन मिलता है।

सांस्कृतिक सामग्री :

उस समय सांस्कृतिक गतिविधियों के अध्ययन के लिए जैन सामग्री बहुत ही महत्वपूर्ण है। वर्णव्यवस्था^{११}, वर्णाश्रमधर्म^{१२}, सामाजिक संस्कार^{१३}, वेश्यावृत्ति^{१४}, भोजन व्यवस्था^{१५}, शिक्षा^{१६}, चित्रकला^{१७}, संगीत^{१८}, आभूषण^{१९}, सौन्दर्य प्रसाधन^{२०}, चिकित्सा साधन^{२१}, खेलों की व्यवस्था^{२२} का इनमें सागोपाग वर्णन मिलता है। समसामयिक के वास्तुशिल्प का भी सविस्तर वर्णन मिलता है। नादर महल आदि के वर्णनों में इस प्रकार की सामग्री उल्लेखनीय है। श्री अल्लेकर जी ने अपने ग्रन्थ राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स में इस सामग्री का अधिक उपयोग नहीं किया है। इस सामग्री का अध्ययन बांछनीय है।

३२ आदिपुराण १६, १८१-१८८, २४२-२४६, १४७, २६—१४२।

३३ ३८-४५-४८ और ४२वां पर्व।

३४ ४० और ३६वां पर्व।

३५ ४—७३।

३६ ६—१८६—१८८, २०३, १६—७३।

३७ १४—[१६०, १६१], १६८ [१०५—१२८]।

६८ [१७०—१६१]।

३६ १४ [१०८—१५०] १२ [२०६—२०६]।

४० १६ [४४—७१] १६ [८१—८४]।

४१ १२ [१७४] ११ [१३१] ६ [३०—३२]।

४२ ११—५६, ११, ५८, ११, ६६, ११-७४—७६, २८ [३८, ४०]।

४३ २६ [११२—११५] २६ [४८] २६ [१२३-१२७] २८ [३२—३६] १६ [११७]।

दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग : एक तुलनात्मक अध्ययन

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

‘उपयोगो लक्षणम्’ इस सूत्र के अनुसार जीव का लक्षण उपयोग माना गया है। इस उपयोग के लक्षण का निर्देश करते हुए सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक में कहा गया है कि बाह्य और अन्तरंग निमित्त से चेतनता का अनुसरण करने वाला जो परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम उपयोग है।

हरिभद्र सूरि ने उपलब्धि या ज्ञान-दर्शन की समाधि—सम्यक् अर्थात् अपने विषय की सीमा का उल्लंघन न करके धारण—को उपयोग कहा है^१। आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार वस्तु के जानने के प्रति जो जीव का व्यापार होता है उसे, अथवा जिसके आश्रय से वस्तु का परिच्छेदन होता है उसे उपयोग कहा जाता है^२।

उपयोग के दो भेद व उनका स्वरूप

वह उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें साकार उपयोग का नाम ज्ञान और अनाकार

उपयोग का नाम दर्शन है^३। जो उपयोग कर्मता और कर्तृता (उभय) रूप आकार से युक्त होता है उसे साकार तथा जो इस आकार से रहित होता है उसे अनाकार कहा जाता है^४। यह कथन आत्मविषयक उपयोग को दर्शन और बहिरर्थाविषयक उपयोग को ज्ञान मानने पर^५ घटित होता है। तदनुसार ‘मै घट को जानना हूँ’ इस ज्ञान में जिस प्रकार कर्ता और कर्म दोनों प्रतिभासित होते हैं उस प्रकार घटज्ञानोत्पादक प्रयत्न से सम्बद्ध आत्मा के वेदनरूप दर्शन में वे दोनों प्रतिभासित नहीं होते—केवल कर्ता व आत्मा का ही प्रतिभास उसमें होता है, न कि कर्म का।

यहां यह शका हो सकती है कि आत्मविषयक उपयोग को दर्शन मानने पर उसका

जं सामण्णगहणं भावाणं णव कट्टमायारं ।

अविसेसिद्वूण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥

इस परमाणु प्ररूपित सामान्यग्रहण स्वरूप दर्शन के साथ क्या न विरोध होगा ? पर इस शका के लिए

१ उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । स. सि. २-८; बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । त. वा. २, ८, १.

२ उपयोगनमुपयोगः उपलम्भः, ज्ञान-दर्शनसमाधिः । त. भा. हरि. वृत्ति २-८; उपयोग उपलम्भः, ज्ञान-दर्शन-समाधिः—ज्ञान-दर्शनयोः सम्यक् स्वविषयसीमानुल्लङ्घनेन धारण समाधिरुच्यते । त. भा. सिद्ध. वृत्ति २-८.

३ उपयोगनमुपयोगः, भावे घञ्, यद्वा उपयुज्यते वस्तु-परिच्छेद प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, ‘पुनस्मिन् घ’ इति करणे घ-प्रत्यय, बोधरूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रजप्तः प्रतिपादितः । प्रज्ञापना म. वृत्ति २६-३१२.

४ स. सि. २-६; त. वा. २, ६, १, धवला पु. १३, पृ. २०७; स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च, ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः । त. भा. २-६.

५ को अणायारुवजोगो णाम ? मागारुवजोगादो अण्णो । कम्म-कत्तारभावो आगारो, नेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो मागारो ति । धवला पु. १३, पृ. २०७.

६ स्वस्माद् भिन्नवस्तुपरिच्छेदक ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्न-वस्तुपरिच्छेदक दर्शनम् । धवला पु. १, पृ. ३८३-८४, अप्विसओ उवजोगो दसण । ण णाणमेद, तस्स वज्जभट्टविसयत्तादो । धवला पु. ६, पृ. ६, कि दर्शनम् ? ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसवेदो दर्शनम्, आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः । वही पृ. ३२-३३; बाह्यार्थपरिच्छेदिका शक्तिज्ञानम् । धवला पु. १३, पृ. २०६.

कोई स्थान नहीं है। कारण कि उक्त गाथासूत्र में प्रयुक्त 'सामान्य' शब्द आत्मा का ही वाचक है। जीव चूँकि बिना किसी प्रकार के नियम (विशेषता) के ही तीनों काल-विषयक अनन्त अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्यायों से युक्त बाह्य व अन्तरंग पदार्थों को विषय करता है, अतएव उसके 'सामान्य' मानने में कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती।

आत्मविषयक उपयोग के दर्शन मानने में दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि दर्शन के विषयभूत आत्मा में कुछ भेद न होने से चक्षुदर्शन आदि चारों ही दर्शनों में कुछ भेद नहीं रहेगा? इसका उत्तर यह है कि जो स्वरूप-सवेदन जिस ज्ञान का उत्पादक होता है उसका वह दर्शन माना जाता है। इससे उस दर्शन की चतुर्विधता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। जैसे—चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषयभूत जितने भी पदार्थ सम्भव है उतने ही तत्-तत् नाम वाले आत्मस्थित क्षयोपशम भी होंगे। अतः उनके आश्रय से आत्मा भी उतने ही प्रकारका होगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शक्ति से युक्त आत्मा के वेदन के दर्शन मानने में दर्शन की विविधता अक्षुण्ण बनी रहती है।

जो यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रकाशक अथवा तत्त्वार्थ का उपलम्भक है उसका नाम ज्ञान तथा प्रकाशवृत्तिका नाम दर्शन है, इस प्रकार भी उक्त ज्ञान-दर्शन का लक्षण अन्यत्र उपलब्ध होता है।

- १ अप्पत्थम्मि पउत्त-सामण्ण-सद्गगहणादो । ण च जीवस्स सामण्णत्तमसिद्ध, णियमेण विणा विसयी-कयत्तिकालगोयराणतत्थ-वेजणपज्जओवचियवज्झतर-गाण तत्थ सामण्णत्ताविरोहादो । धवला पु ७, पृ १००, धवला पु.१, पृ. ३८०; पु. १३, पृ ३५४, ३५५ और जयधवला १, पृ. ३६० भी द्रष्टव्य है।
- २ आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेष स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादक स्वरूपसवेदन तस्य तद्दर्शनव्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्विध्यनियमः । यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशम धवला पु १, पृ. ३८१-८२.
- ३ भूतार्थप्रकाशकं ज्ञान तत्त्वार्थोपलम्भक वा । प्रकाशवृत्तिर्दर्शनम् । धवला पु. ७, पृ. ७.

जो जानता है उसका नाम ज्ञान है और वह विशेष-ग्रहणस्वरूप या साकार है। जो देखता है उसका नाम दर्शन है और वह सामान्यग्रहणस्वरूप या अनाकार है।

हरिभद्र सूरि के मतानुसार घट-पटादि विशेषों का जो निर्विशेष—विशेषरूपता का परित्याग कर सामान्य आकार से—ग्रहण होता है, इसका नाम दर्शन है। तथा उन्हीं का जो सविशेष—सामान्य आकार को छोड़कर विशेष रूप से—ग्रहण होता है वह ज्ञान कहलाता है।

साकारता व अनाकारता का स्वरूप

कर्मता व कर्तृता का नाम आकार है, इस आकार के साथ वर्तमान उपयोग को साकार और उससे भिन्न को अनाकार कहा जाता है।

आकार, विकल्प और अर्थग्रहणपरिणाम, ये समानार्थक है। इस प्रकार के आकार से सहित साकार और उससे

- ४ जाणइ त्ति नाणं, त च ज विसेसग्गहण तं णाण, सा-गारमित्यर्थः । पासति त्ति दसण, तं च ज सामण्णग्ग-हणं तं दसणं, अणागारमित्यर्थः । नन्दी. चुणि २७, पृ २०.
- ५ ज एत्थ णिव्विसेस गहो विसेसाण दंसण होति । सविसेस पुण णाण ता सयलत्थे तओ दो वि ॥ जं सामण्णपहाण गहण इतरोवसज्जण चेव । अत्थस्स दंसण त विवरीय होइ णाण तु ॥ धर्मसग्रहणी १३६४ व १३६८.

दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमादिज सामान्यमात्रग्रहण दर्शनमिति । उक्तं च—जं सामण्णग्गहण भावाण कट्टु नेय आगार । अव्विसेसिऊण अत्थ दसणमिति वुच्चए समए ॥ अनुयो. हरि. वृत्ति पृ. १०३.

विशेषग्राहि ज्ञानम्, सामान्यग्राहि दर्शनम् । पंचास्तिकाय अमृत. वृत्ति ४०; सविकल्प ज्ञानम्, विविकल्प दर्शनम् । (जयसेन वृत्ति)

- ६ को अणागारवजोगो णाम ? सागारवजोगादो अण्णो । कम्म-कत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्ट-माणो उवजोगो सागारो त्ति । धवला पु. १३, पृ. २०७; आयारो कम्मकारय सयलत्थसत्त्वादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं, तेण आयारेणं सह वट्टमाण सायारं । तव्विवरीयमणायारं । जयधवला १, पृ. ३३८.

विपरीत अनाकार कहा जाता है।

अन्यत्र प्रतिनियत अर्थग्रहण परिणाम को आकार कहा गया है। जो उपयोग इस आकार के साथ रहता है वह साकार कहलाता है। अभिप्राय यह है कि सचेतन अथवा अचेतन वस्तु के विषय में उपयोग को लगाने वाला आत्मा जब पर्याय (विशेष) सहित ही वस्तु को ग्रहण करता है तब वह उपयोग साकार कहलाता है। इस आकार से रहित उपयोग को अनाकार कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथी, घोड़ा एवं पादचारी आदि भेद से रहित सामान्य सेना को स्कन्धावार कहा जाता है उसी प्रकार जो वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है उसे अनाकार उपयोग समझना चाहिये।

दर्शनोपयोग के भेद

उपर्युक्त दोनों उपयोगों में से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन।

चक्षुओं को जो प्रकाशित होता है अथवा दिखता है, उसका नाम चक्षुदर्शन और शेष इन्द्रियों के प्रकाश का

- १ आकारो विकल्पोऽर्थग्रहणपरिणाम इत्यनर्थान्तरम् । सहाकारेण साकारः, तद्विपरीतोऽनाकारः । त भा हरि. वृत्ति २-६; आकारो विकल्पः, सह आकारेण साकारः, अनाकारस्तद्विपरीतः, निविकल्प इत्यर्थः । त. भा. सिद्ध. वृत्ति २-६; साकार सविकल्पकम्, ज्ञानमित्यर्थः । अनाकार निविकल्पकम्, दर्शनमित्यर्थः । त. सुखबोधा वृत्ति २-६.
- २ आकार. प्रतिनियतोऽर्थग्रहणपरिणामः. 'आगारो अ विसो' इति वचनात् । सह आकारेण वर्तते इति साकारः, स चामावुपयोगश्च साकारोपयोग । किमुक्तं भवति ? सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोग साकार उच्यते । स कालतः छद्यस्थानामन्त-मूर्तकालः, केवलनामेकसामयिकः । तथा न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः । स चासावुप-योगश्च अनाकारोपयोगः, यस्तु वस्तुनः सामान्यरूप-तया परिच्छेदः सो अनाकारोपयोगः स्कन्धावारोप-योगवदित्यर्थः । प्रज्ञापना मलय. वृत्ति २६-३१२.

नाम अचक्षुदर्शन है। परमाणु को आदि लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त भूतिक द्रव्यों को जो प्रत्यक्ष (साक्षात्) देखता है वह अवधिदर्शन कहलाता है। जो लोक व अलोक को तिमिर से रहित करता है—उन्हे प्रकाशित करता है—उसे केवलदर्शन कहते हैं।

ध्वला में इनके लक्षण इस प्रकार देखे जाते हैं—चाक्षुष ज्ञान के उत्पादक प्रयत्न से सम्बद्ध आत्मा के संवेदन में 'मै रूप के दर्शन में समर्थ हूँ' इस प्रकार की सम्भावना का जो हेतु है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। शेष इन्द्रियों और मन के दर्शन को अचक्षुदर्शन कहा जाता है। अवधिज्ञान के दर्शन का नाम अवधिदर्शन और केवल—प्रतिपक्ष से रहित—दर्शन का नाम केवलदर्शन है।

अनुयोगद्वारा सूत्र में दर्शनचतुष्टय के स्वरूप की सूचना इस प्रकार की गई है—चक्षु इन्द्रिय के द्वारा चक्षु-दर्शनी जीव के जो घट, पट, चटाई और रथ आदि द्रव्य

३ ध्वला पु ७ (पृ १००) में 'सैसिदियप्ययासो णादव्वो सो अचक्खु ति' के स्थान में 'दिट्ठस्स य ज सरण णायव्व त अचक्खु त्ती' पाठ है। तदनुसार अचक्षुदर्शन का लक्षण 'देखे हुए पदार्थ का स्मरण' ठहरता है।

४ पञ्चसग्रह १, १३६-४१, गो. जी. ४८३-८५. प्रकृत गाथाये ध्वला पु. १, पृ. ३८२ पर उद्धृत पायी जाती है। पूर्व की दो गाथायें ध्वला पु ७, पृ. १०० पर भी उद्धृत हैं। वहाँ उनका विशेष अर्थ भी द्रष्टव्य है जो वीरसेन स्वामी के द्वारा किया गया है।

५ तत्र चक्षुर्ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदने रूपदर्शन-क्षमोऽहमिति सम्भावनाहेतुश्चक्षुदर्शनम् । शेषेन्द्रिय-मनसा दर्शनमचक्षुदर्शनम् । अवधिदर्शनम् अवधिदर्शनम् । केवलमस-पत्नम्, केवल च तद् दर्शन च केवलदर्शनम् । ध्वला पु ६, पृ. ३३, चक्खुविण्णाणुप्पायणकारण सगसवे-यण चक्खुदसण णाम । सोद-घाण-जिब्भा-फास-मणेहितो समुप्पज्जमाणणकारणसगसवेयणम-चक्खुदसण णाम । परमाणुआदिमहवखघत-पोगलदव्वविसयओहिणणकारणसगसवेयण ओहिदसण केवलणाणुप्पत्तिकारणसगसवेयण केवलदसणं णाम । ध्वला पु १३, पृ. ३५५.

विषयक दर्शन होता है वह चक्षुदर्शन कहलाता है। शेष इन्द्रियों के द्वारा अचक्षुदर्शनी जीव के उक्त घट-पटादि द्रव्यों का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर जो उनका दर्शन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। (यहाँ अचक्षुदर्शन के लक्षण में जीव के साथ सम्बन्ध का निर्देश करके शेष इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को सूचित किया गया है।) अवधिदर्शनी जीव के जो समस्त रूपी द्रव्यो और उनकी कुछ पर्यायों का दर्शन होता है उसे अवधिदर्शन कहा जाता है। केवलदर्शनी जीव के जो समस्त द्रव्यो और समस्त पर्यायों का दर्शन होता है उसका नाम केवलदर्शन है।

श्री चन्द्रमहर्षि अपने पञ्चसग्रह की स्वी. व्याख्या में नेत्रों के द्वारा होने वाले दर्शन को नयन (चक्षु) दर्शन और शेष इन्द्रियों से होने वाले दर्शन को अनयन (अचक्षु) दर्शन कहते हैं।

तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में कहा गया है कि स्कन्धावार के उपयोग के समान अथवा उसी दिन उत्पन्न हुए शिशुकी

१ चक्षुदसण चक्षुदसणिस्स घड-पड-कड-रहाइएसु दवेसु, अचक्षुदसण अचक्षुदसणिस्स आयाभावे, ओहिदसण सव्वरूविदवेसु न पुण सव्वपज्जवेसु, केवल-दसण केवलदसणिस्स सव्वदवेसु अ सव्वपज्जवसु अ। अनुयोग. सूत्र १४४, पृ. २१६-२०.

इसकी टीका में हरिभद्र सूरि (हरि वृत्ति पृ. १०३) और मल. हेमचन्द्र सूरि (अनु. वृत्ति पृ. २१६-२०) ने चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में इतनी विशेषता सूचित की है कि ये दोनों दर्शन विवक्षित इन्द्रियावरण के क्षयोपशम और द्रव्येन्द्रिय के अनुपघात में होते हैं। साथ ही यह भी एक विशेषता प्रगट कर दी है कि दर्शन का विषय सामान्य ही है, प्रकृत में जो घट-पटादि विशेष द्रव्यों का निर्देश किया गया है उससे उनसे (विशेषों से) अनर्थान्तिर्भूत — कथञ्चित् अभिन्न — सामान्य को ग्रहण करना चाहिए।

२ नयनाभ्या दर्शनं नयनदर्शनम् ।.....शेषेन्द्रियैर्दर्शनं अनयनदर्शनम्। पञ्चस. स्वी. व्याख्या ३-१२२, पृ. ३४.

नेत्रोपलब्धि के समान चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जो उपलब्धि — सामान्य अर्थ का ग्रहण — होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। शेष श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा होने वाले सामान्य-ग्रहण का नाम अचक्षुदर्शन है। अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम में विशेषग्रहण से विमुख अवधिदर्शन कहा जाता है। इसका स्वामी नियम से सम्प्रवृष्टि ही होता है।

आत्मा स्वभावतः समस्त आत्मप्रदेशों में व्याप्त रहने वाले विशुद्ध अनन्तदर्शन सामान्य स्वरूप है, पर उसके वे प्रदेश अनादि काल से दर्शनावरण कर्म के द्वारा आच्छादित हो रहे हैं। वही आत्मा चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम और चक्षु इन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त द्रव्य को जो कुछ अंश में सामान्य से जानता है उसका नाम चक्षुदर्शन है। अचक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम और चक्षु को छोड़कर इतर चार इन्द्रियों व मन के आलम्बन से जो मूर्त व अमूर्त द्रव्यों का कुछ अंश में सामान्य से अवबोध होता है, वह अचक्षुदर्शन कहलाता है। अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम में मूर्त द्रव्य का जो कुछ अंश में सामान्य से अवबोध होता है उसे अवधिदर्शन कहा जाता है। समस्त दर्शनावरण के अत्यन्त क्षय से जो अन्य किसी की भी सहायता के बिना समस्त मूर्त और अमूर्त द्रव्यों का सामान्य से अवबोध होता है, यह स्वाभाविक केवलदर्शन का लक्षण है।

दर्शन-ज्ञान की क्रमाक्रमवृत्तिता

उक्त दोनों उपयोगों में मति आदि चार ज्ञान और चक्षुदर्शनादि तीन दर्शन क्षायोपशमिक है, जो छद्मस्थ के पाये जाते हैं। तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो क्षायिक उपयोग हैं और वे केवलीके पाये जाते हैं। छद्मस्थ

३ त. भा. मिद्ध. वृत्ति २-५.

४ पचास्तिकाय अमृ. वृत्ति ४२; आ मलयगिरि के द्वारा इनके लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं — चक्षुषा दर्शनं चक्षुदर्शनम् ।.....अचक्षुषा — चक्षु-व्रजं शेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुदर्शनम् ।..... अवधिरेव दर्शनमवधिदर्शनम् ।..... केवलमेव दर्शनं केवलदर्शनम्। प्रजापता मलय. वृत्ति २३-२६३ व २६-३१२ तथा पञ्चसग्रह वृत्ति २-४, पृ. ११०.

के पूर्व में दर्शन और तत्पश्चात् ज्ञान हुआ करता है। इस प्रकार छद्मस्थ के दोनों उपयोगों में क्रमवृत्तिता है। परन्तु केवली के ये दोनों उपयोग क्रम से होते हैं या युगपत्, इसमें कुछ मतभिन्नता है जो इस प्रकार है—

कितने ही आचार्य इन दोनों उपयोगों का अस्तित्व केवली के युगपत् मानते हैं। इसके लिए वे निम्न युक्तियाँ देते हैं—

१ दसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
जुगव जम्हा.....॥ द्रव्यसंग्रह ४४.
मणपज्जवणाणतो णाणस्स दरिसणस्स विसेसो ।
समतितर्क २।३.

.....ज्ञान-दर्शनोपयोगी क्रमेण भवत इति यावत् । तथाहि—चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुर-चक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि, छद्मस्थोपयोगा-त्मकज्ञानत्वात् श्रुत-मन पर्यायज्ञानवत् । समतितर्क अभय. वृत्ति २।३

२ जुगव वट्ठइ णाण केवलणाणिस्स दमण च तहा ।
दिणयग्गपयास-ताव जह वट्ठइ तह मुणेयव्व ॥

—नियमसार १६०.

ण च दोण्हमुवजोगाणमक्कमेण वुत्ति विरुद्धा,
कम्मकयस्स कमस्स तदभावेण अभावमुवगयस्स तत्थ
सत्तविरोहादो । जयध. १, पृ ३५६ ५७

.....केवलिणाहे तु ते दो वि ॥ द्रव्यसंग्रह ४४.

अभयदेव सूरि के अनुसार समतितर्क के कर्ता सिद्धसेन सूरि भी केवली के केवलज्ञान और केवल-दर्शन को युगपत् स्वीकार करते हैं। यथा—केवल-ज्ञान पुन. केवलाख्यो बोध. दर्शनमिति वा ज्ञान-मिति वा यत् केवल तत् समानम्—समानकालम्, द्वयमपि युगपदेवेति भावः । समति अभय. वृत्ति २।३.

अभयदेव के समान हरिभद्र सूरि भी उन्हे उक्त दोनों उपयोगों को युगपत् स्वीकार करने वाले प्रगट करते हैं। वे नन्दीसूत्र की अपनी वृत्ति में उद्धृत “केई भणति जुगव जाणइ पासइय केवली णियमा ।” इस गाथा का अर्थ इस प्रकार करते हैं—‘केचन’ सिद्धसेनाचार्यावयः ‘भणति’ । किम् ? ‘युगपद’ एक-स्मिन्नेव काले ‘जानाति पश्यति च’ । क. ? केवली,

केवली के केवलज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर जिस प्रकार केवलज्ञान प्रादुर्भूत होता है उसी प्रकार केवल-दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन भी उनके होना ही चाहिए।

सूत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन को सादि-अनन्त कहा गया है। यदि उक्त दोनों उपयोगों को साथ न माना जाय—एकान्तरित माना जाता है— तो उनकी यह सूत्रोक्त अनन्तता समाप्त हो जाती है।

न तु अन्य' । नियमात्—नियमेन । नन्दी. हरि. वृत्ति पृ ४० (ई० १६६६).

परन्तु जयधवलाकारके अभिप्रायको देखने हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे सिद्धसेन सूरि को केवलज्ञान और केवलदर्शन की एकता (अभेद) के पक्षपाती मानते हैं। उन्होंने जयधवला (१, पृ. ३५७) में ‘जेण केवलणाण स-परपयासय, तेण केवलदसणं णत्थि ति के वि भणनि’ यह सूचित करके आगे ‘एत्थुव-उज्जतीग्रो गाहाओ’ लिखकर समतितर्क की ‘मणपज्जव-णाणतो’ इत्यादि गाथा (२।३) को उद्धृत कर ‘एद पि ण घडदे’ आदि सदर्भ के द्वारा निरसन किया है। यहाँ विचारणीय यह है कि गाथा उन्होंने केवल एक ही उद्धृत की है, पर ‘एत्थुवउज्जतीग्रो गाहाओ’ लिख कर सूचना उन्होंने अनेक गाथाओं के उद्धृत करने की की है। यह कुछ विसंगतिसी दिखती है। नन्दी. चर्णि (पृ २८—ई० १६६६) और उक्त हरि. वृत्ति में प्रकृत गाथा के आगे उन दोनों उपयोगों के अभेद की सूचक ‘अण्णे ण चैव वीसु दसणमिच्छति जिणवग्गिदस्स । ज चिय केवलणाण त चिय से दसण वेति ॥’ यह एक अन्य गाथा भी उपलब्ध होती है। संभव है लेखक के प्रमादवश यह गाथा जयधवला में लिखने से रह गई हो। यह गाथा हरिभद्र की धर्म-संग्रहणी में भी प्रकृत गाथा के आगे १३३७ न० पर पायी जाती है।

३ समति २।५, ज्ञान-दर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्ति. कि न स्यादिति चेत् किमिति न भवति ? भवत्येव, क्षीणा-वरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलम्भात् । धवला पु. १, पृ. ३८४.

४ समति. २, ७-८; धर्मसंग्रहणी १३३८.

ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों के एक साथ क्षय को प्राप्त हो जाने पर भी यदि केवली के वे दोनों उपयोग एक काल में नहीं रहते हैं तो केवलज्ञानकाल में केवल-दर्शन के अभाव से जैसे दर्शनावरण का क्षय निरर्थक ठहरता है वैसे ही केवलदर्शन के काल में केवलज्ञान के बिना ज्ञानावरणका क्षय भी निरर्थक सिद्ध होता है। लोक में भी देखा जाता है कि जिन दो दीपकों का आवरण हटा लिया गया है वे दोनों युगपत् ही घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं—ऐसा नहीं है कि दोनों के निरावरण होने पर भी उनमें जब एक पदार्थों को प्रकाशित करता है तब दूसरा न करता हो। अथवा, उन दोनों (केवलज्ञान व दर्शन) के परस्पर आच्छादकता का प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। अथवा, आवरण के क्षीण हो जाने पर भी यदि उन दोनों में एक का अभाव रहता है तो अन्वय-व्यतिरेक के अभाव में आवरण की कारणता समाप्त हो जाती है। तब वैसी अवस्था में एक किमी उपयोग का या तो सदा सद्भाव रहेगा या अभाव ही रहेगा^१।

इसके अतिरिक्त दोनों उपयोगों के एक साथ न मानने पर केवली के केवलदर्शन के काल में असर्वज्ञता का तथा केवलज्ञान के काल में असर्वदर्शित्व का प्रसंग भी कैसे टाला जा सकता है^२ ?

दोनों उपयोगों की क्रमवृत्ति

जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण^३ आदि कितने ही आचार्य उक्त दोनों उपयोगों को अयुगपद्वृत्ति—क्रमवर्ती—मानते हैं^४। वे युगपद्ववाद में दी गई युक्तियों का खण्डन इस प्रकार

१ नन्दी. च. (उ. ४), पृ. २८; ध. स. १३३६

२ नन्दी. च. (उ. ५ व ११) पृ. २८, २९, ध. स. १३४०.

३ अन्ये—जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः—एकान्तरित जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति श्रुतोपदेशेन—यथा-श्रुतागमानुसारेणेत्यर्थः। नन्दी. हरि. वृत्ति (उ. १), पृ. ४०, अत्र च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यानाम-युगपद्भाव्युपयोगद्वयमभिमतम्। मल्लवादिनस्तु युग-पद्भावि तद्वयमिति। समन्ति अभय वृत्ति २।१०.

४ नाणम्मि दसणम्मि य एत्तो एगतरयम्मि उवउत्ता। सव्वस्स केवलस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥ (नि) विशेष. भा. ३७३६ (ई. १६३७); नन्दी. जूणि (उ. २२), पृ. ३०;

करते हैं^५—

पूर्वोक्त आदि-निधनता के प्रसंग का निरसन करते हुए कहा गया है कि आगम में मति आदि तीन ज्ञानों के क्षयोपशम का काल छद्यामठ सागरोपम कहा गया है। परन्तु उपयोग की अपेक्षा उन क्षायोपशमिक तीन ज्ञानों में एक ही कोई सम्भव है और वह भी अन्तर्मुहूर्त काल तक। फिर भी लब्धि की अपेक्षा जिस प्रकार उनके इस क्षयोपशम-काल (६६ सा.) में कोई बाधा नहीं आती उसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन की सादि-अनिधनता में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती—उपयोग की अपेक्षा इन दोनों में से किसी एक के होने पर भी लब्धि की अपेक्षा उन दोनों की सादि-अनन्तता बनी रहती है^६। इस पर यदि यह कहा जाय कि क्षायिक ज्ञान-दर्शन के लिए क्षायोपशमिक ज्ञान का दृष्टान्त देना उचित नहीं है, तो इसके लिए दूसरा दृष्टान्त यह दिया जाता है कि अरहत के पांच प्रकारके अन्तराय का क्षय हो जाने पर भी वे निरन्तर न दान देते हैं, न लाभ लेते हैं, न भोगते हैं और न उपयोग वस्तु का अनुभव भी करते हैं। फिर भी उनके अन्तरायक्षय के कार्य-भूत इन दानादि की जिस प्रकार सम्भावना की जाती है उसी प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय के कार्य-भूत केवलज्ञान और केवलदर्शन निरन्तर नहीं रहते, किन्तु एक काल में उन दोनों में से एक ही कोई रहता है। फिर भी उक्त क्षायिक दानादि के समान इन दोनों उपयोगों का भी अस्तित्व उनके समभूत चाहिए। जिस प्रकार अन्तराय के क्षय का यह प्रभाव है कि केवली में दानादि के एक साथ न रहने पर भी यदि वे देने आदि में प्रवृत्त होते हैं तो उसमें कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता है, इसी प्रकार केवली के ज्ञान और दर्शन में उपयुक्त होने पर आवरण के क्षय का यह प्रभाव है कि उनके उसमें बाधा होना सम्भव नहीं है^७।

५ एव परेणांके सति आगमवादी जिनभद्रगणिक्षमा-श्रमण आह—धर्मसग्रहणी मलय. वृत्ति १३४१.

६ विशेष. भा. ३७४०-४१, नन्दी. च. (उ. ६) पृ. २८; ध. स. १३४१.

७ नन्दी. च. (उ. ७-१०) पृ. २९; ध. स. १३४२-४५.

असर्वज्ञता और असर्वदर्शित्व के प्रसंग के विषय में यह कहा जाता है कि मत्यादि चार ज्ञान वाला जीव उन चारों ज्ञानों के द्वारा युगपत् न जानने हुए भी जिस प्रकार चतुर्जानी माना गया है^१ उसी प्रकार दोनों उपयोगों के एकान्तरित होने पर भी अरहत को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार करना चाहिए^२।

दोनों उपयोगों को युगपत् न मानने पर यहाँ एक प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है कि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों का ही युगपत् क्षय होता है तब दोनों उपयोगों के क्रमवर्ती मानने पर उन दोनों में प्रथमतः कौन-सा उपयोग उत्पन्न होता है—ज्ञान या दर्शन ? यदि ज्ञान को पहले उत्पन्न हुआ माना जाय तो दर्शनावरण के भी क्षय के होते हुए दर्शन को पहिले उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय ? और यदि दर्शन को पहिले माना जाता है तो ज्ञान को पहिले क्यों न माना जाय, यह भी प्रश्न बना रहता है। इसके समाधान में प्रकृत में यह कहा गया है कि दोनों उपयोगों के एक साथ उत्पन्न होने पर भी यह कोई नियम नहीं है कि उपयोग रूप में भी उन दोनों को साथ ही होना चाहिए—उपयोग रूप में तो वे क्रम से ही होते हैं। उदाहरण स्वरूप सम्यक्त्व, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान; ये एक साथ उत्पन्न होते हैं, पर उपयोग उन सबमें युगपत् नहीं होता। ठीक इसी प्रकार केवलीके शक्ति की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों के साथ उत्पन्न होने पर भी उन दोनों के विषय में उपयोग एक साथ नहीं होता—वह तो क्रम से ही होता है^३।

प्रकृत क्रमवाद के समर्थन में आगम का आश्रय लेने हुए यह भी कहा गया है कि प्रजापति और प्रजापना^४ आदि में

भी यह कहा है कि जिस समय जिन भगवान् अणु आदिक को तथा रत्नप्रभादिक को जानने है उस समय वे उन्हें देखते नहीं हैं। इससे मित्र होता है कि केवलज्ञान और दर्शन दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते—क्रम से ही वे होते हैं^५।

इसके अनिर्वक्त आगम में जो साकार व अनाकार उपयोगी जीवों का अल्पबहुत्व बतलाया गया है वह पृथक्-पृथक् दोनों का ही बतलाया गया है। यदि केवली के दोनों उपयोग युगपत् सम्भव होते तो उभयोपयोगियों का भी अलग से अल्पबहुत्व कहा जाना चाहिये था—सो वह नहीं कहा गया है।

केवल ज्ञान-दर्शन का अभेद

उन दोनों उपयोगों के विषय में एक (तीसरा) पक्ष यह भी है कि ज्ञानावरण के क्षय को प्राप्त हो जाने पर जिस प्रकार केवली के देशज्ञानों की—मति-श्रुतादि की—सम्भावना नहीं रहती उसी प्रकार केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण उन दोनों आवरणों के क्षीण हो जाने पर केवली के केवलदर्शन की भी सम्भावना नहीं रहती—दोनों में एक मात्र केवलज्ञान ही उनके रहता है^६।

इस मत का निराकरण करने हुए कहा जाता है कि जिस प्रकार केवली के मति आदि देशज्ञान का अभाव हो जाने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति स्वभावतः कही गई है उसी प्रकार चक्षुदर्शनादि देशदर्शन के अभाव में केवलदर्शन भी उनका स्वरूपतः पृथक् होना चाहिए। फिर भी यदि देशज्ञान और देशदर्शन दोनों के भी अभाव में यदि एक मात्र केवलज्ञान ही अभीष्ट है और

१ त. मू. १-३०.

२ नन्दी. च. (उ. १२) पृ. २६, ध. स. १३४७.

३ नन्दी. च. (उ. १३-१५) पृ. २६, ध. स. १३४८-५०.

४ केवली ण. भवे इम रयणप्पम पुढवि आगारेहि हेतुहि उवमारेहि दिट्ठ तेहि वण्णेहि सठाणेहि पमाणेहि पडो-यारेहि ज समय जाणति त समय पासइ, ज समय पासइ त समय जाणइ ? गो० नो तिण्ठे ममट्ठे । से केणट्ठेण भवे एव वुच्चति—केवली ण इम रय-णप्पम पुढवि आगारेहि० ज समय जाणति नो त

समय पामति, ज समय पा० नो त समय जा० ?

गो० सागारे से णाणे भवति ग्रणागारे से दसणे भवति, से तेणट्ठेण जाव णो त समय जाणाति एव जाव अहे सत्तम । प्रजापना ३०-३१४, पृ. ५३१

५ विशेषा भा. ३७५२, नन्दी. च. (उ. १६) पृ. २६, ध. स. १३५१.

६ नन्दी. च. (उ. २ व १७) पृ. २६ व ३०, ध. स. १३३७ व १३५२.

केवलदर्शन अभीष्ट नहीं है तो इसे युक्तिविहीन इच्छा मात्र ही कहा जायगा। दूसरे, सूत्र में अवधिज्ञानी—के लिये कहा गया है कि वह जानता है और देखता है, फिर भी जैसे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन में अभेद नहीं माना गया वैसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन में भी अभेद नहीं होना चाहिये।

अन्त में कहा गया है कि भगवतीसूत्र के पञ्चीसवें अंत (अध्ययन) सम्बन्धी छठे उद्देश में स्नातक (केवली) के विशेष रूप से एकतर उपयोग बतलाया गया है। इस प्रकार आगम से भी इन दोनों उपयोगों में क्रमवृत्ति का साथ पृथक्ता भी सिद्ध होती है।

क्रमवृत्ति के विरुद्ध यहाँ यह कहा जा सकता है कि दर्शन जब सामान्य को विषय करता है और ज्ञान विशेष को विषय करता है तब उन दोनों के केवली में क्रमवृत्ति मानने पर न्यायानुसार केवली को दर्शनकाल में सर्वज्ञ और ज्ञानकाल में सर्वदर्शी नहीं माना जा सकता है। गमस्त पदार्थ स्वरूपतः सामान्य-विशेषात्मक है। उनमें परस्पर कथञ्चित् भेद-अभेद के होने पर भी किसी एक (ज्ञान या दर्शन) के द्वारा समुदित रूप में उभय—सामान्य विशेष स्वरूप—को नहीं ग्रहण किया जा सकता है, यह न्याय की प्रेरणा है। उदाहरण के रूप में रूप-

१ नन्दी च (उ १८-२०) पृ ३०, ध स १३५३, १३५४-५५.

२ उवग्रो गो एगयरो पणुवीमडमे सण् सिणायस्स ।
भणिग्रो वियडत्थो च्चिय छट्ठुद्देमे विसेमेउ ॥
विशेषा. भा. ३७६०, नन्दी च (उ. २३) पृ ३०,
ध स १३५८

(भगवती सूत्र के शतक २५, उ. ६ में हमने इस के खोजने का प्रयत्न किया, पर इस रूप में वहाँ हमें उल्लेख नहीं हुआ। वहाँ “पुलाए ण भने कि सागा-रोवउत्ते होज्जा अणागागेवउत्ते वा होज्जा । एव जाव सिणाए ।” [भगवती भा ४, श २५, उ ६ सू ८५—वि. स १६८८] यहाँ ‘वा’ शब्द का विकल्प अर्थ यदि किया जाय तो दोनों उपयोगों में ‘एकतर’ उपयोग की सम्भावना की जा सकती है। पर प्रकृत में ‘वा’ का अर्थ ‘और’ प्रतीत होता है।)

रसादिक में परस्पर कथञ्चित् भेद-अभेद के होने पर भी उन्हें किसी एक ही इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु रूप को चक्षु में व रसादिक को जिह्वा आदि भिन्न इन्द्रियों से ही ग्रहण किया जाता है। तदनुसार जैसे विशेष का ग्राहक केवली के केवलज्ञान है उसी प्रकार सामान्य का ग्राहक केवलदर्शन भी उनके पृथक् होना चाहिए। और तब वैसी अवस्था में सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता का अभाव अनिवार्य प्रमत्त होगा ही।

क्रमिकवाद में इसके उत्तर में कहा गया है कि सामान्य वही कहा जाता है जो विशेषों से गभित होता है, इसी प्रकार विशेष भी वे कहलाते हैं जो सामान्य से गभित होते हैं। इस प्रकार दोनों के परस्पर सापेक्ष मानने पर ही सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की व्यवस्था बनती है, अन्यथा नहीं। इस न्याय से वस्तु मात्र के सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध होने पर विशेषों का जो निर्विशेष—सामान्य रूप से—ग्रहण होता है, इसका नाम दर्शन और इस सामान्य रूप को गौण कर जो उनका विशेष रूप से ग्रहण हुआ करता है, इसका नाम ज्ञान है। इस प्रकार से ज्ञान और दर्शन दोनों ही जब गमस्त पदार्थों के ग्राहक सम्भव है तब केवली के सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता का अभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह कि सामान्य और विशेष धर्मों में कथञ्चित् भेदाभेद के होने पर उनका परस्पर निरपेक्ष ग्रहण नहीं होता—परस्पर सापेक्ष ही उनका ग्रहण होता है। इससे दर्शन वही कहा जाता है जो विशेषों को गौण कर सामान्य की मुख्यता से वस्तु को विषय करता है, इसी प्रकार ज्ञान भी वही कहा जाता है जो सामान्य धर्म को गौण कर विशेष की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है। दर्शन न तो केवल सामान्य धर्म से विशिष्ट ही वस्तु को विषय करता है और न ज्ञान विशेष धर्म विशिष्ट ही वस्तु को विषय करता है। अतः विवक्षा के अनुसार एक की प्रमुखता और दूसरे की गौणता से वस्तु का ग्रहण होने पर उपर्युक्त दोष सम्भव नहीं हैं।

३ ध. स. १३६०-६१.

४ वही १३६२-६४.

५ ध. स. १३६५-६८.

आ. बीरसेन कुन्दकुन्दाचार्य के मत से सहमत नहीं

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित नियमसार एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। उसके गृहोपयोगाधिकार में केवली के ज्ञान व दर्शन उपयोगों के विषय में अच्छा विचार किया गया है। वहाँ सर्वप्रथम यह कहा गया है कि केवली भगवान् व्यवहार नय से सब को जानते देखते हैं और केवलज्ञानी नियम से—निश्चय से—आत्मा को जानते देखते हैं^१। इसका अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार केवली का ज्ञान व्यवहार नय से समस्त पदार्थों को विषय करता है उसी प्रकार उनका दर्शन भी व्यवहार नय से समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा निश्चय से जैसे उनका ज्ञान आत्मा को जानता है वैसे ही उनका दर्शन भी उसी आत्मा को देखता है।

इसको स्पष्ट करने हुए आगे और भी शका-समाधान के रूप में कहा गया है कि ज्ञान परप्रकाशक और दर्शन आत्मप्रकाशक ही हैं; इस प्रकार आत्मा स्व-परप्रकाशक है, ऐसा यदि कोई मानता है तो क्या हानि हो सकती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि यदि ज्ञान को पर-प्रकाशक माना जाता है तो ज्ञान से दर्शन को भिन्न मानना पड़ेगा, जिसका अभिप्राय होगा कि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है—आत्मगत ही है। तब ऐसी अवस्था में आत्मा के ज्ञान से रहित हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसी प्रकार आत्मा के परप्रकाशक मानने में भी यही आपत्ति बनी रहेगी। इससे वस्तुस्थिति यह समझना चाहिये कि ज्ञान और आत्मा जो परप्रकाशक हैं वे व्यवहार नय से हैं। इसीलिये दर्शन को भी व्यवहार नय से परप्रकाशक जानना चाहिये। वही ज्ञान और आत्मा दोनों निश्चय नय से आत्मप्रकाशक हैं, इसीलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशक है^२।

१ जाणदि पस्सदि मव्व ववहारणएण केवली भयव ।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥

नि. सा १५८

२ णाण परप्पयास दिट्ठी अप्पयासया चव ।

अप्पा म-परपयासो होदि त्ति हि मणसे जदि हि ॥

णाण परप्पयासं तइया णाणेण दसण भिण्ण ।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वणिणद तम्हा ॥

आगे फिर कहा गया है कि केवली भगवान् आत्म-स्वरूप को देखते हैं लोक-अलोक को वे नहीं देखते हैं, इस प्रकार यदि कोई कहता है तो उसे क्या दूषण हो सकता है? इसके उत्तर में यह कहा है कि मूर्त-अमूर्त द्रव्य तथा चेतन व अचेतन स्व एव अन्य सभी को देखने वाले केवली का ज्ञान प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय है, यह वस्तुस्थिति है। इसके विपरीत जो नाना गुणों और पर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्य को यथार्थ नहीं देखता है उसकी दृष्टि (दर्शन) को परोक्षता का प्रसंग प्राप्त होगा^३।

इसी प्रकार जो यह कहता है कि केवली भगवान् लोक-अलोक को जानते हैं, आत्मा का नहीं जानते हैं, उसके इस कथन को दूषित करने हुए कहा गया है कि ज्ञान जीवका स्वरूप है, इसलिये आत्मा अपने को जानता है। यदि ज्ञानमय आत्मा अपने को नहीं जानता है तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ठहरेगा। इसलिये निःसन्देह आत्मा को ज्ञान और ज्ञान को आत्मा समझना चाहिये। इस प्रकार रज परप्रकाशक जैसे ज्ञान है वैसे ही दर्शन भी स्व-परप्रकाशक है^४।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दसण भिण्ण ।

ण हवदि परदव्वगयो दंसणमिदि वणिणद तम्हा ॥

णाण परप्पयास ववहारणएण दसण तम्हा ।

अप्पा परप्पयासो ववहारणएण दसण तम्हा ॥

णाण अप्पयासो णिच्छयणएण दसण तम्हा ।

अप्पा अप्पयासो णिच्छयणएण दसण तम्हा ॥

नि. सा. १६०-६४.

३ अप्पसक्ख पेच्छदि लोयालो । ण केवली भगव ।

जइ कोइ भणइ एव तस्स य कि दूसण होइ ॥

मुत्तममुत्त दव्व चेयणमियर सग च सव्व च ।

पेच्छतस्स दु णाण पच्चक्खमणिदिय होइ ॥

पुव्वुत्तसयलदव्व णाणागुण-पज्जएण सजुत्त ।

जो ण य पेच्छइ मम्म पगेक्खदिट्ठी हव तस्स ॥

नि. सा. १६५-६७.

४ लायालोय जाणइ अप्पाण णेव केवली भगव ।

जइ कोइ भणइ एव तस्स य कि दूसण होइ ॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (पृ. ११६-२०) आचार्य वीरसेन आत्मविषयक उपयोग को दर्शन और बाह्यार्थविषयक उपयोग को ज्ञान मानते हैं^१। विभिन्न लक्षणों के द्वारा वे इसी बात को पुष्ट करते हैं। जैसे—सामान्य-विशेषात्मक बाह्य अर्थ के ग्रहण का नाम ज्ञान और तदात्मक—सामान्य-विशेषात्मक—स्वरूप (आत्मरूप) के ग्रहण का नाम दर्शन है^२। अथवा, आलोकनवृत्तिका नाम दर्शन है। 'आलोकते इति आलोकनम्' इस निरुक्ति के अनुसार आलोकन का अर्थ वे आत्मा करते हैं, तदनुसार आलोकन की वृत्ति (व्यापार) को—स्व के सवेदन को—दर्शन जानना चाहिये। अथवा, प्रकाशवृत्तिका नाम दर्शन है। यहाँ वे प्रकाश का अर्थ ज्ञान लेते हैं, इस प्रकाश के लिये जो आत्मा की प्रवृत्ति होती है वह दर्शन कहलाता है। अभिप्राय यह है कि विषय (रसादि) और विषयी (इन्द्रियों) के संपात—ज्ञानोत्पत्ति की पूर्वावस्था—को दर्शन कहा जाता है^३ (ध्वला पु० १३, पृ० २१६)।

इस प्रकार वीरसेनाचार्य ने ध्वला में अनेक स्थानों पर दर्शन के विषय में विचार किया है तथा आवश्यकतानुसार समतितर्क आदि पूर्व ग्रन्थों के वाक्यों को भी उद्धृत किया है। पर आश्चर्य की बात यह है कि उपर्युक्त नियम-सार के उनके समक्ष रहते हुए भी उन्होंने न तो उसकी किसी गाथा को उद्धृत किया है और न वहाँ प्ररूपित दर्शन के सम्बन्ध में भी कुछ विचार प्रगट किया है। इससे यही समझा जा सकता है कि दर्शन का स्व-परप्रकाशकत्व स्वरूप (१७०), अथवा व्यवहार नय से परप्रकाशकत्व और निश्चय नय से आत्मप्रकाशकत्व (१६३-६४)

णाण जीवसरूप तम्हा जाणेट अप्पण अप्पा ।

अप्पणा ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरिन्ति ॥

अप्पाण विणु णाण णाण विणु अप्पणो ण सदेहो ।

तम्हा स-परपयास णाण तह दमण होदि ॥

नि. सा. १६८-७०.

१ सामान्य-विशेषात्मक बाह्यार्थ-ग्रहण ज्ञानम्, तदात्मक-स्वरूप-ग्रहण दर्शनम्। ध्वला पु १, पृ १४७.

२ ध्वला पु. १, पृ. १४८-४९

स्वरूप जैसा कुन्दकुन्दाचार्य को अभीष्ट रहा है वंसा वह आचार्य वीरसेन स्वामी को अभीष्ट नहीं रहा।

उपसंहार

पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। उसके ये दोनों धर्म कथंचित् तादात्म्यस्वरूप है—वे न तो सर्वथा भिन्न ही है और न सर्वथा अभिन्न ही है। उनमें सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला दर्शन और विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान है।

दर्शन निराकार (निर्विकल्पक) और ज्ञान साकार (सविकल्पक) है।

छद्मस्थ के पूर्व में दर्शन और तत्पश्चात् ज्ञान होता है—बिना दर्शन के उसके ज्ञान नहीं होता। परन्तु केवली के वे दोनों सूर्य के प्रकाश और आतप के समान एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि केवली के ज्ञान का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण और दर्शन का प्रतिबन्धक दर्शनावरण दोनों युगपत् क्षयको प्राप्त हो चुके हैं एवं भविष्य में उनके उदय की सम्भावना भी नहीं रही।

केवली सबको जानते देखते हैं, यह व्यवहार है। वास्तव में तो वे आत्मा को ही जानते देखते हैं।

यथार्थ में आत्मा है सो ज्ञान है और ज्ञान है सो आत्मा है—दोनों में कोई भेद नहीं है। अतः जिस प्रकार ज्ञान स्व-परप्रकाशक है उसी प्रकार उससे कथंचित् अभिन्न दर्शन को भी स्व-परप्रकाशक समझना चाहिये।

दर्शन के लिये दीपक और ज्ञान के लिये दर्पण का दृष्टान्त घटित हो सकता है—दीपक पदार्थ के आकार को न ग्रहण कर सामान्य रूप से सीमित प्रदेश में स्थित सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, पर दर्पण सामने स्थित पदार्थ के आकार को ग्रहण कर विशेष रूप से उसे प्रकाशित करता है।

हम चलते-फिरते व उठते-बैठते अनेक वस्तुओं को देखते हैं, पर प्रयोजन न होने से उनकी विशेषता का अनुभव नहीं करते, प्रयोजन के वश उनकी विशेषता को भी पृथक्-पृथक् जानते हैं। इसी प्रकार निर्विकल्प सामान्य प्रतिभास को दर्शन और विशेष प्रतिभास को ज्ञान जानना चाहिये।

कवि छीहल

परमानन्द शास्त्री

नाल्हग वश के विद्वान कवि छीहल का जन्म अग्र-
वाल कुल में हुआ था। आपके पिता का नाम शाह नाथू
या नाथूराम था। कवि ने अपनी गुरु परम्परा और
जीवन घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया इसलिये उनके
सम्बन्ध में यहाँ लिखना कुछ शक्य नहीं है। आप की इस
समय तक ५ पाच रचनाएँ प्रकाश में आई हैं—पंच सहेली
गीत, पन्थीगीत, उदरगीत, पचेन्द्रिय वेलि और वावनी
आदि है। पंच सहेलीगीत एक शृंगार परक रचना है जो
स० १५७५ में फाल्गुन सुदि १५ के दिन रची गई थी।
रचना में पंच सहेलियों का वर्णन है। वर्णन सहज और
स्वाभाविक है। पंच सहेलियों का प्रश्नोत्तररूप में अच्छा
सकलन हुआ है।

पन्थीगीत—ससारिक दुःख का एक पौराणिक उदा-
हरण है। इसे रूपक काव्य कहा जा सकता है। यह
पौराणिक दृष्टान्त महाभारत और जैन ग्रंथों में पाया
जाता है वहाँ इसे ससार वृक्ष के नाम से उल्लेखित किया
गया है।—

एक पथिक चलने-चलते रास्ता भूल गया और सिंहा
के वन में पहुँच गया। वहाँ रास्ता भूल जाने से वह इधर-
उधर भटकने लगा। उसी समय उसे सामने एक मदोन्मत्त
हाथी आता हुआ दिखाई दिया, उसका रूप अत्यन्त रौद्र
था और वह क्रोधवश अपने भुजदण्ड को हिलाता हुआ आ
रहा था। पथिक उसे देख भयभीत होकर भागने लगा।
और हाथी उसके पीछे पीछे चला, वहाँ घास-फूस से ढका
हुआ एक अन्धा कुआ था। पन्थी को वह न दिखा, और
वह उसमें गिर गया, उसने वृक्ष की एक टहनी पकड़ ली
और उसके सहारे लटकता हुआ दुःख भोगने लगा। उस
कुएँ के किनारे पर हाथी खड़ा था, उस कुएँ में चारों
दिशाओं में चार सर्प और बीच में एक अजगर मुहवाए
पड़ा था। उस कुएँ के पास एक वट वृक्ष था, उसमें मधु

मक्खियों का एक छत्ता लगा हुआ था। हाथी ने उसे
हिला दिया, जिससे अगणित मधु-मक्खिया उड़ने लगी,
और मधु की एक-एक बिन्दु उस पथिक के मुँह में पड़ने
लगी। इसमें कूप संसार है, पथी जीव है, सर्प गति है,
अजगर निगोद है, हाथी अज्ञान है और मधु बिन्दु विषय-
सुख है। कवि कहता है कि—‘यह संसार का व्यवहार
है। अतः हे गवार ! तू चेत, जो मोह निद्रा में सोते है
वे अधिक असावधान है। इन्द्रिय रस में मग्न हो परम-
ब्रह्म को भुला दिया है, इस कारण तेरा नर जन्म व्यर्थ
है। कवि छीहल कहते हैं कि हे आत्मन् ! अब तू जिनेन्द्र
प्रतिपादित धर्म का अवलम्बन कर कर्म बन्धन से छूट
सकता है—जैसा कि उक्तगीत के निम्नपद्य से प्रकट है:—

संसार की यह विवहारी चित चेतद्वरे गवारों
मोह निद्रा में जे जन सूता ते प्राणी अति बे गूता
प्राणी बे गुता बहुत ते जिन परमब्रह्म विसारियो
भ्रम भूलि इन्द्रिय तनौ रस नर जनम बूथा गवाँइयो
बहुत काल नाना दुःख दीरघ सहधा छीहल कहे करि धर्म
जिन भाषित जुगतिस्स्यौ त्यों मुक्ति पद लह्यौ ॥

पचेन्द्रियवेलि—यह चार पद्यों की एक लघु रचना है,
जिसमें अरुण सम्बोधन का उपदेश निहित है। अपने
आराध्यदेव को घट में स्थापित करने के लिये हृदय की
पवित्रता आवश्यकता है, यदि घट अपवित्र है तो जप, तप
तीर्थयात्रादि सब व्यर्थ है अतः घट की आन्तरिक शुद्धि को
लक्ष्य में रखकर भव-समुद्र के तिरा जा सकता है।

चौथी कृति वावनी है। यह पिगल भाषा की एक
छोटी सी रचना है जो अब तक अप्रकाशित है। इसमें
५३ कवित्त या छप्पय है। कवि ने अन्तिम पद्य में अपना
परिचय दिया है। और वावनी का रचना काल वि० स०

१५८४ कार्तिक शुक्ला अष्टमी गुरुवार बतलाया है। यह नीति विषयक एक मुक्तक रचना है। इसका प्रत्येक छन्द काव्य की दृष्टि से उत्तम कोटि का है। रचना भावपूर्ण और सुन्दर है। इस प्रकार की नीति-परक रचना बहुत कम देखने में आती है। रचना चूँकि १६वीं शताब्दी के अन्तिम खरण की है अथगत नीति पद्य बड़े ही मार्मिक और दृष्टान्तके साथ वस्तुतत्त्व का ज्ञापन कराते है। रचना पर संस्कृत साहित्य के सुभाषितों का आधार रहा है। कवि ने संस्कृत के अनेक नीति-तथा सुभाषित-विषयक पद्यों का सार लेकर उनका भाव अंकित किया होगा। प्रायः प्राचीन भारतीय रचनाओं में पूर्वाधार का होना उनकी प्रामाणिकता का सबूत है। रचना के दो ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जो संस्कृत के पद्यों के आधार को प्रामाणित करते हैं।

चंद्रमास वनराइ फलं फुल्लं तरुवर सह
तो क्यौ दोष वसंत पत्र होवं करीर नहें ।
दिवस उलूक जुअंष तनो रवि कौ कोऊ अवगुन ।
चातक नीर न ग्रहै नत्थि वूषन वरषा घन ॥
दुःख सुख दईव जो निर्मयो लिपिललाट सोई लहै
वकवाद न करि रे मूढ नर कर्म दोष छीहल कहै ॥२५

इस पद्य का भाव भर्तृहरि की नीति शतक के इस पद्य में लक्षित है:—

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किं
नो लूको प्यवलोके यदि दिवा सूर्यस्य किं वूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातक मुखे मेघस्य किं वूषण
यत्पूर्वं विधिना ललाट लिखितं तन्माजितुं कः क्षमः ॥

—नीति शतक

अमर इषिक निसि समय परधौ पंकज के संपुटि
मन मई मंडे आस रयनि खिन मध्य जाइ घटि ।
करि हैं जलज विकास सूर परभात उदय जब
मधुकर मन चित्तवं मुकत ह्वै है बंधन तब ॥

१ औरासी अगला सय जु पनरह संवच्छा ।

सुकल पच्छ अष्टमी मास कातिग गुरु वासर ।

हृदय बुद्धिउ घनी नाम श्री गुरु कौ लीनी

सारद तन पसाय कवित संपुरन कीनी ॥

नातिग बंस नाथू सुतन अगारवाल कुल प्रगट रवि

बावनी बसुषा विस्तरी कहि सेवग छीहल कवि ॥ ५३

छीहल द्विरव तेही समय सर सपत्नी दईव बसि ।

अलि कमल पत्र पर इन सहित निमिष मध्य सो गयो प्रसि ॥

—बावनी

निम्न संस्कृत सुभाषित पद्य का अनुवाद उक्तपद्य में कवि ने किस सफलता के साथ करने का उपक्रम किया है।

रात्रि गेमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं

भास्वानु देष्यति हसिष्यति पंकज श्रीः

इत्थं विचिन्तयति कोष गते द्विरेफे ।

हा हन्त-हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥ —सुभाषित पद्य

इस पद्य का अनुवाद और भी अनेक कवियों ने किया है।

२३ वे पद्य में कवि ने बतलाया है कि राज द्वार पर घड़ी-घड़ी में घड़ियाल बजती है, वह पुकार-पुकार कर मानवों से मानो कह रही है कि यह आयु क्षण-क्षण में छीजती जा रही है सपत्ति श्वास और शरीरके समान अनिश्चल है—विनष्ट होने वाली है। वह वृक्ष के पत्तों पर पड़ी ओस के बिन्दु के समान चंचल है। ऐसा जान कर मूढ मानव तू चित्त में चेत, कवि छीहल कहता है कि उच्च हाथों से दान दीजिये अन्यथा वह विनष्ट हो जायगी।

यथा—धरी-धरी नृप द्वार एह धरियावल बज्जं

कहे पुकारि-पुकारि आउ खन ही खन छिज्जं ।

संपत्ति स्वांस शरीर सदा नर नाही निसचल

पर इनि पत्र पतंत बूंद जल लव जिम चंचल ॥

यह जानि जगत जाती सकल चित चेतो रे मूढ नर ।

.....सो इव छीहल कहि दिज्जं दानहि उच्च कर ॥२३

एक दूसरे पद्य में कवि कहता है—कि—

ज्ञानवन्त कुलीन पुरुष यद्यपि धन से हीन है फिर भी

वह विषमावस्था में भी कभी हीन बचन नहीं कहता ।

दुःख के अधिक सताने पर भी वह नीच कर्म नहीं करता ।

वह मरना पसन्द करता है किन्तु अपनी नाक नीची नहीं

करता कवि छीहल कहते हैं कि दम्पति (सिंह) सदा

मृग मांस खाता है किन्तु बहुत दिनों तक लंघन करने पर

भी कभी घास नहीं खाता ।

ज्ञानवन्त सुकुलीन पुरुष जो है धन हीना

विषम अवस्था परें बयन नहि भावें रीना ।

कुलपाक के माणिक स्वामी

पं० के० भुजबलो शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

‘अनेकान्त’ वर्ष २१ किरण १ (अप्रैल, १९६८) में कुलपाक के माणिक स्वामी शीर्षक से डा० विद्याधर जोहरा-पुरकर का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में मान्य लेखक ने अनुमानित तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् उदयकीर्ति की अपभ्रंश रचना ‘तीर्थ वंदना,’ चौदहवीं शताब्दी के लेखक जिनप्रभसूरिका ‘विविध तीर्थ कल्प,’ पंद्रहवीं शताब्दी के मराठा लेखक गुणकीर्ति का ‘धर्मावृत,’ पंद्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी के लेखक सिंहनन्दि का ‘माणिक स्वामी बिनती,’ सोलहवीं शताब्दी के गुजराती लेखक सुमतिसागर की ‘तीर्थजयमाला,’ सत्रहवीं शताब्दी के लेखक शीलविजय की ‘तीर्थमाला,’ सत्रहवीं शताब्दी के गुजराती लेखक सुमति-सागर की ‘तीर्थ जयमाला,’ सत्रहवीं शताब्दी के गुजराती लेखक ज्ञानसागर की ‘तीर्थ वंदना,’ सत्रहवीं शताब्दी के ही जयसागर की ‘तीर्थ जयमाला’ और उसी शताब्दी के

कारजा के भट्टारक जिनसेन का ‘मान्यता विवरण’ इन कृतियों के आधार पर कुलपाक के माणिक स्वामी पर प्रकाश डाला है।

विद्याधर जी का कहना है कि इस समय क्षेत्र पूर्णतः श्वेताम्बर संप्रदाय के अधिकार में है। पर उपर्युक्त कृतियों के वर्णनों से स्पष्ट है कि मध्य युग में दिगम्बर भी यात्रा को यहां पर बराबर जाते रहे हैं। जहाँ के मंदिर के सभागृह में मुख्य मूर्ति माणिक स्वामी के अतिरिक्त, अन्य बारह भव्य अर्ध पद्मासन मूर्तियाँ भी हैं और उनकी शिल्प शैली दक्षिणी भारत के श्रवण बेलगोल कारकल, मूडबिद्री आदि स्थानों की मूर्तियों के समान ही है। साथ ही साथ लेखक यह भी कहते हैं कि मूर्तियों के पाद पीठों पर प्रतिष्ठा सम्बन्धी लेख अवश्य ही रहे होंगे। पर इनके पैरों तक सीमेंट प्लास्टर किये जाने के कारण आज पाद पीठ नष्ट प्रायः हो गये हैं।

निध कर्म नहि करे रोर जो अधिक सतावै ।

वर मदिहो अंगवै निमिष सो नाक न नावै ॥

छीहल कहै मृगपति सदा मृग आमिष भक्षण करै ।

जो बहुत दिवसलंघन परं तऊ न केहरि तृण चरै ॥२४

३५ वें पद्य में बताया है कि हे मूढ नर ! थोड़े-थोड़े समय कुछ मुकुत (पुण्य) भी करना चाहिये और जब तक शरीर में जोस है विनय सहित सारे दिन अपने हाथ से धन को देना चाहिये। मरने के बाद लक्ष्मी साथ नहीं जाती। कवि छीहल कहते हैं कि देखो राजा वीसल ने उन्नीस करोड़ द्रव्य संचित किया, किन्तु भोग कर उसका लाभ नहीं उठाया। अन्त में वह उसे छोड़ कर चला गया।

इस तरह यह रचना बड़ी ही सुन्दर और भावपूर्ण है। और प्रकाशित करने के योग्य है।

पाँचवीं रचना सामने न होने से उसका परिचय यहां नहीं दिया जा सका। कवि की अन्य रचनाओं का अन्वेषण होना चाहिए।

अब कुलपाक के माणिक स्वामी के सम्बन्ध में मुझे भी कुछ कहना है। वह निम्न प्रकार है : कुलपाक या कोल्लिपाक से सम्बन्ध रखने वाली एक रचना कन्नड भाषा में भी है। इसके रचयिता जैन कवि नागव है। इनका समय ई० सन् १७०० वीं शताब्दी है। कवि नागव की इस रचना का नाम ‘माणिकचरिते’ है। इस कथा का सम्बन्ध रामायण से जोड़ा गया है। बहुत कुछ संभव है रामायण और महाभारत जनप्रिय महाकाव्य होने के कारण ऐसा किया गया हो। वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक घटना है। कथा का सार इस प्रकार है :

एक दिन देवेन्द्र रजतगिरि के रत्न खचित जिन मंदिरों का दर्शन कर पुष्पक विमान पर लौट रहा था। अकस्मात् पुष्पक विमान बीच में रुक गया। तब देवेन्द्र ने नीचे देखा। नीचे लंकाधीश रावण की पत्नी मंदोदरी लंका नगर के बाहर, शांतीनगर के मंदिर में बड़ी भक्ति से पूजा कर रही

थी। देवेन्द्र उसे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। तत्क्षण वह विमान से उतर कर पूर्वोक्त जिन मंदिर में गया। मंदिर के दर्शन करने के उपरांत देवेन्द्र ने मंदोदरी से कहा कि मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत खुश हूँ। इसलिये तुम कोई अभीष्ट वस्तु मागो। मंदोदरी ने उसका उत्तर दिया कि मुझे किसी भी चीजकी कमी नहीं है। हा स्वर्ग में आपके द्वारा पूजी जाने वाली जिन प्रतिमा को आप मुझे दे दें तो बड़ी कृपा होगी। तब देवेन्द्र ने मंदोदरी को सानद मरकत रत्न निमित्त अपनी जिन प्रतिमा को दे दिया। इस जिन प्रतिमा को मंदोदरी बड़ी भक्ति से बराबर पूजती रही। राम-रावण के युद्ध काल में डर कर मंदोदरी ने इस प्रतिमा को समुद्र में डाल दिया। इसके बाद की कथा सुनिये।

एक दिन एक भील ने राजा शंकर गड से निवेदन किया कि प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल तीनों काल समुद्र में हाव-भाव के साथ दर्शन देने वाली और डूबने वाली जिन प्रतिमा का एक बार आप अवश्य दर्शन करें। इस बात को सुनकर दूसरे दिन शंकर गड अपने मंत्री एवं पुरवासियों के साथ समुद्र तीर में जाकर वहाँ से नाव के द्वारा प्रतिमा स्थित स्थान पर पहुँचा वहाँ पर भील की बात यथार्थ निकली। बाद सूर्यास्त के समय पर राजा शंकर गड अपने महल में लौट आया। पर उसके मन में उक्त प्रतिमा को लाकर पूजा करने की बलवती अभिलाषा सताने लगी। उसी दिन रात को निद्राधीन शंकर गड से यक्षी ने आकर कहा कि तुम्हारे राज्य की किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री की सहायता से सागर स्थित वह प्रतिमा महल में लाई जा सकती है। पर लाते समय उक्त प्रतिमा को तुम मुडकर मत देखना। अगर देखोगे तो प्रतिमा उसी स्थान पर स्थिर हो जायगी अर्थात् आगे नहीं जावेगी। दूसरे दिन राजा शंकर गडने अपने आस्थान में गत रातकी घटना को कह सुनाया। तब मंत्रियों ने राजा से निवेदन किया कि अपने नगर में किसी पतिव्रता स्त्री का पता लगाना चाहिये। इसके लिये सुवर्ण मुद्राओं के साथ मुनादी करना ही सबसे उत्तम उपाय है। इसी प्रकार किया गया।

इस मुनादी को घनदत्त श्रेष्ठी की पत्नी गुणवती के नौकराने सुना और उसने राज दूतों से बहुमान स्वरूप

उन सुवर्ण मुद्राओं को लेकर वह अपनी स्वामिनी के पास पहुँचा। मुनादी की बातों को सुनाकर वह गुणवती से कहने लगा कि इस महत्वपूर्ण धर्म कार्य के लिये आप ही सर्वथा योग्य हैं। क्योंकि मैं आपकी पातिव्रत्य की महिमा को कई बार देख चुका हूँ। बाद नौकराने के आग्रह से गुणवतीको उस बहुमानको स्वीकार करना पड़ा। राजाजा के अनुसार दूसरे दिन प्रातःकाल गुणवती स्नान आदि से शुचिभूत होकर सुवर्ण थाल में पूजा द्रव्य लेकर अपने पूज्य पति तथा नौकराने के साथ राजमहल में पहुँची। वहाँ से राजा शंकर गड अपनी रानियो, मंत्री, सेनानायक, सेना हाथी, घोड़ा, बाजा आदि के साथ बड़े धूम-धाम से निकला और ठीक समय पर समुद्र तीर में पहुँचा। उन्ही समय सती गुणवती सकेत पाकर अपने पातिव्रत्य के बलसे पानी के ऊपर पैदल ही जिन प्रतिमा के पास पहुँची। वहाँ पर बड़ी भक्ति से भगवान् की पूजा कर स्तुति-स्तोत्र पूर्वक उक्त प्रतिमा को भक्ति से शिर पर उठा लायी। तीर में पहुँचते ही एक नवीन विशिष्ट गाड़ी पर मूर्ति को विराजमान कर सभी नगर की ओर बढ़े। चलने-चलते नगर जब ८-१० मील पर रह गया था, तब अकस्मात् वह गाड़ी रुक गयी। उस समय पूर्व के स्वप्न की सूचना को भूल कर शंकर गड ने मुडकर पीछे देखा। फल स्वरूप वह माणिक स्वामीकी प्रतिमा वही पर स्थिर हो गयी। उस स्थान का नाम कुलपाक या कोलिपाक था। निरुपाय हो उसी स्थान पर राजा के द्वारा पूर्वोक्त प्रतिमा को स्थापित करना पड़ा। यही संक्षेप में पूर्वोक्त रचना का सार है। अब इस कथा को ऐतिहासिक दृष्टि से देखना है।

उक्त कुलपाक एक जमानेमें कर्णाटकमें शामिल रहा। पूर्वोक्त कथामें प्रतिपादित राजा शंकर गड दशवी शताब्दीके उत्तरार्ध में राज्य करने वाला एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। वह राष्ट्रकूट चक्रवर्ती तृतीय कृष्ण का महासामन्ताधिपति होकर बनवासिमें शासन करता रहा। उसी समय उपर्युक्त कृष्ण के आस्थान-महाकवि पोन्न को 'उभय भाषा कवि चक्रवर्ती की उपाधि एवं उसी कृष्ण मांडलिक अरिकेसरी के आस्थान में सेनानायक तथा कवि के रूप में विराजने वाले महाकवि पंप को कविता गुणार्णव की उपाधि दी गयी थी। थोड़े ही समय के बाद चालुक्य चक्रवर्ती तैलपदेवने

महाकवि रत्नको अपने आस्थान में बुलाकर, 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से समलकृत किया था। महाकवि इस रत्न ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'अजितनाथपुराण' में, अपनी पोषिका अत्तिमब्बे की स्मरण करने वाले पद्य में ही इन महाकवियों के समय में ही वर्तमान शकर गड को भी एक प्रतिष्ठित धार्मिक व्यक्ति के रूप में स्मरण किया है। शकर गड और अत्तिमब्बे के वजोमान में अन्तर होने पर भी ये दोनों समकाली न रहे। पूर्वोक्त कथा में एक व्यापारी की रत्नी के रूप में प्रतिपादित सती गुणवती सभवतः 'गुणदककीर्ति' उपाधि प्राप्त दानचिन्तामणि अत्तिमब्बे ही हो सकता है। क्योंकि उपर्युक्त कथा एक व्यापारी के द्वारा जनश्रुति के आधार पर ७०० वर्षों के बाद लिखी गयी है। धारवार जिले के लक्कुडि के शासन में अन्यान्य अतिशयो के साथ-साथ अत्तिमब्बे के द्वारा नदी से एक जिन प्रतिमा को उठा लाने का उल्लेख भी पाया जाता है। १२ वीं शताब्दी के श्रवण बेलगोल के शिलालेख में भी अत्तिमब्बे से सम्बन्ध रखने वाली इन बातों का उल्लेख विस्तार से मिलता है। पूर्वोक्त समुद्र तार गोदावरी जहा बगाल समुद्र में जा मिलता है वही स्थान हो सकता है। क्योंकि कवि नागव ने शकर गड को ओरगल्लु निवासी बतलाया है। ओरगल्लु और कुलपाक ये दोनों गोदावरी के ही पास हैं। इसीलिये इस क्षेत्र का नाम कुलपाक की अपेक्षा कालि-पाक अधिक सुसंगत जचता है। क्योंकि कालि शब्द का अर्थ है खाड़ी।

अस्तु, सितम्बर १९५८ में हैदराबाद से ४५ मील दूर पर स्थित, कुलपाक को स्वयं गया हूँ। वहाँ के जिनालय प्राचीन मूर्तियां भूगर्भ से उपलब्ध अन्यान्य स्मारक इन सब वस्तुओं के देखने से मुझे भी विश्वास हुआ कि यह क्षेत्र श्वेताम्बरों के अधिकार में आने के पूर्व दिगम्बर क्षेत्र ही

रहा है। यद्यपि इधर श्वेताम्बर भाइयों ने मंदिर और मूर्तियों में विशेष परिवर्तन कर लिया है। फिर भी मंदिर के शिखर पर आज भी अनेक मूर्तियां दिगम्बर मुद्रा में ही दृष्टि गोचर होती हैं। भूगर्भ से प्राप्त मूर्तियां भी दिगम्बर मुद्रा में ही वर्तमान हैं। जिनालय में विराजमान अन्यान्य विशालकाय मनोज्ञ मूर्तियां दक्षिण भारत के अन्यान्य मंदिरों में अधिक परिमाण में उपलब्ध होने वाली दिगम्बर संप्रदाय की मूर्तियों की तरह अर्धपद्मासन में ही विद्यमान हैं। विद्याधर जी का कहना यथार्थ है कि इस समय मूर्तियों के लेख बिल्कुल नजर नहीं आते हैं। पूर्व में मूर्तियों में लेख अवश्य रहे होंगे। आज भी मंदिर में अर्धपद्मासनस्थ नीलरंग बाली ऋषभ भगवान् की मूर्ति विराजमान है। मूर्ति बहुत मनोज्ञ है।

मैं कुलपाक के मंदिर को देखने के बाद हैदराबाद में स्थित आंध्र प्रदेशीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष डा० पी० श्री निवासाचार्य से मिला था। आप सुयोग्य विद्वान् हैं। वे बहुत प्रेम से मिले। अन्यान्य बात-चीत के मिलसिले में मैंने उनसे कुलपाक क्षेत्र के सम्बन्ध में भी चर्चा की। उस पर उन्होंने यों कहा कि कुलपाक मूल में दिगम्बर संप्रदाय के अधिकार में ही रहा। यह वस्तुतः दिगम्बर संप्रदाय की ही नीति है। इस बात को समर्थन करने वाले अनेक कन्नड शिलालेख मिले हैं। वे शिलालेख पुरातत्त्व विभाग की ओर से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं। प्रकाशित होने के बाद उन शिलालेखों को आप के पास भेज दूंगा। पर बाद में यह बात मेरे दिमाग से एकदम उतर गयी। 'अनेकान्त' के इस लेख को देखने के बाद ही पूर्वोक्त बात याद आयी। खैर इस समय कुलपाक के सम्बन्ध में इतना ही कहना है। पूर्वोक्त कन्नड शिलालेखों को प्राप्त करने के उपरांत फिर मैं लिखूंगा। ★

सुभाषित

स जीवति यशो यश्य कीर्तयस्य सजीवति ।
अयशोऽकीर्तिसंपन्नो जीवन्नपि मृतोपमः ॥
साधोः प्रकोपितस्यापि मनो ना याति विक्रियाम् ।
नहि तापयितुं शक्यं सागराभस्तृणोत्कया ॥

कवि टेकचंद रचित श्रेणिक चरित और पुन्याश्रव कथाकोष

श्री भगवच्छन्द नाहटा

‘सन्मति सदेश’ के सितम्बर ६८ के अंक में श्री चंपालाल सिधई का एक लेख ‘विदिशाके कवि टेकचंद’ नामका प्रकाशित हुआ है। जिसमें उन्होंने कवि के ‘बुद्धि प्रकाश’ ग्रन्थ का विवरण दिया है। साथ ही कतिपय पूजा ग्रंथों का भी उल्लेख किया है। कवि के बुद्धि प्रकाश की २ प्रतिया हमारे संग्रह में हैं जिनमें से एक सवत् १६२८ की लिखी हुई है अर्थात् ग्रंथ रचना के दो वर्ष बाद की ही प्रति है कवि टेकचंद की दूसरी एक रचना जिसका उल्लेख श्री चम्पालाल सिधई ने नहीं किया है हमारे संग्रह में है। यह ग्रन्थ भी काफी बड़ा और महत्वपूर्ण है। और रचना के समय की ही लिखी हुई प्रति हमारे संग्रह में है। खेद है कि इस महत्वपूर्ण और तत्कालीन लिखित प्रति के प्राथमिक ग्यारह पत्र प्राप्त नहीं हैं। और १२ वें १६ वें पत्रों तक में भी उड़ई लग जाने से काव्य का कुछ अंश नष्ट हो गया है। ग्रंथ में १६ सन्धियां हैं जिनमें से पहली सन्धी तो इस प्रति में है ही नहीं, दूसरी सन्धि के भी २६१ पद्य नहीं हैं। ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति इस प्रकार है।—
 श्रंसं श्रेणिक चरित बखानि पूरण कियो महा मुनि आनि ।
 आंगे जं नर धर्मो भया, तानें सहसकरित तें लया ॥८१॥
 गुजराती भाषा में सार, नाना छंद ढाल मय धार ।
 सो अब ग्रन्थ बुद्धि के जोग, समझें नहीं इस भाषा लोग ॥८२॥
 हमभी तुच्छ ज्ञान पर भाय, ढाल छंद का मग नहीं पाय ।
 भाषा देस तनी समझेय, और ढाल इन भेद न लेय ॥८३॥
 अरथ तर्णों भ्रम पायो जाय, पे नहि चाल ढाल की आय ।
 तब मोसे लघु बुद्धी और, रोचिक धर्म—पुन्य कों दोर ॥८४॥
 तिन मिल कही नेह उपजाय, श्रेणिक चरित महा सुख दाय ।
 अरथ भलो धर्महित करा, पे इसभाषा समझि न परा ॥८५॥
 तातें देस-भाषा में होय, तो समझे वाचें सब कोय ।
 इममुनि हम मनहरषत भयो, यह शुभकाज इन्होंनें चयो ॥८६॥
 जो यह ग्रंथ देस छंद में होय, तो बहु वाचें पुन्यलें सोय ।
 फिरछंद करतें मनवच काय, एक ठामधर्म अंगलगवाय ॥८७॥

आरति रुद्र ध्यान मिटि जाय, धर्म-ध्यान मय परिणत ठाय ।
 ऐसी जानि सरल छंद लेय, रचना करि धर्म धरि जेय ॥८८॥
 जो या ग्रन्थ में कथन समानि, सो अन्य ग्रन्थसुं यामें आनि ।
 पाय परोजन कियोविशेष साविधि आगे जिन धनि लेख ॥८९॥
 भूल चूक जो छंद में होय, तथा अर्थ नहीं भाण्यो कोय ।
 तो बुधजनलख क्षमि सुध करो, यह विनती हृदयमें धरो ॥९०॥

॥ दोहा ॥

देस मालवा के विसं, ‘रायसेनगढ़ जेय ।
 तहां धान जिन गेह में कथा रची सुख होय ॥९१॥
 संवत् अष्टादस दस सही, ऊपरि गिनि तेतीस ।
 मिति आसोज सुवि दुतीय, सोमवार निशि ईस ॥९२॥
 ऐसे ग्रंथ पूरण कियो, मंगल कारन एक ।
 मनवच तन शुभ जोग धनि, सोस नमावत टेक ॥९३॥
 इति श्री महा मंडलेसुर राजा श्रेणिक चरित्रे सामान्य ।
 षट्काल रचना वर्णनो नाम १६ वीं संधि ॥

इति श्री श्रेणिक चरित्र संपूर्ण ॥ शुभ भवतु मंगल ।
 सवत् १८३३ मिति कुवार सुदि १० लिखावत साधर्मि
 भाई टेकचंद ॥ लेखक किसनचंद ब्राह्मण ॥

प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इस श्रेणिकचरित्र की रचना सवत् १८३३ के आसोज सुदि सोमवार को रायसेनगढ़ में पूर्ण हुई। प्राप्त प्रति रचना के ८ दिन बाद स्वयं टेकने लिखायी और किसनचंद ब्राह्मण ने लिखी। मालूम होता है कवि ज्यों-ज्यों ग्रन्थ रचता गया, किसनचंद ब्राह्मण उसकी नकल करता गया, अन्यथा ८ दिन में तो इतना बड़ा ग्रंथ लिखा जाना सम्भव नहीं है। प्रति की पत्रसंख्या १४२ है। प्रति पृष्ठ १२ पक्तियाँ प्रति पक्ति अक्षर ५०-५२ के करीब हैं। इस तरह इस ग्रन्थ का परिमाण ५५०० करीब श्लोकों का बैठता है। इसकी दूसरी प्रति मालवा के भण्डारों में मिलनी चाहिये। खोज की आवश्यकता है।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रकाशित हस्त लिखित हिन्दी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण नामक ग्रन्थमान के पृष्ठ ३७६ में टेकचन्दकी दो रचनाओं का विवरण दिया है—टेकचन्द आचार्य शाहीपुर के राजा उम्मेदसिंह के आश्रित । सन् १८२२ के लगभग वर्तमान ।

व्रत कथा कोष (पद्य) १७-१९३ । टेकचंद (जैन) — (?)

पद्य परमेष्ठी की पूजा (पद्य) ३२-२१५

इससे एक नवीन और महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है कि कवि टेकचन्दने बुद्धि प्रकाशसे पहले एक और बड़े ग्रन्थ की रचना मेवाड़ के शाहपुर में रहते हुये नृप उम्मेद के राज्य में की थी । यह पुन्याश्रव कथा कोष जिसका नाम प्रति के प्रारम्भ में 'व्रत कथा कोष' दिया है । है १२३२० श्लोक परिमित बृहत्ग्रन्थ पूर्ण हुआ । इसकी ३५२ पत्रों की प्रति सरस्वती भण्डार जैन मंदिर खुर्जा के संग्रह में बतलाई गई है १२३२० श्लोक की संख्या तो विवरण में लिखी गई है । ग्रन्थकार ने तो ग्रन्थ संख्या १४००० से भी अधिक बतलायी है । इस तरह टेकचंद एक बहुत बड़ा और अक्छा कवि सिद्ध होता है जिसने सन् १८२२ में शाहपुर में १८२६ में माडल नगर-विदिशा में और सन् १८३३ रायसेनगढ़ में तीन बड़े ग्रन्थ पद्य में बनाये ।

नागरी प्रचारिणी सभा की त्रैवापिक खोज रिपोर्ट (सन् १९१७-१९ तक की) राय बहादुर हीरालाल सम्पादित गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद से १९६० में छपी थी । वह अब प्रायः नहीं है । अतः उसमें छपे हुए 'व्रत कथा कोष' का प्रकाशित विवरण नीचे दिया है ।

No. 193 Brata Katha Kosa by Teka Chand Substance-country made paper. Lines—352. Size 12 1/2" X 8". Lines per page—14. Extent—12, 320 Slokas. Appearance—new character—Nagari. Date of Composition—Samvat 1822 or A. D. 1765. Date of Manuscripts—Samvat 1956 or 1899. A.D. Place of deposit Sarswati Bhandara, Jain Mandir, Khurja.

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ श्री परमात्मने नमः ॥ ग्रन्थ

श्री व्रत कथा कोष भाषा लिख्यते

सन वच वृषभजिनंद के, बंदो निस दिन पाय ॥
ताते निति संगल रहै सब उ बगल जाय ॥१॥
बंदो अजितनाथ सभव, अभिनंदन के पूजू पाय ॥
प्रणामुं सुमति पदम जिन बंदु, फिर सुपाश्वं ध्याउं मनल्याय
सेऊ चंद्रप्रभ जिन स्वामी, पुष्पवन्त पूजू सुखदाय ॥
शीतल बंदों श्रेयान्स जिन, प्रणमुं वासु पूज्य सिरनाय ॥
विमलनाथ प्रणमुं अनन जिन धर्मनाथ सवकुं सुखदानी ॥
शान्तिनाथ फिर कुं थ जिनेश्वर अरहन से मल्लि गुण स्वामी
मुनि सुव्रतमै नभूं नमि नेमि मनाय पारस हित ठानी ॥
बद्धमान आदिक चोबीसो, बंदू मगलदासुरआनी ॥३॥
इन अतिसय जुत देव ज्यो, सुरग सुकति सुखदाय ॥
तिन अतिशय के नाम अब, सुनो भविक मन लाय ॥

॥ चौपाई ॥

तन पसेव मल तन मं नांही, संसधान सम चतुर कहाही ॥
संहनन बज्र वृषभनाराच, काय सुगंध मधुर जिनबाच ॥५॥
महारूप लच्छित सुभ जानि, रुधिर सुपेद अनत बल मानि ॥
ये दस जनमत जिन के होय, सो भगवंत और नहि कोय ॥६॥

॥ पद्धडी छंद ॥

जो सम्यक कथा सुनें अनूप ॥ सो जाने दय धर्म संरूप ॥

इत्यादिक सब धर्म अंग जनि,

ताते सिव सुरसुख होय आनि ॥४०॥

दोहा—यह पुन्याश्रव ग्रन्थ जो, सुने पढ़े मन लाय ॥

सो जिय पुण्य संग्रह करे, पूरव पाप नसाय ॥४६॥

शाहिपुरा शुभ थान में भलो सहारो पाय ॥

धर्म लियो जिन देव को, सु नरभव सफल कराय ॥५०॥

नृप उमेद तापुर बिर्ष, करे राज बलवान ॥

तिन अपने भुजबल यकी, अरी सिर कीन्हें आनि ॥५१॥

ताके राज मुराज में ईति भीति नहीं जानि ॥

अब भूपुर में सृष थाको, तिष्ठ हरष जुआनि ॥५२॥

करी कथा इस ग्रंथ की, छंद बंधपुर साहि ॥

ग्रन्थ करन कुछ बीच में, आ कुल उपजी नाहि ॥५३॥

साहि नगर साह में भयो, पायो शुभ अवकास ॥

पूरन ग्रंथ सुख ते कियो, पुन्याश्रव पुन वास ॥५४॥

॥ चौपाई ॥

सबत् अष्टादस सत जानि, ऊपर बीस दोय फिर आनि ॥

फागन सुदि ग्यारसि निस माहि,

कियो समापत उरटुल साहि ॥५५॥

दोहा—विसपतवार सुहाबनौ, हरष करन कूं आय ॥

ता दिन ग्रंथ पूरन भयो, सो सुषको बरनाय ॥५६॥

मानूं तेरह पथ कूं, फल मैं पहुँत जाय ॥

सुगम पथ आगं भलो, पायो अति सुणदाय ॥५७॥

देव धर्म गुरु बवितें, सब हो मंगल पाय ॥

सुख तें ग्रंथ पूरन भयो, जैं जैं जैं जिनराय ॥५८॥

ग्रंथ सख्या इम जानि, भव्य सहल वतुर्दश मानि ॥

ऊपरि पचीस से जानियै, यह संख्या उर आनि ॥५९॥

पूरन पुन्याभव कियो, पूरब ले अनुवार ॥

जिन आग्यायु लखे बचन सेब, तो ग्रंथ निरधार ॥६०॥

छंद मात्र अक्षर कहूँ, सोषि लेहु बुधवान ॥

जो लेखक चुक्यो कहूँ दिष्ट पड़े को यान ॥६१॥

शुद्ध करे ते परमाद कछु कीजे नाहि समान ॥

ताते बुद्धि तैं बीनही लिपि देखि शुध ठानि ॥६२॥

इति श्री कथाकोप भाषा चौपाई छंद दोहा टेकचद

कृत संतूर्णः ॥ समाप्त ॥ मिति भादों वदी ॥५॥ संवत्

१९५६ शाके १९२१ ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥ इह कथा कोप

पंचायती बड़े मंदिर जी के है । भा पत्र ३५२ ॥★

महावीर वाणी

नित पीजौ धीधारी, जिनवानि सुधासम जानके ॥टेक॥

वीर मुखारविन्द तें प्रगटी जन्म-जरा-गद टारी ।

गौतमादि गुरु उरघट व्यापी, परम सुखि करतारी ॥१॥

सलिल समान कलिलमल गंजन, बुधमनरंजनहारी ।

भजन बिभ्रम धूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥२॥

कल्याणक तरु उपवन धरिनी, तरनी भव जल तारी ।

बंध विदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥३॥

स्व-पर-स्वरूप प्रकाशन को यह, भानुकला अविकारी ।

मुनि-मन-कुमुदिनि-मोदन शशिभा, शमसुख सुमन सुवारी ॥४॥

जाको सेवत वेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।

तीन लोक पति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥५॥

कोटि जीभ सों महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी ।

दौल अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारनहारी ॥६॥

जिनवाणी को अमृत के समान जानकर विद्वानों को उसका निरन्तर पान (श्रवण) करना चाहिए । भगवान् महावीर के मुखारविन्द से प्रगट हुई वह जिनवाणी जन्म-जरा (वृद्धापा) रूपी रोग का विनाश करने वाली है । गौतमादि मुनीन्द्र के हृदयरूप घट में व्याप्त होने से वह अतिशय रुचि को उत्पन्न करने वाली है । जल के समान पाण-रूपी मल को नाश करने वाली होने से वृथ्जनो के मन को अनुरजायमान करने वाली है । वह जिनवाणी अज्ञानरूपी धूल उड़ाने के लिए वायु के समान और मिथ्यात्वरूप भेषों की विनाशक है । पंच कल्याणकरूपी वृक्षों के लिए उपवन धारिणी है—उद्यानभूमि है । भवसमुद्र से तारने के लिए नीका है । कर्मरूपी वध की विनाशक पैनी छैनी है । और मुक्ति रूपी महल की नसैनी-सीढी है । स्व-पर के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए उत्तम मूर्त्य किरण है । और मुनिश्री की मनरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित करने के लिए चन्द्रमा की चाँदनी है । समता-भुव्यरूपी पुष्पो की अच्छी वाटिका है । जो उसकी सेवा (मनन) करता है वह निज पद का अनुभव करता है और उसका सब अज्ञान नष्ट हो जाता है । तीनों लोकों की हितकारी जानकर उसकी तीन भूवर्ण के राजा इन्द्र, धर्मेश्वर व चक्रवर्ती पूजा करते हैं । वज्रधारी इन्द्र करोड़ जिज्ञासुओं से भी उसकी महिमा को नहीं गा सकता है । कविवर दौलताम जी कहते हैं कि मैं अल्प बुद्धि उसकी महिमा कैसे कह सकता हूँ, वह तो अधमजनों का उद्धार करने वाली है ।

सीताचरित : एक अध्ययन

श्री परमानन्द शास्त्री

भारतीय साहित्य में राम, सीता, कृष्ण, पाण्डव, कौरवादि के विषय में प्रचुर साहित्य लिखा गया है। यदि उस साहित्य को साहित्य-सूची से पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य निष्प्रभ हो जायगा। केवल राम और सीता पर विविध भाषाओं में जो विपुल साहित्य रचा गया है उससे उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट भान हो जाता है। सीता के सम्बन्ध में लिखे गये कुछ ग्रन्थों का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए अब तक अप्रकाशित एवं अज्ञात ग्रंथ प्राकृत के "सीताचरित" का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय नारियो में सीता का चरित्र अत्यन्त पावन और समुज्ज्वल रहा है। वह नारी जीवन के आदर्श के साथ धैर्य और विवेक की गरिमा को भी उद्भासित करता है। इतना ही नहीं, अनेक विषम एवं दुःखद प्रसंगों पर सीता अपने विवेक के सन्तुलन को कायम रखती हुई किसी को अपराधी नहीं ठहराती, प्रत्युत अपने पुराकृत अशुभ कर्म को ही दोषी मानती है। उस अवस्था में भी सीता का वह विवेक उसे सुदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण वह समागत आपदाओं से रंचमात्र भी नहीं घबराती, धैर्य और समभाव से उन्हें सहती है। यही सब घटनाएँ उसकी लोक में प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा की द्योतक हैं।

रावण सीता का अपहरण करके ले जाता है, और उसे देव-रमण उद्यान में रखता है, उसे प्रसन्न करने के लिये विविध उपाय किये जाते हैं। वैभव का नजारा दिखाया जाता है, समझाया, डराया-धमकाया भी जाता है। किन्तु इन सब का उसके अन्तर्मन पर कोई प्रभाव अंकित नहीं हुआ। उसकी आत्मनिर्भरता, महान् शक्तिशाली शत्रु के यहाँ अक्षुण्ण बनी रही। यही उसके सतीत्व की गरिमा का प्रतीक है। इससे पाठक सीता के सतीत्व की महत्ता का अंदाज लगा सकते हैं।

गर्भवती सीता को रामचन्द्र लोकापवाद के भयसे कृतान्त-वक्त्र सेनापति द्वारा भीषण एवं हिसक जन्तुओं से व्याप्त कानन में छोड़वा देने है। उस वन की भयानकता सीता की कोमलता और गर्भ-भाग की विषमता को देखकर सेनापति का मानस भी रो देता है। जब सीता को सेनापति से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र ने लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, तब वह सेनापति से कहती है— "हे भाई, तुम स्वामी से मेरा यह सन्देश कह देना कि जिस प्रकार लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, उसी तरह अपने धर्म का परित्याग न कर देना। पाठक देखें सीता के इस सद्विवेक को, जिसकी वजह से वह लोक-पूजित हुई है। इसी कारण सीता की पावन जीवन-गाथा पर विविध भाषाओं में जो साहित्य रचा गया है वह उसकी आदर्श जीवनी का दिग्दर्शन मात्र है, इसीसे हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सीता की लोकप्रियता कम नहीं हुई।

जैन साहित्य में सीता के सम्बन्ध में जो साहित्य रचा गया है, उसमें से यहाँ कुछ ग्रन्थों का दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है—

१. "सीताचरित"—आचार्य भुवनतुंग की कृति है, जिसे उन्होंने प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया है। कृति में उसका रचनाकाल दिया हुआ है। अतः उसके रचनाकाल का निर्णय करना कठिन है। ग्रन्थका आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—जस्स पय-पउम नहचद जुहजलजालिखालियमलोह ।

ति जगं पि सुईजायं तं मुणिसुव्वयजिणं नमिउं ॥

अन्त—सीलगुणसवण संभूय परमाणं वकारणारइय ।

चरिय सिरि भुवणतुंग पयसाहणं होउ ॥४२॥

२. "सीताचरित"—महाकाव्य सर्ग ४, गाथा ६५, ६६, १५३, और २०६ है। कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हुआ।

यह कृति स० १३३६ के द्वितीय कातिक में लिखे गए गुच्छक में मौजूद है, जो पाटन के भण्डार में सुरक्षित है।

३. “रामलक्षण सीताचरित” — नामकी है, यह कृति भी अज्ञात कर्ताकी है इसमें २०८ गाथाओं में उक्त चरित दिया हुआ है ग्रंथ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—
आदि—भगियं सीताचरियं पुष्पभवविवागसूयगं किञ्च ।

अहं रामलक्षणान् तं लवमित्तं पकिस्तेमि ॥

अन्त—रामो वि केवली विहरिऊण महिम्नडलमि सयलमि ।

पडिबोहियभभवजणो पत्तो सिवसपय बिउल ॥ २०८

हिन्दी भाषा में सीता के चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है। कुछ कृतियों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कविवर भगवतीदास अग्रवाल ने सन् १६८७ में चैत्र शुक्ला चतुर्थी-चन्द्रवार के भरणी नक्षत्र में ‘सिहरदि’ नगर में “लघुसीता सतु” की रचना की है। रचना सुन्दर और भावपूर्ण है। ग्रंथ में बारहमासों के मन्दोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप में कावने रावण और मन्दोदरी की चित्त-वृत्तिका चित्रण करते हुए सीता के सतीत्व का कथन किया है। वह बड़ा ही सुन्दर और मनमोहक है। अतः ग्रंथ सर्वसाधारण के लिये बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठकों की जानकारी के लिए आषाढ मास का प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है—

तब बोलइ मन्दोदरी रानी, रति अषाढ़ घन घट घहरानी।
पीय गये ते फिर घर आवा, पामरनर नित मन्दिर छावा।
लवहि पयोहे बाबुर मोरा, हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा, तियपिय बिनु लिटि उसन उसासा
नहीं बून्द भरत सरलावा, पावस नभ आगमु दरसावा।
बामिनदमकत निशि अन्धियारी, विरहनि कामबान उरिमारी
भुगबहि भोगु सुनहि सिल मोरो, जानत काहे भई मति बोरी
बदन रसायनु हइ जगसार, सजमु नेमु कथन विवहार।

दोहा—जब लग हंस शरीरमहि, तब लग कीजइ भोगु।

राज तजहि भिक्षा भमहि इउं भूला सब लोगु।

सोरठा—सुख बिलसहि परबोन, दुख देखहि ते बाबरे।

जिउ जल छांडे मीन तड़फि भरहि थलि रेत कइ।

यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइए।

तिय पिय सम संजोग परम सुहु पाइए ॥

जो हु समज्जणहार तिसहि सिल दीजिये।
जाणत होइ अयाणु तिसहि क्या कीजिये ॥
शुक-नासिक मृग-वृग पिक-वइनी,
जानुक वचन लवइ सुखि रहनी।
अपना पिउ पय अमृत जानि,
अवर पुरिस रवि—दुग्ध-समानी ॥
पिय चितवन चितु रहइ अनन्दा,
पिय गुन सरत बढ़त जसकन्दा।
प्रीतम प्रेम रहइ मन पूरी,
तिनि बालिम संगु नाहीं बूरी।
जिनि पर पुरिष तियारति मानी
लखे न सो आदि विकानी ? ॥
करत कुशील बढ़त बहु पापु,
नरकि जाइ तिउ हइ संतापु।
जिउ मधु बिन्दु तनू सुख लहिये,
शील बिना दुरगति दुख सहिये।
कुशल न हुइ पर पिय रसबेली,
जिउ सिसु मरइ उरग-सिउ खेली।

दोहा—सुख चाहइ ते बाबरी पर पति संग रति मानि।

जिउ कपि शीत बिथा मरइ तापत गुंजा आनि ॥

सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ जल जब खारी पीजिये।

भिरगु मरइ धपि धाइ जल घोखइ थलि रेतकइ ॥

पर पिय सिउ करि नेहु सुजनमु गमावना।

दीपगि जरइ पतंग सु पेखि सुहावना।

पर रमणी रस रंग कवणु नर सुहु लहइ।

जब कब पूरी हानि सहित जिह अहि रहइ ॥

दूसरी रचना “सीताचरित” है जो हिन्दी का एक महत्वपूर्ण काव्य है जिसे कवि रायचन्द्र ने स० १७१३ में बनाकर समाप्त किया है। रचना पद्यबद्ध और मध्यम दर्जे की है। परन्तु रचना में गतिशीलता (प्रवाह) है। पद्यों की संख्या अढ़ाई हजार से ऊपर है। ग्रंथ में सीता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तीसरी रचना “सीताचउपई” है, जो ३२७ पद्यों की लघुकाव्य कृति है। इसके कर्ता खरतरगच्छ शास्त्राके समय-ध्वज हैं।

चौथी रचना "सीताप्रबन्ध" है, जो ३४६ पद्यों में रचा गया है, रचनाकाल स० १६२८ है।

पाँचवी रचना "सीताविरहलेख" है जिसमें ८१ पद्यों द्वारा कवि अमरचंद ने सीता के विरह पर अच्छा प्रकाश डाला है। रचना सवत् १६७१ के द्वितीय आषाढ के दिन पूर्ण हुई है।

छठी रचना "सीतारामचौपई" है, जिसे कवि समय-सुन्दर ने स० १६७३ में अपने जन्म स्थान साचौर में बना कर समाप्त की है।

सातवी रचना "सीता चउपई" है, जिसे तपागच्छीय कवि चेतनविजय ने सवत् १८५१ के वैशाख सुदी १३ को बंगाल के अजीमगंज में रचा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाएँ शास्त्रभङ्गों में विद्यमान होंगी जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा।

'सीयाचरित' प्राकृत भाषा का गद्य-पद्यमय एक चम्पू काव्य है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। अनुमानतः इसमें ३००० गाथाएँ और कुछ गद्य भाग है। ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ श्वेताम्बरीय शास्त्रभङ्गों में उपलब्ध होती हैं। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी प्रति श्री अमरचंदजी नाहटा के सौजन्य से कलकत्ता के नाहर भण्डार से प्राप्त हुई है जिनकी मैने कापी की है और बाद में दूसरी प्रति से मिलान भी किया है। इतने बड़े ग्रंथ में कही सधि सर्ग या प्रकरण वगैरह नहीं है, इसलिए कथानकका सम्बन्ध भी लम्बा और दुरूह हो गया है। पाठक को उसके जानने में बड़ी कठिनाई होती है। ग्रंथ में कितनी ही गाथाएँ विमलमूरी के 'पउमचरित' से समानता रखती हैं। किन्तु ही विषयोमें समानता दृष्टिगोचर होती है, कही कुछ पाठ-भेद मिलता है। ग्रंथ में काव्य का विशेष आडम्बर नहीं है। नगर, देश, नदी, ग्राम, वन आदि का सामान्य वर्णन या नामोल्लेख मात्र किया है। युद्ध का वर्णन भी पूर्वग्रन्थ-परम्परानुसार ही है। हाँ, कही किमी कथानक में विशेषता लाने का उपक्रम अवश्य किया है। उदाहरणस्वरूप वज्रकर्ण-कथानक में कहा गया है कि वह धर्म रहित और शिकारी था। एक दिन वह वन में शिकार खेलने गया और वहाँ उसने गर्भवती हिरणी को बाण से मार दिया। बाण लगने

ही हिरणी जमीन पर घड़ाम से गिरी और गिरते ही उसके पेटसे तड़फड़ता हुआ एक बच्चा निकला। वज्रकर्ण इस भ्रूणहत्या के महापाप से अत्यन्त व्यथित हुआ और विचारने लगा कि इस महापाप से कैसे बच सकता हूँ। ऐसा विचार कर वह इधर-उधर घूम रहा था कि उसकी सहसा दृष्टि एक शिला पर बैठे हुए ध्यानस्थ मुनि पर पड़ी। वज्रकर्ण ने उन्हें नमस्कार करके पूछा—'भगवन् ! आप इस जगलमें क्या करते हैं ?' मुनि ने कहा—'मैं आत्महित करता हूँ।' वज्रकर्ण ने कहा—'भल, प्यास, सर्दी, गर्मी की परीषह सहते हुए वन में घूँकेले कैसे आत्महित होता है ?' तब मुनि ने उसे गृहस्थ और मुनिधर्म का स्वरूप समझाया, जिससे राजा को प्रतिबोध हुआ। उसने मद्य-मासादि के त्याग के साथ सम्यग्दर्शन और श्रावकधर्म को ग्रहण किया और यह प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्रदेव और जिनगुरु को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।

प्रस्तुत काव्य में सीता का चरित्र पूर्व परम्परानुसार ही चित्रित किया है। यद्यपि कवि ने उसे विस्तृत रूप में लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु यहाँ इस छोटे से परिचय लेख में उसका संक्षिप्त सार ही दिया जाता है। ग्रंथ में काव्यगत वैशिष्ट्य का अभाव, खटकता है। भाषा सरल है। कही-कही कुछ सुभाषित एवं नीतिपरक पद्य उपलब्ध होते हैं जिससे पाठक ऊबता नहीं। जहाँ सती सीता सुशीला और मिष्टभाषिणी है वहाँ कष्टसहिष्णु, पतिभक्ता, विवेकी, कर्तव्यपरायणा आज्ञाकारिणी और स्वदोष प्रेक्षिणी भी है।

वह मिथिला के राजा जनक और विदेहा की पुत्री है। वह युगलरूप में उत्पन्न हुई थी, किन्तु भाई के अपहृत हो

१. ज तस्य पिया ग्रहिय पारद्वी धम्मबुद्धि-रहियस्स।

वच्चइ तेण अरण्णे ममाइ धायत्थ अणुदियह ॥

अन्नमि दिणे पह्या हरिणी बाणेण तेण गम्भवई।

पडिओ य तीण गम्भो दरीय कुच्छीअ सहसत्ति ॥

दट्ठूण तडफडत मयसाव (सो) विसायमावण्णो।

चितइ महापाव मए कयं भूणधाएण ॥

—सीयाचरित, का० पृ० २८

२. सीयाचरित प० २६

जाने के कारण उसका अकेले ही लालन-पालन और शिक्षा हुई थी। अयोध्या के राजा के पुत्र रामचन्द्र के साथ उनका विवाह हुआ। केकई के वर के कारण जब राम-लक्ष्मण वन को जाने लगे तब सीता भी साथ में गई। सीता अपने पति राम और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमती हुई क्रमशः दण्डक वन में पहुँची। वहाँ कुछ समय सुख से निवास करती है। वन में होने वाले कष्टों से वह न कभी खेद-खिन्न हुई और न समागत आपदाओं से घबराई। उसे स्वकीय कर्म का विपाक समझ कर सन्तुष्ट रहती थी।

कुछ समय बाद रावण कपट से उसे हरण कर ले जाता है। वह पुष्पक विमान में रोती-चिल्लाती, आँसू बहाती तथा आभूषणों को यत्र तत्र बिखेरती हुई जाती है। रावण लका में पहुँचकर उसे किसी उद्यान में ठहरा कर और रक्षकों की व्यवस्था कर अन्तःपुर में चला जाता है। सीता राम का अनुचिन्तन करती हुई अपने अशुभोदय का विचार करती है और प्रतिज्ञा करती है कि जब तक राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार नहीं मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल, स्नान और गन्धमाल्यादि का ग्रहण नहीं करूँगी। वह कभी मन में पंच परमेष्ठी का स्मरण करती है, कभी राम लक्ष्मण का चिन्तन करती है और कभी अपने अशुभोदय की निन्दा करती है। सीता रावण के वैभव को तृण के समान तुच्छ गिनती है। यद्यपि रावण ने सीता को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु उसे किंचित् भी सफलता नहीं मिली। रावण की परिचारिकाएँ रावण से कहती हैं कि सीता जब भोजन की भी इच्छा नहीं करती, तब वह आपकी कैसे इच्छा कर सकती है? यह सुन

रावण को बड़ा दुःख हुआ। उसका शरीर मदनानल से भुलम जो रहा था। यह देख मदोदरी रावण से कहती है—‘तुम उसका बलात् सेवन क्यों नहीं करते?’ तब रावण कहता है—‘मैंने मुनिपुंगव अनन्त-वीर्य के सम्मुख यह नियम लिया था कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी मैं उसकी इच्छा न करूँगा।’

रोती हुई सीता को देखकर विभीषण ने पूछा—‘यह किसकी पुत्री और किसकी भार्या है?’ सुनकर सीता ने कहा—‘मैं जनक की पुत्री, भामंडल की बहिन तथा राम देव की प्रथम पत्नी हूँ, यह पापी (रावण) मुझे अपहरण कर ले आया है—

पुच्छइ विभीषणो तं रूपमाणि कस्स त वुहिया ।

कस्स वि भज्जा सा वि णु साहेइ जुहट्टिय सव्व ॥

अविय—जणयस्स अहं तणया भगिणी भामंडलस्य गुणनिहिणो ।

रामस्स पढम घरिणी अवहरियाणेण पावेण ॥

—सीयाचरिउ पृ० ६७-६८

विभीषण सीता को आश्वासन देकर चला गया, वह मधुर वचनों से रावण से कहता है—‘तुम पर-रमणी को क्यों लाए? परनारी अग्नि-शिखा के समान है, विषलता, नागिन, और कुपित व्याघ्री के समान सताप, विनाश और दुःख का कारण है, कुल का कलक है, यश का घातक है, अतएव तुम परनारी को छोड़ो, दुर्गति में मत पड़ो।’ तब रावण ने कहा—‘संपूर्ण पृथ्वी मेरी है। इसमें किंचित् भी वस्तु परकीय नहीं है, तब उसके परित्याग का प्रश्न ही नहीं उठता।’

आसासिऊण सीयं महुरगिरेहि विभीषणो भणइ ।

दहवयण कीस तुमए पररमणी आणिया इहयं ? ॥

हुयवहसिहिव्व, विसकन्दलिव्व, भुयगिव्व, कुविय वग्घिव्व परणारी होइ सताव-विणास-बुहेहेउ । मा आणेसु

३. कि पुण बला वि अबला तीए अलिगणं विहेऊण ।

पूरेसि तुम नियए मणोरहे नाह साहेहि ।

एव पुच्छिओ पभणिओ दहवयणो—

अत्थिमए पडिवन्नो अभिगहो अणंतविरियपयमूले ।

जह भोत्तव्वाजुवई अणिच्छमाणा न कइयावि ॥

—सीयाचरिउ पृ० ६६

१. तह वि न इच्छइ सिणाण न भोयण गंधमल्लाइ ।

अच्छइ एगगमणा भायंती राहव णिच्चं ॥

भणइ भोयणविसए न जावदइयस्स बंधुसहियस्स ।

लद्धा कुसलपउत्ती भुजामि य भोयण ताव ॥

—सीयाचरिउ पृ० ३८

२. सीयावइयरमावेइऊण रमणीहि रावणो भणइ ।

जा भुत्तं पि न इच्छइ सा इत्थिइच्छइ कहे णु तुमए ॥

सोऊण इमं वयणो मयणानलेण डज्झमाणसव्वंगो ।

पडियो वसणसमुद्धे दहवयणो दुक्खियो अहियं ॥

—सीयाचरिउ पृ० ८

कलंक कुलत्स नासेसु । मा जस निययं, मा पडसु दोगईए,
मुंचसु एय परं पुरंधि ।

—सीयाचरित पृ० ६८

इधर राम जब अपने निवास स्थान पर आये और सीता को वहाँ न देखा, तब बहुत खेदखिन्न और दुःखी हुए । इतने में लक्ष्मण भी खरदूषण को मारकर आ गया । दोनों भाइयों ने सीता की इधर-उधर खोज की परन्तु कहीं पता न चला ।

सीता का पता लगाने के लिए चारों ओर लोग दौड़ाए और सुग्रीव स्वयं भी पता लगाने के लिए गया । तब पता चला कि रावण सीता को हर कर ले गया है । इसे सुनकर विद्याधर भय से काँपने लगे । किन्तु राम लक्ष्मण ने समझा कर उनका भय दूर किया । राम ने हनुमान को अपनी मुद्रिका और सब समाचार देकर कहा—तुम जाओ सीता में मिलकर उसका चूड़ामणि लेते आना, तथा वहाँ का सब समाचार भी लाना, जिसमें मुझे सीता के सम्बन्ध में प्रत्यय हो सके ।

हनुमान ने लका में पहुँच कर प्रच्छन्न हो राम की मुद्रिका सीता के अंग के वस्त्र पर छोड़ी, उसे देख सीता कहने लगी—“राम की यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई ? जो कोई इस मुद्रिकाको यहाँ लाया हो वह प्रकट हो जाय । तब हनुमान ने प्रकट होकर, अपने नाम, स्थान एवं कुलादि का परिचय देते हुए राम का सब समाचार सुनाया । सीता को विश्वास हो गया कि राम और लक्ष्मण सकुशल हैं । वे जल्दी ही यहाँ आयेगे । इससे सीता को प्रसन्ता हुई । हनुमान ने सीता से कहा—अब आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, भोजन-पान ग्रहण करो । तब सीता ने ग्यारहवें दिन पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण कर भोजन किया । तत्पश्चात् हनुमान ने सीता से कहा—मेरे कंधे पर बैठ जाइए मैं राम के पास पहुँचा दूँ । सीता बोली—पति की ऐसी आज्ञा नहीं और न इस प्रकार जाना उपयुक्त ही है । सीता ने अपना चूड़ामणि उतार कर हनुमान को दिया और अपनी उन जीवन घटनाओं का वृत्तान्त भी कहा जिसे सुन कर राम को विश्वास हो गया कि सीता जीवित है और वह मेरे वियोग से पीड़ित है ।

राम ने रावण के पाम दूत भेजा और कहलाया कि तुम सीता को वापिस पहुँचाओ अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । रावण अभिमानी था, उसने सीता को वापिस न कर युद्ध किया जिसका नतीजा उसे भोगना पड़ा । राम-रावण का युद्ध प्रसिद्ध ही है । उसकी भीषणता का वर्णन परम्परानुसार चरितकार ने किया है । अन्त में लक्ष्मण के हाथ रावण मारा गया । राम लक्ष्मण ने लका में प्रविष्ट होकर सीता को प्राप्त किया । लका में कुछ समय राज्य कर और विभीषण को लका का राज्य देकर राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या को चले । अयोध्या में राम सीता और लक्ष्मण का भव्य स्वागत हुआ । भरत ने जिन दीक्षा ले ली । और राम लक्ष्मण का राज्याभिषेक हुआ । दोनों भाई वहाँ मुख में राज्य करने लगे ।

अशुभोदय में विवेक :

कुछ समय के बाद अयोध्या में सीता के सम्बन्ध में लोकोपवाद की वार्ता सामने आई, राम ने उस कलक से बचने के लिए सीता के परित्याग का निश्चय किया । यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत समझाया पर राम अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुला कर यह आदेश दिया कि सीता को वियावान जंगल में छोड़ आओ । सेनापति सीता को रथ में बैठाकर ले चला और अयोध्या से बहुत दूर एक भयानक वन में रथ को रोककर सीता से बोला—आप उतर जाँएँ ।

जब सीता हिसक जन्तुओं से भरे उस विकट वन में उतरी तो भय से काँपने लगी । सेनापति ने रोते हुए सीता से कहा—मुझे आप क्षमा करें, मैंने तो केवल स्वामी के आदेश का पालन किया है । सेनापति सीता की खिन्नमुद्रा, वन की भीषणता, नीरवता तथा गर्भ के भार की पीड़ा को देख कर अत्यन्त द्रवित हो गया । उसने जंगल में छोड़ने का कारण लोकोपवाद बतलाया । तब सीता ने जो कहा उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं । सेनापति सीता के विवेक और धैर्य से अत्यन्त प्रभावित होता है, अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करता है और कहता है—यह सब कार्य मुझे पराधीनतावश करना पड़ा है । देवी, मेरा यह अपराध क्षमा करो । कवि के वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

सेवावित्ती पुरिसो पहुवयणा विसइ जलणंमि ।
जणणीए कीस जाओ सो पुरिसो जो करेइ परसेवं ॥
सेच्छाए जेण कओ न सहइ सो किंचि करणिज्ज ॥
तो लमियब्बो सामिणि मह अवराहो इमो अहन्नस्स ।
एमाणिणी अरण्णे जं परिचत्ता मए तमिह ।

तयो बाहुल्ललायणाए भणिय सीयाए, कहेहि केण पुण
कारणेण एसो अम्ह भीसणमेक चडो दडो काराविओ राह-
वेण ? तेण भणियं—देवि, सम्म न जाणामि । किन्तु मए
वि मुओ जणप्पवाओ, जहा लकाहिवइणा अवहरिय जीए
सीलवररणं सा सीया णियभवेण कह आणिया राहवेण ।

इयय सकल काउमन्ने भोएण पउमनाहेण ।
सुयण तुमं परिचत्ता णो अण्णो कोइ अवराहो ॥
अह वा न तुज्ज दोसो दोसा महचेव पुब्ब पावस्स ।

जह नाह अह तुमए परिचत्ता आणइ अभावेउं ।
तह मा मुंचसु सामिणि जिणवयण पिसुणवयणेहि...॥
मुक्कस्स मए पच्छा अवगणतस्स विगयविलियस्स ।
इह चेव भवे तिक्ख होही पिअयम महाबुक्ख ॥
चित्तामणिसारिच्छो जिणवरधम्मो मए विमुक्कं ।
नाणाविहवुक्खाणं भवे भवे भायणं होसि ॥

—सीयाचरित का० पृ० १३५

मेनापति के जाने ही मोता रोनी और त्रिलखनी है
और अपनी निन्दा करनी है, परन्तु वहाँ उमका कौन है,
जो उसे उम दुःख में मान्दवना दे, डाढम बधावे । वह
कभी जिनदेव का स्मरण करनी है, कभी अपने माता-पिता
और लक्ष्मण की याद करनी है, कभी अपने भाई भामडल
को याद करनी है । और कभी अन्यन्त करुण विलाप
करनी है ।

उमके इस करुण विलाप को मुनकर वज्रजघ की सेना
रुक गई । वज्रजघ ने सीता के शब्द सुने । उमने पाम
आकर जब सीता से उसका परिचय पूछा, तब सीता ने
अपना परिचय दिया और वनवास का कारण बतलाया ।

वज्रजघ ने अपना परिचय देने हुए कहा—वर्मविधि
से तुम मेरी बड़ी बहिन हो । सीता उसे अपना भाई मान-
कर उसके साथ नगर में चली गई । वज्रजघ सीता को

सम्मान के साथ पालकी में लाया, और वहाँ उसके साथ
भगिनी के योग्य व्यवहार किया । सीता ने वहाँ युगल
पुत्रों को जन्म दिया जिनका नाम 'लव' और 'अकुश'
रखा गया । दोनों पुत्रों का वही लालन-पालन, शिक्षण
और विवाह हुआ । उन्होंने द्विग्विजय की । पश्चात्
अयोध्या आकर रामचन्द्र से युद्ध कर अपनी वीरता का
परिचय दिया और आदर के साथ अयोध्या में प्रवेश
किया ।

अग्नि परीक्षा और आधिका की वीक्षा :

कुछ दिनों के पश्चात् राम की स्वीकृति पाकर विभी-
षण, हनुमान, युग्रीव और भामडल आदि राजा गण सीता
को लेने के लिए पुडगीकणी नगरी गये, और सीता को ले
आये । किन्तु जब सीता राम के सम्मुख आई, तब राम ने
उसे कहा—देवि, मैं तुम्हारे शील को जानता हूँ, किन्तु
किसी कर्मोदयवश जो जनापवाद रूप कलक हुआ उसे
धोने के लिए अग्नि में प्रवेश कर आत्म-शुद्धि करो ।

तो राहवेण पगलंतअंसुसलिलेण जंपियं वइए ।
जं मणसि तुमं सच्चं सव्व पि ठुं नत्थि सन्वेहो ।
जाणामि तुज्ज सील अणन्नसरिसं कुलीणयं लज्जं ।
न कित्तिमं च पेम्मं जह तुह तह कस्स भवणंमि ।
तहविहु जणाववाओ केणइ कम्मेण उच्छलिओ ।

पाविहिसि जसं धवलं लहिसि पसिद्धी जणंमि सयलंमि ।
ता जलणपवेसेणं करेसु तं अत्तणो सुद्धि ॥
हेमस्स व जेण मलो अयसकलंको समुत्तरइ ।
एसो सिघं चिय तह सुन्दरि जाणइ मणनिच्चुइ अम्हं ॥

सीयाचरित का० पृ० १६०

सीता ने भी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए
अपनी स्वीकृति दी ।

अग्निकुण्ड तैयार कराया गया और जब वह प्रज्वलित
हो उठा सीता ने पचनमस्कामत्र का स्मरण कर सभा में
बैठे लोगों से कहा—यदि मैंने इस जीवन में अपने पति
रामचन्द्र को छोड़कर अन्य पुरुष का स्वप्न में भी स्मरण
किया हो तो मेरा यह शरीर इस अग्नि में जल जाये और
न किया हो तो न जले, तत्पश्चात् सीता ने अग्नि में प्रवेश

किया। लोंग हाय-हाय करने लगे, किन्तु जब सीता अपने शीलव्रत-माहात्म्य से न जली तब सबने उसके शील की प्रशंसा की। कुण्ड से निकलने पर सीता ने ससार की अनित्यता और अशरणता का अनुभव कर आत्मकल्याण करने का निश्चय किया। रामचन्द्र ने घर चलने का आग्रह किया और यह भी कहा कि मैं तुम्हें सोलह हजार रानियों की पटरानी बनाऊँगा, किन्तु सीता ने अपने केशों को लुचन कर सर्वगुप्त मुनि के निकट आर्यिका की दीक्षा ले ली और विधिपूर्वक तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि की।

सीयाचरित में सीता के पवित्र जीवन की जो भाँकी दी गई है, उसका यह सक्षिप्त सार है, चरित ग्रंथ मुन्दर व प्रकाशन के योग्य है।

ग्रंथ का कथानक दिगंबर परंपरा को लिए हुये है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसके विषय में सशय को अवकाश मिले। प्रस्तुत ग्रंथ का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि कर्तानि विमलसूरिके पउम-चरित को अवश्य देखा है, क्योंकि उसका प्रभाव उन पर अंकित है। ग्रंथ के कितने ही पद्य ज्यों के त्यों साधारण पाठ-भेद के साथ पउमचरित में उपलब्ध होने हैं। कुछ पद्य “अन्न च”, “भणियं” तथा “उक्त च” कह कर दिये गये हैं। वे उससे उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—

अन्नं च—

महिला सहावचवला अदीहपेही सहाइ माइल्ला ।
तं मे लमाहि पुत्तय जं पडिक्कं कयं तुम्ह ॥१६६॥
तो भणइ पढमणाहो अम्मो किं खत्तिया अलियवाई ।
हुंति महाकुलजाया तम्हा भरहो कुणाउ रज्जं ॥

सीयाचरित १६७

महिला सहावचवला अदीहपेही सहावमाइल्ला ।
तं मे लमाहि पुत्तय जं पडिक्कं कयं तुम्ह ॥३२-५१॥
तो भणइ पउमणाहो अम्मो किं खत्तिया अलियवाई ।
होस्ति महाकुलजाया, तम्हा भरहो कुणाउ रज्ज ॥

—पउमचरित ३२-५२

भणियं च—

समणो गावो विप्पा इत्थीओ बालबुद्धलोगत्ता ।

एए न हु हन्तव्वा कयावराहा वि, धीरेहि ॥

—सीयाचरित कापी पृ० ३८

समणा य बम्भणा वि य, गोपसु इत्थीय बालया बुद्धा ।

जइ वि हु कुणन्ति दोस, तह वि य एए न हन्तव्वा ॥

—पउमचरित ३५-५१

रचनाकाल :

इस ग्रंथ का रचयिता कौन है और ग्रंथ कहाँ रचा गया, इसके जानने का कोई पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नहीं है। ग्रंथ में रचनाकाल और गुह्यपरंपरा का भी कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु ग्रंथ के अन्त में एक गाथा निम्न प्रकार से उपलब्ध है।

एय सीयाचरिय बुच्चरिय सेणियस्स नरवइणो ।

जह गोयम तह महसूरिहि निवेइय किंचि ॥

इसमें बतलाया है कि सीताचरित को गौतम ने जैसा गजा श्रेणिक से कहा वैसा ही महसूरि ने कुछ निवेदन किया। इस गाथा में “मह” शब्द अपूर्ण जान पड़ता है और वह अन्य शब्द “मेन” की अपेक्षा रखता है। पुराना महसेन सूरि होना चाहिए। इतिहास में महसेन और महासेन नाम के विद्वानों का उल्लेख मिलता है। बहुत संभव है कि इस ग्रंथ के रचयिता कोई महसेन या महासेन नामक विद्वान हो।

वधेरा के निम्न मूर्तिलेख में आचार्य महसेन का उल्लेख स्पष्ट है, यह लेख सफेद पाषाण की खड्गासन मूर्ति के नीचे अंकित है।

स० १२१५ वैशाख सुदी ७ श्री माथुरसंघे आचार्य श्री महसेनेन दीक्षिता आर्यिका ब्रह्मदेवी श्री चन्द्रप्रभु प्रणमिति ।”

कुछ विद्वान् “मह” का अर्थ मुझ बतलाते हैं पर वह यहाँ संगत नहीं जान पड़ता।

इस ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं, संभव है उनमें से किसी पुरातन प्रति में कर्ता का उल्लेख मिल जाय।

साहित्य-संगोष्ठी विवरण

१२ अक्टूबर से १४ अक्टूबर तक वाराणसी में होने वाले प्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा ११ अक्टूबर को साहित्य-संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। ज्ञानपीठ के संस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जी ने गोष्ठी का प्रारंभ किया और डा. ए. एन. उपाध्ये ने अध्यक्षता की। डा० साहब के अंग्रेजी भाषण के बाद डा० हीरालालजी के द्वारा भेजे गये सुभाष सुनाए गये। सुभाष महत्वपूर्ण और उपयोगी है। समागत सभी विद्वानों ने उन्हें पसन्द किया। इतना ही नहीं किन्तु सभी विद्वानों ने अपने भाषणों में उनकी अनुमोदना की। सुभाष अभी अप्रकाशित है। जिन विद्वानों ने भाषण दिया उनके नाम निम्न प्रकार हैं :—प० कैलाशचन्द जी सि० शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमारजी, डा० नोमचन्द जी शास्त्री, डा० राजाराम जी, प० वशीधरजी एम ए, डा० नथमन टांटिया, डा० हरिन्द्रभूषण जी, डा० मोहनलाल जी मेहता, डा० विमलप्रकाश जी जबलपुर, डा० दरबारीलाल जी प० गोपीलाल 'अमर', प्रो० भागचन्दजी इटारसी, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प० हीरालालजी मि. शा. श्री नीरजजी डा० भागचन्दजी नागपुर और परमानन्द शास्त्री आदि।

प० कैलाशचन्द जी सि० शास्त्री ने अपने भाषण में डा० हीरालाल जी के सुभाषों का स्वागत करते हुए यह कहा कि इस पीढ़ी के वरिष्ठ विद्वान डा० हीरालाल जी और डा० ए. एन. उपाध्ये जी अब वृद्ध हो चले हैं। अतएव नई पीढ़ी के विद्वानों को उनके द्वारा की गई महान् साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। प० वशीधर जी ने डा० हीरालाल जी के सुभाषों की सराहना की, और ग्रन्थों की विक्री आदि सम्बन्ध में होने वाली असुविधा का उल्लेख करते हुए कहा कि ज्ञानपीठ के माध्यम से विक्री का प्रबन्ध सुचारुरूप से हो सकता है। प्रो० कुलभूषण जी ने अपने भाषण में विक्री की समस्या को अत्यन्त जटिल बनलाते हुये कहा कि जीवराज ग्रन्थमाला गोलपुर में दो लाख रुपये की पुस्तकें विक्री के लिए पड़ी हुई हैं। मैंने इसके लिये बहुत प्रयत्न किया, किन्तु तक अभी उसमें पूरी सफलता नहीं मिली, यदि सारी पुस्तकें विक्रि जाय तो अन्य साहित्य के प्रकाशन में सुविधा हो सकती है। डा. कस्तूरचन्द जी कासलीवाल ने डा. हीरालाल जी के सुभाषों को मान्य करते हुए कहा कि मैंने महावीरक्षेत्र की ओर से राजस्थान

के ग्रन्थ भंडारों की सूची का कार्य किया उससे साहित्यिक विद्वानों को शोध करने में सहायता मिली। अब ग्रन्थसूची का पाचवां भाग प्रकाशित होकर आपकी सेवामें पहुँचेगा। डा. विमलप्रकाश जी ने डा. हीरालाल जी के सुभाषों को महत्वपूर्ण बनलाते हुए कहा कि डा. साहिब ने उन सुभाषों में अपने जीवन के अनुभवोंका निचोड़ उपस्थित किया है। उन पर अमल करनेसे विक्रीकी समस्याभी हल हो जायगी।

इस तरह उक्त सभी विद्वानों ने डा. हीरालाल जी के सुभाषों को मान्य किया। मैंने भी उनकी सराहना करते हुए बताया कि अब तक तक दि. जैन साहित्य की कोई मुकम्मिल सूची नहीं है। दि. जैन भण्डारों में प्रकाशित अप्रकाशित-ग्रन्थों की संख्या दश हजार से कम नहीं है। किसी-किसी कविकी तो छोटी बड़ी ६० साठ रचनाएँ तक हैं। उनकी सूची बनने पर शोधक विद्वानों को अनुसन्धान करने में सुविधा हो सकती है।

दूसरे, जैन मन्दिर और मूर्ति-लेखों का प्रामाणिक संकलन, अप्रकाशित तथा प्रकाशित ग्रन्थों की आद्यन्त प्रशस्तियों का संकलन, प्रकाशन और जैन कलाविषयक प्रामाणिक पुस्तक का निर्माण तथा आधुनिक पठनक्रम की पुस्तक का भी निर्माण किया जाय।

साहू शान्तिप्रसादजी ने अपने भाषणमें महत्वपूर्ण विचार उपस्थित किये। भारतीय ज्ञानपीठ ने साहित्य-संगोष्ठीका केवल आयोजनही नहीं किया प्रस्तुत उसकी समुचित व्यवस्था भी की। साहू दम्पति उसमें स्वयं शामिल हुए, और भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था की। विद्वानों के भाषणों के अनन्तर डा. ए. एन. उपाध्ये ने भाषणों और योजना पर अपने विचार अंग्रेजीमें व्यक्त किये। इसके लिये एक कमेट्री का निर्माणभी किया गया, जो ग्रन्थोंके प्रकाशन और विक्री के सम्बन्धमें योजनाको कार्यान्वित करनेका सुभाव देगी।

भारतीय ज्ञानपीठ के व्यवस्थापक डा. गोकुलचन्दजी इस कार्यमें अत्यन्त व्यस्त दिखाई देने थे। इस योजनाको सम्पन्न करने में उन्होंने जो अथक श्रम किया उसीका परिणाम है कि गोष्ठी का कार्य अच्छी तरह से सम्पन्न हो सका। साहित्य संगोष्ठी का यह कार्य अत्यन्त सराहनीय रहा है। आशा है भारतीय ज्ञानपीठ आगे होने वाले प्राच्य विद्या सम्मेलनों के समय इसी तरह साहित्य संगोष्ठी को सफल बनाने का प्रयत्न करती रहेगी। —परमानन्द शास्त्री

प्रगतिशील पं० दरबारीलाल जी कोठिया

जैन समाज के वरिष्ठ विद्वान न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया एम. ए. ने काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से “जैन तर्कशास्त्र में अनुमान पर विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन” विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी. एच. डी. की सम्मानित उपाधि प्राप्त की है। कोठिया जी न्याय शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान हैं। उनके इस निबन्ध से जैन न्याय के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों को दिशाबोध के साथ जैन न्याय के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये विशेष चिन्तन की विशेषताओं का भी परिज्ञान होगा। डा० कोठिया जी ने भारतीय अनुमान-के चिन्तन में एक नई दृष्टि प्रदान की है।



डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य एम. ए. पी-एच. डी.

कोठिया जी अध्ययनशील, कर्मठ एवं प्रतिभाशाली विद्वान हैं। आप ग्रन्थ-शोधन, सम्पादन तथा तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन में लगे रहते हैं। उनके द्वारा सम्पादित अनुवादित न्यायशास्त्र के दो ग्रन्थ (न्यायदीपिका और आप्तपरीक्षा) वीरसेवा मन्दिर से प्रकाशित हो चुके हैं। जैन न्याय के क्षेत्र में उनकी यह शोभात्मक पहली कृति है। डा० कोठिया जी के इस उत्कर्ष के लिए वीर सेवामन्दिर और अनेकान्त परिवार अभिनन्दन करता है।

श्री कोठिया जी ने जो अष्टसहस्री और श्लोकवातिक ग्रन्थों के सम्पादन कार्य को हाथ में लिया है वह स्तुत्य है। आशा है आधुनिक पद्धति से सुसम्पादित होकर दोनों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाश में आ जायेंगे। वर्तमान में ये दोनों ग्रन्थ अलभ्य भी हो चुके हैं।

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५००
- (२) आन्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशीलित। ... २००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपाश्चान्नाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४००
- (११) समाधितन्त्र और हट्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैसे, (१६) समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैसे, (१७) महावीर पूजा २५
- (१८) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) २५
- (१९) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (२०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अष्टमंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२१) न्याय-दीपिका—आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००
- (२२) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-मध प्रकाशन ५-००
- (२३) कमायपाहुड मुक्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिपूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२४) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

द्वे मासिक

अक्टूबर १९६८

अनेकान्त



बघेरवाल बंशी शाह जीजा द्वारा निर्मापित विगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	स्वयंभू स्तुति—मुनि पद्मनन्दि	१४५
२.	चित्तौड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माणकाल—श्री नीरज जैन	१४६
३.	पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार—पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	१५५
४.	श्रीपुर क्षेत्र के निर्माता राजा श्रीपाल—नेमचन्द्र घनूसा जैन	१६२
५.	शुभचन्द्र का प्राकृत लक्षण : एक विश्लेषण—डा० नेमचन्द्र शास्त्री एम. ए. डी. लिट्	१६४
६.	विहारी सतसई की एक अज्ञात जैन भाषा टीका—श्री अग्रचन्द नाहटा	१६८
७.	ज्ञानसागर की स्फुट रचनाएँ—डा० विद्या-धर जोहरापुरकर मण्डला	१७०
८.	अध्यात्म बत्तीसी—अग्रचन्द नाहटा	१७२
९.	अछूता, समृद्ध जैन साहित्य—रिपभदास राका	१७४
१०.	चित्तौड़ का दिगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ—परमानन्द शास्त्री	१७९
११.	महावीर कल्याण केन्द्र—चिमनलाल चकुभाई शाह	१८३
१२.	अग्रवालो का जैन सस्कृति में योगदान—परमानन्द शास्त्री	१८५
१३.	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री तथा बालचन्द्र शास्त्री	१९०

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्य

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरवायी नहीं हैं। — व्यवस्थापक अनेकान्त

निवेदन

वीर-सेवा-मन्दिर एक शोध-संस्था है। इसमें जैन-साहित्य और इतिहास की शोध-खोज होती है, और अनेकान्त पत्र द्वारा उसे प्रकाशित किया जाता है। अनेक विद्वान रिसर्च के लिए वीर-सेवा-मन्दिर के ग्रन्थगार से पुस्तकें ले जाते हैं। और अपना कार्य कर वापिस करते हैं। समाज के श्रीमानों का कर्तव्य है कि वे वीर-सेवा-मन्दिरको लायब्रेरी को और अधिक उपयोगी बनानेके लिए प्रकाशित अप्रकाशित साहित्य प्रदान करें। जिससे अन्वेषक विद्वान उससे पूरा लाभ उठा सके। और प्रकाशित संस्थाएँ अपने अपने प्रकाशित ग्रन्थों की एक एक प्रति अवश्य भिजवाये। आशा है जैन साहित्य और इतिहास के प्रेमी सज्जन इस ओर ध्यान देगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'
२१ दरियागंज, दिल्ली



अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अपना वार्षिक मूल्य शीघ्र भेज दें। जिन ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक मूल्य नहीं भेजा है। और न पत्र का उत्तर ही दिया है। उनसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे अपना वार्षिक मूल्य ६) रु० शीघ्र भेजकर अनुग्रहीत करें। अनेकान्त जैन समाज का ख्याति प्राप्त एक शोध पत्र है, जिसमें धार्मिक लेखों के शोध-खोज के महत्वपूर्ण लेख रहते हैं। जो पठनीय तथा संग्रहणीय होते हैं। मूल्य प्राप्त न होने पर अगला अंक वी० पी० से भेजा जावेगा।

व्यवस्थापक : 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली।



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये।
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे।

ओम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २१
किरण ४

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४६५, वि० सं० २०२५

{ अक्टूबर
सन् १९६८

स्वयंभूस्तुति

पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः ।
तर्दानाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे ॥३॥
निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महाजनो न तु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः ।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये नमामि साक्षादभिनन्दनं जिनम् ॥४॥
नय-प्रमाणादिविधानसद्दृढं प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम् ।
यतस्त्वया तत्सुमतेऽत्र तावकं तदन्वयं नाम नमोऽस्तुते जिन ॥५॥

— मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—बार-बार जन्म-मरण रूप ससार के दुःख से पीड़ित प्राणी उस पीड़ा को दूर करने के लिए मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करने वाले जिस सम्भवनाथ तीर्थकर की शरण में प्राप्त हुए थे वह सम्भव जिनेन्द्र हमको पवित्र करे ॥३॥ जन्म-मरण से रहित जो अभिनन्दन जिनेन्द्र अपने अनुपम गुणों से महिमा को प्राप्त हुए हैं, न कि तीन लोक में स्थित जनता की पूजा से; तथा जिनके आगे विश्व तुच्छ है—जो अपने अनन्त ज्ञान के द्वारा समस्त विश्व को जानते देखते हैं, उन अभिनन्दन जिनके लिए मैं मुक्ति के प्राप्त्यर्थ नमस्कार करता हूँ ॥४॥ हे सुमति जिनेन्द्र ! चूँकि आपने नय एव प्रमाण आदि की विधि से सगत तत्त्व (वस्तु स्वरूप) को अतिशय निर्दोष रीति से प्रकाशित किया था, अतएव आपका सुमति (सु शोभना मतिर्यस्यासी सुमति = उत्तम बुद्धि वाला) यह नाम सार्थक है । हे जिन ! आपको नमस्कार हो ॥५॥

चित्तौड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण काल

श्री नीरज जैन

चित्तौड़ के किले में निर्मित जैन कीर्तिस्तम्भ अनेक दृष्टियों से हमारा एक महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक और प्रभावना जनक धर्मयुतन है। इसका महत्त्व तब और बढ़ जाता है जब हमें ज्ञात होता है कि इसी किले में निर्मित राणा कुम्भा का बहु प्रसिद्ध नौ मंजिला विजय स्तम्भ, इसी जैन कीर्ति स्तम्भ से प्रेरणा लेकर, इसके निर्माण के बहुत समय बाद बनाया गया। राणा कुम्भा ने इस स्तम्भ की अपेक्षा अपने स्तम्भ में कुछ परिष्कार करने का भी इसी के आधार पर प्रयास किया^१।

जैन मन्दिरों के सामने मानस्तम्भ बनाने की परम्परा बहुत प्राचीन है। तीर्थंकरों के समवशरण के सामने वर्णित मानस्तम्भ से यह परम्परा चली है। जैन मानस्तम्भों की शृंखला में कालक्रम से चित्तौड़ का यह स्तम्भ भले ही प्राचीनतम न ठहरे और स्थापत्य के कलागत मूल्यांकन में भी चाहे इसे सर्वोत्तम न माना जाय परन्तु अपनी अद्वितीय और आकाश-विलासिनी ऊँचाई के कारण निर्माण योजना के सौष्ठव और अनुपात की विशिष्टता के कारण तथा समस्त समकालीन स्थापत्य के बीच अपनी विविधता के कारण यह स्तम्भ देश के प्रायः सभी उपलब्ध जैन मानस्तम्भों में विशिष्ट, श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय पुरा विद्या और पुरातत्त्व के प्रायः सभी निष्पक्ष ज्ञाताओं ने इस स्तम्भ को बारहवीं शताब्दी ईस्वी या उसके पूर्व की रचना माना है। स्तम्भ की निर्माण शैली और उस पर अंकित कला के आधार से तथा अन्य अनेक उद्धरणों और आधारों से इन विद्वानों ने अपने इन अनुमानों की पुष्टि यथा स्थान की है जिसका उल्लेख मैं

१. श्री अग्रचन्द नाहटा, अनेकान्त वर्ष ८ पृ० १४०.

“चित्तौड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण काल एवं निर्माता”

आगे करूँगा। इधर पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से कतिपय शोधक विद्वानों ने उपरोक्त मान्यता की अवहेलना करके यह तथ्य स्थापित करने का प्रयास किया है कि इस स्तम्भ का रचना काल बारहवीं शताब्दी न होकर पंद्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी ईस्वी है। यद्यपि इस नवीन स्थापना का समर्थन साहित्य या कला क्षेत्र के किसी भी कोने से नहीं हो पा रहा है परन्तु फिर भी प्रस्तुत किये उक्त स्थापनाओं के साथ आधार भी प्रस्तुत किये गये हैं अतः वास्तविकता की कसौटी पर उनका परीक्षण आवश्यक है।

अनेकान्त वर्ष २१ के जून ६८ के अंक में पृष्ठ ८३ पर श्रीमान् प० नेमचन्द धनूसा जैन का एक लेख इस कीर्तिस्तम्भ के निर्माण काल के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा लेख का उद्धरण देकर श्री मुनि कातिसागर के एक लेखाश (अनेकान्त वर्ष ८ पृ० १४२) का परिष्कार करने का उद्यम किया है; तथा इस स्तम्भ की शैली आदि के आधार पर भी इसके निर्माण काल की ईसा की बारहवीं शताब्दी के आसपास की मान्यता को ही समर्थन देना चाहा है। लेखक ने स्पष्टता पूर्वक स्वीकार किया है कि उन्हे स्तम्भ के निरीक्षण का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है और मुनि जी के लेखवाला अनेकान्त का उक्त अंक भी उनके सामने नहीं है।

यह मात्र प्रसंग की बात है कि अपने गत राजस्थान प्रवास में इसी सितम्बर मास में मुझे चित्तौड़ की यात्रा का सौभाग्य मिला था। अनेकान्त के सभी पिछले अंक भी मेरे सग्रह में हैं और इस विषय की कुछ और सामग्री भी मेरे पास उपलब्ध है, इसलिए मैं श्री प० नेमचन्द धनूसा की आकांक्षा के अनुरूप इस सम्बन्ध में यह लेख लिखने का साहस कर रहा हूँ।

मैं समझता हूँ कि पहिले हम एक दृष्टि में इस बात

का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लें कि इस स्तम्भ के निर्माण काल के विषय में पुरातत्त्व के पारखी किन विद्वानों ने क्या-क्या अनुमान लगाये हैं। यह जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त मैं अपनी मान्यता और उसके आधार प्रस्तुत करने का उपक्रम करूँगा।

१. शासकीय प्रकाशन^१ : जनरल ए. कनिंघम ने उल्लेख किया है कि यह कीर्तिस्तम्भ ७५।।। फुट ऊँचा ३२ फुट व्यास का नीचे वा १५ फुट ऊपर है। यह बहुत प्राचीन है। इसके नीचे एक पाषाण खण्ड मिला था जिसमें लेख था—“श्री आदिनाथ व २४ जिनेश्वर, पुण्डरीक, गणेश सूर्य और नवग्रह तुम्हारी रक्षा करें। सं० ६५२ वैशाख सुदी गुरुवार^१।

आक्यालॉजिकल सर्वे की ही रिपोर्ट^२ के अनुसार “जैन कीर्तिस्तम्भ बहुत पुरानी इमारत है जो शायद सन् ११०० के करीब बनी थी। इस रिपोर्ट में यह भी अनुमान लगाया गया है कि राजा कुमारपाल के राज्यकाल (बारहवीं शताब्दी के मध्य) में इस पहाड़ पर बहुत से दिगम्बर जैनियों का निवास रहा होगा^३।

इस कीर्ति-स्तम्भ के निर्माता का उल्लेख भी शासकीय अभिलेखों में कई प्रकार से मिलता है। एक लेख के अनुसार राजा कुमारपाल ने इसका निर्माण कराया था^४। जब कि दूसरे दो अभिलेखों^५ में इसे एक बघेरवाल महाजन जीजा या जीजक द्वारा निमित्त कहा गया है^६।

२. श्री ब्र० शीतल प्रसाद जी : ब्रह्मचारी जी ने इस

२. ये उद्धरण ब्र० शीतल प्रसाद द्वारा संपादित—

“मध्यप्रान्त, मध्यभारत और राजपूताना के प्राचीन जैन स्मारक” नामक पुस्तक से लिए गये हैं।

३. आक्यालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, जिल्द २३, पृ० १०८.

४. आक्यालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, फार १६०५-६, पृष्ठ ४३.

५. It belongs to the Digamber Jains, many of whom seem to have been upon the hill in Kumarpals' time.

६. इम्पीरियल गेजेटियर आफ इंडिया (राजपूताना) १६०८

७. आक्यालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया १६०५-६ पृ. ४६.

८. A.P.R. of W. India 1906.

सम्बन्ध में अपनी मान्यता इन शब्दों में व्यक्त की है—

“यहाँ सबसे प्राचीन मकान जैन कीर्तिस्तम्भ है जो ८० फुट ऊँचा है, जिसको बघेरवाल महाजन जीजा ने १२वीं या १३वीं शताब्दी में जैनियों के प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ की प्रतिष्ठा में बनवाया^७।

राणा कुम्भा के जय स्तम्भ के नीचे जो पुराना मंदिर है उसके लेख से प्रगट है कि गुजरात के सोलकी राजा कुमारपाल ने इस पर्वत के दर्शन किये थे^८।

यदि इस कीर्तिस्तम्भ का सम्बन्ध मूल में किसी मन्दिर से होगा तो यह मन्दिर शायद उस स्थान पर होगा जहाँ वर्तमान में पूर्व की ओर अब पाषाण का ढेर है^९। जो श्वेताम्बर मन्दिर अब इस स्तम्भ के पास दक्षिण-पूर्व में है, उसका सम्बन्ध इस स्तम्भ से नहीं है क्योंकि वह ३५० वर्ष पीछे बना।

डा० जी० आर० मण्डारकर के कथनानुसार दक्षिण कालेज लाइब्रेरी में एक प्रशस्ति है जिसको—“श्री चित्रकूट दुर्ग महावीर प्रसाद प्रशस्ति” कहते हैं। यह प्रशस्ति कहती है कि यह कीर्ति स्तम्भ मूल में सन् ११०० के अनुमान रचा गया था, किन्तु राणा कुम्भा के समय में सन् १४५० के आसपास इसका जीर्णोद्धार हुआ।

यह प्रशस्ति प्राचीन है जिसको चारित्रगणि ने वि० स० १४६५ में सकलित किया तथा वि० स० १५०८ में इसकी नकल की गई। प्रशस्ति लेख में किसी शिलालेख की नकल है जो श्री महावीर स्वामी के जैन मन्दिर में मौजूद था तथा कीर्तिस्तम्भ उसके सामने खड़ा था। यही लेख यह भी कहता है कि धर्मात्मा कुमारपाल ने यह ऊँची इमारत कीर्तिस्तम्भ नाम की बनवाई।

जो मूर्तियाँ इस कीर्तिस्तम्भ पर बनी हैं वे सब दिगंबर जैन हैं। यदि कुमार पाल ने इसे बनवाया हो तो यह मानना पड़ेगा कि कुमारपाल या तो दिगम्बर जैन होगा या दिगम्बर जैन धर्म का प्रेमी होगा^{१०}।

६. मध्यप्रान्त, मध्यभारत और राजपूताना के प्राचीन जैन स्मारक, पृष्ठ १३४

१०. वही पृष्ठ १३५

११. वही पृष्ठ १३६

१२. वही पृष्ठ १३७

३. श्री परसी ब्राउन : ने अपने ग्रन्थ में इस स्तम्भ का उल्लेख जिन शब्दों में किया है, उनका आशय इस प्रकार है—“विशाल स्तम्भों में सोलंकी काल का यह सुनियोजित और असाधारण स्तम्भ बारहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ। यह स्तम्भ चित्तौड़ का प्राचीन स्तम्भ है। (दूसरा स्तम्भ भी वही पर है जिसका निर्माण पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था)। मूलतः यह स्तम्भ एक मन्दिर के सामने बनाया गया कीर्तिस्तम्भ (Pillar of Name) था, पर वह मन्दिर अब पूर्णतः नष्ट हो गया है। इस स्तम्भ के पास अब जो मन्दिर दिखाई देता है वह संभवतः उसी प्राचीन मन्दिर के अवशेषों पर चौदहवीं शताब्दी में बनाया गया।

यह आठ मजिला स्तम्भ अस्सी फुट ऊँचा है। इसकी संयोजना के समस्त जीवत अभिप्राय यह सिद्ध करते हैं कि यहाँ के कलाकार केवल मन्दिर शैली के ही दास नहीं थे। वरन् आवश्यकता पड़ने पर वे वैसे ही सुन्दर अन्य अभिप्राय के प्रासाद निर्माण भी उतनी ही योग्यता से कर सकते थे। स्तम्भ की प्रत्येक मजिल को छज्जेदार बातायनों, प्रकोष्ठों, सुन्दर छतों और प्रासाद विधा के अन्य अनेक सजावट अभिप्रायों से सजाया गया है। यह स्तम्भ सौन्दर्य और सुदृढ़ता का ज्वलंत उदाहरण है”।

४. श्री आनन्द के० कुमार स्वामी ने चित्तौड़ के प्रसंग में राणा कुम्भा द्वारा सन् १४४०-४८ में निर्मित बड़े स्तम्भ की चर्चा करके लिखा है—“ऐसा ही किन्तु इससे कुछ छोटा जैन स्तम्भ भी चित्तौड़ में है जो बारहवीं शताब्दी का निर्मित है”।

५. माधुरी देसाई द्वारा भूला भाई मेमोरियल इस्टी-ट्यूट बम्बई से प्रकाशित पुरातत्त्व सर्वेधी चार्ट में तो चित्तौड़ से केवल एक ही चित्र प्रकाशित किया गया है। उक्त चार्ट में चित्तौड़ का प्रतिनिधित्व करने वाला यह चित्र इसी जैन कीर्तिस्तम्भ का है। सूची में इसे श्रीग्रल्लट अथवा कैतन-रानी-स्तम्भ के नाम से उल्लिखित करके १३. पारसी ब्राउन, इंडियन, आर्चिटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) पृष्ठ १५०-१५१.

१४. हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इन्डोनेशियन आर्ट, बाई आनन्द के. कुमार स्वामी, पृष्ठ १११.

इसका काल बारहवीं शताब्दी ईस्वी बताया गया है”।

६. भारत सरकार के टूरिज्म विभाग ने राजस्थान के दर्शनीय स्थलों की एक परिचय पुस्तिका निकाली है। इसमें चित्तौड़ का उल्लेख करते हुए लिखा है—“किले की मुख्य इमारतें दो स्तम्भ हैं। ये कीर्ति स्तम्भ और जयस्तम्भ कहलाते हैं। इनमें कीर्तिस्तम्भ प्राचीन है। इसका निर्माण एक जैन व्यापारी द्वारा बारहवीं शताब्दी में हुआ था। यह प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित है। यह स्तम्भ नीचे से ऊपर तक विविध सुन्दर प्रतीकों के अंकन से तथा नग्न तीर्थंकर मूर्तियों से सजाया गया है जो इस बात का प्रतीक है कि यह स्तम्भ दिगंबर जैनो का है”।

८. श्री विजयशंकर श्रीवास्तव ने चित्तौड़गढ़ महावीर जिनालय प्रशस्ति के उद्धरण पूर्वक स० १४६५ में उक्त मन्दिर के जीर्णोद्धार की पुष्टि की है। इन्होंने इस प्रशस्ति का प्रकाशन सदर्म देते हुए इसकी भण्डारकर सूची का क्रमांक ७८१ तथा रायल एमियाटिक सोसाइटी जनरल (बम्बई ब्रान्च) भाग २३ के पृष्ठ ४६ पर इसे प्रकाशित बताया है”। यह मन्दिर कीर्तिस्तम्भ के समीप स्थित कहा गया है।

श्रीवास्तव जी ने इस घटना की पुष्टि करने हुए अन्यत्र अपने लेख में लिखा है—“चित्तौड़ दुर्ग स्थित जैन स्तम्भ के निकट वाले महावीर स्वामी के मन्दिर का जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भा के समय में वि. स. १४६५ में ओसवाल महाजन गुणराज ने कराया”।

८. श्री जी० एस० आचार्य, राजस्थान परिचय ग्रन्थ-माला के प्रथम पुष्प में इसी मान्यता का पोषण करते हैं—“सूरज पोल से उत्तर जैन कीर्तिस्तम्भ आता है। इस सात मजिले, ७५ फुट ऊँचे स्मारक का निर्माण दिगंबर संप्रदाय के वधेरवाल महाजन सानाय के पुत्र जीजा ने

१५. माधुरी देसाई, आर्चिटेक्चरल एण्ड स्कल्पचरल मान् मेन्ट्स आफ इंडिया, १९५४, सूची क्र० ३०.

१६. इंडिया (राजस्थान) फरवरी १९६२, पृ० ४६.

१७. राजस्थान-भारती (महाराणा कुम्भा विशेषांक) मार्च १९६३ अंक १-२, पृ० १४६.

१८. वही पृ० ५६.

कराया था। इसका निर्माण बारहवीं शताब्दी का माना जाता है। यह कीर्तिस्तम्भ आदिनाथ का स्मारक है। इसके चारों पार्श्व पर पाँच-पाँच फुट ऊँची आदिनाथ की दिगंबर मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। जैन कीर्तिस्तम्भ के पास ही महावीर स्वामी का जैन मन्दिर है। इसका जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भा के समय सन् १४२८ ई० में ओसवाल महाजन गुण राज ने कराया था^{११}।

६. श्री ई० बी० हाबेल : ने भी चित्तौड़ के केवल दोनो स्तम्भों का ही उल्लेख किया है। उन्होने जैन कीर्तिस्तम्भ की नवमी शताब्दी की ही रचना माना है—
“वास्तु शिल्प और चित्र कला के क्षेत्र में भी इन गौरवशाली जैन कलाकारों ने स्वयं को उत्कृष्ट सिद्ध किया वे निर्माता अद्भुत थे और उनकी निर्माण शैली के कारण विश्व में अद्वितीय है^{१२}।

१०. श्री फर्ग्युसन : चित्तौड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ को समकालीन स्थापत्य में एक उत्कृष्ट निर्माण मानते हैं।—
“चित्तौड़ में ग्रलट का स्तम्भ बहुत सुन्दर है। स्तम्भ के समीप कुछ समय पूर्व तक स्थित एक शिलालेख के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण सन् ८८६ ईस्वी में हुआ। निर्माण शैली से भी इसके नवमी शताब्दी में निर्मित होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। यह स्तम्भ प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित किया गया था। इस पर सैकड़ों तीर्थंकर प्रतिमाओं का अंकन हुआ है। यह लगभग ८० फीट ऊँचा है और नीचे से ऊपर तक विविध कलात्मक अंकन और मूर्तियों से सजा हुआ है। इस स्तम्भ को कला का एक अति सुन्दर उदाहरण कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है^{१३}।”

११. डाक्टर सत्यप्रकाश : राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के निर्देशक है। उन्होंने फर्ग्युसन साहब की उपरोक्त मान्यता से अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखा है—

१६. जी० एस० आचार्य, चित्तौड़ दुर्ग, पृ० ६५.

(शिव प्रकाशन बीकानेर)

२०. ई-बी० हाबेल, दि आर्ट हैरिटेज आफ इंडिया, नवीन संस्करण, पृ० १७३.

२१. श्री फर्ग्युसन हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न-आर्चिटेक्चर, पृ० २५१.

“निर्माण की शैली की दृष्टि में रखते हुए यह कालानुमान बहुत प्राचीन ज्ञात होता है। संभावना यह है कि यह स्तंभ बारहवीं शताब्दी का निर्मित होना चाहिए। कहा जाता है कि यह प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित किया गया था। इस पर सैकड़ों नग्न तीर्थंकर प्रतिमाएँ अंकित हैं जिससे यह दिगंबर जैन स्तंभ ठहरता है। इसके समीप ही दक्षिण की ओर जो मन्दिर बना है वह इस स्तंभ से बहुत पीछे की रचना है और एक अन्य विलुप्त मन्दिर के अवशेषों पर निर्मित है^{१४}।”

१२. डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह की मान्यता है कि इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण सन् ११०० ईस्वी के आस पास हुआ तथा सन् १४५० में इसका जीर्णोद्धार कराया गया। उनका अनुमान है कि मूलतः यह एक मन्दिर के सामने का मान-स्तम्भ था और इसमें ऊपर एक सर्वतोभद्रिका (चतुर्मुख) जिन प्रतिमा स्थापित थी। ‘कीर्तिस्तम्भ’ नाम से इसकी ख्याति बाद में हुई। इसकी समानता करने वाला दूसरा कोई स्तंभ देखने में नहीं आता^{१५}।

१३. बाबू कामता प्रसाद जी के अनुसार—“कीर्तिस्तम्भ को स० ६५२ में बघेरवाल जाति के जीजा या जीजक ने बनवाया था—उसका लेख कर्नल टॉड को मिला था। आर्कियालॉजिकल रिपोर्ट आफ वेस्टर्न इंडिया १६०६ में २२०५ से २३०६ तक चित्तौड़ के शिलालेख है, उनमें बघेरवाल के बनवाने का उल्लेख है^{१६}।”

बाबू जी ने ही दूसरे स्थान पर इसको “दिगंबर जैन बघेरवाल महाजन जीजा ने १२-१३वीं शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ की प्रतिष्ठा में बनवाने का उल्लेख किया है^{१७}।”

१४. श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अपने ग्रन्थ—
“उदयपुर के राज्य का इतिहास” में लिखते हैं :—

—“जैन कीर्तिस्तम्भ आता है, जिसको दिगंबर सम्प्रदाय के बघेरवाल महाजन सानाय के पुत्र जीजा ने विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनवाया था^{१८}।”

२२. एज स्टोन स्पीक इन राजस्थान, पृ० ५. (चित्तौड़)

२३. स्टडीज इन जैन आर्ट, पृष्ठ २३.

२४. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४१

२५. जैन तीर्थ और उनकी यात्रा, पृष्ठ ८७

२६. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४१

१५. मुनि ज्ञान विजय जी इस स्तंभ को धर्म प्रेमी अल्लट राजा द्वारा वि० संवत् ८६५ में बनवाया हुआ मानते हैं। मुनि जी का यह भी कथन है कि “जब दिगंबर और श्वेताम्बरों में प्रतिमा भेद प्रारम्भ नहीं हुआ था तब की यह एक श्वेताम्बर कृति है”।

१६. डा० कैलाशचन्द्र जैन : अनेकान्त वर्ष ८ पृष्ठ १३६ के संदर्भ में इसे पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं^{१८}।

१७. मुनि कांतिसागर जी नान्द गाँव के एक प्रतिमा लेख के आधार पर सन् १६५२ तक इस स्तंभ को पंद्रहवीं शताब्दी का निर्माण मानते थे^{१९}। सन् १६५३ में उन्होंने इस स्तंभ की आयु में से गत सौ वर्ष और घटाकर इसे सोलहवीं शताब्दी का निर्मित लिखा^{२०}। उनका काल निर्णय जिस प्रतिमालेख पर आधारित है वह मुनि जी की दोनों पुस्तकों में एक सा ही प्रकाशित है। यह लेख अनेकान्त में भी दो बार प्रकाशित हो चुका है^{२१}।

१८. श्री अग्ररचन्द नाहटा ने अपने लेख का उपसंहार करते हुए उनकी दृष्टि में आये प्रमाणों पर सक्षिप्त विचार करके अपना अनिश्चित सा मत दिया है कि नान्द गाँव का प्रतिमा लेख १५४१ सवत का है अतः कीर्तिस्तंभ संभवतः सवत् १५०० के आस पास ही बना होगा^{२२}।

इस प्रकार इस कीर्तिस्तंभ के निर्माणकाल के सबन्ध में मुझे जो उल्लेख प्राप्त हो सके उन्हें मैंने यथावत ऊपर की पंक्तियों में प्रस्तुत कर दिया है। अब हम इन सभी उद्धरणों पर तथा कीर्तिस्तंभ की कलागत विशेषताओं पर चित्तौड़ तथा आस-पास के जैन पुरातत्त्व पर और नान्द गाँव के प्रतिमा लेख पर क्रमशः विचार करेंगे।

विद्वानों की मान्यताएँ :

ऊपर दिये गये उद्धरणों से हमें पता चलता है कि

२७. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४१

२८. जैनज्म इन राजस्थान, पृष्ठ ३०

२९. श्रमण सस्कृति और कला, पृष्ठ ७२

३०. खण्डहरों का वैभव, पृष्ठ १२१

३१. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४२; व वर्ष २१ पृ. ८४

३२. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४३

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा मुनि कांति सागर ये दो ही विद्वान ऐसे हैं जो इस स्तंभ का निर्माण काल चौदहवीं शताब्दी या उसके बाद का मानते हैं। इनमें भी यह अन्तर ध्यान देने योग्य है कि ओझा जी अपनी मान्यता का कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते तथा उनका काल—अनुमान चौदहवीं शताब्दी ईस्वी नहीं बरन्, “विक्रम संवत् का चौदहवीं शताब्दी” है। इस प्रकार ईस्वी सन में उनका कालानुमान जानने के लिए इसमें से छह दशक और घटाकर इसे देखना होगा जो तेरहवीं शताब्दी का अन्त या चौदहवीं का केवल प्रारम्भ बैठेगा।

मुनि कांति सागर जी के कालानुमान का आधार नान्द गाँव की एक प्रतिमा पर अंकित लेख है जिस पर आगे विचार किया जावेगा। स्तंभ को बारहवीं शताब्दी का निर्माण मानने वाले विद्वानों की बुद्धि पर मुनि जी ने व्यंग तो किया है पर अनुमान को सिद्ध करने के लिए स्तंभ की कला पर कोई विचार उन्होंने अपने लेख में नहीं किया।

इन दो विद्वानों के अतिरिक्त शेष सोलह विद्वानों की मान्यता में इस स्तंभ का निर्माण काल नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी ईस्वी के बीच निर्धारित होता है। इन मान्यताओं का सविस्तार उल्लेख ऊपर किया जा चुका है फिर भी हम इनमें से मोटे रूप से जो सर्वमान्य तथ्य निकालना चाहते हैं वे इस प्रकार हैं—

१. स्तंभ के निर्माण का नवमी शताब्दी का अनुमान सर्व श्री फर्ग्युसन और बाबू कामता प्रसाद जी ने वहाँ किसी समय देखे गये एक शिलालेख के आधार पर लगाया है। यह आधार बहुत विश्वस्त नहीं लगता। संभवतः इसीलिए बाबू कामताप्रसाद जी ने एक अन्य स्थान पर इसे १२-१३वीं शताब्दी की रचना स्वीकार किया है।

२. मुनि ज्ञान विजय जी इसे प्राचीन भी मानना चाहते हैं और संभवतः श्वेतांबर कृति भी सिद्ध करना चाहते हैं, अतः केवल इसी कारण वे इसका निर्माण काल विक्रम सं० ८६५ तक खींच कर यह दिखाना चाहते हैं कि “जब दिगंबर और श्वेताम्बरों में प्रतिमा भेद प्रारम्भ नहीं हुआ था तब की यह एक श्वेतांबर कृति है।” मुनि

जी का यह अनुमान पक्ष मोह से प्रेरित है, प्रत्यक्ष बाधित है और सही नहीं है। श्री अग्ररचन्द नाहटा ने भी इस मान्यता को अमान्य किया है^{१३}।

३. श्री अग्ररचन्द नाहटा अपने एक ही लेख में एक जगह इस स्तम्भ को राणा कुंभा के विजय-स्तम्भ से बहुत पूर्व का बना सिद्ध करते हैं^{१४} और दूसरी जगह अनुमान लगाते हैं कि यह स्तम्भ संवत् १५०० के आस पास बना होगा^{१५}। राणा कुंभा का विजय स्तम्भ स० १४९७ में प्रारंभ होकर स० १५०५ में बन कर पूर्ण हुआ और उसकी औपचारिक प्रतिष्ठा भी उसी वर्ष माघ कृष्ण दशमी को हुई^{१६}। इस तथ्य से नाहटा जी का अन्तिम अनुमान उनके पूर्वानुमान का विरोधी तथा वस्तुतः गलत सिद्ध होता है।

४. शेष विद्वानों और कला पारखियों के मतानुसार—

अ—इस स्तम्भ का निर्माण ग्यारहवीं—बारहवीं शताब्दी ईस्वी में हुआ।

ब—इसके समीप एक जिनालय था जो कालान्तर में नष्ट हो गया तथा सभवतः उसी के अवशेषों पर वर्तमान मन्दिर का निर्माण हुआ।

स—विक्रम सं० १४९५ के आसपास इस स्तम्भ का जीर्णोद्धार संपन्न हुआ। उसी समय समीपस्थ जिनालय का भी जीर्णोद्धार हुआ। जीर्णोद्धार का यह कार्य महाराणा कुंभा के राज्यकाल में सन् १४२८ ई० में आसवाल महाजन गुणराज ने कराया था यह निर्विवाद है।

कीर्तिस्तम्भ की कला तथा आसपास का पुरातत्त्व :

ऊपर हम भली भाँति देख चुके हैं कि कला की कसौटी पर प्रायः सभी विद्वानों ने इस स्तम्भ को राणा कुंभा के विजय स्तम्भ से श्रेष्ठ, प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माना है। स्तम्भ की संयोजना तथा उस पर उत्कीर्णित सैकड़ों जैन प्रतिमाओं के शारीरिक अनुपात आदि को

देखने से भी यह बात भली प्रकार समझी जा सकती है। जब राणा कुंभा के विजय स्तम्भ का निर्माण काल (स० १५०५ विक्रम) सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट और सर्वमान्य है तब जैन कीर्तिस्तम्भ की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए हमें उसकी तुलना बहुत अधिक शिल्पावशेषों से करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। केवल विजय स्तम्भ की कला से अपने स्तम्भ की कला को तौल कर ही हमें निश्चय हो जाता है कि इन दोनों के निर्माणकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर अवश्य है।

प्रसंगवश मैं यहाँ दोनों स्तम्भों के निर्माण के सबन्ध में यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि दोनों ही स्तम्भ देव प्रासादों के सामने कीर्ति स्तम्भों की तरह स्थापित किये गये थे। जैन स्थापत्य में जिस प्रकार जिनालय के समक्ष मानस्तम्भ बनाने की परम्परा है उसी प्रकार वैष्णव परम्परा में भी मन्दिरों के सामने विष्णुध्वज आदि के नाम से कीर्तिस्तम्भ बनाने की परंपरा मिलती है। राणा कुंभा का विजयस्तम्भ भी वस्तुतः उनके कुंभ स्वामी मन्दिर के सामने बनवाया गया विष्णु स्तम्भ ही है। भ्रम वश लोग इस स्तम्भ का निर्माण मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी तथा गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन की सयुक्त सेना पर महाराणा कुंभा की विजय की स्मृति स्वरूप मानने लगे हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि उक्त विजय विक्रम सं० १५१४ में हुई थी^{१७}। अतः नौ वर्ष पूर्व ही उस विजय की स्मृति स्वरूप विजय स्तम्भ का निर्माण कैसे हो सकता है ?

महाराणा कुंभा के राज्यकाल (१४३३-१४६८ ई०) में जैन मन्दिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी बहुतायत से हुई है। प्रायः इस समस्त निर्माण का इतिहास भी उपलब्ध है। यदि जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण इस काल में हुआ होता तो उसका भी उल्लेख इनके बीच अवश्य होता। इससे भी ज्ञात होता है कीर्तिस्तम्भ इसके बहुत पूर्व बन चुका था और जब इन अनेक मन्दिरों का निर्माण हो रहा था तब तक कीर्तिस्तम्भ और उसके समीपस्थ जिनालय का जीर्णोद्धार होने लगा था।

३७. विजयशंकर श्रीवास्तव, राजस्थान भारती, महाराणा कुंभा विजेणक मार्च १९६३ पृष्ठ ४६.

३३. अनेकान्त वर्ष ८, पृष्ठ १४१

३४. वही पृष्ठ १४०

३५. वही पृष्ठ १४३

३६. कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति श्लोक १८६

महाराणा कुभा का राज्यकाल विक्रम संवत् १४६० से १५२५ तक रहा। जैन मन्दिरों के निर्माण की दृष्टि से भी यह काल महत्वपूर्ण है। राणकपुर और शृंगार चौरी जैसे कलापूर्ण जिनालय इसी काल में बने। महाराणा कुभा के प्रीति पात्र शाह गुणराज ने अजारी, पिड बाडा (सिरोही तथा सालेरा (उदयपुर) में नवीन जिनालय बनवाये तथा कई पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। बसन्तपुर और भूला में भी जैन मन्दिर बने। नागदा की ६ फुट ऊँची शातिनाथ प्रतिमा तथा दैलवाडा की अनगिनती प्रतिमायें, आबू, बसन्तपुर तथा अचलगढ़ की सैकड़ों प्रतिमायें इसी काल की कृति हैं। मूर्ति स्थापन के अतिरिक्त जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धारका कार्य भी हुआ। चित्तौड़ दुर्ग स्थित जैन स्तंभ के निकट वाले महावीर स्वामी के मन्दिर का जीर्णोद्धार महाराणा कुभा के समय में ही वि० सं० १४६५ में ओसवाल महाजन गुणराज ने कराया था^{३८}।

इस प्रकार हम देखते हैं पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी में जिस जैन स्थापत्य का निर्माण हुआ उसके बीच इस कीर्ति स्तंभ का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, उल्टे उस काल में इस स्तंभ का तथा इसके समीपस्थ जिनालय का जीर्णोद्धार हुआ ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। ऐसे प्रशस्त स्तंभ को जीर्णोद्धार की अवस्था तक पहुँचाने में स्वाभाविक ही कम से कम दो ढाई सौ साल तो लगे ही होंगे। उपरोक्त अनेकों मन्दिरों तथा सैकड़ों मूर्तियों की शैली, परिकर, सज्जा आदि से इस स्तंभ की शैली, परिकर, सज्जा आदि का मिलान करने पर भी निर्माण काल का यह अन्तर परिलक्षित होता है।

नांद गाँव का प्रतिमा लेख :

अब हम इतिहास के उस इकलौते तथ्य पर विचार करेंगे जिसका उद्घाटन भारतीय पुरातत्त्वके महान शोधक विद्वान मुनि कान्ति सागर ने किया और जिसके एकमात्र आधार पर उन्होंने चित्तौड़ के इस स्तंभ के निर्माण काल विषयक, पूर्व मान्यता प्राप्त धारणा को बदलने का प्रयास किया। यह लेख सन् १५४१ का है और मुनि जी ने

नान्द गाँव की एक प्रतिमा पर इसे पढ़ा था। पहिली बात तो यह है कि इस लेख को और मुनि जी द्वारा कल्पित उसके संदर्भित अर्थ को यदि एक दम सही मान लें तो स० १५४१ का यह लेख कीर्तिस्तंभ के निर्माता शाह जीजा की तीसरी या चौथी पीढ़ी में अंकित हुआ। यह लेख स्वयं ही पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी (सन् १४८४) में लिखा गया। इस प्रतिमा लेख के अनुसार भी इस तिथि में से चार पीढ़ियों का समय घटाना पड़ेगा। इसके बावजूद भी मुनि जी ने इस स्तंभ को सोलहवीं शताब्दी की कृति माना है^{३९}। मुझे लगता है यह भूल या तो मुनि जी की सामग्री की प्रेस कापी करने वाले के प्रमाद का फल है या फिर प्रेस के भूतों की कृपा। जो हो, मगर इस भूल के कारण अनेक लोग दिग्भ्रमित हुए इसमें सन्देह नहीं।

वास्तव में यह लेख अस्पष्ट है और अवूर ही पढ़ा जा सका है। स्वयं मुनि जी ने ही यह बात स्वीकार की है। इस लेख का अभिप्रेत भाग इस प्रकार है—

× × × मेद पाट देशे चित्रकूट नगरे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र चंत्यालय स्थाने निज भुजोपाजितवित्तबलेन श्री कीर्तिस्तंभ आरोपक शाह जिजा सुत शाह पुनसिंहस्य..... साहदेउ तस्य भार्या पुई तुकार। × × ×

यहाँ शाह जीजा के पुत्र साह पुनसिंह के नाम के आगे एक शब्द या तो मिट गया प्रतीत होता है या प्रमादवश लिखने से छूट गया लगता है। अधिक सभावना इसी की है कि यह शब्द मिट गया या अस्पष्ट हो गया है और मुनि जी के पढ़ने में नहीं आया। इस शब्द का स्थान शायद इसीलिए मुनि जी ने इस लेख को उद्धरित करते समय तीगो जगह, “श्रमण सस्कृति और कला” में, खण्डहरो का वैभव” में तथा अनेकान्त वर्ष ८ में खाली छोड़कर..... इस प्रकार के डाट रखकर इस शब्द का सकेत निर्देश किया है। यह शब्द क्या रहा होगा इसका यदि अनुमान किया जा सके तो हम लेख का अधिक निर्दोष अर्थ प्राप्त कर सकते हैं।

मेरे विचार से यहाँ पर “आम्नाये” या “वशे” जैसा कोई शब्द होना चाहिए। इस शब्द के साथ पढ़ने पर सिद्ध होगा कि कीर्तिस्तंभ के संस्थापक शाह जीजा के पुत्र

पुनर्सिंह के वंश में उत्पन्न शाह देउ ने सं० १५४१ में यह लेख अंकित कराया। ऐसा पढ़ने पर यह लेख इतिहास सम्मत भी हो जायगा तथा लेखों की परंपरा के अनुसार भी इसकी संगति अधिक ठीक बैठ जायगी। अपनी इस धारणा की पुष्टि में मैं तीन प्रमाण विद्वानों के विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

१. अकोला के सेनगण दिगंबर जैन मन्दिर में पीतल की नन्दीश्वरी बावन चैत्यालय प्रतिमा पर इसी संवत् १५४१ का इन्हीं सज्जनों द्वारा अंकित कराया ठीक ऐसा ही एक महत्वपूर्ण प्रतिमा लेख प्राप्त हुआ है। यह लेख श्रीमान् पं० नेमचन्द धन्तूसा ने अपने लेख में प्रकाशित किया है*। अन्तर केवल इतना है कि नान्द गाँव का लेख सं० १५४१ के ज्येष्ठ शुक्ला ६ शुक्रवार का है और यह लेख ज्येष्ठ शुक्ला ११ भानुवार (रविवार) का है। वैसे जब छठमी शुक्रवार को पड़ेगी तो एकादशी किसी भी प्रकार भानुवार को नहीं हो सकती अतः यह भानुवार—भीमवार की जगह प्रमाद से लिखा गया प्रतीत होता है, पर यह एक अलग विषय है।

इस लेख का प्रयोजनीय भाग बहुत स्पष्ट है—

“× × × चित्रकूट नगरे श्री कीर्तिस्तंभस्यारोपक सा. जिजा सुत साह पुन सिंहस्य आम्नाये सा. देउ भार्या तुकाई तयोः पुत्राश्चत्वारः । × × ×”

अकोला के इस प्रतिमा लेख के उल्लेख के बाद इस संबन्ध में विशेष कुछ कहने को नहीं रह जाता।

२. बाणपुर (जिला टीकमगढ़, म० प्र०) में दसवी ग्यारहवीं शताब्दी का एक सुन्दर, चतुर्मुख, सहस्रकूट, शिखर बंद मन्दिर बना हुआ है। मैंने एक प्रथक् लेख में इस मन्दिर का सचित्र वर्णन प्रकाशित किया है**।

इसी मन्दिर के निर्माताओं के वंशधरों ने आगे चल कर सं० १२३७ में अहार (टीकमगढ़, म० प्र०) की सुप्रसिद्ध और १८ फुट उत्तुंग शातिनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। इस प्रतिमा के मूर्तिलेख का प्रारम्भ निर्माताओं ने अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित बाणपुर सहस्रकूट चैत्यालय के

४०. अनेकान्त वर्ष २१, पृष्ठ ८४

४१. अनेकान्त वर्ष १६ पृष्ठ ५१

स्मरण से ही किया है। यह मूर्तिलेख इस प्रकार है—

ॐ नमो वीतरागाय

ग्रहपति वश सरोरुह सहस्र रश्मिः सहस्र कूटं यः ।

बाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानिह देवपाल कृति ॥

श्री रत्नपाल इति तत्तनयो वरेण्यः ।

पुण्यं मूर्तिरभवद् वसु हाटिकायाम् ॥

कीर्तिर्जगत्त्रयपरिश्रमणश्रमार्ता ।

यस्य स्थिराजनि जिनायतनच्छलेन ॥

.....

.....

.....

सोऽयं श्रेष्ठ वरिष्ठ गल्हण कृति, श्रीरल्हणख्यादि भूत् ॥

तस्मादजायत कुलाम्बर पूर्णचन्द्रः ।

श्री जाहडस्तनुजोदयचन्द्रनामा ॥**

इस लेख में स्पष्ट ही कहा गया है कि सहस्रकूट के निर्माता देवपाल रत्नपाल आदि पूर्वजों के श्रेष्ठ गल्हण-रल्हण आदि वंशज हुए। मूर्तिकला की दृष्टि से भी अहार की मूर्ति और बाणपुर के मन्दिर के निर्माताओं में छह सात पीढ़ियों का अन्तर सहज ही निर्धारित किया जाता है।

३. खजुराहो के जगत प्रख्यात पारसनाथ मन्दिर का निर्माण संवत् १०११ में पाहिल नामक श्रेष्ठ द्वारा हुआ था। इस मन्दिर के शिलालेख का प्रारम्भ इस प्रकार होता है —

ॐ सबत् १०११ समये । निजकुल धवल्लोय-

दिव्य मूर्तिः स्वशील, सम दम गुण युक्त—सर्व

सत्त्वानुकम्पी ॥ स्वजन जनित तोषो धग राज्येन

मान्यः । प्रणमति जिन नाथोय भव्य पाहिल

नामा” ।

इस लेख से पाहिल द्वारा संवत् १०११ में इस जिनालय के निर्माण की स्पष्ट पुष्टि होती है। खजुराहो के ही

४२. नीरज जैन, अतिशय क्षेत्र अहार, अनेकान्त अक्टूबर १९६५, पृष्ठ १७८.

४३. नीरज जैन एवं दशरथ जैन, जैन मानुमेन्ट्स एट खजुराहो—पृष्ठ ३३.

मन्दिर नं० २७ में संवत् १२१५ की प्रतिष्ठित एक काले पाषाण की सभवनाथ की प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा के मूर्तिलेख में भी पाहिल का उल्लेख हुआ है। यथा—

ॐ संवत् १२१५ माघ सुदि ५ श्रीमान् मदनवर्म्ह देव प्रवर्धमानविजयराज्ये । गृहपति वंशे श्रेष्ठि देव तत्पुत्र पाहिल्लः । पाहिलांग रह साधु साल्हेनेबं प्रतिमा कारतेति.....”

अब इन दोनों शिलालेखों के सन्दर्भ में यदि हम सं० १०११ में प्रवर्तमान पाहिल के पुत्र के रूप में साधु साल्हे आदि को स्वीकार करें, जिन्होंने २०४ वर्ष उपरान्त सं० १२१५ में यह मूर्ति पधराई; तो बड़ी गड़बड़ हो जायगी। यहाँ भी हमें पाहिलांग रह साधु साल्हेने शब्दों का यही अर्थ करना पड़ेगा कि—“पाहिल के वंश में उत्पन्न साधु साल्हे द्वारा यह प्रतिमा पधराई गई। पाहिल का यह वंशज कितने काल पश्चात् हुआ यह निर्णय हम प्रतिमा लेख के सवत से करेगे, पाहिल के नामोल्लेख से नहीं।

४४. वही पृष्ठ ५१

इस प्रकार शिलालेखों, मूर्तिलेखोंकी परंपरासे भी सिद्ध होता है कि नाद गांव व (अकोला) के सवत् १५४१ के मूर्तिलेख चित्तौड़ में कीर्तिस्तंभ के निर्माता शाह जीजा के पुत्र पुनसिंह की आम्नाय में या वंश परंपरा में उत्पन्न साह देउ नामक ग्रहस्थ द्वारा अंकित कराये गये। कीर्ति स्तंभ के निर्माण काल की शोध में हमें इससे इतनी ही सहायता मिलेगी कि उस महान् निर्माता शाह जीजा की अविच्छिन्न वंश परंपरा और उसके वंशजों की धार्मिक निष्ठा सं० १५४१ तक सुरक्षित और प्रवर्तमान थी।

कीर्ति स्तंभ के निर्माण काल की जानकारी करने के लिए हमें या तो उसकी निर्माण शैली पर से अनुमान लगाना पड़ेगा या भारतीय पुरा विद्या के विशेषज्ञों की बात माननी पड़ेगी, और इस लेख में मेने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ये दोनों ही तथ्य बहुत स्पष्ट रूप में और बड़ी दृढ़ता से यह घोषित करते हैं कि दिगंबर जैन स्थापत्य कला का यह अद्भुत प्रतीक ईसाकी बारहवीं शताब्दी में या उसके कुछ वर्ष पूर्व ही निर्मित हुआ था, पश्चात् नहीं।

परिशिष्ट

नांद गांव की मूर्ति का लेख—

स्वस्ति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके (१४०६) प्रवर्तमाने कोधीता संवत्सरे उत्तरगणे [ज्येष्ठ] मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वाति नक्षत्रे.....योगे कणे मि० लग्ने श्री वराट् (इ) देशे कारंजा नगरे श्री सुपाश्व नाथ चंत्यालये श्री (? मू) लसघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्-वृधसेन [वृधभसेन] गणधराचार्ये पारंपर्योद्गत श्रीदेवधीर भट्टाचार्याः ? तेषां पट्टे श्रीमद् भाय[राय] राजगुरु वसुधराचार्य महाबाव वादीश्वर रायबादपिर्वा [पिता] महा [मह] सकल विद्वज्जन सार्धं (वर्ष) भौम साभिमान वादीभसिहाभिनय [व] त्रं विश्व [विद्य] सोमसेन भट्टारका-णामुपदेशात् श्री वधेरवालजाति खडबाड गोत्रे अष्टोत्तर शतमहोत्तुंग शिखरबद्ध प्रासाद समुद्धरण धीर त्रिलोक श्री जिन महाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तर-शत् श्री जिन महाप्रतिष्ठा कारक अष्टादशस्थाने अष्टादशकोटि श्रुतभण्डार संस्थापक, सवालक्षबन्दी मोक्षकारक, मेदपाटदेशे चित्रकूट नगरे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र चंत्यालयस्थाने निजभुजोपाजित वित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तम्भ आरोपक साह जिजा सुत सा० पुनसिंहस्य [आम्नाये] सा० देउ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्रा-श्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण.....चंत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपाजित वित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थक्षेत्र.....।

(अपूर्ण)

—खण्डहरों का वैभव पृ० १२५

पिण्डशुद्धिके अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

श्री १०८ पूज्य आ० शिवसागर जी व उनके संघस्थ मुनि श्रुतसागर जी महाराज की अनुमति से श्री ३० प्यारे-लाल जी बड़जात्या के द्वारा पत्रों में प्रकाशित 'उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक में ज्ञातव्य विषय उद्दिष्ट आहार को अपेक्षित देखकर उसके विषय में आगमानुसार कुछ लिखना अभीष्ट प्रतीत हुआ। इस विषय का विशेष विवरण मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार में उपलब्ध होता है। वहां भोजनशुद्धि के विषय में यह गाथा कही गई है—

उगम उप्पादन एसणं च संजोयण पमाणं च ।

इगाल धूम कारण अट्टविहा पिण्डसुद्धी दु' ॥२॥

उद्गम दोष (१६), उत्पादन दोष (१६), अशन दोष (१०), संयोजना दोष, प्रमाण दोष, अंगार दोष, धूम दोष और कारण; इस प्रकार पिण्डशुद्धि आठ प्रकारकी कही गई है।

१ उद्गम दोष—दाता जिन मार्गविरोधी प्रवृत्तियों से भोजन को उत्पन्न करता है उन प्रवृत्तियों को उद्गम दोष के नाम से कहा जाता है। ये उद्गम दोष १६ कहे गये हैं।

२ उत्पादन दोष—पात्रस्वरूप साधु जिन मार्गविरोधी अभिप्रायो से भोजन को प्राप्त करता है वे उत्पादन दोषो

१ पिण्डे उगम उप्पायणेसणा[सं] जोयणा पमाण च ।

इगाल धूम कारण अट्टविहा पिण्डनिज्जुत्ती ॥ पि. नि. १

भगवती-आराधनामे इन दोषों का उपयोग आहार के साथ शय्या—वसतिका—और उपधि के विषय में भी किया गया है। यथा—

उगम-उप्पादन-एसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।

वसदि असंसत्ताए णिप्पाट्टिडियाए सेज्जाए ॥२३०॥

उगम-उप्पायण-एसणाहि पिण्डमुबधि सेज्ज च ।

सोधिदस्स य मुणिणो विसुज्जए एसणासमिदी ॥११६७

के अन्तर्गत हैं। ये उत्पादन दोष भी १६ ही कहे गये हैं।

३ अशन दोष—ये भोजनविषयक दोष परोसने वाले आदि से सम्बन्ध रखते हैं। ये संख्या में दस हैं।

४ संयोजना दोष—शीत-उष्ण या सचित्त-अचित्त अन्न-पान का संयोग करना, यह संयोजना दोष कहलाता है।

५ प्रमाण दोष—अत्यधिक आहार के करने पर प्रमाण दोष उत्पन्न होता है।

अत्यधिक आहार का स्पष्टीकरण करते हुए प. आशाधर जी ने कहा है कि उदर के चार भागों में से दो भागों को व्यंजन (दाल-शाक आदि) के साथ भोजन से तथा एक भाग को पानी आदि से पूर्ण करके शेष एक भाग को वायुसंचरण आदि के लिये रिक्त रखना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से अतिक्रम नाम का दोष होता है।

२ यैरभिप्रायैर्दातृ-पात्रगतैराहारादिस्ते उद्गमोत्पादन-दोषाः आहारार्थानुष्ठानविशेषाः । मूला. वसु. वृत्ति ६-२ दातृः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः । औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः ॥ भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते । दातृ-यत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥

अन. घ. ५-२ व ४.

३ अशयते भुज्यते येभ्यः पारिवेषिकेभ्यस्तेषामशुद्धयो-ऽशनदोषाः । मूला. वृत्ति ६-२.

४ संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्त-पाण च ।

मूला. ६-५७ पू.; अन. घ. ५-३७.

५ अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ।

मला. ६-५७ उ.

६ अद्धमसणस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण ।

वाऊसचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥ मूला. ६-७२

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमशमुदरस्य ।

भूत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥

अन. घ. ५-३८.

प्राकृतिक आहार का प्रमाण पुरुष का ३२ ग्रास और महिला का २८ ग्रास है। एक ग्रास का प्रमाण एक हजार (१०००) चावल मात्र है।

६ अंगार दोष—मूर्च्छित होकर—आसक्तिपूर्वक—आहार करने से अंगार दोष होता है।

७ धूम दोष—भोजन को प्रतिकूल जानकर निन्दा का भाव रखते हुए आहार करने पर धूम दोष उत्पन्न होता है।

८ कारण—आहार ग्रहण के छह कारण हैं, जिनके आश्रय से धर्म का आचरण हो सकता है। तथा छह ही कारण ऐसे हैं जिनके आश्रय से आहार ग्रहण करने पर धर्म से विमुख रह सकता है, अतः वे परित्याज्य हैं। ये दोनों प्रकारके कारण इस प्रकार हैं—

१ क्षुधा की वेदना, २ वैयावृत्य, ३ आवश्यक क्रियाओं का परिपालन, ४ समयका परिपालन, ५ प्राणों की स्थिति और ६ धर्मचिन्ता; इन कारणों से भोजन लेना धर्म का साधक होने से आवश्यक है।

१ बत्तीस किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ।

पुरुसस्स महिलियाए अट्ठावीस हवे कवला ॥

भ. आ. २११; मूला. ५-१५३; पि. नि. ६४२.

(‘कुक्खिपूरणो होइ’ के स्थान में यहाँ ‘कुच्छिपूरणो भणिओ’ पाठ है) ।

२ आसोऽश्वावि सहस्रतदुलमितो.....। भ. आ. मूलाराधना टीका २११ में उद्धृत ।

३ त होदि सयगाल ज आहारेदि मुच्छिदो संतो ।

मूला. ६-५८ पू.; पि. नि. ६५५ पू.

४ तं पुण होदि सधूम ज आहारेदि णिदिदो ।

मूला. ६-५८ उ.; पि. नि. ६५५ उ. (णिदिदो—निदंतो)

५ छहि कारणेहि असण आहारंतो वि आयरदि धम्मं ।

छाह चेव कारणेहि दु णिज्जुहवंतो वि आचरदि ॥

मूला. ६-५९.

छहि कारणेहि साधू आहारितो वि आयरइ धम्मं ।

छाह चेव कारणेहि णिज्जुहितोऽवि आयरइ ॥

पि. नि. ६६१.

६ वेयण-वेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्टाए ।

तथ पाण-धम्मचिता कुज्जा एदेहि आहारं ॥ मूला. ६-६०

१ आतंक—रुग्णावस्था, २ मुनिधर्म का विघातक देव-मनुष्यादिकृत उपद्रव, ३ ब्रह्मचर्यका संरक्षण, ४ प्राणि-दया—बहुधात का परिहार, ५ तप के निमित्त और ६ शरीरपरिहार—समाधिमरण; इन कारणों से धर्म के संरक्षणार्थ भोजन का परित्याग करना आवश्यक है।

उपर्युक्त उद्गमादि दोषों को विविध ग्रन्थों के आधार से निम्न तालिकाओं द्वारा ज्ञात कीजिए—

१६ उद्गम दोष

	मूलाचार (६,३-४)	आचारसार (८,१९-२०)	अन. घ. (५,५-६)	पिण्डनिर्युक्ति (९२-९३)
१ ओद्देशिक	उद्दिष्ट	उद्दिष्ट	आधाकर्म	
२ अध्यधि	अध्यवधि	साधिक	ओद्देशिक	
३ पूति	पूति	पूति	पूतिकर्म	
४ मिश्र	मिश्र	मिश्र	मिश्रजात	
५ स्थापित	स्थापित	प्राभृतक	स्थापना	
६ बलि	बलि	बलि	प्राभृतिका	
७ प्रावर्तित	प्राभृत	न्यस्त	प्रादुष्करण	
	(पाटुडिह)			
८ प्रादुष्कार	प्रावि.कृत	प्रादुष्कृत	क्रीत	
९ क्रीत	क्रीत	क्रीत	अपमित्य	
			(पामित्त्वे)	
१० प्रामृष्य	प्रामृष्य	प्रामित्य	परिवर्तित	
	(पामिच्छ)			
११ परिवर्तक	परिवृत	परिवर्तित	अभिहृत	
१२ अभिघट	अभिहत	निषिद्ध	उद्भिन्न	
	(अभिहट)			
१३ उद्भिन्न	उद्भिन्न	अभिहृत	मालापहत	

वेयण-वेयावच्चे हरियट्टाए य संजमट्टाए ।

तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिताए ॥ पि. नि. ६६२

(आगे की गा. ६६३-६४) द्वारा इन छह कारणों का यहाँ स्पष्टीकरण भी किया गया है ।)

७ आदके उवसग्गे तिर-[तिति-]क्खणे बभचेरगुत्तीओ ।

पाणिदया-तवहेउ सरीरपरिहार वोच्छेदो ॥ मूला. ६-६१

आयंके उवसग्गे तितिकखया बभचेरगुत्तीसु ।

पाणिदया तवहेउ सरीरवोच्छेयणट्टाए ॥ पि. नि. ६६६

१४ मालारोहण	मालिकारोहण	उद्भिन्न	आच्छेद्य	८ अपरिणत	मिश्र	दायक	अपरिणत
१५ आच्छेद्य	आच्छेद्य	आच्छेद्य	अनिसृष्ट	९ लिप्त	अपक्व	लिप्त	लिप्त
१६ अनिसृष्ट	अनिसृष्ट	आरोह	अध्यवपूरक	१० त्यक्त	लिप्त	विमिश्र	छदित
(अणिमिष्ट)				(छद्मिय)			

१६ उत्पादन दोष

मूलाचार	आ. सा.	अन. घ.	(पि. नि. ४०३ (६.२६-२७) (८.३५-३६) (५-१६) व ४०८-९)
१ घात्री	घात्री	घात्री	घात्री
२ दूत	दूत	दूत	दूति
३ निमित्त	भिषग्वृत्ति	निमित्त	निमित्त
४ आजीव	निमित्त	वनीपक	आजीव
५ वनीपक	इच्छाविभाषण	आजीव	वनीपक
६ चिकित्सा	पूर्वस्तुति	क्रोध	चिकित्सा
७ क्रोधी	पश्चात्स्तुति	मान	क्रोध
८ मानी	क्रोध	माया	मान
९ मायी	मान	लोभ	माया
१० लोभी	माया	प्राग्वृत्ति	लोभ
११ पूर्वस्तुति	लोभ	अनुवृत्ति	पूर्वस्तव
१२ पश्चात्स्तुति	वश्यकर्म	वैद्यक	पश्चात्सस्तव
१३ विद्या	स्वगुणस्तवन	विद्या	विद्या
१४ मत्र	विद्या	मत्र	मत्र
१५ चूर्णयोग	मत्र	चूर्ण	चूर्णयोग
१६ मूलकर्म	चूर्णोपजीवन	वश	मूलकर्म

१० अशनदोष

मूलाचार	आ. सा.	अन. घ.	पिण्डनिर्युक्ति
(६-४३)	(८-४५)	(५-२८)	(५१४-१५, ५२०)
१ शक्ति	शक्ति	शक्ति	शक्ति
२ अक्षित	अक्षित	पिहित	प्रक्षिप्त
			(मस्त्रिय)
३ निक्षिप्त	निक्षिप्त	अक्षित	निक्षिप्त
४ पिहित	पिहित	निक्षिप्त	पिहित
५ संव्यवहरण	उज्जिह्व	छोटित	सहृत
६ दायक	व्यवहार	अपरिणत	दायक
७ उन्मिश्र	दातृ	साधारण	उन्मिश्र

४ इतर दोष

मूला.	आ. सा.	अन. घ.	पि. नि.
(६, ५७-५८)	(८, ५४-५७)	(५, ३७-३८)	
१ संयोजना	संयोजन	अंगार	संयोजना
			(६२६-४१)
२ प्रमाण	प्रमाण	धूम	प्रमाण ६४२
३ अंगार	अंगार	संयोजना	अंगार ६५६-५७
४ धूम	धूम	प्रमाण	धूम ६५८-५९

अधःकर्म

सोलह उद्गम दोषो मे पहिला अधःकर्म और दूसरा ओद्देशिक है।

पृथिवीआयिकादि छह जीवनिकायो की विराधना और उपद्रवण—जीवों को उपद्रवित (पीड़ित) करना—आदिसे जो सिद्ध हो, वह चाहे स्वयं किया गया हो या

१ मूलाचार मे इन उद्गम दोषोका नामनिर्देश गा. ६, ३-४ द्वारा किया गया है। तदनुसार ये दोष १७ होते हैं। पर अन्त में 'उद्गमदोसा दु सोलसिमे' कहकर उनकी संख्या १६ ही निर्दिष्ट की गई है।

इसकी वृत्ति मे आ. वसुनन्दी ने प्रकृत अधःकर्म को पिण्डशुद्धि के बाह्य महादोष कहा है। यथा—
गृहस्थाश्रितं पञ्चमूनासमेतं तावत् सामान्यभूतमष्टविधा पिण्डशुद्धिं बाह्य [विधपिण्डशुद्धिर्बाह्यं] महादोषरूपमधःकर्म कथ्यते।

पं. आशाधर जी इस अधःकर्म को स्पष्ट छया-लीस दोषो से बाह्य मानते हैं। यथा—

षट्चत्वारिंशता दोषैः पिण्डोऽधःकर्मणा भवतः।

द्विसप्तैश्चोज्झितोऽविघ्नो योज्यन्त्याज्यस्तथार्थतः ॥

अन. घ. ५-१

२ जीवस्य उपद्रवण ओद्वावण नाम। धवला पु. १३, पृ. ४६.

दूसरे से कराया गया हो, अधःकर्म कहलाता है' ।

इस अधःकर्म से परिणत—अपने लिए किया गया है, इस प्रकार मानने वाला—साधु प्रासुक द्रव्य के ग्रहण करने पर भी बन्धक कहा गया है और इसके विपरीत जो शुद्ध—अधःकर्म से विशुद्ध—आहार को खोज रहा है वह अधःकर्म के होने पर भी शुद्ध माना गया है' ।

पं० आशाधर जी ने इसे कुछ विकसित कर यह कह दिया है कि अधःकर्म करने वाला गृहस्थ ही पापका भागी होता है, साधु नहीं । जैसे—जलाशय में मछलियों को मूछित करनेवाले चूर्ण आदि के डालने पर मछलियाँ ही विह्वल होती है, मेढक नहीं' ।

मूलाचार मे आगे यह स्पष्टतापूर्वक निर्देश कर दिया गया है कि प्रासुक होने पर भी यदि वह अपने लिए किया गया है तो वह अशुद्ध—अग्राह्य—ही है । उपर्युक्त प.

१ त ओद्वावण-विद्वावण - परिदावण-आरंभकदणिप्पण त सव्व आधाकम्म णाम । प. ख. ५, ४, २२ (पु. १३, पृ. ४६).

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्वावणादिणिप्पणं ।

आधाकम्म णेय सय-परकदमादसंपणं ॥ मूला. ६-५.

ओरालसरीराणं उद्वावण तिवायण च जस्सट्ठा ।

मणमाहिता कीरइ आहाकम्म तयं बेति ॥ पि नि. ६७

आधानम् आधा, 'उपसर्गादातः' इत्यङ् प्रत्ययः—साधुनिमित्तं चेतसा प्रणिधानम्, यथा अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म, तद्योगाद् भक्ताद्यप्याधाकर्म । यद्वा आधाय—साधु चेतसि प्रणिधाय—यत् क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म । पि. नि. मलय. वृत्ति ६२.॥

२ प्रासुके द्रव्ये सति यद्यधःकर्मपरिणतो भवति साधुः—यद्यत्तमार्थं कृतं मन्यते गौरवेण—तदासी बन्धको भणितः—कर्म बध्नाति । मूला. वृत्ति ६-६८.

३ आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वे वि बधओ भणिओ । सुद्ध गव्वेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥ मूला. ६-६८

४ योक्ताधःकर्मको दुष्येन्नान्न भोक्ता विपर्ययात् ।

मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवाः ॥

अन. घ. ५-६८.

आशाधरजी का उदाहरण यहाँ है ही, पर वह इस प्रकार से है—जिस प्रकार मछलियों को लक्ष्य कर जलमें प्रक्षिप्त मादक चूर्ण आदि से मादक हुए जलके सम्बन्ध से मछलियाँ ही विह्वल होती है, मेढक नहीं; इसी प्रकार पर के लिए (अपने लिए नहीं) किए गए आहार के ग्रहण में साधु विशुद्ध—निर्दोष—रहता है' । अभिप्राय यह है कि यहाँ जो उक्त दृष्टान्त पात्रके लिए दिया गया है उनका उपयोग अनगारधर्माभृत मे दाता के लिए किया गया है ।

पिण्डनिर्युक्ति मे इस अधःकर्म या आधाकर्म की नि-कृष्टता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो साधु आधाकर्म दोष से दूषित भोजन को खाता है उसके इस दोष की शुद्धि प्रतिक्रमणसे सम्भव नहीं है । वह बोड—मुण्डित-मस्तक—इस प्रकार लोक मे परिभ्रमण करता है जिस प्रकार कि लुचित-विलुचित—सर्वथा बालों से रहित कबूतर इधर-उधर फिरता है । तात्पर्य यह कि अधःकर्म-भोजीकी लोच आदि अन्य क्रियाये सब निरर्थक है' ।

ओद्देशिक दोष

दूसरा उद्गम दोष ओद्देशिक है । उसका स्वरूप इस प्रकार है—

वेचद-पासंडत्थं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं ।

कदमण्ण समुद्देसं चट्ठुब्बिहं वा समासेण ॥ मूला. ६-६.

अर्थात् नागयक्षादि देवताओं के लिए, पाखण्डियों—जैनदर्शन बाह्य वेषधारी साधुओं—के लिए और कृपण (दीन) जनों के लिए जो भोजन तैयार किया गया है वह ओद्देशिक—उद्देश से निमित्त—कहलाता है । अथवा, वह संक्षेप से चार प्रकार का है—

५ पगदा असओ जम्हा तम्हादो दव्वदो त्ति तं दव्व ।

पासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्टकदं असुद्ध तु ॥

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जति ।

ण हि मंडूगा एव परमट्टकदे जदि विशुद्धो ॥

मूला. ६, ६६-६७.

६ आहाकम्मं भुंजइ न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स ।

एमेव अडइ बोडो लुक्क-विलुक्को जह कवोडो ॥

पि. नि. २१७.

जावदियं उद्देशो पासंडो ति य हवे समुद्देशो ।

समणो ति य आदेसो णिगंथो ति य हवे समादेसो' ॥

मूला. ६-७.

उपर्युक्त औद्देशिक भोजन चार प्रकारका है—
उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश । १. जो भी कोई आवेगे उन सभी के लिए भोजन दूंगा, इस उद्देश से निमित्त भोजन को उद्देश औद्देशिक कहा जाता है ।
२. जो भी पाखण्डी आवेगे उन सबको भोजन दूंगा, इस प्रकार के उद्देश से जो भोजन बनाया जाता है उसे समुद्देश औद्देशिक कहते हैं । ३. आजीवक और तापस आदि जितने भी श्रमण—वेषधारी साधु—भोजन के लिए आवेगे उन सभी को आहार दूंगा, इस प्रकार श्रमणों के उद्देश से निमित्त भोजन का नाम आदेश औद्देशिक है ।
४. जो भी निर्ग्रन्थ साधु आवेगे उन सबके लिए आहार दूंगा, इस प्रकार जैन साधुओं को लक्ष्य कर बनाया गया भोजन समादेश औद्देशिक कहलाता है । यह चारों प्रकारका भोजन उद्देश से निमित्त होने के कारण औद्देशिक दोष से दूषित होता है, अतः शुद्धि का विधातक होने से साधु के लिए वह अग्राह्य होता है ।

पिण्डनिर्युक्ति प्ररूपित औद्देशिक

पिण्डनिर्युक्ति यह श्वेताम्बर सम्प्रदायका मान्य ग्रन्थ है । यद्यपि दिगम्बर साधु और श्वेताम्बर साधुओंकी गोचरीमें भेद है, फिर भी जैसा कि ऊपरकी तालिकाओं से स्पष्ट है, दोनों सम्प्रदायगत इन दोषों में बहुत कुछ समानता भी है । इसीलिए तुलनात्मक विचार की दृष्टि से यहाँ पिण्डनिर्युक्ति में जिस प्रकार इस दोषकी प्ररूपणा की गई है उसे भी दे देना उपयोगी प्रतीत होता है ।

यहाँ औद्देशिकके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—
ओघ औद्देशिक और विभाग औद्देशिक । ओघका अर्थ सामान्य होता है, अतः सामान्यसे—स्व और पर के विभाग से रहित—जो प्रतिदिन बनाये जाने वाले नियमित भोजनमें भिक्षा देने के विचारसे कुछ और चावल

आदि को मिलाकर भोजन बनाया जाता है वह ओघ औद्देशिक कहलाता है और अपने स्वामित्व को हटाकर भिक्षा देनेके लिए जो कुछ मात्रामें भोजन सामग्रीको पृथक् कर दिया जाता है वह विभाग औद्देशिक माना जाता है ।

कभी दुष्काल आदि के पड़ने पर उसमें जीवित बचा रहा गृहस्थ विचार करता है कि मैं इस भीषण दुर्भिक्षमें जीवित बच गया हूँ, अतएव प्रतिदिन कुछ भिक्षा दूंगा । कारण कि पूर्वमें दिया है सो अब भोगनेमें आ रहा है, अब इस समय यदि कुछ पुण्य कार्य न किया जाय तो परलोकमें फल कहाँसे प्राप्त हो सकता है; अतः भिक्षा दानादि पुण्य कार्य करना उचित है । ऐसा विचार होने पर गृहिणी विना किसी प्रकारके विभागके जितना भोजन प्रतिदिन बनाया जाता है उसमें पाखण्डियों या गृहस्थों को भिक्षा दानार्थ कुछ और भी चावल आदिको डालकर भोजन बनाती है । यह ओघ औद्देशिक है ।

यहाँ यह शका उद्भावित की गई है कि साधु तो छद्मस्थ हैं—केवल ज्ञानी तो नहीं हैं; तब वैसी अवस्था में वह यह किस प्रकार जान सकता है कि अमुक भोजन उपर्युक्त उद्देशपूर्वक बनाया गया है और अमुक बिना किसी प्रकारके उद्देशके बनाया गया है ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि साधु यदि उपयुक्त है—सावधान है—तो वह गृहस्थकी शब्दादि चेष्टाओंसे उसे ज्ञात कर सकता है । जैसे—यदि भिक्षाके सकल्पसे नियमित बनाये जाने वाले भोजनमें कुछ अधिक चावल आदि का प्रक्षेप किया गया है तो बहुधा गृहस्थकी चेष्टा इस प्रकार हुआ करती है—यदि गृह पर भिक्षार्थ कोई साधु पहुँचता है तो गृहपति गृहिणीसे भिक्षा देनेके लिए कहता है । तब वह कहती है कि पाच भिक्षाये प्रतिदिन दी जाती है सो वे इतर साधुओं को दी जा चुकी हैं । अथवा कभी-कभी गृहिणी इन भिक्षाओंकी गणनाके लिए भित्ति आदि पर रेखाये बनाती जाती है, अथवा पहिली व दूसरी आदि गिनती हुई भिक्षा देती है । कभी-कभी प्रमुख गृहिणी बहू आदिसे यह कहती हुई देखी जाती है कि इस पात्रमें से भिक्षा देना—इसमें से नहीं देना । तथा साधु जब किसी विवक्षित घर पर पहुँचता है तो कोई स्त्री किसी दूसरीसे कहती है कि भिक्षादानार्थ इतनी भोज्य

१ उद्देशिय समुद्देशियं च आएसियं च समाएसं ।

एवं कडे य कम्मे एक्केकि चउक्कओ भेओ ॥

जावतियमुद्देशं पासंडीणं भवे समुद्देशं ।

समणाणं आएसं निग्गंथाणं सप्पाएसं ॥

पि.नि. २२६-२३०

सामग्री पृथक् कर लो। इत्यादि चेष्टाओं को देख-सुन कर साधु उद्दिष्ट भोजनका अनुमान कर सकता है^१।

विभाग औद्देशिक उद्दिष्ट, कृत और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। विवाहादि महोत्सवके समय प्रचुर भात व व्यजन आदिको देखकर गृहस्थ किसी कुटुम्बीजन से पुण्य सम्पादनार्थ भिक्षुको के लिए भिक्षा देनेको कहता है। तब यदि जैसा है उसी प्रकार से देता है तो इसे उद्दिष्ट कहा जाता है। यदि भिक्षा देने के लिए पूर्व भोज्य सामग्रीसे कुछ और करम्ब (दध्योदन) आदि नवीन वस्तु बनायी जाती है तो वह कृत कहलाता है। तथा यदि लड्डू आदिका चूर्ण रखा हुआ हो और फिरसे चाशनी आदि बनाकर लड्डू आदि बनाये जाते हैं तो उसका नाम कर्म होता है^२।

उक्त तीनो विभाग औद्देशिकोमेसे प्रत्येक औद्देशिक, समुद्देशिक, आदेशिक और समादेशके भेदसे चार-चार प्रकारका है^३। इस प्रकार विभाग औद्देशिकके सब भेद बारह हो जाते हैं। इन उद्दिष्ट औद्देशिक आदिके छिन्न-अच्छिन्न आदि और भी कितने ही अवान्तर भेदोका यहा निर्देश किया गया है^४।

भोजन का उद्देश व उसकी विशुद्धि

साधु जन जो भोजन करते हैं वह ज्ञान, संयम और ध्यानकी सिद्धिके लिए करते हैं। वे इसलिए भोजन नहीं किया करते हैं कि उससे शरीर बलिष्ठ हो, आयु वृद्धिगत हो, शरीरका उपचय (पुष्टि) हो और वह दीप्तिमान् हो। रसना इन्द्रियके विजेता व अनासक्त होनेसे वे स्वाद के लिए भी भोजन नहीं किया करते^५।

भोजन भी वे ऐसा ही ग्रहण करते हैं जो नौ कोटियों

१ छउमत्थोषुद्देस कहं वियाणाइ चोइए भणइ ।

उवउत्तो गुरु एवं गिहत्थसदाइचिट्ठाए ॥

दिन्नाउ ताउ पंचवि रेहाउ करेइ देइ व गणति ।

देहि इओ मा य इओ अवणेह य एत्तिया भिक्षा ॥

पि. नि. २२२-२३.

२ पि. नि. मलय. वृत्ति २१६ व २२८.

३ पि. नि. २२६ (देखिये पीछे पृ. १५६)

४ वही २३१-३३.

५ ण बलाउ-साउअट्ठ ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं ।

णाणट्ठ संजमट्ठं भाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥ मूला. ६-६२

—मन, वचन, काय, व कृत, कारित, अनुभोदना—से विशुद्ध हो, ब्यालीस दोषों (उद्गम १६+ उत्पादन १६+ अशन १०=४२) व संयोजनासे विहीन हो, प्रमाणसे युक्त—परिमित—हो, विधिपूर्वक—नवधा भक्तिसे—दिया गया हो, अंगार व धूम दोषोंसे विरहित हो, पूर्वोक्त छह कारणोंसे संयुक्त हो, विपरीत क्रमसे रहित हो, और केवल यात्राका—प्राणधारण अथवा मोक्ष प्राप्तिका—साधन हो। उक्त भोजन नख, रोम, जन्तु, अस्थि, कण (गेहूँ आदिका बाह्य अवयव), कुण्ड (धान आदि भीतरी सूक्ष्म अवयव), पीव, चमडा, रुधिर, मास, बीज, फल (जामुन, आम व आवला), कन्द और मूल; इन चौदह मलों से वजित भी होना चाहिए^६।

इसके अतिरिक्त उस भोजनका जैसे प्रासुक—‘प्रगता असव. यस्मात् तत् प्रासुकम्’ इस निरुक्तिके अनुसार प्राणिविहीन—होना अभीष्ट है वैसे ही अपने लिए न किया जाना—अनुद्दिष्ट होना—भी अनिवार्य है^७। (देखिये पीछे पृ. १५८)।

निष्कर्ष

सबका फलितार्थ यह है कि साधुका मार्ग अतिशय कष्टकाकीर्ण है। उस परसे साधारण पथिकका जाना सम्भव नहीं है। उस पर से तो वे ही पथिक चल सकते हैं जो परावलम्बन को छोड़कर स्वावलम्बी बन गये हैं, जो इन्द्रियोंका दमन कर शरीरसे भी निर्मम हो चुके हैं, जिन्हें इस लोक व परलोक के वैभव की चाह नहीं रही है, जिनके लिए शत्रु भी मित्र प्रतीत होने लगे हैं, जो संसारसे विरक्त हो एक मात्र मुक्तिमुखकी प्राप्तिके लिए रत्नत्रयाराधनामे निरत हैं, जो निन्दा व प्रशंसामें समता-भावको प्राप्त होकर न निन्दासे विषण्ण होते हैं और न प्रशंसा से हर्षित भी होते हैं, तथा जिनका सभी अनुष्ठान लोकानुरजनके लिए न होकर केवल आत्मकल्याण के लिए ही है। आचार्य गुणभद्र ऐसे ही साधु महात्माओं को महस्व देते हुए कहते हैं—

आशारूप बेलि उन्हीं तपस्वियों की तरुण—हरी भरी—रहती है, जिनका मनरूप मूल (जड़) समत्वरूप जलसे

६ मूला. ६-६५; अन. घ ५-३६.

७ मूला. ६-६६.

तर रहता है। यही सोचकर विवेकशील मनस्वी साधु इस चिरपरिचित शरीरमें भी निःस्पृह होकर निरन्तर कष्टप्रद आरम्भों—आतापनयोग आदि—के साथ काल-यापन करते हैं^१।

जो एकाकीपन को साम्राज्य के समान, शरीरकी च्युति (मृत्यु) को अभीष्ट प्राप्तिके सदृश, दुष्ट कर्मोंसे निमित्त दुरवस्था को दुःख, सांसारिक सुखके परित्याग को सुख और प्राण निर्गमनको सब कुछ देकर किये जाने वाले महान् उत्सव जैसा समझते हैं; ऐसे महामना महर्षियोंके लिए अनुकूल-प्रतिकूल सभी कुछ सुखरूप ही प्रतिभासित होता है—दुखरूप कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसीलिए वे सदा सुखी रहते हैं^२।

जिन्हें शरीरगत धूलि (मैल) भूषण के समान प्रतीत होती है, स्थान जिनका शिलातल हैं, शय्या जिनकी कफ-रीली भूमि है, सिंहों की गुफा जिनका सुन्दर घर है, तथा सब प्रकार के मानसिक सकल्प-विकल्पों से निर्गत होनेसे जिनकी अज्ञानरूप गांठ खुल चुकी है; वे मुक्तिसुख के बांछक विवेकी निःस्पृह साधु हमारे मनको पवित्र करे^३।

इससे निश्चित है कि साधुचर्या कष्टप्रद तो है ही, पर जिन्होंने घर-द्वार व स्त्री-पुत्रादि से नाता तोड़कर स्वेच्छा से इस असिधाराव्रत को धारण किया है उन्हें वह कष्टकर प्रतीत नहीं होना चाहिए। अन्तःकरण की साक्षी-पूर्वक उसका यथोचित परिपालन करने पर भी यदि कोई उनकी निन्दा करता है तो उससे उन्हें क्षुब्ध नहीं होना चाहिए, और यदि कोई प्रशंसा भी करता है तो उससे सन्तुष्ट भी नहीं होना चाहिए। कारण कि यह निन्दा-स्तुति तो कदाचित् स्वभावसे और कदाचित् किसी स्वार्थ विशेष की सिद्धिके लिए भी की जा सकती है। हां यह अवश्य है कि यदि उस निन्दा में कुछ तथ्य है तो उस पर ध्यान देकर निन्दकके मनोगत भावको न देखते हुए अपनी उस कमी की पूर्तिके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा उसके लिए निन्दकका मनःपूर्वक आभारही मानना चाहिए। आचार्य अमितगति की यह उक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है—

दोषों के रहते हुए यदि कोई उनके कारण शाप देता है—निन्दा व अपमानित करता है—तो यह विचार

१ आत्मानुशासन २५२. २ वही २५६. ३ वही २५६.

करते हुए उसे सहन करना चाहिए कि वह सच ही तो कह रहा है, इसमें उसका क्या दोष है? और यदि इसके विपरीत दोषों के न रहते हुए भी कोई शाप देता है तो वह मिथ्या कह रहा है—उससे उसी की हानि हो सकती है, मेरी कुछ हानि होने वाली नहीं है—ऐसा विचार करते हुए उसको सह लेना चाहिए^४।

अब रही उद्दिष्ट भोजन की बात, सो इस विषयमें मेरा अभिमत यह है कि जैसा कि आप ऊपर आगमिक कथन को देख चुके हैं तदनुसार वर्तमानमें आहार तो प्रायः उद्दिष्ट ही प्राप्त हो रहा है, इससे आनाकानी नहीं की जा सकती है। इसके लिए मुमुक्षु भव्य जीवको सर्व-प्रथम तो देश-काल और गृहस्थों की वर्तमान परिस्थिति का विचार करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्तःकरण से यदि मुनिधर्म के निर्वाह की प्रेरणा मिलती है तो इस दुद्धर व्रतको स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा गृहस्थ रहकर भी यथासम्भव प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए धार्मिक जीवन बिताया जा सकता है। धर्मका सम्बन्ध बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा आत्मीक परिणामों से अधिक है। यही कारण है जो आचार्य समन्तभद्र मोही मुनिकी अपेक्षा निर्मोह गृहस्थको अधिक महत्त्व देते हैं^५।

परन्तु जो इस धर्मको स्वीकार कर चुके हैं उन्हें परिस्थितिजन्य उस कमीका अनुभव करते हुए अन्तःकरण से उस पर पश्चात्ताप करते रहना चाहिए। यह सोचना उचित नहीं होगा कि वर्तमान में जैसे श्रावक अपने धर्म का परिपालन नहीं कर रहे वैसेही यदि साधुभी अपने धर्म से कुछ च्युत होते हैं तो इसमें अनहोनी बात क्या है? कारण कि दूसरों की अष्टता से स्वयं अष्ट होना, यह बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी।

४ दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं
सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सद्गम् ।
दोषेष्वसत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं
मिथ्या ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सद्गम् ॥

सुभाषित. २-३१.

५ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

र. क. आ. ३३

श्रीपुर क्षेत्र के निर्माता राजा श्रीपाल

नेमचन्द धन्नुसा जैन

गत साल कारणवश नागपुर को ३-४ दफे जाने का योग आया। तब वहाँ के इतिहासज्ञ डा० य० खु देशपांडे की भी मुलाकात होती थी। सयोगश उनके यहाँ प्रो० मधुकर वावगांवकर तथा प्रो० ब्रह्मानन्द देशपांडे की पहचान हुई। समान विषय होने से परिचय होने में देर न लगी। शिरपुर के प्राचीन मन्दिर पर अप्रकाशित दो शिलालेख हैं, ऐसा बताने पर वे दोनों वहाँ जाने को उतारू हुए। और समय पाकर उन्होंने उस शिलालेख के तथा कुछ मूर्तिलेख, स्तंभलेख आदि के छाप भी लाये।

उसमे से एक छाप उन्होंने मुझे दिया, उससे मैं संतोषित तो नहीं हुआ। लेकिन कैमरों से उसके फोटो निकालने की योजना बनाकर मैं शिरपुर गया। उनका जो वाचन मैं कर सका वह नीचे दिया है। इस वाचन में जो स्पष्ट शब्द दिखाई दिये वह देकर जो अस्पष्ट है या होना चाहिये ऐसा लगा वे शब्द कस मे दिये है। ऊपर के पट्टी पर का लेख ४ पंक्ति में है। वह इस प्रकार है—

पंक्ति (१) शाक ६०६ (आषाढ शुक्ल) पंच.....
मूल संवे.....(बलात्कार गने) भट्टारक श्री जि (२)
न.....रा)जी) रा(जा) मति.....श्रीपाल भूप.....
श्री पाद्वनाथ बि (३) (ब)(राष्ट्रकूट संघ)....
श्रीजिन (प्रतिष्ठित) महो(त्सवे इन्द्र) राज हते श्रीपाल
इह श्रीपुरायतनं (४) संप्रतिष्ठापितम् ॥

नीचेकी पट्टी पर का लेख तीन पंक्ति में है वह इस प्रकार है—

(१) “सके १३३८ वंशाख सुदि ८ (गुरी) श्रीमाल-
बस्थ सेठ रामल पोत्र ठ० भोज पु (२) त्र अमर (कुल)
समुत्पन्न सघपति ठ० श्री जगसीहेन अतरिक्ष श्री पाद्व-
नाथ (३) निजकुल (उद्धारक) खटवड बंश.....राज ॥

इन दोनों शिलालेखों से दोनों लेख भिन्न काल के तथा भिन्न कर्तृत्व के जान पड़ते है। तथा इन दोनों

लेखों से यह स्पष्ट है कि, उसके कर्ता निःसंशय दिगंबर जैन ही थे। क्योंकि ऊपर लेख मे मूलसंघ तथा बलात्कार गण का उल्लेख है और नीचे के लेख में खटवड गोत्र का उल्लेख है। ये बातें दिगंबर आम्नाय की ही द्योतक हैं।

इन लेखों पर से आगे का इतिहास निश्चित होता है—पहले लेख का अर्थ—शक ६०६ या संवत् १०४४ के आषाढ माह के शुक्ल पंचमी या पंच दशमी तिथी को मूलसंघ और बलात्कारगण के भट्टारक श्रीजिन.....के उपदेश से रानी राजमति तथा राजा श्रीपाल ने श्रीपाद्व-नाथ बिब की राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज (चतुर्थ) की मृत्यु होने के बाद श्रीजिन प्रतिष्ठा पूर्वक इस श्रीपुरायतन की प्रतिष्ठा की।

यह एक स्वतंत्र अनुसन्धान का विषय है कि आषाढ से कार्तिक तक पंच कल्याणक प्रतिष्ठा नहीं होती। अतः यह तिथी सिर्फ मन्दिर या वेदी प्रतिष्ठाकी होनी चाहिये। यानी उस समय विराजमान होने वाली मूर्ति पूर्व प्रतिष्ठित होगी।

शिरपुर क्षेत्र में आषाढी पूनम तथा कार्तिक पूनमको ऐसे दो दफे यात्रा भरती है। कार्तिक पूनम वार्षिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। अगर आषाढी पूनम को यह प्राचीन हेमाडपंथी मन्दिर की वर्षपांठ महोत्सव के रूप में स्वीकार किया जाय तो एक इतिहास की पुष्टि बन जाती है। जो इतिहास संवत् १०४४ से आज यानी संवत् २०२८ तक कायम रहा।

तथा इसमे उल्लेखनीय श्रीपाल राजा राष्ट्रकूट संघ का था यानी राष्ट्रकूटों का सामंत था। और स० १०४४ से पूर्व ही स० १०३६ में अन्तिम राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज (चतुर्थ) की मृत्यु हो गई थी। उसके बाद राष्ट्रकूटों का राजा कोई न होने से उसका निर्देश इसमे न हुआ। साथ में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि सं० १०४४ में

बुध हरिषेण चित्तौड़ से अचलपुर आये थे। और वहां उनके द्वारा 'धर्मपरीक्षा' नाम का ग्रंथ समाप्त करने का उल्लेख किया जाता है। ग्रंथकी प्रशस्ति में हरिषेण लिखते हैं—

“सिरि चित्तौड़ बुधवि अचलउर हो, गयउ नियकजंजे जिनहरपउरहो। तहि छंदांकर-पसाहिय, धम्मपरीक्ष एह ते साहिय ॥”

इससे इतना तो निर्विवाद है कि 'धम्मपरीक्षा' की रचना अचलपुर में हुई थी। लेकिन उसकी प्रशस्ति किसी और जगह लिखी गयी है क्योंकि 'गयउ', 'तहि' ये शब्द अचल पुर में बैठ कर लिखे नहीं जाते। प्रशस्ति के प्रारंभ में ही हरिषेण लिखते हैं—'इह मेवाड-देसि-जन संकुलि' 'इसमें 'इह' शब्द पर मेरा ध्यान जाता है और मैं इस मान्यता में हूँ कि हरिषेण, प्रशस्ति लिखते समय वापिस मेवाड में ही होंगे। अगर मेरा यह अनुमान सफल रहा तो बुध हरिषेण सिर्फ कुछ काल के लिये ही अचलपुर आये थे ऐसा मानना उचित होगा। और वह काल अगर इस प्राचीन पवली मन्दिर के प्रतिष्ठा का होगा तो वह चौमासा हरिषेण ने अचलपुर में बिताया होगा और वहां धर्म परीक्षा की रचना करके चौमासा के बाद फिर अपने क्षेत्र चले गये और वहां प्रशस्ति जोड़ के ग्रंथ की समाप्ति की, ऐसा लगता है; क्योंकि सिरपुर या मुक्तागिरि का वार्षिक मेला कार्तिक सुदी पूनम को ही भरता है। साथ में मुझे तो ऐसा लगता है कि शिलालेख में उल्लेखित जो भट्टारक है उनका भी चौमासा शिरपुर या अचलपुर में ही हुआ होगा। और भट्टारक श्रीका गमन होने पर हरिषेण भी अपने स्थान को चले गये होंगे।

इस शिलालेख से इस प्राचीन मन्दिर तथा उसके निर्माता राजा श्रीपाल का काल निश्चित हो गया। जो हमारे भूत लेखों में वर्णित काल से अभिन्न ही है। श्वेताम्बर लोग इस मन्दिर के निर्माण का काल स० ११४२ मानते हैं। यह मान्यता सौ साल बाद की और निश्चित गलत है। सिर्फ अभयदेव सूरि जैसे महान् तपस्वी आचार्य के साथ श्रीपाल राजा का सम्बन्ध बिटाने के लिए स्व-

कल्पित काल भूठा है यह सिद्ध करने की इस शिलालेख से अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

दूसरा जो लेख है वह तो स्पष्ट ही है। तथा 'अंत-रिक्ष श्री पार्श्वनाथ निजकुल' का अर्थ गर्भगृह ऐसा करें तो अमरकुल में उत्पन्न सेठ जगसिंह ने इस मन्दिर का सके १३२७ (ई० स० १४०६) में इसका जीर्णोद्धार कराया था। इनका वंश खटवड था।

गत साल के उत्खनन में एक स्तंभ मिला था, उसके ऊपर स० १८११ माघ सुदि १०मी को मन्दिर का उद्धार किसी सेतवाल ने किया है ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। मतलब यह है कि आज तक इस मन्दिर के कितने समय उद्धार कार्य हुये होंगे तो भी वह सब अधूरे हैं। स० १८६८ का वयस्क आदमी भी यही कहता था कि 'मन्दिर उस समय तक कभी भी पूरा नहीं हुआ।'।

आज भी वैसी ही स्थिति है। मन्दिर पर पाँच जगह शिखर बनाने की योजना होने पर भी एक जगह भी शिखर नहीं बन पाया। सिर्फ गर्भगिरि के ऊपर ईंटों का बनाना चालू था तो वह भी ३ फीट के ऊँचाई में अधूरा छोड़ा गया।

खैर अभी सारे जैन समाज का ध्यान इधर है, मंदिर की माल की तथा ताबा अपना ही है और कोर्ट से भी इस मान्यता को पुष्टी मिली और इस मन्दिर की इर्द-गिर्द जमीन दिगबरो के हाथ आने का फैसला हाल ही अकोला कोर्ट से मिला है।

१९ साल बाद इस मन्दिर को एक सहस्र साल पूरे होंगे। तब एक सहस्री अच्छे उत्साह के साथ मनाने की योजना चली है। तब तक इस मन्दिर पर शिखर बनाना, धर्मशाला का निर्माण होना आदि कार्य पूरे होने चाहिए। इसके लिये एक लाख रुपये का बजट होना चाहिए। समाज का ध्यान तथा हमारे अग्रुये का लक्ष इस सस्थान की ओर है तो यह कार्य निश्चित ही पूरा होगा ऐसी शुभ कामना के अलावा अभी मैं कुछ भी नहीं लिख सकता।



शुभचन्द्र का प्राकृत लक्षण : एक विश्लेषण

डा० नमिचन्द्र शास्त्री एम. ए. डी. लिट्, आरा

चण्डकृत प्राकृत लक्षण के अतिरिक्त शुभचन्द्रभट्टारक का चिन्तामणि नामक स्वोपज्ञवृत्ति सहित एक प्राकृत लक्षण नाम का प्राकृत व्याकरण उपलब्ध है। इस व्याकरण ग्रन्थ के आदि और अन्त में ग्रन्थ का नामकरण अंकित है। तथा—

श्री ज्ञानभूषणं देवं परमात्मानमव्ययम् ।

प्रणम्य बालसम्बुद्धये वक्ष्ये प्राकृतलक्षणम् ॥

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में—

शुभचन्द्रमुनीन्द्रेण लक्षणार्थि विगाह्य वं ।

प्राकृतं लक्षणं चक्रे शब्दचिन्तामणिस्फुटम् ॥१॥

शब्दचिन्तामणिधीमान् योऽध्येति धृतिसिद्धये ।

प्राकृतानां सुशब्दानां पारं याति मुनिश्चितम् ॥६॥

प्राकृतं लक्षणं रम्यं शुभचन्द्रेण भाषितम् ।

योऽध्येति वं सुशब्दार्थधनराजो भवेन्नरः ॥७॥—

अन्तिम प्रशस्ति

उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत व्याकरण का नाम प्राकृत लक्षण और वृत्ति का चिन्तामणि है।

रचयिता शुभचन्द्रने अपनी पट्टावली भी इस ग्रन्थ के अन्त में अंकित की है। बताया है कि भुवनकीर्ति के शिष्य ज्ञान भूषण हुए, ज्ञानभूषण के शिष्य विजयकीर्ति और विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र थे। इन्होंने काव्य, पुराण, चरित, दर्शन, अध्यात्म, व्रतविधान एवं व्याकरण विषयक रचनाएँ लिखीं हैं। इनके षड्भाषा कविचक्रवर्ती एवं त्रैवेद्य विद्याधर आदि विशेषण प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा रचित चन्द्रप्रभचरित, जीवन्धर चरित, करकण्डुचरित, श्रेणिक चरित, संशयवदनविदारण, षट्दर्शन प्रमाणप्रेम-यानुप्रवेश, अंगपण्णत्ती, पाण्डवपुराण आदि अड़तालीस ग्रन्थ हैं।^१

१ चन्द्रनाथचरित चरितार्थ पदमनाभचरितं शुभचन्द्रम् ।

मन्मथस्य महिमानमतन्द्रो जीवकस्य चरितं चकार ॥

प्राकृत लक्षण में रचनाकाल का अंकन नहीं किया गया है, पर पाण्डव पुराण की प्रशस्ति में उसका रचना-काल उल्लिखित है तथा उक्त चिन्तामणि व्याकरण का भी निर्देश आया है, अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० १६०८ से पूर्व है।^२

अंगपण्णत्ती में त्रैवेद्य और उभय भाषा परिवेदी कहा गया है।^३ अतः ज्ञात होता है कि शुभचन्द्र संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं के विद्वान् थे। इनका यह व्याकरण सरल और आशुबोध गम्य है।

प्रस्तुत व्याकरण में त्रिविक्रम के व्याकरण के समान तीन अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में ५६ सूत्र, द्वितीयपाद में १३० सूत्र, तृतीयपाद में १४७ सूत्र और चतुर्थपाद में १२८ सूत्र हैं। तृतीय माध्यम के प्रथमपाद में १७२ सूत्र, द्वितीयपाद में ४०, तृतीयपाद में ४३ और चतुर्थपाद में १४७ सूत्र हैं। इस प्रकार समस्त द्वादशपादों में कुल १२१५ सूत्र हैं। सूत्रों पर ग्रन्थकर्त्ता की स्वविरचित चिन्तामणि नामक वृत्ति है,

चन्द्रनायाः कथा येन दृष्ट्वा नान्दीश्वरी तथा ।

आशाधरकृताचारवृत्तिः सद्वृत्तिशालिनी ।

संशयवदनविदारणमपशब्द सुखण्डनं परतर्क ।

सत्तत्त्वनिर्णय वरस्वरूपसम्बोधिनी वृत्ति ॥

अध्यात्मपद्यवृत्ति सर्वार्थापूर्वसर्वतोभद्रम् ।

योऽकृत सद्व्याकरण चिन्तामणिनामधेय च ॥

२ श्रीमद्विक्रमभूपतेद्विकहते स्पष्टाष्टसंख्ये शते,

रम्येष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीयातिथौ ।

...श्रीशाकवाटेपुरे...विरचित...पुराण चिरम् ।

—पाण्डवपुराण, ७२, ७३, ७७, ७८, तथा ८६

३ तप्पयसेवणसत्तो तेवेज्जो उहयभासपरिवेदि ।

सुहचदो तेण इणं रइयं सत्थ समासेण ॥

—सिद्धान्तसारवादिसंग्रह के अन्तर्गत

जिसमें सूत्रों के अर्थस्पष्टीकरण के साथ प्राकृत शब्दों के उदाहरण हैं।

वररुचि ने द्वादशाध्यायी प्राकृत व्याकरण लिखा था, उसी के अनुकरण पर त्रिविक्रम ने द्वादशपदी लिखा और त्रिविक्रम के व्याकरण का अनुकरण कर शुभचन्द्र ने द्वादशपादों में उक्त प्राकृत लक्षण नाम का व्याकरण लिखा है। सूत्र सख्या और प्रयुक्त उदाहरणों की दृष्टि से यह व्याकरण ग्रन्थ अबतक के उपलब्ध समस्त प्राकृत व्याकरणों में वृहत्तर है। हेमचन्द्र ने सिद्ध हेम शब्दानुशासन के प्राकृत भाग में १११६ सूत्र और त्रिविक्रम ने कुल १०३६ सूत्र रचे हैं। शब्दानुशासन की दृष्टि से प्राकृत भाषा को अवगत करने के लिए यह व्याकरण बहुत ही सुबोध है। इस व्याकरण में प्राकृत भाषा के स्वरूप गठन के सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है। प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में पन्द्रह सज्ञा सूत्रों के अनन्तर 'प्राकृतम्' सूत्र का अधिकार आरम्भ कर "देश्यं तद्भवं तत्सममार्थञ्च" १।१।१६—तत्प्राकृतं क्वचित्देशेभव, क्वचित्संस्कृतभव क्वचित् संस्कृतसमान क्वचित् ऋषिप्रोक्तमिति बहुधा स्यात्। तद्यथास्थान दर्शयिष्यामः। अर्थात् प्राकृत भाषा के कुछ शब्द देशज हैं, कुछ संस्कृतसे उत्पन्न हैं, कुछ संस्कृत समान हैं और कुछ शब्द आर्थ हैं। इन शब्दोंका यथा स्थान विवेचन किया जायगा।

इस प्रकार प्राकृत भाषा का स्वरूप निर्धारण कर प्राकृत शब्दों के रूपों को 'बहुल' कहा है अर्थात् प्राकृत शब्दों के रूप विकल्प से निष्पन्न होते हैं।

इस प्राकृत लक्षण की प्रमुख विशेषता स्पष्ट रूप में शब्दानुशासन की है। यहां उदाहरणार्थ दो-एक सूत्र उद्धृत कर उक्त तथ्य की पुष्टि की जायगी। व्यञ्जन के लोप होने पर जो स्वर शेष रह जाता है, उस स्वर की सन्धि नहीं होती। इस नियम का प्रतिपादन आचार्य हेमचन्द्र ने "स्वरस्योद्धत्ते" १।१।१८—व्यञ्जनसंप्रुक्तः स्वरो व्यञ्जने लुप्ते योज्यशिष्यते स उद्धत्त इहोच्यते। स्वरस्य उद्धत्ते स्वरे परे सन्धिर्न भवति। यथा—निसा-अरो।

हेम के उक्त नियमानुसार उद्धत्त स्वर की सन्धि नहीं होती। इसी नियम का प्रतिपादन त्रिविक्रम व्याकरण में निम्न प्रकार हुआ है—

शेषेऽव्यञ्चः १।१।२२—युक्तस्य हलोलोपे योज्यशिष्यतेऽच् स शेषः तस्मिन् शेषे स्वरे परे अचः सन्धिर्न भवति। यथा—कुम्भ-अरो।

शुभचन्द्र ने उक्त नियम के सम्बन्ध में लिखा है—

शेषे स्वरस्य १।१।२३—व्यञ्जने लुप्ते य स्वरोऽवशिष्यते स शेषः तस्मिन् शेषे स्वरे परे स्वरस्य सन्धिर्न भवति। यथा—नयणेच्चिऊ गन्धउडि कुणन्ति।

उक्त तीनों शब्दानुशासकों के नियमों की तुलना से यह स्पष्ट है कि शुभचन्द्र की प्रतिपादन प्रक्रिया सरल और स्पष्ट है। शुभचन्द्र ने सूत्रों को स्पष्ट रूप में लिखने का पूरा प्रयत्न किया है।

इस व्याकरण में वर्णों का व्यत्यय सम्बन्धी अनुशासन अन्य प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा स्पष्ट और विस्तृत है। यहां उदाहरणार्थ करेणु, वाराणसी, मरहट्ट, आणाल, अचलपुर, णलाड, दहो, गुटह, हलिआरो, हलुआ, दक्खिपरो, णिहवो आदिको उपस्थित किया जा सकता है। उक्त शब्द वर्णव्यत्यय से सिद्ध किये गये हैं। शुभचन्द्र ने इस सन्दर्भ में लगभग १५ सूत्रों की रचना कर उक्त विकरण का अनुबन्धन किया है।

पुल्लिङ्ग शब्दों से स्त्रीलिंग रूप बनाने की विधि का निरूपण करते हुए लिखा है—

"नुरजातेरीर्वा" २।२।२६—अजातिवाचिनः पुल्लिङ्गात् स्त्रिया वर्तमानात् ई प्रत्ययो वा भवति। यथा—हसमाणी, हसमाणा, सुप्पणही, सुप्पणहा, सीली, सीला, काली, काला, नीली, नीला, आदि।

इस प्रसंग में गोरी, कुमारी प्रभृति शब्दों का रूप संस्कृत रूपों के समान प्रतिपादित कर "प्रत्यये" २।२।३७ सूत्र द्वारा अण् प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'ई' प्रत्यय का विधान किया है। यथा—साहणी, साहणा, कुरुचरी, कुरुचरा आदि। इस प्रसंग में संस्कृत व्याकरण में प्रतिपादित नियमों के प्रतिरिक्त प्राकृत के देशज और संस्कृतोद्भव शब्दों के स्त्रीलिंग में निबन्धित रूपों का भी प्रतिपादन हुआ है। साधारणतः यह अनुशासन अन्य सभी प्राकृत व्याकरणों में पाया जाता है, पर यहां विस्तार के साथ स्पष्टता भी वर्तमान है।

प्राकृत के देशज शब्दों को गणों में विभक्त कर प्रद-

शित किया है। गोणाद्या, अहिआंबा, तृनांबा, पुआयाद्यावा प्रभृति गणों में देशी शब्द परिगणित किये हैं। निपातन से सिद्ध होने वाले देशी शब्दों का प्रयोग किस-किस अर्थ में होता है, यह सूत्र-वृत्ति सहित निरूपित है। विभक्ति—अर्थ का विचार पर्याप्त विस्तार पूर्वक किया है। द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के ३६वें सूत्र से ५१वें सूत्र तक विचार किया है। अन्य प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा कतिपय नये नियम और उदाहरण भी आये हैं।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में क्रियारूपों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों का कथन भी इस व्याकरण में उदाहरण आया है। इन उदाहरण रूपों में देशज और आर्ष शब्दों की एक लम्बी तालिका है।

प्रस्तुत व्याकरण में शुभचन्द्र ने सामान्य प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पेशाची, चूलिक पेशाची और अपभ्रंश इन छः प्राकृत भाषाओं का अनुशासन निबद्ध किया है। सामान्य प्राकृत का नियमन नौ पादों में और दशवें पाद के ३९ सूत्रों तक आया है। शौरसेनी प्राकृत का नियमन करते हुए अन्त में “प्राकृतवच्छेष” ३।२।४० कह कर सामान्य प्राकृत के नियमानुसार शौरसेनी के नियमों को अवगत करने की ओर सकेत किया है। इसी प्रकार मागधी के अनुशासन सम्बन्धी प्रमुख नियमों को बतला कर ‘शेष प्राकृतवत्’ जान लेने का सकेत किया है। तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के अन्त में निम्नलिखित पाँच भाषाओं के नियमन की चर्चा की गई है। यथा—

भाषापंचक सद्व्याख्या शुभचन्द्रेण सूरिणा ।

शब्द चिन्तामणौ नूनं विहिता बुद्धिसिद्धये ॥

तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में १५८ सूत्रों में अपभ्रंश भाषा के स्वरूप-गठन का निरूपण किया है। इस अनुशासन में अन्य प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा उदाहरणों को विशेषता है। हेमचन्द्र और त्रिविक्रमने अपभ्रंश शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए अपभ्रंश के पुराने दोहे उपस्थित किये हैं, जिससे उदाहरणों की संख्या उतनी नहीं आ सकती है, जितनी होनी चाहिए थी। शुभचन्द्र ने सूत्रों के नियमों की चरितार्थता दिखलाने के लिए दोहों में से केवल उन शब्दों को ही उदाहरण के रूप में रखा

है, जिनकी आवश्यकता थी। इन पुराने उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ नये उदाहरण शब्द भी उपस्थित किये गये हैं।

अपभ्रंश अनुशासन का प्रारंभ “प्रायोऽपभ्रंशे स्वराणां स्वराः” ३।४।१ सूत्र से किया है। यह सूत्र भाव की दृष्टि से त्रिविक्रम के समान और शब्दविन्यास की दृष्टि से हेम के तुल्य है। इस सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये उदाहरणों में हेम और त्रिविक्रम दोनों की ही अपेक्षा मा, रेखा, कच्छु, कच्छा शब्द अधिक आये हैं। अपभ्रंश भाषा के अनुशासन को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१ अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों के अन्तिम स्वर विभक्ति लगने के पूर्व कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ हो जाते हैं। यथा—ढोल्ल=ढोत्ला, सामल=सामला, स्वर्णरेखा=सुवर्णरेड।

२ अपभ्रंश में किसी शब्द का अन्तिम अ कर्त्ता और कर्म के एक वचन में उ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा—दहमुह, भयकर, चउमुहु, भयकद।

३ अपभ्रंश में पुलिङ्ग संज्ञा शब्दों का अन्तिम अ कर्त्तारक एकवचन में प्रायः ओ में परिवर्तित हो जाता है।

४ अपभ्रंश में संज्ञाओं का अन्तिम अ करणकारक एकवचन में इ या ए; अधिकरण कारक एकवचन में भी इ या ए में परिवर्तित होता है। इन्हीं संज्ञाओं के करण कारक बहुवचन में विकल्प से ‘अ’ के स्थान पर ए होता है। अकारान्त शब्दों में अपादान एकवचन में हे या हु विभक्ति अपादान बहुवचन में हैं विभक्ति; सम्बन्धकारक एकवचन में सु और होस्सु विभक्तियों एवं सम्बन्धकारक बहुवचन में हैं विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं।

५ इकारान्त और उकारान्त शब्दों के परे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन ‘आम्’ प्रत्यय के स्थान पर हैं और हे, पञ्चमी एकवचन में हे; बहुवचन में हैं; सप्तमी एकवचन में हि तथा तृतीय विभक्ति एकवचन में हूँ और ण विभक्ति चिन्हों का प्रयोग होता है।

६ अपभ्रंश भाषा में कर्त्ता और कर्म के एकवचन

और बहुवचन की विभक्तियों का तथा सम्बन्ध कारक की विभक्तियों का प्रायः लोप होता है।

७ सम्बोधन कारक के बहुवचन में हो अव्यय का प्रयोग और अधिकरण कारक के बहुवचन में हि विभक्ति का प्रयोग होता है।

८ स्त्रीलिङ्गी शब्दों में कर्ता और कर्म के बहुवचन में उ और ओ; करण कारक के एकवचन में ए; अपादान और सम्बन्धकारक के एकवचन में हे, हु तथा सप्तमी विभक्ति एकवचन में हि प्रत्यय का प्रयोग होता है।

९ नपुंसकलिङ्ग में कर्ता और कर्मकारकों में ई विभक्ति जुड़ती है।

१० धातुरूपों के प्रसंग में बतलाया है कि ति आदि में जो आद्य त्रय है, उनमें बहुवचन में विकल्प से 'हि' आदेश; मध्यत्रय में से एकवचन के स्थान में हि आदेश, बहुवचन में डु आदेश तथा अन्य त्रय में एकवचन में से और बहुवचन में हैं आदेश होता है।

११ अनुज्ञा में संस्कृत के ही और स्व के स्थान पर इ, उ और ह ये तीन आदेश होते हैं। भविष्यत्काल में स्य के स्थान पर विकल्प से सो होता है।

१२ भू धातु के स्थान पर हुँच, बू के स्थान पर ब्रुव, व्रज के स्थान पर वृश् और तश् के स्थान पर घोल्ल आदेश होता है। दश् के स्थान पर पस्स, गृह के स्थान पर गण्ह, गर्ज के स्थान पर घुडक्क एव क्रीज के स्थान पर कीसु आदेश होता है।

१३ वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप अंत और माण प्रत्यय जोड़कर बनाये जाने का नियमन किया है। यथा—कर+अंत=करत; उगम+अंत=उगमत; वज्ज+अंत=वज्जत। वट्ट+माण=वट्टमाण; हुँच+माण=हुँचमाण।

१४ भूतकालिक कृदन्त रूपों के लिए अ, इ अ और इय प्रत्यय जोड़ने का विधान किया है। यथा—हु+अ=हुअ, ग+अ=गाअ; गाल+इअ=गालिअ, मक्ख+इअ=मक्खिअ। कह+इअ=कहिअ; छडु+इअ=छडुअ।

१५ पूर्वकालिक क्रिया का अर्थ व्यक्त करने के लिए सम्बन्ध कृदन्त के रूपों के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एविणु एवं एवि प्रत्ययों के जोड़ने का नियमन

किया है। यथा—लह+इ=लहि; कर+इउ=करिउ; कर+इवि=करिअ; कर+अवि=करवि; कर+एप्पि=करेप्पि; कर+एविणु=करेविणु; कर+एवि=करेवि।

१६ क्रियार्थक या हेत्वर्थ कृदन्त के लिए एव, अण, अणइ, सप्प, एप्पिणु, एवि प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—देव, करण, भुज्जह, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु आदि।

१७ विध्यर्थक कृदन्त पदों के लिए इएव्वउ, एव्वउं, एवं एवा प्रत्यय लगते हैं। यथा—किरएव्वउ, करेव्वउं, करेवा आदि।

१८ शीलघर्म बतलाने के लिए अणम प्रत्यय लगता है। यथा—हसणअ, हसणउ, करणअ, करणउ।

१९ क्रियाविशेषण के निमित्त वहिल्लउ, निच्चट्टु, कोडु, ढक्करि, विट्टालु, अप्पणु, सड्डलु, खण एवं वड आदि का प्रयोग होता है।

प्रस्तुत व्याकरण में अपभ्रंश के ६५ अव्यय पद भी परिगणित हैं। शुभचन्द्र ने वृत्ति में अव्ययों के अर्थ का स्पष्टीकरण भी किया है।

स्वाधिक प्रत्ययों में अ, अउ और उल्ल प्रत्यय की गणना की गयी है यथा—दोसडा, कुहुल्ली, गोरडी आदि।

अपभ्रंश नियमन प्रसंग में इव अर्थ में छः प्रत्ययों का प्रयोग बतलाया है। यथा—“बायें नाइ नावइ नइ नं जाणि जाणुः” ३।४।२४—इवार्थे षडादेशा भवन्ति। नाइ साहु; नावइ गुरु; नइ सूरु; न चदो; जाणि चपय; जणु कणय।

भाव अर्थक त्व और त प्रत्ययों के स्थान पर अपभ्रंश में तणु और प्पणु प्रत्ययों का विधान किया है। यथा—“तृणप्पणोत्तत्त्वयोः” ३।४।१६—भावार्थे विहितयोस्तत्त्व-प्रत्ययो तणप्पणो स्याताम्। बडत्तणु, वडप्पणु।

निस्सन्देह प्राकृत के सभी अंगों को समझने के लिए यह व्याकरण उपादेय है। छहों भाषाओं का सम्यक् परिज्ञान इस अकेले व्याकरण से हो सकता है। अपभ्रंश में समाहित भाड, गोप्पी, गोजी, असारा, मोरत्तओ, ओहंस, आडोरो, सिणी, मंतक्खरं, खंदजी, बहुराणी, पादुगो, सइदिट्टं, भड्डी, चेडो, खहंगो, कुतो प्रभृति देशल शब्दों

का भी कथन किया है। त्रिविक्रम ने 'भुडादि' के अन्तर्गत जिन देशज शब्दों की गणना की है, वे प्रस्तुत व्याकरण में किसी एक गण में पठित नहीं है। इनका उल्लेख यत्र-तत्र फुटकर रूप में हुआ है।

शुभचन्द्र ने उदाहरणों में 'महुरव्व पाडलिपुत्ते पासाया' (२।१।१२), पाणिनीया—पाणिनेः इमे शिष्याः (२।१।१६), मइ अयरेका—मदीयपक्षः (२।१।१६), गणहुत्तं (२।१।१६), पियहुत्त पस्सइ (२।१।१६), अव-रिल्लो (२।१।२१), मयल्लिपुत्तो (२।१।२६), तिस्सा मुहस्स भरिमो (२।२।३६), पिउहर माउसिआ माउमडलं (१।२।८६), माहिवाओ (१।२।१२१); पयागजल (१।३।२); गुडो, गुलो (१।६।१६); टगरो (शृगरहिती-वृषभः), ड्वरो (स्मश्रुरहित पुरुषोवा १-३।३३), मट्ट (स्वीकरण), थाणू (त्यक्तवृत्त १।४।५), सप्फ (वालटण) प्रभृति ऐसे पद हैं, जिनमें संस्कृत का इतिहास निहित है। संक्षेप में इस व्याकरण में निम्नलिखित विशेषताएँ

परिलक्षित होती हैं :—

- १ अनुशासन में लाघव प्रक्रिया का प्रयोग।
- २ प्रायः सूत्रों द्वारा ही नियमों का स्पष्टीकरण।
- ३ संस्कृत के पूरे-पूरे शब्दों के स्थान पर प्राकृत के पूरे शब्दों के आदेश का नियमन।
- ४ कृत और तद्धित प्रत्ययों का विस्तारपूर्वक निर्देश।
- ५ अवर्णान्ति, इवर्णान्ति, उवर्णान्ति, ऋवर्णान्ति और व्यञ्जनान्त शब्दों की रूपावलि का विस्तारपूर्वक उल्लेख।
- ६ सामान्य प्राकृत का विस्तारपूर्वक निरूपण।
- ७ देशज शब्दों का यथास्थान निर्देश।
- ८ मागधी, पंशाची और चूलिका पंशाची की शब्दावलि का कथन।
- ९ वर्णविकार का सोदाहरण निरूपण।
- १० वर्ण व्यत्यय, आदेश, लोप, द्वित्व प्रभृतिका कथन।
- ११ अन्य वैयाकरण के समान य श्रुति का निरूपण।

—:०:—

बिहारी सतसई की एक अज्ञात जैन भाषा टीका

श्री अग्रचन्द्र नाहटा

प्राकृत और संस्कृत सप्तशती की परंपरा हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती में सतसई के रूप में खूब विकसित हुई। संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी गुजराती चारों भाषाओं को प्राप्त सतसईयों की खोज इधर ५-७ वर्षों में मैंने विशेष प्रयत्नपूर्वक की और प्राप्त जानकारी सप्तसिंधु, राजस्थान भारती आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित की जा चुकी है।

हिन्दी सतसईयों में सर्वाधिक प्रसिद्धि बिहारी सतसई को मिली। इस सतसई पर संस्कृत और हिन्दी गद्य-पद्य में जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उतनी और किसी भी सतसई की नहीं, हिन्दी के किसी भी काव्य पर नहीं लिखी गई है। इन टीकाओं में अब तक दो जैन विद्वानों को टीकाएँ ही प्राप्त थी जिनमें से १८वीं शताब्दी के

विजयगच्छीय कवि मानसिंह ने हिन्दी गद्य में टीका लिखी और नागोरी लोंकागच्छ के वीरचन्द्र शिष्य परमानन्द ने संवत् १८६० बीकानेर में संस्कृत में टीका बनाई। इस टीका का विवरण मैंने अपने सम्पादित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज द्वितीय भाग' में सन् १९४७ में प्रकाशित कर दिया था। अभी रूपनगर दिल्ली के श्रीवल्लभ स्मारक प्राच्य जैन ग्रंथ भंडार में एक और जैन टीका प्राप्त हुई है। जिसका संक्षिप्त विवरण इस लेख में दिया जा रहा है।

बिहारी सतसई की यह टीका पंडित भोजसागर ने संवत् १७६३ में बनाई है। जिसकी एकमात्र प्रति संवत् १८७८ की लिखी हुई उक्त ग्रंथ भंडार में प्राप्त हुई है। ४६ पत्रों की इस प्रति में मूल बिहारी सतसई मोटे अक्षरों

में लिखी हुई है। मूल पाठ के ऊपर संक्षिप्त अर्थ रूप टब्बा लिखा गया है। प्रति अचलगच्छ के खुसालसागर विबुधसागर की लिखी हुई है। टीकाकार भोजसागर ने अपने गच्छ, गुरु परम्परा आदि का परिचय नहीं दिया पर सम्भव है अचलगच्छ का ही हो। सवत् १७६३ के कार्तिक सुदि शनिवार को सूरत बदर में अल्पमति मनुष्यों के सम्भूतने के लिए यह बनाई है। जैन विद्वानों ने साहित्य निर्माण और संरक्षण में सदा उदार बुद्धि रखी है। इसी का परिणाम है कि जैन ग्रन्थ भंडारों में विविध विषयक हजारों जैनतर रचनाएँ सुरक्षित हैं। इतना ही नहीं उन्होंने जैनतर ग्रन्थों का स्वयं गम्भीर अध्ययन किया और दूसरों की सुविधा के लिए उन ग्रन्थों पर संस्कृत एवं लोक भाषा में टीकाएँ बनाईं। अब से ३०-३५ वर्ष पहले मैंने जैनतर ग्रन्थों की जैन टीकाओं सम्बन्धी काफी खोज की थी और उनका विवरण भारतीय विद्या नामक शोध पत्रिका के २-३ अंकों में प्रकाशित कराया था।

अब भोजसागर रचित बिहारी सतसई की टीका का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इसकी और किसी भंडार में कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई। इसलिए उपरोक्त ज्ञान भंडार के व्यवस्थापक प० हीरालाल दुगड़ से संक्षिप्त विवरण मंगाकर नीचे दिया जा रहा है—

बडल नम्बर ५४७, ग्रन्थ नम्बर X/६१, पत्र ४६, प्रति पृष्ठ पक्षित १४, पत्रों का साईज ११X४॥ इंच।

अन्त—यह बिहारीदास कृत भाषा को अर्थ कछुक अपनी मति करी बनायो पंडित भोजसागर ने। सुसक नर रसिक जन के आणंद के हेतु हुवौ। स० १७६३ कार्ती सुदी ८ शनीवार के दिन पुरो भयो। प० श्री रूपविजय जी के कहये ते कह्यो हई। श्री अचलगच्छे। प० मया सागर जी शि० ॥ वेलसागर जी शि० ॥ रत्नसागर जी शि० खुसाल सागरे लखितं। स्वधि विबुधेश्वर्यः ॥ सुकवि बिहारीदास को वचन अगाधि अरथ।

अल्पमति नर समुभवं कौन भांति समरथ ॥

तब विचार ऐसो कियो भोज पयोनिधि जान।

मंद मति उपकार हित, कछु इक करघो वखान ॥२॥

सत्रह सैं तेरानव, सुदि कार्तिक शनिवार।

सुरती बदर में कियो, रूप भूप उपगार ॥३॥

ऊंच पने मन्दिर अधिक, तेज तरुनि भुवि धीर।

सुकवि बिहारी उदधि गुरु, साहस विक्रमवीर ॥४॥

मूल प्रति के लिपिकार मुनि विबुध सागर ने लिपि की है और अर्थ की लिपि मुनि खुसालसागर ने की है।

इति श्री बिहारीदास कृत सतसई संपूर्ण। श्री अचल गच्छे मुनी कपूर सागर जी तत् सीस्य वीबुध सागरेण लिखित। आत्मार्थ ॥

— ०:—

संसार की स्थिति

कविवर भूधरदास

वे कोई अजब तमासा, देख्या बीच जहान। वे जोर तमासा सुपने का सा ॥टेक॥

एकों के घर मगल गावें, पूगी मन की आशा।

एक वियोग भरे बहु रोवें, भरि भरि नैन निरासा ॥ वे कोई० ॥१

तेज तुरगनि पर चढ़ि चलते, पहिरें मलमल खासा।

रक भए नागे अति डोलें, ना कोई देय दिलासा ॥ वे कोई० ॥२

तरक राज तखत पर बंठा, था खुश वक्त खलासा।

ठीक दुपहरी मुद्दत आई, जगल कीना वासा ॥ वे कोई० ॥३

तन धन अधिर निहायत जगमें, पानी मांहि पतासा।

भूधर इनका गरब करे जो, फिट तिनका जनमासा ॥ वे कोई० ॥४॥

ज्ञानसागर की स्फुट रचनाएँ

ड।० विद्याधर जोहरापुरकर, मण्डला

ब्रह्म ज्ञानसागर काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य थे। सं० १६३५ से १६७६ तक श्री भूषण का समय ज्ञात है। यही ज्ञानसागर का कार्यकाल था। ज्ञानसागर की कई रचनाओं का परिचय अनेकान्त में समय-समय पर प्रकाशित हुआ है। यहां हम शक १६६१ (=संवत् १८३६) में लिखे गये एक हस्तलिखित गुच्छक में प्राप्त कुछ स्फुट रचनाओं का परिचय दे रहे हैं।

१. समवसरण कवित्त—इसमें ग्यारह छप्पय हैं तथा भरत चक्रवर्ती द्वारा आदि तीर्थकर के समवसरण के दर्शन का वर्णन है। इसका अन्तिम छन्द यह है—

योजना बार प्रमाण समवसरण वृषभेश्वर ।
मन वच काया शुद्ध वदे भरत नरेश्वर ॥
पूजा अष्ट प्रकार स्तवन करि घरइ आइया ।
वर्त्यो जयजयकार मुरवरने मन भाइया ॥
पाले दया पूजा करे व्रत पाले निज घर रहे ।
आवक मार्ग नित अनुसरे ब्रह्म ज्ञानसागर कहै ॥

२. दानोपरि छप्पय—ये १२ छप्पय हैं। चार प्रकार के दान की प्रशंसा का इनमें वर्णन है। इस रचना के दो छंद पठनीय हैं—

लक्ष्मीमति गुणवंत अति दुर्बल धनहीनी ।
पूज्यपाद मुनि प्राय प्रार्थना ताहि सु कीनी ॥
जो तू दे मुझ आहार तो मुझ पढणो थाये ।
प्रगटे ज्ञान भंडार मूर्खपणा सबि जाये ॥
एकांतर निश्चय करी बरस बार स्वामी रह्या ।
ज्ञान आहार तप दानये शास्त्रमाहि तस गुण कहा ॥६॥
वस्तुपाल जगसाह दाता सरस कहायो ।
सारंग समरोसाह दानधी जग जस पायो ॥
दाता भैरवदास बंध चित्तोड छुडायो ।
दाता श्रीधनपाल जंत गुणदान ठरायो ॥

दाता जगमें बहु कहा कविजन गुण वर्णन करे ।

इह भव पर भव सफल तस ब्रह्म ज्ञान इस उच्चरे ॥११॥

इनमें पहले छप्पय से पूज्यपाद आचार्य के बारे में यह कथा ज्ञात होती है कि वे बारह वर्ष एकान्तर (एक दिन उपवास और दूसरे दिन आहार का निरंतर क्रम) तपस्या कर अध्ययन करते रहे थे तथा उन्हें इस अवधि में लक्ष्मी-मती नामक श्राविका ने आहार दान दिया था। दूसरे छप्पय में गुजरात व राजस्थान के प्रसिद्ध दानी महानुभावों के नाम गिनाये हैं। वस्तुपाल, समरासाह जैसे श्वेतांबर दानशील पुरुषों का कवि द्वारा उल्लेख होना सांप्रदायिक सौमनस्य का अच्छा उदाहरण है।

३. नाराचबंध चउबीसी—नाराच छंद के २६ पद्यों में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन है तथा उनके जन्मनगर, मात पिता आदि का यथासंभव उल्लेख किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वानारसी नामे पूर अश्व(विश्व)सेन नृप सूर मेघश्याम
काय नूर पाश्वर्जी प्रसिद्ध है । कमठ गुमान हारि भव्यजीव
हितकारी सदा बालब्रह्मचारी व्रतभार लिद्ध है ॥ विदेश
कियो बिहार सुजन उतारे पार अखंड सुख दातार ज्ञानदान
विद्ध है । काष्ठासंघको शृंगार श्रीभूषण गुरु सार ब्रह्मज्ञान
के विचार पाश्वर्देव किद्ध है ॥२३॥

४. गुरुदेव कवित्त—इसमें २२ छप्पय हैं। गुरु की कृपा का महत्त्व तथा गुरुहीन की तुच्छता का इसमें वर्णन है। अन्तिम छन्द में प्रसिद्ध जैन गुरुओं के कुछ नाम दिये हैं—

गौतम जंबूस्वामि समतभद्र अकलंकह ।
प्रभावद्र जिनसेन रामसेन मुनिचदह ॥
लोहाचार्य मुनींद्र रविषेणह व्रतधारी ।
नेमिसेन गुणवत धर्मसेन सुखकारी ॥

विश्वसेन संयम सहित विद्याभूषण गच्छति ।

श्रीभूषण नित वंदिये कहत ज्ञानसागर यति ॥

गुरु जिन्हें नहीं मिल सके उनकी तुच्छता कवि ने इन शब्दों में की है—

निगुरा जे नर होय ते नर अंध समानह ।

निगुरा जे नर होय तेह मिथ्यामति जाणह ॥

निगुरा जे नर होय धर्म भेद नहि जाणे ।

निगुरा जे नर होय सोहि पाखंड बखाने ॥

निगुरा जे संसार में ते नर भव-भव दुख लहे ।

तिस कारण नित सेविये ब्रह्म ज्ञानसागर कहे ॥१३

इनके अतिरिक्त कुछ परंपरागत विषयो पर कवि ने जो छंद लिखे हैं उनकी सख्या इस प्रकार है—

षोडशकारण भावना १७, दशलक्षण धर्म १२, जिन-पंचकल्याणक ६, पंचपरमेष्ठि ६, सप्तव्यसन फल ८, पंचेन्द्रिय मोहफल ६, जिनपूजा (अष्टद्रव्य) ६, जिनपूजा-फल (अष्टद्रव्यपूजा फल की आठ कथाओं का संक्षिप्त उल्लेख) ६, पथिक कवित्त (संसार स्वरूप के मधुविन्दु का वर्णन) ५, नमस्कार मंत्र माहात्म्य ११, सम्यग्दर्शन के अंग तथा माहात्म्य १६, सम्यग्ज्ञान स्वरूप तथा माहात्म्य १७, सम्यक् चारित्र के तेरह अंग और माहात्म्य २६, जिनदर्शन ६, कर्मफल ६, धर्ममाहात्म्य १२, पापफल १२, द्वादशानुप्रेक्षा १३ । इनके अतिरिक्त सघाष्टक और हरि-आली कवित्त ये रचनाये हमने अनेकान्त में जैन संघ के

छः अंग तथा कुछ पुरानी पहेलियां शीर्षक लेखों में प्रकाशित कराई हैं ।

इन स्फुट रचनाओं के समान छोटी-छोटी बहुत सी रचनाएँ हिन्दी जैन साहित्य में पाई जाती हैं । एक-एक कवि की ऐसी रचनाओं के संग्रह के नाम विलासान्त रखे गये हैं । महाकवि बनारसीदास का बनारसी विलास (जिसमें ६२ रचनायें हैं) शायद इस तरह का सबसे पहला संग्रह है—विक्रम की सत्रहवीं सदी का उत्तरार्ध इनका कार्यकाल था । ज्ञानसागर इनके ज्येष्ठ समकालीन थे, किन्तु इनकी रचनाओं को अभी प्रकाशन का सौभाग्य नहीं मिला है । इस प्रकार के दूसरे संग्रह है—द्यानतराय का धर्मविलास (विक्रम की अठारहवीं सदी का उत्तरार्ध), भगवतीदास का ब्रह्मविलास (विक्रम की अठारहवीं सदी का मध्य), वृन्दावन का वृन्दावन विलास (विक्रम की उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध), बुधजन का बुधजनविलास (विक्रम की उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध), (दीलतराम दीलतविलास तथा देवीदास का परमानन्दविलास इस प्रकार के अन्य अप्रकाशित ग्रन्थ हैं ।) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल तथा पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इन विलास संग्रह ग्रन्थों को इस शताब्दी के पहले चरण में प्रकाशित किया था हिन्दी जैन साहित्य के प्रकाशन की वह परंपरा यदि पुनर्जीवित की जा सके तो बहुत अच्छा होगा ।

—०—

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना स्यातिप्राप्त शोध-पत्र है । अनेक विद्वानों और समाज प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे । ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें छाटा न हो और इस लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है । हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में अज्ञा रहने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्थय बनें और दूसरों को बनावें । और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें ।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

अध्यातम बत्तीसी

श्री अग्ररचन्द नाहटा

भगवान महावीर से लेकर अब तक हजारों आचार्यों, मुनियों, श्रावकों आदि ने छोटी-बड़ी लक्षाधिक रचनाएँ की। पर उनमें से बहुत-सी तो मौखिक रूप में रहने के कारण विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयी। क्योंकि वीर निर्वाण के ६८० वर्ष तक तो लेखन की परंपरा प्रायः नहीं रही। लिखे जाने के बाद भी बहुत-सी प्रतियाँ ताड़ पत्र, कागज, स्थाही आदि टिकाऊ न होने के कारण नष्ट हो गयी। इसीलिए १०वी-११वी शताब्दी के पहले की एक भी जैन हस्तलिखित प्रति दिगंबर, श्वेतांबर किसी भी भंडार में प्राप्त नहीं है। उसके बाद भी हजारों लाखों प्रतियों को उदई आदि जन्तुओं ने खा डाला। बहुत-सी वर्षा एवं सर्दी के कारण चिपक कर नष्ट हो गयी। कुछ को अनुपयोगी समझ कूट्टे के काम में ले ली गयी। इसी तरह हजारों प्रतियाँ जलशयन भी कर दी गयी। इधर कुछ वर्षों में कौडियों के मोल बिकी और पसारियों, कदोईयो आदि ने उनके पन्ने फाड़-फाड़कर अपने काम में ले ली। छोटी-छोटी प्रतियाँ और फुटकर पत्र तो आज जैन भंडारों में हजारों की संख्या में अज्ञात अवस्था में पड़े हैं। गुटकादि संग्रह प्रतियों की सूची भी प्रायः बनाई नहीं जाती। इसीलिए हजारों छोटी-छोटी रचनाएँ अज्ञात अवस्था में पड़ी हैं।

बड़े-जड़े विद्वानों और अच्छे कवियों के भी कुछ प्रसिद्ध और बड़े-बड़े ग्रन्थों की ही जानकारी प्रकाश में आई है। उन्होंने और भी बहुत-सी रचनाएँ अवश्य की होगी पर उनका संग्रह नहीं हो पाया। १७वी शताब्दी से बनारसी विलास की तरह एक-एक कवि की छोटी-छोटी रचनाओं का संग्रह ग्रन्थ तैयार करने का प्रयत्न चालू हुआ। इसमें बहुत सी छोटी रचनाएँ भी सम्मिलित होकर सुरक्षित हो गयी। पर ऐसे संग्रह ग्रन्थों का प्रकाशन भी बहुत ही कम हुआ है। हमने बरसों प्रयत्न करके समयसुन्दर, जिनहर्ष,

आदि कवियों की रचनाओं के संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

१७वी शताब्दी के दिगंबर कवि राजमल्ल उल्लेखनीय ग्रन्थकार है। अभी मुझे एक गुटके में राजमल्ल की अध्यातम बत्तीसी मिली है। सम्भव है वह प्रसिद्ध राजमल्ल की ही रचना हो। १८वी शताब्दी के श्वेतांबर कवि लक्ष्मीवल्लभ जिनका उपनाम राजकवि भी था, उनके रचित उपदेश बत्तीसी प्राप्त है, जिसके बहुत से पद्य राजमल्ल की अध्यातम बत्तीसी से मिलते-जुलते हैं। अतः राजमल्ल की अध्यातम बत्तीसी की अन्य प्राचीन प्रति की खोज आवश्यक है। प्राप्त प्रति १९वी शताब्दी की है और पाठ भी अशुद्ध है। पर राजमल्ल के नाम से प्राप्त होने से इसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अन्तिम पद्य में ध्यान बत्तीसी भी नाम आता है। कवि बनारसीदास की ध्यान बत्तीसी और अध्यातम बत्तीसी प्रकाशित है पर वे इससे भिन्न हैं। अब अध्यात्मिक बत्तीसी राजमल्ल कृत नीचे दी जा रही है—

किसकी माई किसका भाई, किसकी लोग लुगाई जी ।
आतम राम सयाना, जूठें भरम भूलाना ॥१
बोलत डोलत तन पांजर बीच, चेतन सेन बतावें जी ।
जूं बाजीगर काच पूतलियां, नाना रूप नचावें ॥२
पगड़ी खूब जराव दुपट्टा, जामा जरकसी वागाजी ।
एते सबही छोड़ चलेगो, धागावन नहीं नागाजी ॥३
चूआ चंदन तेल फूलेला, करता था खसबोई जी ।
हंस उडकर जम घर जायगा, तनु बदगाई होई जी ॥४
सहस भी जोडी लख भी जोडी, अरब खरब पर धायाजी ।
तूष्णा लोभ पलित्ता लागा, फिर फिर दुंढे माया जी ॥५
मेडो मन्दर मेहेल चणाया, गोख बिंध झरुखाजी ।
जगल जाई पाय पसारचा, ने धरणा कुस धौखाजी ॥६
चार दिन का मेला सबही, नाही कोई सखाई जी ।

ज्युं दुतियां हटवाडें मिलकर, ज्यु आर्वें ज्यु जावेजी ॥७
कोई लाभ गुणाचो बांधी, कोडी मूल गमावें जी ।
ज्यु चेतन दुनियां हटवाडें, नफां जानें करावें जी ॥८
आसरा संसार बन्या घर, लख चौरासी माइं जी ।
नांम करतो सब ही लागा, जीव बटाउ बासी जी ॥९
लोही मांस का गारा बनाया, पत्थर हाड लगाया जी ।
उपर सावर चमरी साईं नवे द्वार बसाया जी ॥१०
आयु करम ले घर का भाडा, दिन दिन मांगें लेखा जी ।
मोहत आया फलक न रक्खे, एसा बड़ा अवेखा जी ॥११
सांभ सवेर अवेर न जाणें, न जाणें धूप वराणा जी ।
नाही नेह मुलाजा किसका, काल सबी कुं सरीखा जी ॥१२
जीव अविनासी फिर फिर आर्वें, करम मुजाई सगीजी ।
जमी ऊपर घर बनाया, प्रीत लगाई सगी जी ॥१३
इस घर मांहि आयु वसे हो, सो घर नांहि तेरा जी ।
मूआ पाछें गाडें जालें, अथवा नीर बहावे जी ॥१४
इस घर अंदर आप बडेरा, सो घर नाहीं तेरा जी ।
इसा इसा घर बहोत बनाया, राय चलवा डेराजी ॥१५
जाया सो तो सबही जायगा, जगत जगत जीव बासीजी ।
अपनी खूब कमाई ना वरथी, जीव जावत संगत जासीजी ॥१६
जैसे आगर नोबत बाजें, भिर बाजें सीजमाजी ।
असवारी सारी धूज चालें, सो नर कांहि समानाजी ॥१७
जीव अविनासी मरे न जावे, मर मर जाये सरीराजी ।
इसका घोखा कछु न करणा, अपना धरम मुघाराजी ॥१८
मूरख कर कर मेरी मेरी, परसगत दुख पायाजी ।
परका संगत छोडे सुख पाया, जब समता धर आयाजी ॥१९
पवन रूपी किया अंदर, हस रह्या सब बासीजी ।
पल पल मांहि आयु घटे सैं, पांणी सोस पतासी जी ॥२०
नातो गोती सगा संबधी, सब स्वारथ में बूडाजी ।
स्वारथ बिनु सूके तरुवर ज्यों, पक्षी सब ही उडाजी ॥२१
नवा नवा तो जामा पेहणा, नव नवा घाट घडायाजी ।
तीन काल की तीन अवस्था, सोधे धूप फटायाजी ॥२२

तेरा है सो को नहीं जावें, तु अपणा क्युं खोवेजी ।
बगडा था सो गया पुरानो, तू मूरख क्या रोवेंजी ॥२३
तन पंजर बीब जीव पंखेरु, उडता उडता आयाजी ।
आवत जावत कछु न देख्या, इसका खोज न पायाजी ॥२४
ए ससार वाडि बिनसैं, काल सरूपी मालीजी ।
काचा पाका ए सही तोडे, ज्यों दरखत की डालीजी ॥२५
ज्यो सकरीजे आर्वें जावें, अंगरी दोर लपटावेंजी ।
सहत लाख जोधा भुजबल, करतें जंगी एकेलाजी ।
ब्रह्मा विष्णु महेसर दान, काल सबकुं सरीखाजी ॥२७
तन धन जोवन मतवाला, गणत किसकी नाईजी ।
सजी तरपति भुपति काल ग्रहें सबनाइजी ॥२८
तण पाटण बसे चेतन राजा, मन कोटवाल बंठायाजी ।
पाच गंगा सूं एका करके, तण पाटण मुहायाजी ॥२९
में करता मे कीनी केसो, अरजो कहो करोगाजी ।
मेरे मोत लगासा पीछें, न जणें जीव नुगराजी ॥३०
भली बुरी तो जो कुछ करता, सोही तमहीं कुं देगाजी ।
राह चलतां रोगी समरें, सोई साथ चलेगाजी ॥३१
आवत जावत सास उसासा, करता गुण अभ्यासाजी ।
जावत का कुछ अचरज नाहीं, जीवत का तमासाजी ॥३२
इस पाया का लाहा लीजे, कीजे मुक्त कमाईजी ।
राजमल्ल कहें ध्यान बत्तीसी, सोध का सुमरण कीजेजी ॥३३

इति अध्यात्म 'बत्तीसी संपूर्ण'

यह बत्तीसी पंचाध्यायी के कर्ता राजमल्ल कृति है इसका लेखक ने कोई प्रमाण नहीं दिया, यह रचना घटिया दर्जे की बहुत साधारण है। यह उन प्रसिद्ध राजमल्ल की कृति नहीं है। किसी अन्य आधुनिक राजमल्ल की कृति होगी। कविता का भाषा साहित्य भी उस काल का नहीं है। और न भाषा में लालित्य है अतएव उन विद्वान राजमल्ल पांडे की कृति नहीं हो सकती। —सम्पादक

—०—

साधारण लोगों के सामने सच्चरित्रता का नमूना पेश करना शिक्षित लोगों का कर्तव्य है। वह मौखिक व्याख्यानों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिए उनको स्वयं सच्चरित्र होना होगा और अपने जीवन द्वारा दूसरों को शिक्षा देनी होगी।

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

देवगढ़ की जैन संस्कृति और परमानन्द जी बरया

प्रो० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' एम. ए., शास्त्री

देवगढ़ उत्तर प्रदेश में भांसी जिले की ललितपुर तहसील में २४३२ उत्तरी अक्षांश और ७८१५ पूर्वी देशांश पर स्थित जैनियों का एक महत्वपूर्ण तीर्थक्षेत्र तो है ही, वैदिक कला का भी एक प्रसिद्ध और समृद्ध केन्द्र है। वेतवा नदी के किनारे विन्ध्याचल की एक सुरम्य श्रेणी की उपत्यका में बसा हुआ, यह अब एक छोटा सा ग्राम मात्र अवशिष्ट है किन्तु प्राचीन काल में यह नगर अपनी विविध प्रकार की गतिविधियों के लिए विख्यात था।

यहाँ मौर्यकाल से मुगलकाल तक अनेक जैन मन्दिरों, मूर्तियों और मानस्तम्भों आदि का निर्माण होता रहा। कालान्तरमें बहुतसे मन्दिर धराशायी हो गये तथा मूर्तियाँ भी भग्न हुईं, किन्तु फिर भी वहाँ ४० जैन मन्दिर और १८ मानस्तम्भ तथा कई हजार खडित-अखडित मूर्तियाँ अब भी भव्यता के साथ निदर्शित हैं। यद्यपि वहाँ की वैदिक कला का पर्याप्त परिचय पुरातत्व विभाग की विभिन्न रिपोर्टों तथा अन्य अनेक ग्रन्थों तथा अन्य स्रोतों द्वारा प्रकाश में लाया जा चुका है। किन्तु देवगढ़ के जैन मन्दिरों मूर्तियों तथा वहाँ की समग्र जैन कला पर अब तक नगण्य जैसा ही कार्य हो सका है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अनेक बार अनेक महीनों तक देवगढ़ में रहकर वहाँ की जैन संस्कृति और कला का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है उस सदर्थ में हमने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि देवगढ़ की जैन संस्कृति और कला की बहुमूल्य सामग्री को प्रकाश में लाने तथा सुरक्षित करने का श्रेय मुख्यतः सर्वश्री अलेक्जेंडर कनिंघम, फुहरर, दयागम साहूनी, विश्वम्भरदास गार्गीय, नाथूराम सिधई, राजधर मोदी जाखलौन, लाला रूपचन्द रईस कानपुर, जुगमन्दिर लाल बैरिस्टर, देवी-सहाय जी फीरोजपुर, सेठ पन्नालाल टडैया ललितपुर, सिधई भगवानदास सराफ ललितपुर, सवाई सिधई गनपत-लाल भैयालाल गुरहा खुरई, सेठ शिवप्रसाद जाखलौन,

रामदयाल पुजारी, पं० परमेश्वरीदास जी, बाबू हरिप्रसाद वकील, साहु शान्तिप्रसाद जी, सि० शिखरचन्द्र (वर्तमान मंत्री) तथा बाबू विशानचन्द्र ओवरसियर आदि को तो है ही, इन सबके अतिरिक्त एक ऐसा भी व्यक्ति देवगढ़ की जैन संस्कृति के पुनरुद्धार के साथ प्रारम्भ से ही संलग्न है, जिसने अपना तन, मन और धन या दूसरे शब्दों में यों कहिये—अपना समग्र जीवन देवगढ़ के उत्थान, जीर्णोद्धार तथा प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया है—किन्तु उसके व्यक्तित्व और कृतित्व का समुचित मूल्यांकन अब तक नहीं हो सका है। वह है—श्री परमानन्द जी बरया।

श्री बरया जी निश्चल, सरल, पवित्र हृदय, सेवा-भावी, स्नेही, शिक्षाप्रेमी, धार्मिक और विवेकसम्पन्न गृहस्थ हैं। बाह्याडम्बर, प्रदर्शन और आत्मव्यापन की प्रवृत्ति से वह सर्वथा दूर रहे हैं। आज लगभग ८० वर्ष की अवस्था में भी उनकी हिम्मत, दिलेरी, व्यावहारिकता कार्यक्षमता-कुशलता, अभियान्त्रिकी ज्ञान, मूर्तिज्ञान परिचय और अदम्य उत्साह देखकर “दातो तले अगुली दवाकर” रह जाना पड़ता है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं श्री बरया जी के सक्षिप्त परिचय के साथ देवगढ़ के प्रति उनके योगदान का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

श्री बरया जी का जन्म—मगसिर (अगहन) सुदी एकम विक्रम सं० १९४६ को ललितपुर (भांसी) के एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ था। आपके पिता स्व० श्री वसोरेलाल जी जैन, ललितपुर के प्रख्यात धनपति सेठ मथुरादास पन्नालाल जी टडैया के यहाँ मुनीमी करते थे। श्री बरया जी के एक बड़े भाई भी थे—(स्व०) श्री मुन्नालाल जी। श्री बरया जी की प्राथमिक एवं पूर्व-माध्यमिक-शिक्षा ललितपुर में ही सम्पन्न हुई। जब बरया जी प्राथमिक-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, आपके

पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। पितृवियोग, घनाभाव और साधनों की न्यूनता ने उन्हें केवल मिडिल-परीक्षा (सन् १९०७) पास करके कर्मक्षेत्र में उतरने को बाध्य कर दिया। इसी समय सौभाग्यवश, बरया जी को पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी का सान्निध्य प्राप्त हो गया, जो उस समय ललितपुर में स्व० देवीप्रसाद जी पटवारी के मकान (दि० जैन बड़े मन्दिर के निकट) में रहकर काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान् से न्यायशास्त्र एवं धर्मग्रन्थों आदि का अध्ययन कर रहे थे। बरया जी ने स्वयं पूज्य वर्णीजी से धर्म-शिक्षा प्राप्त की। उनके सत्संग से अर्जित संस्कार और शिक्षाओं का सुप्रभाव अब भी बरया जी के व्यक्तित्व में देखा जा सकता है।

अपने जीवन के पूर्वान्ध में बरया जी ने श्री टडैया जी एवं श्री चुन्नीलाल बच्चूलाल जी सराफ के यहाँ मुनीमी की। सराफ जी श्री बरया की कार्यकुशलता और ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए। अतएव उन्होंने अपना समस्त व्यावसायिक कार्यभार इन्हें सौंप दिया और स्वयं धर्म-साधना में समय बिताने लगे। सन् १९२२ के करीब सराफ जी ने ललितपुर में श्री जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव का आयोजन किया। इस महान् कार्य में बरया जी की कुशलता और सफलता देख कर वे बहुत प्रभावित हुए। इस गजरथ के पहले (सन् १९२०) से ही बरया जी देवगढ़ के सम्पर्क में आ गये थे। तब से उन्होंने अनेक धनिकों, कलाप्रेमियों, पुरा-तत्वज्ञों, धर्मात्माओं, विद्वानों तथा संस्थाओं का ध्यान देवगढ़ के गौरवपूर्ण अतीत, समृद्ध वैभव और उपेक्षित-वर्तमान की ओर आकृष्ट किया। सन् १९२८ से अब भी उन्होंने देवगढ़ की जो बहुविध सेवाएँ प्रारम्भ की हैं और कर रहे हैं, वे इतिहास में अविस्मरणीय रहेगी और तब तक नहीं भुलायी जा सकती जब तक देवगढ़ का अस्तित्व है।

शासन से क्षेत्र की वापसी, वन विभाग से भूमि का अधिग्रहण, धर्मशाला, कुआँ, व चैत्यालय का निर्माण, इकतीस मन्दिरों का जीर्णोद्धार, मूर्तियों की सुरक्षा प्रबन्ध, जैन चहारदीवारी का निर्माण, मन्दिरों के द्वारों में लोहे के किवाड़ लगवाना आदि आपके अथक परिश्रम, निरन्तर

प्रेरणा, अध्यवसाय, कार्यतत्परता और सुयोग्य मार्गदर्शन आदि के सुपरिणाम है।

म० सं० ११ और १२ देवगढ़ के विशाल मन्दिरों में से हैं। वे अनेकशः जीर्ण शीर्ण हो गये थे। सरकारी इंजी-नियर, ओवरसियर तथा वार्स्तुविद्या के ज्ञाता भी इनके जीर्णोद्धार में हिचकिचाते थे। वे लोग इनके जीर्णोद्धार कार्य को हाथ में लेने का साहस नहीं कर रहे थे। श्री बरया ने स्वयं के उत्तरदायित्व पर बहुत साहस, साव-धानी, अभिरुचि और निष्ठा के साथ इनका जीर्णोद्धार विधिवत् कराया और पूर्ववत् आकर्षक तथा भव्य रूप प्रदान किया।

सोते, उठते, बैठते बरया जी को एक ही चिन्ता रही है कि—देवगढ़ का उद्धार कैसे हो, और इसीलिए उसे समृद्ध एवं आकर्षक बनाने की दिशा में उन्होंने जो भी प्रयत्न किये हैं, उनमें उन्हें अभूतपूर्व सफलताएँ मिली हैं। उनका जीवन देवगढ़ के लिए सदैव संघर्ष करता आया है। ललितपुर में क्षेत्र के लिए तीन मकानों की उपलब्धि उनकी सुविचारित योजनाओं का ही परिणाम है। क्षेत्र की ओर अनेक मुकदमों आदि में उन्होंने जिस प्रकार का परिश्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। ललितपुर से देवगढ़ तक तथा देवगढ़ की जैन धर्मशाला से पर्वतस्थ जैन मन्दिरों तक राजमार्ग के निर्माण में बरया जी के प्रयत्न भी उल्लेखनीय महत्त्व रखते हैं।

उनसे मिलकर प्रत्येक यह अनुभव करता है कि वे धुन के पक्के हैं। जो काम वे हाथ में ले, उसे पूर्ण करके ही चैन लेते हैं। उनके सम्पर्क में आने पर ऐसा प्रतीत होता है कि—वात्सल्य और प्रभावना अंग उनके माध्यम से मूर्तिमान हो उठे हैं। उनकी आतिथ्य-पद्धति बहुत निराली और प्रभावशालिनी है।

क्षेत्र पर मेलों का आयोजन तथा १९३६ ई० में श्री गुरहा जी (खुरई) द्वारा आयोजित श्री जिनबिम्ब पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव की निर्विघ्न समाप्ति, बरया जी के अदम्य उत्साह, सूझ बूझ और अकथनीय परिश्रम का ही परिणाम है। उनकी हर स्वांस में देवगढ़ के लिए बेचैनी है। यद्यपि उन्हें धार्मिक, सामा-

जिक और राजनैतिक गतिविधियों में पर्याप्त अभिरुचि है, किन्तु उनमें इन सबसे ऊपर है—देवगढ़ का लगाव। अध्ययन और मनन भी उनके जीवन के आवश्यक अंग हैं। वे धर्म, कला, सस्कृति और इतिहास से सम्बन्धित ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं का आलोडन विलोडन करते रहते हैं।

उनकी तीर्थभक्ति और तीर्थसेवा से प्रभावित होकर देवगढ़ प्रबन्धक समिति तथा जैनसमाज ने समय-समय पर 'तीर्थसेवक' "देवगढ़ का यक्ष" आदि उपाधियों से सम्मानित कर अभिनन्दन-पत्र आदि समर्पित किये हैं। श्री वरया जी सन् १९५० तक पूरी तरह से देवगढ़ की 'आन-रेरी' सेवा में व्यस्त रहे। किन्तु उनकी सेवाओं को दृष्टि में रखके तथा आर्थिक क्षीणता पर और वृद्धावस्था पर विचार करके प्रबन्धक समिति ने वन्हे १००) माह "आन-

रेरियम" के रूप में अर्पित कर सराहनीय कार्य अवश्य किया है किन्तु मेरे विचार में उनकी सेवाओं का समुचित मूल्यांकन होना चाहिए।

संक्षेप में यदि कहना चाहें तो यही कहेंगे कि देवगढ़ के लिए उन्होंने वह सब किया है जो कोई 'डायरेक्टर जनरल' ही कर सकता है। देवगढ़ के प्रति उनमें जो ममता है, वह अन्य क्षेत्रों में दुर्लभ है। वैसी ही लगन वे भावी पीढ़ी में देखने को आतुर हैं। यही उनके जीवन की साध प्रतीत होती है।

आज जब वे अपने जीवन के अस्सीवें वसन्त में प्रवेश कर रहे हैं, हम उनकी सेवाओं का अभिनन्दन करते हैं तथा यह कामना करते हैं कि वे शतायु हो—चिरायु हो एवं इसी तरह से देवगढ़ और श्रमण सस्कृति की उपासना में तन्मय रहे। ●

अच्छूता, समृद्ध जैन साहित्य

रिषभदास रांका

प्राचीन जैन साहित्य भारत की अनेक भाषाओं में लिखा गया है। और इतना विशाल है कि स्वयं जैनियों को भी पता नहीं है कि उनके पास कितना समृद्ध और विपुल यह साहित्य है। जैनियों का अधिकांश साहित्य प्राकृत और अर्धमागधी भाषा में लिखा गया है। बाद में संस्कृत, अपभ्रंश तथा उत्तर की हिन्दी, मराठी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में तथा दक्षिण की कन्नड तथा तमिल भाषा में। उत्तर की भाषाओं तथा प्राकृत या संस्कृत में लिखे साहित्य का संपादन, प्रकाशन, अध्ययन खोज का काम कुछ अंशों में हुआ है। उसकी विशालता को देखने हुए हमें यह कहना पड़ रहा है कि यह कार्य भी कुछ अंशों में ही हुआ है। क्योंकि अभी तक जैन प्राचीन भण्डारों में सुरक्षित काफी साहित्य अप्रकाशित है। लेकिन फिर भी उत्तर में जैनियों का अपने साहित्य के प्रति ध्यान आकर्षित हुआ है। उन्होंने उस पर काफी काम किया है। किन्तु दक्षिण के विशाल साहित्य पर तो बहुत ही कम काम हुआ है। कारण स्पष्ट है। उत्तर के जैनी संख्या में

समृद्धि में दक्षिणवालों से अधिक है। यद्यपि दक्षिण में जैन संस्कृति ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि दक्षिण की संस्कृति पर श्रमण संस्कृति का अधिक प्रभाव है। दक्षिण का प्राचीन जैन साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध तथा विशाल है।

इस बात का परिचय आचार्य तुलसी जी को दक्षिण यात्रा में हुआ। जब उन्होंने कर्नाटक में प्रवेश किया तो देहातो में हजारों जैनी मिले या जैनत्व से प्रभावित लिगायत मूल के जैनी पर जैनियों में जब कर्मकाण्ड तथा जाति भेद की विकृति आई तो सुधारक व सबने जैनियों को शैव बनाया और वे लिगायत बनाये गये। भले ही वे लिगायत बने पर अहिंसा प्रधान जैन धर्म की अहिंसा उन्होंने अपनायी और सत्कारों को अपने में से निकाल नहीं पाये। और तो क्या भटकल जैसे स्थान पर मुस्लिमों पर जैनत्व का प्रभाव दिखाई पड़ता है। भटकल यह समुद्र के किनारे महत्त्वपूर्ण बन्दर था। वहाँ से विदेशों को व्यापार होता था। और वहाँ के जैन व्यापारी विदेशों में

व्यापार के कारण समृद्ध थे। एक बार अरबों ने उनपर घावा बोल दिया। पुरुष स्त्रियोंको छोड़ कर भाग गये जो स्त्रियाँ बचीं उनमें से कुछने धर्म और सतीत्व के लिए प्राण त्याग दिये, पर जो वैसे नहीं कर सकी वे मुसलमानों की पत्नी बनकर उनके साथ रहने लगीं। पर जैनियों के पीढ़ियों से चले आये संस्कार न त्याग सकी। उनमें से बहुत सी अब भी रात्रि को भोजन नहीं करती है।

आचार्य तुलसी के स्वागत में दक्षिण के राजनीतिक, समाजसेवी और विद्वानों ने कहा कि जैनियों का अपना घर तो दक्षिण है। आपको तो यहाँ आकर काम करना चाहिए। जैनियों के विशाल तथा समृद्ध साहित्य तथा जैन संस्कारों से प्रभावित जनता में काम करना चाहिए। श्री निजलिंगप्पा, दासप्पा, जत्ती, अन्नदुराई आदि चोटी के नेताओं ने कहा कि यदि प्राचीन कन्नड और तमिल भाषा में से जैन साहित्य निकाल दिया जाय तो आज की तरह समृद्ध न रहकर दरिद्र बन जावेगा। यह बात राजनीतिज्ञ, ने कही हो तो नहीं पर विद्वानों और शिक्षा शास्त्रियों ने दक्षिण प्रवेश के समय से लगाकर बार बार कही। धारवाड, कन्नड विश्वविद्यालय के सचालको ने बताया कि वहाँ जैन चैयर है और विश्वविद्यालय ने प्राचीन कन्नड जैन साहित्य के प्रकाशन के लिए अर्थ की व्यवस्था भी कर रही है। आवश्यकता है कार्य करने की। कन्नड साहित्य अल्प ही क्यों न हो पर काम तो हुआ है, पर तमिल में तो नहीं के बराबर ही है। आचार्य तुलसीजी में जैन साहित्य के इस अछूते किन्तु समृद्ध साहित्य पर काम करने की लालसा जगी। भले ही दक्षिण का साहित्य दिगम्बर साहित्य ही क्यों न हो पर उसका सशोधन, संपादन, अध्ययन और प्रकाशन का काम होना चाहिए, यह चिंतन चलता रहा। हम दक्षिण यात्रा के समय हुबली, नंदीदुर्ग और मद्रास में उनसे मिले, तब तब इस विषय पर चर्चा हुई। पर जब हम अक्टूबर में अणुव्रत के अधिवेशन में जाने वाले थे तब डा० उपाध्ये ने हमें कहा कि आप मद्रास में आचार्य श्री से मिलने वाले हैं तब उनसे कहना कि तमिल भाषा के प्राचीन जैन साहित्य के लिए कुछ करें। मैंने चर्चा की। दक्षिण साहित्य पर काम करने के लिए संकल्प में परिवर्तित होकर एक दक्षिण भाषा के जैन साहित्य का शोध संस्थान स्थापन करने का

निश्चय हुआ। और उनके लिए दो लाख रुपये भी उनके अनुयायियों ने इस संस्थान को चलाने के लिए एकत्र कर काम प्रारंभ कर दिया।

हम छोटी-छोटी बातों को लेकर तीर्थों के लिए भगड़ने वाले अपने दिगंबर तथा श्वेतांबर भाइयों से प्रार्थना करेंगे कि उनके धन का आपस में भगड़ने से अच्छा उपयोग किया जाय ऐसे कई क्षेत्र हैं। दक्षिण में प्रायः दिगंबर भाई बसते हैं उनमें से भले ही कुछ सघन हो पर अधिकांश बहुत ही दरिद्र और पिछड़े हुए हैं। उनसे साधुओं, ब्रह्मचारियों तथा कार्यकर्ताओं से संपर्क न रहने से बहुत से अन्य धर्मों में भी प्रवेश कर रहे हैं या जो हैं वे भी जैन तत्त्वों से अपरिचित बनने जा रहे हैं। सिर्फ नवकार मंत्र और रात्रि में भोजन न करना यही जैनत्व की निशानी बची है। एक तीर्थ या मन्दिर के भगड़ों में लाखों खर्च करने वाले भाई दक्षिण में जाकर देखे कि सैकड़ों मन्दिर व्यवस्था के अभाव में खण्डहर बन रहे हैं। या अन्य धर्म वालों के अधीन हो गये हैं। वे दक्षिण में रहने वाले इन सात लाख दक्षिण के जैन भाइयों में काम करे यह आवश्यक है और उपयोगी भी। कर्नाटक में पांच लाख और तमिल में दक्षिण के मूल निवासी जैन हैं। तमिल में जैनियों को नयनार कहते हैं। बहुत ही गरीब और पिछड़े हुए हैं। उनसे संपर्क कर उनमें काम करना अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी है। वहाँ जो साहित्य है उसका विविध भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए। हम यहाँ सिर्फ तमिल भाषा में जो महत्वपूर्ण साहित्य है उसकी सूची दे रहे हैं। इससे कुछ पता चल सकता है कि इस दक्षिण के महत्वपूर्ण साहित्य पर काम करना कितना आवश्यक और उपयोगी है क्या हम अपने जैन भाइयों को आपसी भगड़ों में होने वाले धन व्यय को इस महत्वपूर्ण व उपयोगी कार्य में खर्च करने के लिए आकर्षित कर सकेंगे। भले ही पूर्णरूप से वे उस धन व्यय को इस काम में न भी लगा सकें तो भी इस महत्वपूर्ण कार्य के विषय में अवश्य चिंतन करेंगे। और आचार्य तुलसी जी ने संप्रदाय का विचार न कर दक्षिण के जैन साहित्य के लिए जो शोध संस्थान शुरू किया है उसमें सक्रिय सहयोग देंगे।

तमिल भाषा के जैन ग्रन्थ :

१. पेरकस्तियम् ।
२. तोलकाप्पियम् ।
३. निरुक्कुरल ।
४. शिल्पदिकारम् ।
५. जीवकचिन्तामणी ।
६. नरि वृत्तम् ।
७. पेरकथ ।
८. चूलामणी ।
९. वनेयापति ।
१०. मेरुमन्त्रपुराणम् ।
११. नारदर चरिदम् ।
१२. शान्तिपुराणम् ।
१३. नीलकेशी ।
१४. उदयकुमार कावियम् ।
१५. नाम[ग]कुमार कावियम् ।
१६. नम्मि अकप्पारुल ।
१७. कनिगन्तुप्परणि ।
१८. यशोदर कावियम् ।
१९. रामकाथ ।
२०. किन्नीवृत्तम् ।
२१. एलिवृत्तम् ।
२२. तन्वदर्शन ।

व्याकरण :

१. नन्तूल ।
२. याप्परुगलम् ।
३. याप्परुगलवकारिहे ।
४. नेमिनाद[थ]म् ।
५. अविनयम् ।
६. वेण्पा पाट्टियल ।
७. चन्दमूल ।
८. इन्दिरकाणियम् ।
९. अणियियल ।
१०. वायपियम् ।
११. मोपिवरि ।
१२. कडिय नन्नियम् ।
१३. काक्कैपाडिनियम् ।

कोष :

१. चूडामणणी निक[घ]ण्डु ।
२. दिवाकरम् ।
३. पिगलन्ते ।

नीति :—

१. नालडियरि ।
२. पणभौपि नन्तुल ।
३. एलादि ।
४. गिरूपज्ज मूलम् ।
५. तिर्णमाले नूरेपट्टु ।
६. आचारकौव ।
७. अरनेरिचारम् ।
८. अरुकलचप्पु ।
९. जीवसपोदने ।
१०. श्रीवे 'अर्हत्तिल वडि'
११. नानमणिक्कडि ।
१२. इन्ना नार्पनु ।
१३. द्वनियवै नापैलु ।
१४. निरि कडुकम् ।
१५. कोगुमण्डल शतकम् ।
१६. नेमिनाद(थ) शतकम् ।

गणित :—

१. केट्टि एण्डुवडी ।
२. कणक्कदिकारम् ।
३. नन्निलवक वायपाडु ।
४. शिरुकुपी वायपाडु ।
५. कीपवाय इलववम् ।
६. पेरुक्कल वायपाडु ।

गीत :—

१. पेरुक्कुरुहु ।
२. वेरुनरि ।
३. शोथियिम ।
४. भरत सेनापतियम् ।
५. शयर्तम ।

प्रबन्ध :—

१. निरुक्कलमवकम् ।
२. तिरुनूरन्दरदि ।
३. तिरुवैपावै ।
४. तिरूपामाले ।
५. तिरुप्पुकष ।
६. आदिनादर पिल्ले तमिल ।
७. आदिनादर उला ।
८. तिरुमेदियन्दादि ।
९. धर्मदेवियन्दादि ।
१०. तिरुनादराकुरन्तु पस्तु पदिकम् ।

ज्योतिष :—

१. जीनेन्द्र माले ।
२. उल्लमुडैयान ।

चित्तौड़ का दिगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ

परमानन्द शास्त्री

चित्तौड़ राजस्थान का प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल रहा है। यह नगर सवा तीन मील लम्बे आध मील चौड़े पाच सौ फुट ऊँचे पर्वत पर बसा हुआ है। इसका नाम चित्तौड़ या चित्रकूट, चित्रकूट दुर्ग या चित्तौड़गढ़ उपलब्ध होता है। जो मौर्य राजपूतो के सरदार 'चित्रग' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने सातवीं शताब्दी के लगभग राज किया है। बापा रावलने सन् ७३४ में मौर्योंसे इसे हस्तगत किया था। उसके बाद वहाँ सोलकी, चालुक्य, चौहान और गुहिलवंशियों आदि राजपूतो ने राज किया है। यह वैष्णव सस्कृति का केन्द्र रहा है। यहाँ के राज्यकीय मन्दिर बड़े सुन्दर और कलापूर्ण हैं। वे हिन्दू सस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। चित्रकूट जैन परम्परा का भी प्राचीन समय से केन्द्र रहा है। वहाँ अनेक साधु-सन्तो का निवास स्थल भी रहा है। उस समय वहाँ उभय सस्कृतिया बराबर पनप रही थीं। जैनियों में दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ बराबर प्रतिष्ठित होती रही हैं। यह नगर अनेक विद्वानों और आचार्यों का विहारस्थल रहा है और ग्रन्थ निर्माण स्थल भी।

विक्रम की ८वीं शताब्दी के विद्वान याकिनीमुनू हरिभद्र सूरि चित्तौड़ के ही निवासी थे, जिन्होंने अनेक प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार सिद्धान्त तत्त्वज्ञ एलाचार्य चित्रकूटपुर के ही निवासी थे। वीरसेन ने उनके पास चित्रकूट में रहकर षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था और ऊपर के निबंधनादि आठ अधिकार भी लिखे थे, फिर वे गुरु की आज्ञा से चित्रकूट से वाट ग्राम में आये और वहाँ आनतेन्द्र के बनवाये हुए मन्दिर में ठहरे थे।

- १ काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्त तत्त्वज्ञः ।
तस्य समीपे सकल सिद्धान्त मधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितन निबंधनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ।

वहाँ उन्हें 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' भी मिल गई। बाद में उन्होंने धवला टीका को शक सं० ७३८ में पूर्ण किया। चित्रकूट में भट्टारकीय गद्दी भी रही है। भट्टारक पद्मनन्दि की पट्ट परम्परा १५वीं शताब्दी में दो भागों में विभक्त हो गई थी। एक पट्ट नागौर में और दूसरा पट्ट चित्तौड़ में रहा है। चित्तौड़ के पट्ट का प्रारम्भ भट्टारक प्रभाचन्द्र से माना जाता है और उस पट्ट के १६ भट्टारकों के नाम उल्लिखित मिलते हैं।

दि० सं० ११६२ में जयकीर्ति के शिष्य अमलकीर्ति ने 'योगसार' की प्रति विद्यार्थी वामकीर्ति के लिए लिखवाई थी। और वि० सं० १२०७ में ही जयकीर्ति ने प्रशस्ति लिखी थी। प्रस्तुत जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति थे और रामकीर्ति के शिष्य यशकीर्ति ने 'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की थी।

जिनदास शाह ने वहाँ पादर्वनाथ का एक मन्दिर निर्माण कराया था, और विक्रम की १६वीं शताब्दी में

आगत्य चित्रकूटात्ततः सभगवान्गुरोरनुज्ञानात् ॥

वाट ग्रामे चान्दानतेन्द्र कृतं जिनं स्थित्वा ॥

व्याख्या प्रज्ञाप्तिं मवाप्यपूर्वं षट्खण्डतस्तस्मिन् ॥

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार

२ देखो, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ पृ. ७६

३ श्री जयकीर्ति सूरिणा शिष्येणामलकीर्तिना ।

लिखित योगसाराख्य विद्यार्थीवामकीर्तिनात् ॥

सं० ११६२ ज्येष्ठ शुक्लपक्षे त्रयोदस्या पडित साल्हेण लिखितमिदं ।

४ श्री जयकीर्ति शिष्येण दिगम्बर गणेशिनः । प्रशस्ति-
रीदृशीचक्रे श्रीरामकीर्तिनः ॥ सं० १२०७ सूत्रधा०
देखो, एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २ पृ० ४१ पिटर्सन
रिपोर्ट ५ ग्रंथ ६०.

५ देखो, अनेकान्त वर्ष ३, किरण १२, पृ० ६८६ ।

मूलसघ शारदागच्छ बलात्कारण कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नाय के विद्वान् नेमिचन्द्र ने लालावर्णी के आग्रह से गुर्जरवेश से आकर चित्रकूट में जिनदास शाह के उस पार्श्वनाथ मन्दिर में ठहर कर गोमटसार की जीवतत्व प्रदीपिका टीका की रचना संस्कृत में की थी। जो केशव वर्णी (शक सं० १२८१ वि० सं० १४१६) द्वारा रचित कर्णाटक वृत्ति का आश्रय लेकर खडेलवाल वशी साहु सागा और साहु सेहस की प्रार्थना से बनाई थी^१। इस तरह चित्तौड़ दिगम्बर संस्कृति का केन्द्र रहा है।

प्रस्तुत चित्तौड़ में दो कीर्तिस्तम्भ हैं। एक जयस्तम्भ या विष्णुध्वजस्तम्भ, यह अपने ढग का एक ही स्तंभ है जो अधिक ऊँचा और अधिक चौड़ा है। उसके भीतर से ही ऊपर जाने का मार्ग है, उसमें ११३ सीढ़ी हैं। इसके नीचे खन है। यह कलापूर्ण और देखने में सुन्दर प्रतीत होता है। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १५०५ माघ वदी दशमी को हुई थी^२। कुछ विद्वान् इसे जयस्तम्भ बतलाते हैं पर उनका यह मानना ठीक नहीं है; जैन मन्दिरों के सामने मानस्तम्भ का निर्माण करने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। हिन्दुओं में भी यह परम्परा रही है। राणा कुभा ने विष्णु की भक्तिसे प्रेरित होकर इस विष्णुध्वज का निर्माण कराया है। इस स्तम्भ में प्रवेश करते ही विष्णु की मूर्ति का दर्शन होता है। इसमें जनार्दन अनन्त आदि विष्णु के विभिन्न रूपों और अन्य अवतारों की मूर्तियों का अंकन किया गया है। इस कारण इसे कीर्तिस्तम्भ या विष्णुध्वज कहा जा सकता है। जयस्तम्भ नहीं। यह हिन्दुओं के पौराणिक देवताओं का अमूल्य कोष है। क्योंकि उसमें उत्कीर्ण मूर्तियों के नीचे उनका नाम भी

६ गोर्जर देशाच्चित्रकूट जिनदास साह निर्मा-
पित पार्श्वप्रभु प्रासादाधिष्ठितेनामुतानेमिचन्द्रेणाल्प-
मेघसाजपि भव्यपुण्डरीकोपकृतीहानुरोधेन सकल ज्ञाति-
सिरः शेखरायमाण खण्डेलवाल कुलतिलक साधु वशा-
वतश जिनधर्माद्वरणधुरीण साह साग साह सहसा
विहितप्रार्थनाधीनेन विशदत्रैविद्यविद्यास्पदविशाल-
कीर्तिसहायादिम यथा कर्णाटवृत्ति व्यरचि।

—गोमटसार जीवतत्व प्रदी० वृत्ति प्रशस्ति।

७ देखो, राजपूताने का इतिहास प्रथम एडीसन पहली
जिल्द पृ० ३५२

अंकित है^३। और महाराणा कुभा ने माडू के सुलतान महमूद खिलजी और गुजरात के सुलतान कुतुबुद्दीन की संयुक्त सेना पर वि० सं० १५१४ में विजय प्राप्त की थी^४। और उक्त स्तम्भ का निर्माण इस विजय से ६ वर्ष पूर्व हो चुका था। ऐसी स्थिति में उसे जयस्तम्भ नहीं कहा जा सकता।

दूसरा जैन कीर्तिस्तम्भ ७ मंजिल का है जो ८० फुट के लगभग ऊँचा और नीचे ३२ फुट व्यास को लिए हुए है। ऊपर का व्यास १५ फुट है। यह स्तम्भ अपनी शानी का अद्वितीय है, प्राचीन है और कलापूर्ण है। इस अपूर्व स्तम्भ का निर्माण बघेरवाल वशी शाह जीजा द्वारा वि० की १३वीं शताब्दी में कराया गया था। श्रद्धेय ओभा जी इसे विक्रम की १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बना हुआ बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। पर वह सम्भवतः १३वीं शताब्दी के लगभग का बना हुआ होना चाहिए। मुनि कान्तिसागर जी ने नादगांव की एक मूर्ति के लेखानुसार सं० १५४१ का बना बतलाया है। पर उन्होंने ऐसा लिखते हुए यह विचार नहीं किया कि जब राणा कुभा का स्तम्भ सं० १५०५ का है, और कुभा ने इस स्तम्भ को देखकर ही उसका निर्माण सुधार रूप में किया था एवं अन्य ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि में भी वह पूर्ववर्ती है। तब उसे १६वीं शताब्दी का कैसे कहा जा सकता है? दूसरे जिस शिलालेख पर से उन्होंने उसे १६वीं शताब्दी (१५४१) का बतलाया, उस मूर्तिलेख में जीजा की वंश परम्परा के उल्लेख को भी ध्यान में रखना था। अतएव उनका उक्त निर्णय ठीक नहीं है। वह कीर्तिस्तम्भ आदिनाथ का स्मारक है। इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक विशाल जैन नग्न मूर्ति स्थित है और बाकी भाग पर छोटी-छोटी अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इस कीर्तिस्तम्भ के पास ही महवीर का मन्दिर है। जिसका सं० १४६५ में गुणराज ने जीर्णोद्धार कराया था। जैन कीर्तिस्तम्भ जिस स्थान पर बना है उसके पास चन्द्रप्रभ का प्राचीन दिगम्बर मन्दिर था। यह उल्लेख उसी सं० १५४१ के मूर्तिलेख से स्पष्ट

८ देखो, राजस्थान भागती का कुभा विशेषांक पृ० ४६

९ राजस्थानी का महापुराण कुभा विशेषांक पृ० ४५

है :— मेवपाटदेशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्र चैत्यालय स्थाने" वाक्यों से प्रकट है। कीर्तिस्तम्भ दिगम्बर है और वह बघेरवाल वंशी खडबड गोत्री शाह जीजा द्वारा निर्मापित है। जो महाजन सानाय का पुत्र था।

इस दिगम्बर कीर्तिस्तम्भ के सम्बन्ध में कुछ श्वेतांबरीय विद्वानों ने उसे श्वेतांबर बनाने के लिए अनेक निराधार कल्पनाएँ की हैं। और कीर्तिस्तम्भ को स्पष्टतया श्वेतांबर कीर्तिस्तम्भ लिखने तक का दुःसाहस किया है। इस प्रकार के प्रयत्न श्वेताम्बरों द्वारा किये जाते रहे हैं। स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई अपने जैन तीर्थी वाले निबन्ध में लिखते हैं कि—“जो कीर्तिस्तम्भ ऊपर जणाव्यो छे ते कीर्तिस्तम्भ प्राग्वाटवंश (पोरवाड) संघवी कुमार पाल ने आ प्रासादनी दक्षिणे बघाव्यो हतो।”

मुनि दर्शन विजय अपने जैन राजाओं वाले लेख में अल्लट राजा का परिचय देते हुए लिखते हैं कि—“आ राज ना समयमा चित्तोड़ना किल्ला मा अक महान जैन स्तम्भ बनेल छे जे श्वेतांबर-दिगम्बरोंना वादमा श्वेताम्बरों ना विजयनु प्रतीक होय ओवो शोभे छे, तेनीसाथेज भ० महावीर स्वामीनु श्वेतांबर जैन मन्दिर छे, जेनो जीर्णोद्धार सघपति गुणराजे मोकलराणाना आदेशथी सं० १४८५ मा करावी तेमा आ० श्रीसोमसुंदरसूरिना हाथे प्रतिष्ठा करावी हती। आ स्तम्भ अत्यारे कीर्तिस्तम्भतरीके प्रख्यात छे।”

— (जैन सत्य प्रकाश वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक पृ० १५०)

मुनि ज्ञान विजय ने जैन तीर्थी वाले लेख में लिखा है कि—“चित्तोड़ना किल्ला मां वे ऊँचा कीर्तिस्तम्भो छे, जे पंकीनो अक भट्टारक महावीर स्वामीना मन्दिर ना कपाउण्डमां जैनकीर्तिस्तम्भ छे, जे समये श्वेताम्बर अने दिगम्बरना प्रतिमा भेदो पड्या न हता ते समयनो अटले वि० सं० ८६५ पहिलानो ओ जैन श्वेतांबर कीर्तिस्तम्भ छे। अल्लटराज जैनधर्म प्रेमी राजा हतो, ते वादी जेता आ० प्रद्युम्न सूरि आ० नन्दगुरु आ० जिनयश (आ० समुद्रसूरि) वगेरे श्वे० आचार्यों ने मानतो हतो, अटले संभव छे केतेना समयमां भ० महावीर स्वामीनु मन्दिर अने कीर्तिस्तम्भ बन्या हरो, आ कीर्तिस्तम्भनु शिल्प स्थापत्य अने प्रतिमा विधान ते समय ने अनुरूप छे।” (जैनसत्यप्रकाश वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक पृ० १७७)।

इन उद्धरणों से जो सम्प्रदाय व्यामोह के आवेश में लिखे गये हैं और जिनमें यह कल्पना की गई है कि श्वेतांबर-दिगंबर वाद में श्वेतांबर विजय का यह प्रतीक स्तम्भ है। दूसरे महावीर स्वामी के मन्दिर का जीर्णोद्धार राणा मोकल की आज्ञा से गुणराज ने सं० १४८५ (६५) में कराया था। तीसरे यह कीर्तिस्तम्भ उस समय बना जब दिगंबर श्वेतांबर प्रतिमा भेद नहीं पड़ा था। दोनों श्वेतांबर साधुओं की ये कपोल कल्पनाये कितनी निराधार और अप्रामाणिक हैं। इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। सम्प्रदाय का व्यामोह बुद्धि को भ्रष्ट बना देता है। कीर्तिस्तम्भ को श्वेतांबरी बनाने के प्रयास में उक्त कल्पनाओं को स्वयं गढ़ा गया है। श्वेतांबर-दिगंबरों का ऐसा कोई बड़ा वाद नहीं हुआ जिसमें श्वेतांबरों ने विजय पाई हो। तथा दिगंबरों को हारना पड़ा हो और उसकी खुशी में किसी स्तम्भ के बनाने की कल्पना उठी हो। लेखक ने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया, जबकि उसका प्रामाणिक उल्लेख देना आवश्यक था।

कीर्तिस्तम्भ महावीर स्वामी के कपाउण्ड में नहीं बना, बल्कि महावीर स्वामी मन्दिर किसी पुराने मन्दिर के खण्डहरों पर बना है। उस समय कीर्तिस्तम्भ बना हुआ था। जीर्णोद्धार के समय ही उक्त मन्दिर में महावीर की मूर्ति पधराई गई है। जिसकी प्रतिष्ठा का दर्शन विजय जी ने उल्लेख किया है। बहुत संभव है कि वह पुरातन मन्दिर किसी अन्य तीर्थंकर का रहा हो। यह मन्दिर कीर्तिस्तम्भ के दक्षिण-पूर्व में है। इससे कीर्तिस्तम्भ का कोई सम्बन्ध नहीं है। कीर्तिस्तम्भ तो सं० १५४१ के लेखानुसार चन्द्रप्रभ मन्दिर के स्थान में बना था जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

अब रही प्रतिमा भेद की बात, सो यदि स्तम्भ के निर्माता की जाति नाम आदि का उल्लेख न मिलता तो उक्त कल्पना को कुछ सहारा भी मिलता, परन्तु कीर्तिस्तम्भ का परिकर दिगम्बरत्व की भांकी का स्पष्ट निदर्शन करता है। और विद्वान तथा पुरातत्त्वज्ञ ही उसे दिगंबर नहीं बतलाते किन्तु श्वेतांबर चैत्य घरिपाटी में भी उसे दिगंबर लिखा हुआ है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

मोहनलाल दलीचंद देशाई ने कीर्तिस्तंभ को प्राग्वाट (पोरवाड) वंशी कुमारपाल द्वारा बनाए जाने की कल्पना की है। जो समुचित नहीं प्रतीत होती। अनेक पुरातत्त्वज्ञों ने उस स्तंभ को बघेरवाल वंशी जीजा द्वारा बनाए जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने राजपूताने के इतिहास में लिखा है कि—“मार्ग में पहले बाई ओर सात मजिल वाला जैन कीर्तिस्तंभ आता है, जिसको दिगंबर संप्रदाय के बघेरवाल महाजन सानाय के पुत्र जीजा ने वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बनवाया था। यह कीर्तिस्तंभ आदिनाथ का स्मारक है। इसके चारो पार्श्व पर आदिनाथ की एक विशाल दिगंबर (नग्न) मूर्ति खड़ी है और बाकी के भाग पर अनेक छोटी-छोटी जैन-मूर्तियां खुदी हुई हैं।” (राजपूताने का इतिहास प्रथम एडीशन पहली जि० पृ० ३५२)

मुनि कान्तिसागर और अग्रचंद नाहटा भी कीर्तिस्तंभ को दिगंबर ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त श्वेतांबर विद्वान गयदि ने स० १५७३ में रचित अपनी चैत्य परिपाटी में कीर्तिस्तंभ को स्पष्टतः दिगंबर बतलाया है। किन्तु उसे हुंबडवंशी पूना द्वारा बतलाना किसी भूल का परिणाम है। संभव है लेखक को शाह जीजाका नाम और जाति का स्मरण न रहा हो। अथवा ज्ञात ही न हो, इस कारण हुंबड वंश की कल्पना की हो। और उसमें नौ सौ जिनबिम्बों के होने की बात लिखी है।

पासइ हुंबड पूनानी सुता देवात कहइ इक ताता तारन रे ।
लखडी मह धनबेगि करा बीउरे कीरतिथंभ बिख्यात रे ।
चउ परि चोखी चिहु पर कोरणी रे भँचउ अति बिस्तार रे ।
चढता जे भुइ सात सोह मणीरे बिब सहस दोइ सारनर ?
ढाल—हवइ दिगम्बर देहरइरे तिहां जे नवसइ बिब ।

भामडल पूठइ भवऊरे छत्रत्रय पडिबिब

अबियां पूजइ पास ए तु पूरइ मन की आस

चर्चो चंदन केवडउरे गोरी गावइ रास ॥

कीर्तिस्तंभ को श्वेतांबर मानने की जो कल्पना उठी उसका कारण स० १५०८ में गढ़ी गई महावीर प्रशस्ति का निम्न पद्य है, जिससे लोगों को भ्रम हुआ है—

उच्चैर्भंडप पंक्ति देवकुलिका वीस्तीर्णमाणश्रियं ।

कीर्तिस्तंभ समीपवर्तिनमसुं श्रीचित्रकूटावधे ।

प्रासाद सृजत ? प्रसादमसमं श्रीमोकलावीपते ।

आदेशात् गुणराज साधुरचित स्वच्छै दधाषीन्मुवा ॥८६

इस पद्य में बतलाया है कि कीर्तिस्तंभ के समीप मोकलराय के आदेश से महावीर चैत्यालय या मन्दिर बनाया गया है उसके दक्षिण में प्राग्वाट (पोरवाड) वंशी कुमारपाल का जिन मन्दिर था। इसमें कीर्तिस्तंभ के समीपवर्ती लिखा हुआ होने से दिगंबर कीर्तिस्तंभ को भी श्वेतांबर बतला दिया गया है। जब कि अनेक प्रमाणों से कीर्तिस्तंभ दिगंबर है और उसके निर्माता बघेरवाल वंशी शाह जीजा हैं।

यहां यह बतलाना आवश्यक है कि उक्त कीर्तिस्तंभ का रचना समय ठीक ज्ञात नहीं हो सका, किन्तु अन्य प्रमाणों की रोशनी में उसका निर्माणकाल १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से बहुत पूर्ववर्ती है। मेरे ख्याल में कीर्तिस्तंभ का समय विक्रम की १३वीं या १४वीं शताब्दी जान पड़ता है। आशा है विद्वान इस पर विचार करेंगे।

मुनि कान्तिसागर जी ने नादगाव की मूर्ति का जो लेख 'खण्डहरो के वैभव' और अनेकान्त में प्रकाशित किया है। उसका परिचय कराते हुए लिखा है कि “भट्टारक विश्व सोमसेन उस समय के समाज में प्रसिद्ध व्यक्ति मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा के दो लेख नागदा की दि० जैन मूर्तियों पर उत्कीर्णित हैं।” साथ ही उनके जीवन पर प्रकाश डालने वाली पुरुषार्थ सिद्धचुपाय और करकडु चरित की जो पुष्पिकाएँ उनके पास हैं उनसे उनकी दो कृतियों का पता चलता है। समयसार वृत्ति और अमर कोष की हिन्दी टीका। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि लेख में कुछ नाम गलती पढ़े गये हैं। लेख में स्पष्टरूप में अभिनव त्रैविद्य सोमसेन का उल्लेख है न कि विश्व सोमसेन का, अब मुनिजी को सोमसेन त्रैविद्य की उपलब्ध सब सामग्री प्रकाशित कर देनी चाहिए। लेख में और भी कई स्थल हैं जो पढ़ने में नहीं आए, या गलत पढ़े गए। उन स्थलों को नीरज जी के लेख के परिशिष्ट में खड़ी ब्रेकट में दे दिया गया है। जैसे वृधमान [वृषभसेन].....[आम्नाये या वशे] आदि, उसमें एक दो स्थल और हैं जैसे योगे [.....] र केण के स्थान में

आपदग्रस्तों के लिए सहायक संस्था :

महावीर कल्याण केन्द्र

श्री चिमनलाल चकुभाई शाह

भारत जैसे विशाल देश में हर वर्ष कहीं न कहीं प्राकृतिक आपत्ति आती ही रहती है। कहीं बाढ़ आई तो कहीं सूखा पड़ा, कहीं भूकम्प आया तो कहीं कुछ आपत्ति आई। ऐसे विपदग्रस्तों को राहत पहुँचाने के लिए महावीर कल्याण केन्द्र जनता की सेवा कर रहा है।

यों तो जैन तथा व्यापारी समाज जनहित के कामों में सदा अग्रग्राह रहा है और हर सान समाज की ओर से अलग-अलग संप्रदायों तथा जातियों की ओर से करोड़ों का दान भी होता है। अनेक जन कल्याण के काम भी होते रहते हैं। पर इन बिखरे प्रयत्नों का जनता या सरकार पर विशेष न तो प्रभाव ही है और न उनके कार्यों का योग्य मूल्यांकन ही होता है। यदि सब जैनी मिल कर योजनापूर्वक काम करें तो बहुत अच्छा कार्य होकर उसका परिणाम भी अधिक हो सकता है। यह अनुभव महावीर कल्याण केन्द्र की सेवाओं को देखकर आता है।

दो साल भी नहीं हुए बिहार में भीषण अकाल पड़ा था महावीर जयन्ती के अवसर पर चारों संप्रदायों और भारत जैन महामण्डल की ओर से सभा बुलाई गई थी उसमें श्री जयप्रकाशनारायण जी को विशेष अतिथि के रूप में निमन्त्रित किया था। उन्होंने अपने व्याख्यान में बताया [रक्सगणे] ऐसा कोई पाठ होना चाहिए, जिसे मैंने छोड़ दिया है। अकोला की ५२ जिनालय वाली मूर्ति का लेख यदि दुबारा सावधानी से पढ़ा जाय तो लेख की सभी अशुद्धियाँ दूर हो सकती हैं। और उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। कारजामे भट्टारक पीठ रहा है, वहाँ सोमसेन नाम के चार भट्टारकों का पता चलता है। उन चारों में अभिनव त्रैविद्य सोमसेन कौन है ? इसका विचार करना चाहिए। उनका अभिनव त्रैविद्य विशेषण उनसे जुदाई का बोधक है। आदि बातें भी विचारणीय हैं। ★

कि भगवान् महावीर के जन्म और कार्यक्षेत्र में भयानक अकाल है। लोग भूखों मर रहे हैं। अहिंसा प्रेमी जैनियों को चाहिए कि वे वहाँ पीड़ितों और भूखों को बचाने के लिए कुछ करें। सभा का संचालन श्री चिमनलाल चकुभाई शाह कर रहे थे। स्टेज पर बैठे साहु श्रेयांसप्रसाद जी, लालचन्द हीराचन्द दोशी, प्रताप भोगीलाल, कातिलाल ईश्वरलाल, फूलचन्द शामजी आदि प्रमुख लोगों से चिमन भाई ने चर्चा की और कुछ रकम एकत्र करने का निर्णय किया। इस क्षेत्र में भूखों को भोजन देने के लिए कुछ रंगोटे चलाने के लिए एक लाख बीस हजार रूपया जैन समाज की ओर से देने की बात हुई। इस निमित्त से चन्दा एकत्र करने के लिए शकुन्तला जैन गर्ल्स हाई स्कूल में सभा बुलाई गई जिसमें मण्डल के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अमृतलाल कानिदास दोशी, श्रेयांसप्रसादजी, प्रताप भोगीलाल, कातिलाल ईश्वरलाल, फूलचन्द शामजी, रतिलाल मनजीभाई, चन्दुलाल कस्तूरचन्द, चिमन भाई, रिषभदास राका, गभीरचन्द, उमेशचन्द, गिरधर भाई दपतरी, हीरालाल एल० शाह आदि उपस्थित थे। रतिलाल मावजी भाई, एक व्यापार से अवकाश प्राप्त सफल व समृद्ध व्यापारी हैं। उन्होंने सभा को आवाहन किया कि हम कुछ रसोइों के लिए रुपये भिजवावे, इससे तो भगवान महावीर के बिहार क्षेत्र में से कुछ हिस्सा लेकर वहाँ हम उनके नाम पर काम करें। बात ठीक होने पर भी बिहार में जाकर काम करना आसान बात तो थी नहीं इसलिए सभा में कहा गया कि बात ठीक है पर वहाँ जाकर बैठेगा कौन ? वे बोले इसकी चिन्ता मत कीजिए। मैं अपने साथियों को लेकर जाऊँगा और यह कार्य भगवान महावीर के कार्यक्षेत्र में उन्हीं के नामसे ही होना चाहिए। वे बिहार में कार्यकर्ताओं के साथ गये। वहाँ की स्थिति का अध्ययन किया और खासकर राजगृह तथा पावापुरी

विभाग में जहाँ भगवान का बिहार और निर्वाण हुआ था उस क्षेत्र में भगवान महावीर कल्याण केन्द्र के नाम से काम करने का निश्चय किया। इस विभाग में ४०० गाँव के लिए ४० रसोड़े पाँच महीने तक चलाए गये। वहाँ स्थानकवासी समाज के बुजुर्ग कार्यकर्ता गिरधर भाई दफ्तरी भी गए थे जो समाज से रुपया एकत्र करने में कुशल है। जिसमें २० रसोड़े एक पैसे में एक रोटी के हिसाब से भोजन दिया और २० रसोड़े मुफ्त में भोजन बांटने के कार्य में व्यस्त हो गए। महावीर कल्याण केन्द्र कार्यकर्ताओं ने ऐसा व्यवस्थित कार्य किया कि बिहार रिलीफ सोसाइटी, मद्रास के जैन संघ, परदेशी संस्थाओं आदि ने अपना उन्हे सहयोग दिया। साधन, साहित्य और धन भी दिया। कल्पना यह थी कि इस काम में ढाई लाख से अधिक रुपया लगेगा पर जमा उससे भी अधिक हुआ। और रुपया एकत्र करने में श्रम भी बहुत अधिक नहीं करना पड़ा। जिससे वहाँ भली भाँति कार्य संपन्न हुआ, और कार्य संपन्न होकर भी केन्द्र के पास कुछ रुपया बचा, मिलकर किए हुए इस काम का अच्छा परिणाम देख कर समाज के नेताओं ने निश्चय किया कि राहत कार्य के लिए यह स्थाई संस्था स्थायी काम करे।

जब भगवान महावीर २५ सौवे निर्वाण महोत्सव के कार्य में सहयोग देने के लिए श्री सोहनलाल जी दूगड से कहा गया तो उन्होंने कहा था कि इस अवसर पर साहित्य प्रदर्शनी, सभाये और उत्सव तो हो ही पर कोई ऐसा जन कल्याण का स्थायी कार्य भी होना चाहिए जिससे करुणानिधि भगवान महावीर की करुणा रचनात्मक कार्य करे। इसके उदर में हमने भगवान महावीर कल्याण केन्द्र की जानकारी देकर कहा था कि इस संस्था का प्रारम्भ भगवान महावीर जयन्ती के निमित्त से हुआ और इसे २५००वे निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रम का ही यह महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। उनकी इच्छानुसार काम करने वाली इस संस्था के लिए वे स्वयं बहुत बड़ी रकम देने वाले थे पर उनका देहावसान हो गया। जैन समाज का कही भी कोई अच्छा कार्य होता है वहाँ दिल खोलकर देता है। महावीर कल्याण केन्द्र के विषय में भी यही हुआ। तभी गुजरात में बाढ़ आई तब दो लाख रुपये इस

कार्य के लिये खर्च करने का सकल्प कर कार्यकर्ता बाढ़ग्रस्त विभाग में पहुँचे। तीन महीने रहे और वहाँ सूखत तथा भडौच जिले में आवश्यक काम किया। जितनी आवश्यकता थी उतनी सहायता कर अब भगवान महावीर कल्याण केन्द्र के कार्यकर्ता अब राजस्थान के अकालग्रस्तों की सहायता को पहुँच गये हैं।

राजस्थान में स्थिति अत्यन्त भयानक है। खासकर जैसलमेर, बाडमेर, जोधपुर तथा बीकानेर का कुछ हिस्सा भयानक अकाल की चपेट में आया हुआ है। वहाँ पशुओं को चारा और पानी न मिलने से बहुत बड़ी संख्या में मर रहे हैं। हजारों नहीं, पर कहा जाता है कि दो लाख से अधिक पशु मर गये हैं। यदि सहायता न पहुँचाई गई तो और भी मरने की उम्मीद है। पशुओं को बचाने के लिए गौ सेवा संघ, सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी, राजस्थान रिलीफ कमेटी, मारवाडी रिलीफ सोसायटी आदि संस्थाएँ लगी हुई हैं। महावीर कल्याण केन्द्र मानव राहत का कार्य हाथ में लेकर काम करना चाहता है। कार्यकर्ता वहाँ की स्थिति का अध्ययन करके भारत जैन महामण्डल की राजस्थान शाखा के सहयोग से काम करेंगे।

इस प्रकार राहत का कार्य व्यवस्थित रूप से करने वाली यह संस्था धर्म संप्रदाय या जातिका भेद का विचार न कर मानव राहत का कार्य कर रही है। उसमें सबका सहयोग लेती है। राजस्थान के कार्य में मुख्यमंत्री सुखाडिया जी से बात की उन्होंने कल्याण केन्द्र के मंत्री चिमनलाल भाई से कहा कि आप लोग जितना खर्च वहाँ करेंगे उतना खर्च राजस्थान सरकार की ओर से दिया जाएगा। इस प्रकार कल्याण केन्द्र द्वारा अधिक काम कर सकेगा और कल्याण केन्द्र के अनुभवों तथा सेवा भावी कार्यकर्ता द्वारा होने वाले इस काम में जैन समाज ही नहीं पर सभी से प्रार्थना है कि वे अपने क्षेत्र में चन्दा कर महावीर कल्याण केन्द्र को भिजवावें।

आशा है जैन समाज तथा सभी मानव प्रेमी लोग अपने क्षेत्र में चन्दा कर महावीर कल्याण केन्द्र को अधिक कार्य करने में सहायक होंगे। महावीर कल्याण केन्द्र का दफ्तर एकजामीनर प्रेस, दलाल स्ट्रीट, बम्बई-१ में है और मंत्री है श्रीचिमनलाल चकुभाई शाह। ●

अग्रवालों का जैन संकृति में योगदान

परमानन्द शास्त्री

[अनेकान्त वर्ष २१ किरण २ से आगे]

और वे जैनधर्म के श्रद्धालु ही नहीं रहे, किन्तु जीवन में उसका आचरण भी करने लगे। उनका विचार साहित्य-सेवा और जैनधर्म के प्रचार करने का हुआ। वे देश की अपेक्षा विदेशों में जैनधर्म का प्रसार एवं प्रचार करना अधिक उपयुक्त समझते थे।

समाज-सेवा :

वैरिस्टर साहब की समाज-सेवा का उपक्रम सन् १९२२ में दि० जैन महासभा लखनऊ के अधिवेशन से शुरू होता है जिसके वे स्वयं अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को जिस सतर्कता और सावधानी से निभाया था वह उनकी दक्षता का एक मापदण्ड हो सकता है। उन्होंने उसके सुधार में बड़ी सतर्कता वर्ती है। उसके कोष को आपने सावधानी से निकलवाया। वे उसके सत्रुटित तारों को जोड़कर सक्रिय बनाना चाहते थे परन्तु कुछ विचार असहिष्णु स्थिति पालकों को यह कैसे सह्य हो सकता था? यह विचार असहिष्णुता और संकीर्ण-मनोवृत्ति का परिणाम है कि सन् १९२३ में महासभा का अधिवेशन दिल्ली में हुआ, उस समय उसके मुख पत्र जैन गजट की दशा सुधारने का प्रश्न आया। उसके लिए सुयोग्य सम्पादकों का प्रश्न आया तब किसी सज्जन ने वैरिस्टर साहब का नाम उपस्थित कर दिया; किन्तु महासभा के सूत्रधारों ने उस योजना को ठुकरा दिया। साथ ही महासभा को वृद्ध विवाहादि कुरीतियों का सुधार भी असह्य हो उठा। परिणामतः परस्पर में मत-विभिन्नता घर कर गई।

इसी मत विभिन्नता में दि० जैन परिषद् का जन्म हुआ, वैरिस्टर सा० ने उसके संचालन में अच्छा योग दिया। परिषद् ने मत-विभिन्नता के रहते हुए भी समाज हित के अनेक कार्य किये। जनता की संकीर्ण मनोवृत्ति

को बदल कर उदार बनाने का उपक्रम किया। परिषद् की स्थापना से महासभा का दायरा और भी संकीर्ण बन गया, और समाज में अनेकता का बीज बपन किया। दोनों संस्थाएँ यद्यपि जीवित हैं और अपना-अपना कार्य भी कर रही हैं। परन्तु ठोस कार्य नहीं हो रहा।

वैरिस्टर साहब ने देश की अपेक्षा विदेश में जैनधर्म का प्रचार किया। उनकी यह हार्दिक कामना थी कि विदेशों में जैनधर्म का प्रचार उच्च स्तर पर किया जाय। जिससे वे जैनधर्म की महत्ता को हृदयंगम कर सकें। और उसके वैज्ञानिक मूल्य को आक सके। जैनधर्म का सर्वोदयी मूल उनके मानस में उद्बलित हो रहा था उनके हृदय में उसकी निष्ठा व्यापक हो गई थी। तीर्थक्षेत्रों की रक्षा के लिए उन्होंने कोई कोर कसर नहीं रखी। सम्मेलन-शिखर की पैरवी के लिए लदन भी गये। और जो प्रयत्न उनसे हो सकता था वह किया। साथ में बाबू अजितप्रसाद जी एडवोकेट लखनऊ ने भी सहयोग दिया। धर्म प्रचार के लिए भी प्रयत्न किया, अनेक भाषण उनके वहाँ हुए। उनके भाषणों के प्रभाव से कुछ लोगों ने जैनधर्म का अध्ययन भी किया। सन् १९३० में उन्होंने लदन में जैन लायब्रेरी (Librav) की स्थापना की। साहित्य-सेवा के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया वह प्रशंसनीय है।

साहित्य सेवा—वैरिस्टर साहब के द्वारा अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ की आफ नोलेज (Key of Knowledge) है जो ज्ञान की कुजी के नाम से प्रसिद्ध है, उसका जिन लोगों ने अध्ययन किया वे वैरिस्टर साहब की—साहित्य-सेवा का मूल्य आंक सकते हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों और ट्रेक्टों का निर्माण किया है उनमें से कुछ के नामों का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

१. तुलनात्मक धर्म विज्ञान—Science of Comparative of Religion).

२. ज्ञान की कुंजी—(Key of Knowledge).

३. Confluence of Opposites (असहमत सगम)
इस ग्रंथ में ससार के समस्त प्रचलित धर्मों का सामान्य परिचय कराकर उनका तुलनात्मक विवेचन किया है।

४. जैन लॉजिक (The Science of Thought)
न्याय विषयक एक सुन्दर रचना।

५. इटोपदेश (Discourse Devine) आ० पूज्यपाद देवन्दी के आध्यात्मिक ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद।

६. रत्नकरण्डश्रावकाचार (The Householders Dharma) का अंग्रेजी अनुवाद। यह आचार्य समन्तभद्र की गृहस्थधर्म विषयक अपूर्व रचना का प्रामाणिक भाषान्तर है।

७. व्यावहारिक धर्म—(The Practical Dharma)
यह आपकी स्वतंत्र रचना है जिसमें द्रव्यानुयोग का निरूपण किया गया है।

८. सन्यासधर्म (The Sannyas Dharma) इसमें मुनि धर्म का विचार किया गया है। और समाधिमरण के महत्त्व का दिग्दर्शन है।

९. आत्मिक मनोविज्ञान—(Jain Psychology)
इसमें जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

१०. जैन संस्कृति (Jain Culture) को समझने के लिए अपूर्व पुस्तक।

११. श्रद्धा, ज्ञान, चरित्र (Faith Knowledge and Conduct) इसमें रत्नत्रय का सुन्दर विवेचन किया गया है।

१२. जैन तपश्चरण (Jain Penance) इसमें आत्म उन्नति कारक तपश्चरण की वैज्ञानिकता पर बल दिया गया है।

१३. ऋषभदेव—(Rishabhadeva) इसमें जैनियों के प्रथम तीर्थंकर का जीवन परिचय दिया गया है।

१४. जैन धर्म क्या है ?—(What is Jainism ?)
इसमें वैरिस्टर साहब के भाषणों का सकलन है, जो उन्होंने लंदन आदि में भाषण दिये थे। इससे वैरिस्टर साहब के उदात्त विचारों का पता चला जाता है। इनके अति-

रिक्त उनकी अन्य रचनाएँ भी होंगी, जो मुझे ज्ञात नहीं है। इस तरह वैरिस्टर साहब की साहित्य-सेवा अपूर्व है। वह उनके जैनधर्म विषयक ज्ञानकी महत्ता की द्योतक है।

बयालीसवें विद्वान वैरिस्टर जुगमदरदास जी हैं आप के पिता जी का नाम लाला पन्नालाल जी था। आप सहारनपुर के निवासी थे। आप जन्मकाल से ही पूर्व सस्कारवश बुद्धिमान थे। आप मैट्रिकयूलेशन (Matriculation) और इन्टरमीडियेट (Intermediate) परीक्षा में बराबर सरकारी छात्रवृत्ति पाते रहे। आपने एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। एम. ए. की परीक्षा पास होते ही आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी भाषा के अध्यापक और छात्रालयों के प्रबन्धक बना दिये गये। तीन वर्ष अध्यापकी करने के बाद सन् १९०६ में एक्जेटर कॉलेज ओक्सफोर्ड (Exeter College Oxford) लन्दन में दाखिल हो गये। और सन् १९१० में वैरिस्टर होकर स्वदेश लौट आये। पश्चात् आप बम्बई के सेठ माणिकचन्द पानाचन्द जी के साथ श्रवणवेलगोला में बाहुबली के महामस्तकाभिषेक में शामिल हुये। आपने रोमन लॉ (Roman Law) और जैनधर्म की रूपरेखा (Outlines of Jainism) दोनों पुस्तकें लंदन में छपवाई।

भारत में वैरिस्टरी करने में आपको पर्याप्त सफलता मिली। सन् १९१३ के प्रीवी काउन्सिल (Privy Council) के एक मुकदमे में आपको लन्दनमें भेजा गया। सन् १९१४ से १९२७ तक आप इन्दौर राज्य के न्यायाधीश और व्यवस्थाविधि विधायिनी सभा के अध्यक्ष रहे। बीच में आप सन् १९२० से १९२२ तक निःशुल्क सरकारी काम असिस्टेंट कलेक्टर (Assistant collector) और अमन सभा (Lengue of Peace and Order) के संस्थापक मन्त्रित्व का कार्य भी करते रहे तथा रायबहादुर उपाधि से भी विभूषित किये गये।

साहित्य-सेवा :—

आपने वैरिस्टरी, एव राज्यकीय सेवा और निःशुल्क सरकारी कार्य करते हुए भी अवकाश के समय जैन साहित्य की सेवा का कार्य किया। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने इन्दौर चतुर्मास में उनके साथ बैठकर तत्त्वार्थाधि-

गम सूत्र, आत्मानुशासन, पंचास्तिकाय, समयसार और गोम्मतसार जीवकाण्ड का अग्रेजी भाषा में अनुवाद किया अग्रेजी भाषा में अनुवाद हो जाने के कारण अग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वान भी उनका अध्ययन करने में समर्थ हो सके। उनका यह उपकार किसी तरह भी भुलाया नहीं जा सकता। और मौलिक प्रस्तावनाओं के साथ उन्हें प्रकाशित भी किया। आपने जैन पारिभाषिक शब्दों का एक कोश भी तैयार किया था। आपका हृदय साधर्मि वात्सल्य से परिपूर्ण था और वह कभी-कभी छलक पड़ता था।

वैरिस्टर साहब ने सन् १९०४ से 'जैन गजट' अग्रेजी का सम्पादन कार्य भी अपने हाथ में लिया। और उसमें बराबर योगदान देते रहे। भारत जैन महामंडल में भी वैरिस्टर साहब ने जान डाली और उसे बराबर प्रोत्साहन देते रहे। वे साम्प्रदायिकता से कोशो दूर रहते थे।

आपने अपनी मृत्यु से एक वर्ष पहले ही १४ अगस्त १९३६ को अपनी जायदाद का एक वसीयत नामा लिख दिया था कि उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जन हितार्थ एवं जैन धर्म की रक्षा और जैनधर्म प्रचार में काम आती रहे। सन् १९२७ में वैरिस्टर साहब का स्वर्गवास हो गया। उनके बाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी जब तक जीवित रहे उसका कार्य लगन से करते रहे; क्योंकि ट्रस्टी जो थे। उनके जीवन के बाद उसका वैसा कार्य नहीं हो सका। रा० ब० सेठ लालचन्द जी ने ब० शीतलप्रसाद जी रिक्त स्थान में बा० जौहरीलाल जी मित्तल की नियुक्ति कर ली। और अब बा० लालचन्द सेठी के स्वर्गवास के बाद सेठ भूपेशकुमार जी उज्जैन को बा० जौहरीलाल ने ट्रस्टी बना लिया। ट्रस्टी की सम्पत्ति से जो महत्वपूर्ण कार्य होना चाहिए था वह नहीं हो सका। और न उनकी स्मृति में कोई ग्रन्थ ही निकाला गया। मात्र किसी संस्था या पत्र को आर्थिक सहयोग दे देना ट्रस्ट या वसीयत के उद्देश्य की पूर्ति नहीं है। आशा है ट्रस्टीजन ट्रस्ट की सम्पत्ति का विनिमय ट्रस्ट के उद्देश्यों के अनुसार करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे ट्रस्टकर्ता की भावना पूरी हो सके। ट्रस्टियों को एक बार ट्रस्ट के उद्देश्यों को प्रकाशित कर देना चाहिए, जिससे जनता को जे. एल. जैनी ट्रस्ट के उद्देश्यों का पता चल सके। और मि०

जैनी की स्मृति में भी कोई काम करना चाहिए।

तैंतालीसवे विद्वान मास्टर बिहारीलालजी चैतन्य है। जिनका जन्म बुलन्दशहर में सन् १८६७ की १५ अगस्त वि० सं० १९२४ श्रावण शुक्ला चतुर्दशीके दिन हुआ था। आपने सन् १८९१ में फारसी भाषा के साथ एन्ट्रेस पास किया। आपके जीवन का लक्ष्य सन्तोष और परिश्रम के साथ ज्ञान द्वारा स्व-पर हित करना था। आप (Self Made) स्वनिर्मित व्यक्ति थे। उन्होंने उपासना और स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाया और शिक्षण द्वारा छात्रों को, एवं पुस्तको द्वारा जन सामान्य को वह सचित ज्ञान प्रदान किया। उनकी भावना थी कि सभी ज्ञानी बने और स्व-पर हितो में लगे। जब वे किसी से चर्चा करते तब अपने मजे हुये अनुभव से कहते कि सन्तोष से ज्ञानार्जन कर अपने ज्ञान की निरन्तर वृद्धि करना और उसे स्वपर हितार्थ जनता को प्रदान करना अपना कर्तव्य है।

आप सन् १८९३ में बुलन्दशहर के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में (१२) रु० मासिक पर अध्यापक नियुक्त हुए थे। पश्चात् क्रमशः अपनी उन्नति करते हुए बाराबकी के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में सहायक अध्यापक के पद पर पहुँच गये। और (१२०) रु० वेतन पाने लगे। आप ३० जुलाई सन् १९२४ (वि० सं० १९८१ में रिटायर हुए। शिक्षण कार्य करते हुए आपने अपने समयको कभी व्यर्थ नहीं गमाया, किन्तु साहित्य-सेवा के कार्य में बराबर लगे रहते थे।

आप हिन्दी उर्दू में गद्य-पद्य के लेखक थे। आपने हिन्दी उर्दू में छोटी-बड़ी लगभग ६१ पुस्तकें लिखी है ऐसी सुना जाता है उन पुस्तकों में सबसे बड़ी पुस्तक बृहत् जैन शब्दार्णव नाम का कोष है, जिसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं। उसमें दूसरे भाग का सम्पादन ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने किया था। भट्टहरि की नीतिशतक और वैराग्य शतक का अनुवाद भी आपने किया था। पंडित रिखबदास जी के मिथ्यात्व तिमिरनाशक नाटक के २-३ भाग उर्दू में प्रकाशित किये थे। रिटायर्ड होने पर आप अपना पूरा समय स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन में व्यतीत करते थे। आप की पुस्तकें अधिकतर उर्दू में हैं, इस कारण मैं उनका रस न ले सका। हां बृहत् जैन शब्दार्णव को मैंने देखा है।

आपके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिली।

आपका अवसान वि० स० १९३६-३७ के लगभग हुआ है। आपके सुपुत्र शान्तिचन्द्र जी हैं जो विजनौर में रहते हैं।

चवालीसवें विद्वान बाबू ऋषभदास जी वकील मेरठ हैं। जो उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान थे। उस समय के विद्वानों में आप प्रमुख थे। आप लाला मन्मूलाल जी बैकर मेरठ के सहोदर थे। और बी. ए. पास कर वकील बने थे। आप वचन से ही धार्मिक संस्कारों में पले थे, इसलिए आपके जीवन में धार्मिक संस्कारों का जुज मौजूद था। देवदर्शन, स्वाध्याय और पूजादि श्रावकोपयोगी कार्यों में बराबर रुचि रखते थे। शान्तचित्त और सरल परिणामी थे। आपने स्वाध्याय द्वारा अच्छा धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया था। आप हिन्दी उर्दू और अंग्रेजी तीनों भाषाओं में लिखते थे। आपके धार्मिक एवं समाजिक लेख उर्दू के 'जैन प्रदीप', 'जैन ससार' और अंग्रेजी 'जैन गजट' में प्रकाशित होते थे। इतना ही नहीं किन्तु 'कलकत्ता रिव्यू' और 'थियोसोफिस्ट' नामक जैनतर पत्रों में भी जैनधर्म सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते थे। आपके कुछ लेखों का संग्रह 'इन लाइट इन्टु जैनज्म' नाम से प्रकाशित हुआ था।

आपने योगीन्द्रदेव कृत परमात्म प्रकाश का अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या लिखी थी जो 'सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस आरा' से प्रकाशित हुआ है। बाबू सा० जैन प्रदीप के नियमित लेखक थे। प्रेमी जी कहा करते थे कि बाबू ऋषभदेव जी के देहावसान के बाद जैनप्रदीप भी बन्द हो गया। आपकी मृत्यु कब हुई उसकी तिथि वगैरह ठीक मालूम नहीं हो सकी पर आपके निधन से जैन समाज को काफी क्षति पहुँची

पैंतालीसवें विद्वान बाबू अजितप्रसाद जी एडवोकेट हैं। जिनका जन्म सन् १८७४ के लगभग हुआ था। आपके पिता स्वर्गीय देवीप्रसाद जी बड़े ही दूरदर्शी और धार्मिक प्रकृति के सज्जन थे। वे सन् १८८७ में लखनऊ आये थे। उस समय आपकी अवस्था १३ वर्ष की थी। सन् १८८९ में देवीप्रसाद जी ने लखनऊ में 'जैनधर्म प्रवर्धनी सभा' की स्थापना की थी। उससे लखनऊ जैनसमाज में नवीन जागृति और जैनधर्म के प्रति विशेष आकर्षण प्राप्त हुआ

था। तब लखनऊ में जैन रथोत्सव का कार्य घूमधाम से सम्पन्न हुआ था। उस समय बाबू अजितप्रसाद जी ने अपनी १५ वर्ष की अवस्था में एक भाषण दिया था, जो छपाकर वितरित किया गया था।

सेवा-कार्य :—

बाबू अजितप्रसाद जी ने अपनी वकालत करते हुए भी जीवन भर समाज सेवा की है। बाबू जी केवल एड-वोकेट ही नहीं रहे किन्तु जज और चीफ जस्टिस जैसे सम्माननीय पदों पर भी रहे हैं। सन् १९१२ में आपने बम्बई प्रान्तीय सभा के अध्यक्ष पद से एक भाषण पढ़ा था। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी की प्रेरणा आपको बराबर प्रेरित करती रही है। आपने सन् १९१३ से जीवन पर्यन्त तक अंग्रेजी जैन गजट के सम्पादन का कार्य किया है। आप सन् १९०४ से भारत जैन महामण्डल के कार्य-कर्ता, मंत्री और सभापति भी रहे हैं। सन् १९०५ में बनारस स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना हुई थी, तब से कई वर्ष तक आप उसकी प्रबन्ध समिति के सदस्य भी रहे थे। सन् १९२३ में आप महासभा से पृथक् होकर दि० जैन परिषद् के संस्थापकों में भी रहे।

सन् १९२३ से २९ तक आप तीर्थक्षेत्र कमिटी की ओर से सम्मेशिखर, राजगिरि और पावापुरी आदि क्षेत्रों के मुकदमों में हजारीबाग, राची और पटना में रह कर कार्य किया। और उनसे तीर्थ क्षेत्रों की जो सेवा बन सकी उसमें बराबर अपना योगदान करते रहे।

साहित्य-सेवा :—

बाबू अजितप्रसादजी में जैनधर्म और उसके साहित्यकी लगन तो थी ही, साथ में ब्र० शीतलप्रसाद जी की प्रेरणा भी उनमें काम कर रही थी। जैन गजट आदि में कुछ लिखते ही रहते थे। परन्तु उनके पास इतना अधिक समय नहीं था कि वे स्थायी रूप से साहित्य-सेवा में जुटे रहें। फिर भी उन्हें जितना अवकाश मिलता था उसमें समाज-सेवा और तीर्थक्षेत्र रक्षादि के कार्यों से समय निकाल कर कुछ समय साहित्य-सेवा में भी लगाते थे। परिणाम स्वरूप बाबू जी ने अमृतगत्याचार्य द्वितीय के सामायिक पाठ का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। और विक्रम की दशवीं शताब्दी के आचार्य अमृतचन्द्र के पुरु-

षार्थ सिद्धचुपाय का भी आपने अंग्रेजी में अनुवाद किया। जो प्रकाशित हो चुका है। ये सब कार्य आपने अजिताश्रम लखनऊ में ही सम्पन्न किये। आपकी मृत्यु सन् १९५३-५४ में हुई है। इसके बाद आपका अजिताश्रम समाज-सेवा से वंचित हो गया, उनके पुत्रादिकों को समाज-सेवा का अवकाश भी नहीं मिलता।

छत्तालीसवे विद्वान कवि ज्योतिप्रसाद जी है, जो देवबन्द के निवासी थे। देवबन्द जि० सहारनपुर में है। यहाँ मुसलमानों का अरबी फारसीका एक विश्व विद्यालय—(ढारूल उलूम) भी है जैनियों की भी अच्छी वस्ती है और घरों की संख्या ५०-६० से कम नहीं है। और चार जिनमन्दिर हैं। देवबन्द हाथ के बुने सूतों कपड़े खदर दुनई और खेश के लिए प्रसिद्ध है। यह एक पुराना कस्बा है। और दो तिहाई के लगभग मुसलमानों की वस्ती है। इसी नगर में बाबू सूरजभान जी और मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी ने वकालत की और जैन गजट का सम्पादन कार्य किया है। और ग्रन्थ परीक्षाएँ लिखी हैं। इस नगर में सन् १८८२ वि० स० १९३६ में बाबू ज्योतिप्रसाद जी का जन्म हुआ। आपके पिता नत्थूमल जी साधारण दुकानदार थे, और बड़ी कठिनता से अपने कुटुंब का निर्वाह करने थे। लाला नत्थूमल की तीन सन्तानें थीं। ज्योतिप्रसाद, जयप्रकाश और एक छोटी पुत्री। निर्धनता एक अभिशप जो है। जब बाबू ज्योतिप्रसाद जी सात वर्ष के थे तभी आपके पिता जी का स्वर्गवास हो गया। उस समय आपको मुसीबत का क्या कहना। उस समय आपकी माता ने अपने चरित्र के संरक्षण के साथ परिश्रम द्वारा उपाजित आय से तीनों सन्तानों का पालनपोषण और शिक्षण कार्य इस तरह से किया जो अनुकरणीय है। ऐसी माताएँ सदा सम्मान के योग्य होती हैं। निर्धनता में बच्चों की शिक्षा का उचित प्रवन्ध नहीं हो पाता। वह माता धन्य है जिसने परिश्रम द्वारा अर्जित द्रव्य से अपनी सन्तान को शिक्षित बनाया है। उस समय देवबन्द की जैन पाठशाला में अध्यापक कचीरा जिला इटावा के निवासी पंडित भुक्तीलाल जी थे जो वैद्य, कवि और ज्योतिषी भी थे। उन्हीं से ज्योतिप्रसाद ने विद्याध्ययन किया था। उसी पाठशाला में उर्दू की शिक्षा भी

पाई। यद्यपि आज के समान उनकी शिक्षा नहीं थी किन्तु उस समय के योग्य काम चलाऊ शिक्षण अवश्य था। बुद्धि अच्छी होने के कारण आपने अपने कार्य के योग्य योग्यता प्राप्त कर ली।

वे सादगी को पसन्द करते थे, सादगी में पले थे। साधारण वस्त्र पहिनते थे। धोती या पायजामा, खदर की कमीज, कोट और सिर पर गांधी टोपी या दुपट्टा बाधते थे। चरित्र निष्ठ धार्मिकता, सहज स्नेह और प्रसन्न रहना यह उनके जीवन के सहचर थे। मैंने उन्हें देखा है। उनके भाषण भी सुने हैं। उन्होंने सारा जीवन समाज सेवा में लगाया। वे भावुक कवि भी थे परन्तु कविता में कोई खास आकर्षण न था। 'ससार दुख दर्पण' उनकी अच्छी कविता है भाषा अत्यन्त सरल है। वे सुधारक तो थे परन्तु अन्तर कमजोरी के कारण विवाद आने पर चुप रह जाते थे। लेख भी लिखते थे, पत्रों के सम्पादक भी रहे। जैन प्रदीप तो उन्हीं का पत्र था। समाज में अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की। स्थानकवासी समाज में भी समजसेवा की। पर समाज ने सेवकों को कभी अगनाया नहीं, और न उनको किसी प्रकार का खास सहयोग ही प्रदान किया। यदि सेवकों को अच्छा सहारा मिले तो वे समाज को समुन्नत बनाने का और भी अधिक काम कर सकते हैं।

बाबू ज्योतिप्रसाद जी की वि० स० १९६४ में २८ मई सन् १९३७ में ७ महीने की बीमारी के बाद देहावसान हो गया। समाज से एक सेवक सदा के लिए चला गया। समाज-सेवकों की कमी बराबर बनी रहती है। उसका कारण समाज का उनके प्रति उपेक्षाभाव है।

सैतालीसवे विद्वान पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार हैं, जो मरसावा जिला सहारनपुर के निवासी हैं। आपके पिता जी का नाम लाला नत्थूमल चौधरी और माता का नाम भूई देवी था। आपका जन्म वि० स० १९३४ सन् १८७७ मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन सन्ध्या के समय हुआ था। माता पिता का आचार-विचार रहन-सहन सादा और धार्मिक था। अतः आप पर भी उसका प्रभाव अंकित रहा। आपके दो भाई और थे, जो दिवंगत हो चुके हैं।

आपकी शिक्षा का प्रारम्भ ५ वर्ष की अवस्था में हो गया। आपने मकतब के मुशी जी से उर्दू फारसी का पढ़ना आरम्भ किया। आपकी बुद्धि अच्छी थी और धारणा शक्ति प्रबल थी, इस कारण आपने उर्दू फारसी का अच्छा ज्ञान जल्दी ही प्राप्त कर लिया। आपने हकीम उग्रसेन जी द्वारा सस्थापित स्थानीय पाठशाला में हिन्दी सस्कृत का अध्ययन किया। सस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त होते ही आपकी रुचि जैन शास्त्रों के अध्ययन की हुई। परिणाम स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वार्थ-सूत्र और भक्तामरस्तोत्र आदि का अध्ययन किया। आपका १३-१४ वर्ष की अवस्था में विवाह हो गया उन्ही दिनों सरसावा में अग्रेजी का एक स्कूल खुला जिसमें मास्टर जगन्नाथजी अध्यापन कराते थे तब आपने अग्रेजी का पांचवी कक्षा तक अध्ययन कर लिया। इसके बाद सहारनपुर के स्कूल में दाखिल हुए और नौवी कक्षा तक अध्ययन किया। कारण वश स्कूल में जाना छोड़ दिया किन्तु प्राइवेट रूप में एन्ट्रेंस की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की, मैट्रिक की परीक्षा में सफलता मिलने के बाद आपके समक्ष जीवन का संघर्ष कठोरतरमरूप में उपस्थित होने लगा; क्योंकि आप गृहस्थ जो थे और यह समझना उचित था कि योग्य होने पर अपनी आजीविका का निर्वाह स्वयं ही करना चाहिये। उस अवस्था में भी

सर्वथा अभिभावकों के ऊपर निर्भर रहना अकर्मण्यता है। किन्तु मनस्वी जीव को जीवन-संग्राम में स्वाभिमान पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही सार्थक है ऐसा आपका विश्वास था। अतएव आपने अपनी रुचि के अनुसार उपदेश द्वारा जनता को जाग्रत करने का कार्य श्रेष्ठ समझकर उपदेशक का कार्य पसन्द किया। आप बम्बई प्रान्तिक सभा के उपदेशक हो गए। इस कार्य के लिये आपको पारिश्रमिक भी मिलता था परन्तु विचार करने पर इस कार्य में भी उदासीनता आने लगी। और आपने सभवतः दो महीने से पहले ही उपदेशकी से स्तीफा दे दिया। क्योंकि आपकी विचार धारा स्वतंत्र जो थी उसमें परतंत्रता का अंश भी नहीं था। एक स्वाभिमानी व्यक्ति के लिये अवैतनिक रूप में कार्य करना उचित है। यह विचार भविष्य में आपके जीवन के लिये सुखद हुआ। और आपने स्वतंत्र व्यवसाय करने का विचार किया। परिणामस्वरूप मुख्तारकारी का प्रशिक्षण प्राप्तकर सन् १९०२ में मुख्तारकारी की परीक्षा पास की। और सहारनपुर में ही प्रैक्टिस शुरू कर दी। सन् १९०५ में आप देवबन्द चले गये और वहां अपना स्वतंत्र कानूनी व्यवसाय करते हुए आप बराबर समाज-सेवा के कार्यों में भाग लेते रहे।

(क्रमशः)



साहित्य-समीक्षा

१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत—लेखक डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम. ए. डी. लिट्. प्रकाशक, मंत्री श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला १/१२८ डुमराव बाग, अस्सी-वाराणसी—५। आकार डिमाई साइज, पृ० संख्या ४३८. मूल्य बारह रुपया।

ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। आचार्य जिनसेन का आदिपुराण जैन सस्कृतिके बहुमूल्य उपादानों का आकार है। इसमें नौवीं शताब्दीके भारतकी सांस्कृतिक

स्थितिका अच्छा निदर्शन है। यदि उसे जीनोका महाभारत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने गम्भीर अध्ययन और प्रौढ लेखनी द्वारा आदिपुराण में प्रतिपादित रत्न सम्पदा का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में आदिपुराण और उसके कर्ता जिनसेन के जीवन तथा उनके कर्तृत्व पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में आदिपुराण में प्रतिपादित भूगोल का

वैदिक पुराणों में प्रतिपादित भूगोल के साथ तुलनात्मक समीक्षा करते हुए, जनपद, गाव-नगर, राजधानी, नदियाँ, पर्वत, वनप्रदेश, वृक्ष सम्पत्ति, जीवजंतु और पशु जगत् का चित्रण किया है। तृतीय अध्याय में समाजगठन, कुल-कुर, समवसरण, चतुर्विधसध साधु, गृहस्थ और वर्ण जाति आदि सामाजिक सस्थाओं और रीति-रिवाजों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में अन्न, भोजन, पक्वान, फल, पेयपदार्थ, वस्त्र, आभूषण प्रसाधन सामग्री, वाहन, विनोद क्रीडा और कलागोष्ठी आदि सांस्कृतिक विषयों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। यह अध्याय महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें तत्कालीन समाज के रहन-सहन, गोष्ठी विनोद आदि का सजीव चित्रण है। पंचम अध्याय में शिक्षा का स्वरूप और शिक्षा से सम्बद्ध विषयों का—ललित कला, चित्र कला, वाद्य, नृत्य गीत आदि का विचार है। छठवे अध्याय में कृषि आदि आजीविका के साधन, असमिसकृषि, आदि राजनैतिक विचार, अस्त्र-शस्त्र नामावली और युद्धादि का कथन दिया है। सातवे अध्याय में धर्म और दर्शन का विवेचन है।

आदिपुराण का सभी दृष्टियों से विवेचनात्मक अध्ययन उपस्थित करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ का भारतीय विद्वत्समाज में अवश्य ही समादर प्राप्त होगा। और जैन पुराणों के अध्ययन की ओर विद्वानों की अभिरुचि बढ़ेगी। ग्रंथ का प्रकाशन सुरुचिपूर्ण है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

२. जम्बूस्वामि चरित (मूल हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावना सहित) —सम्पादक डा० विमलप्रकाश जैन एम. ए. पी. एच.डी. रीडर संस्कृत पालि प्राकृत विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी पृष्ठ संख्या ५०२ मूल्य सजिल्द प्रति का १५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। ग्रंथ में जम्बू स्वामी का जीवन-परिचय दिया गया है। जम्बू स्वामी ऐतिहासिक महापुरुष है, जो भगवान महावीर के साक्षात्शिष्य सुधर्म स्वामी द्वारा दीक्षित अन्तिम केवली थे। जिनका परिनिर्वाण सन् ४६३ ईस्वी पूर्व में हुआ

था। इस चरित ग्रंथ की रचना महाकवि वीर ने वि० सं० १०७६ में माघ शुक्ला दशमी के दिन पूर्ण की थी। ग्रंथ अपभ्रंश भाषा की १० सन्धियों में पूर्ण हुआ है। जम्बू स्वामी की लोकप्रियता का सबसे बड़ा उदाहरण विविध भाषाओं में विविध विद्वानों और कवियों द्वारा रची गई शताधिक रचनाएँ हैं। जो उनके जीवनकी महत्ता पर प्रकाश डालती हैं। जम्बू स्वामी कथा की दीर्घ परम्परा, कथा का मूल स्रोत और उसका तुलनात्मक अध्ययन कवि वीर के जम्बू स्वामी चरित्र की विशेषता के निदर्शक हैं।

डा० विमलप्रकाश जैन ने अपभ्रंश भाषा के मूल ग्रंथ का ललित हिन्दी में अनुवाद किया है। साथ ही ग्रंथ की १४८ पेज की महत्वपूर्ण प्रस्तावना में ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षात्मक अध्ययन उपस्थित किया है जिसमें ग्रंथ के महाकाव्यात्मक लक्षणों, विषय से सम्बद्ध विभिन्न चरित्रों, विषय के अन्त्यन्तरवर्ती उपाख्यानों काव्यरसों, अलंकारों, काव्यगुणों, छन्दों रीति, भाषा, सुभाषित लोकोक्तियों और कथा-कहानियों आदि का सुन्दर चित्रण किया है। साथ ही सामाजिक अवस्था भौगोलिक स्थिति, नागरिक जीवन और वैवाहिक पद्धति का भी दिग्दर्शन कराया है। मूलानुगामी अनुवाद के साथ संस्कृत टिप्पण और शब्दकोष के कारण ग्रंथ पठनीय एवं सग्रहणीय हो गया है। सम्पादक को वीर कवि के 'जम्बू-सामीचरित' के आधार से जम्बू स्वामी के आलोचनात्मक निबन्ध पर जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर से पी. एच. डी. की डिग्री की प्राप्ति हुई है, जिसके लिए संपादक धन्यवाद के पात्र हैं। भारतीय ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन उसके अनुरूप हुआ है। ग्रंथ की छपाई सफाई गेटप सभी सुन्दर है। पाठकों को इसे मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. लेश्या-कोश—सम्पादक श्री मोहनलालजी वाठिया और श्रीचन्द जी जैन चोरडिया। प्रकाशक मोहनलाल वाठिया १६ सी डोवार लेन, कलकत्ता-२६। आकार डिमाई, पृष्ठ संख्या ३००, मूल्य दस रुपया।

वाठिया जी ने जैन विषय कोश ग्रन्थमाला स्थापित की है। उसका यह प्रथम पुष्प है जिसे आपने दशमलव

प्रणाली से जैन विषयों का वर्गीकरण करके इस लेखा कोश की रचना की है। आगमों में लेखा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उसको विषय वार सकालित किया गया है। लेखा सम्बन्धि विषयों की संख्या १०० के लगभग है। उनमें मुख्य विषय निम्न प्रकार है :— द्रव्यलेखा (प्रायोगिक) द्रव्यलेखा (विस्तरा) भावलेखा, लेखाजीव, सलेशीजीव, लेखा और विविध विषय और लेखा सम्बन्धी फुटकर पाठ। इनके अन्तर्गत अनेक अवान्तर विषय हैं, जिनका विवेचन ग्रन्थ में किया गया है—प्रकृत विषयों पर आगमिक वचनों का शाब्दिक अर्थ भी दे दिया है, और जहां आवश्यकता समझी वहां विवेचनात्मक अर्थ भी दे दिया है। जहां तक मुझे मालूम है किसी जैन विषय पर इस तरह का यह कोश प्रथम बार ही प्रकाशित हुआ है। सम्पादकों का विचार है कि इस तरह से सभी जैन विषयों पर कोश तैयार कर प्रकाशित किये जाय। इस कोष में ३२ श्वेताम्बरीय आगमों, तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीका ग्रन्थों का उपयोग किया गया है जिनमें दिगम्बरीय सर्वार्थ सिद्धि तत्त्वार्थ राजवार्तिक और तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक गोम्मतसार जीवकाण्ड शामिल है।

कोश के प्रारम्भ में हीरा कुमारी बोथरा का आमुख है उन्होंने जिन बातों पर प्रकाश डाला है सम्पादकों को उससे लाभ उठाना चाहिये। वे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की द्रव्य लेखा की परिभाषा को ठीक नहीं मानती उन्होंने उसकी आलोचना की है। किन्तु दिगम्बर परम्परा द्रव्य लेखा के साथ भावलेखा का सम्बन्ध न्यायिक नहीं बतलाता। कुमारी जी ने द्रव्यलेखा और भावलेखा दोनों को एक समझ लिया है जो ठीक नहीं है। इस तरह के कोश निर्माण हो जाने पर जैन दर्शन के अध्ययन में विशेष सुविधा हो जायगी। सम्पादक द्वय का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय है। यहां यह उल्लेखनीय विशेषता है कि ग्रन्थ का मूल्य १०) रुपया रक्खा गया है किन्तु विशिष्ट विद्वानों विश्वविद्यालयों और विदेशों में निःशुल्क वितरित किया जायगा। ग्रन्थ में प्रूफ संशोधन-सम्बन्धि अशुद्धियां खटकती हैं।

—परमानन्द शास्त्री

४. जिनेन्द्र पञ्च कल्याणक स्मारिका—सम्पादक—
श्री पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि, प्रकाशक—श्री सागरचन्द्र जी दिवाकर एम० ए० प्रधान मंत्री जि० पञ्च कल्याणक समिति सागर।

गत वैशाख मास में सागर में सम्पन्न हुई पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा की स्मृति स्वरूप यह स्मारिका उक्त प्रतिष्ठा सम्बन्धी कार्य-कलाप के प्रचारार्थ की गई है। स्व० पूज्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णीका-निवास सागर में विशेष रहा है। उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए वहां लगभग एक लाख रुपये के व्यय से वर्णी स्मृति भवन और उसके ऊपर बाहुबली जिनालय का निर्माण कराया गया है। जिनालय में अतिशय मनोज बाहुबली की विशाल मूर्ति विराजमान की गई है। उपर्युक्त प्रतिष्ठा इसी मूर्ति की हुई है।

यह प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण रही है। इसमें सम्पन्न प्रत्येक कार्यक्रम आकर्षक था। सिधई प्रकाशचन्द्र जी ने प्रस्तुत स्मारिका में प्रतिष्ठा सम्बन्धी सभी कार्यों का विवरण 'आखो देखा' शीर्षक में बहुत विस्तार से दे दिया है। भविष्य में होनेवाली प्रतिष्ठाओं के लिए यहां का कार्यक्रम आदर्श स्वरूप हो सकता है।

कार्यक्रम के विवरण के अतिरिक्त प्रकृत स्मारिका में अन्य कितने ही महत्त्वपूर्ण लेख व भाषण आदि भी हैं तथा प्रतिष्ठा के समय लिये गये बहुत से चित्र भी दे दिये गये हैं। साथ ही आय-व्यय का हिसाब भी दे दिया गया है।

प्रतिष्ठा के समय सागर में सम्पन्न हुए भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् के अधिवेशन की कार्यवाही का भी उसमें सक्षिप्त विवरण है। साथ ही दूर-दूर से आकर इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए ११६ विद्वानों की नामतली भी प्रगट की गई है।

इस प्रकार यह स्मारिका अतिशय उपयोगी प्रमाणित होगी। छपाई व सजावट भी उत्तम है। इस सुन्दर स्मारिका के सम्पादन व प्रकाशन में जिन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है वे श्री प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य और श्री सागरचन्द्र जी दिवाकर एम० ए० आदि अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। —बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री



श्री परमानन्द जी बरया

देवगढ़ के पुरातत्त्व का यात्रियों

को परिचय कराते हुए

दिखाई दे रहे है।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिथीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट	१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता	१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,	१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
मेसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन	१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद	१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी,
२५०) श्री बन्नीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) ,, बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	१००) ,, जैन रत्न ठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर
१५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़े साइज, सजिल्द १५.००
- (२) आत परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८.००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २.००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-महित। १.५०
- (५) ग्रन्थात्मकमलमार्तण्ड—पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १.५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७.५०
- (७) श्रीपुरपादवंनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७.५०
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७.५०
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३.००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४.००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—ग्रन्थात्मक कृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४.००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २.५०
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रोप) मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २.५०
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२.५०
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैमे, (१६) समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैमे, (१७) महावीर पूजा २.५०
- (१८) ग्रन्थात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १.००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५.५०
ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२.००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७.००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५.००)
- (२२) कसायपाहुड सुत—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०.००
- (२३) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६.००

प्रकाशक—प्रेसचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपबाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वे मासिक

दिसम्बर १९६८, फरवरी १९६९

अनेकान्त

श्री 'युगवीर' स्मृति-अंक

आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर'



जन्म सं० १९३४, मृत्यु २२ दिसम्बर सं० २०२५

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१	वीर जिन-स्तवन—जुगलकिशोर मुख्तार	१६३
२	कतिपय श्रद्धांजलिया—(विविध विद्वानों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा)	१६४-२०६
३	अमर साहित्य-सेवी—श्री प० कैलाशचन्द सि० शास्त्री	२१०
४	अनुमन्धानके आलोक-स्तम्भ—प्रो० प्रेम सुमन जैन	२११
५	जैन समाज के भीष्म पितामह—डा० देवेन्द्र-कुमार शा०	२१३
६	मुख्तार साहब का व्यक्तित्व और कृतित्व—परमानन्द शास्त्री	२१५
७	उस मृत्युञ्जय का महा —डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२२३
८	गुणो की इज्जत	२२६
९	मुख्तार सा० की बहुमुखी प्रतिभा—बालचन्द सि० शा०	२२७
१०	वह युग सृष्टा सन्त (गद्य गीत)—मनु ज्ञानार्थी	२३२
११	'युगवीर' का राष्ट्रीय दृष्टिकोण—जीवनलाल जैन	२३३
१२	साहित्य तपस्वी स्व० मुख्तार सा०—अगरचन्द नाहुटा	२३५
१३	सत्यान्वेषी श्री युगवीर—कस्तूरचन्द एम. ए.	२३७
१४	सरस्वती-पुत्र मुख्तार सा०—मिलापचन्द रतन-लाल कटारिया	२६६
१५	युगवीर के जीवन का भव्य अन्त—डा० श्रीचन्द जैन सगल	२४३
१६	साहित्य जगत के कीर्तिमान नक्षत्र तुम्हे शतशः प्रणाम (कविता)—अनूपचन्द न्यायतीर्थ	२४६
१७	ऐसे थे हमारे बाबू जी—विजयकुमार चौधरी	२५०
१८	समीचीन धर्मशास्त्र—चम्पालाल सिंघई पुरदर	२५१
१९	एक अपूरणीय क्षति—पन्नालाल साहित्याचार्य	२५४



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

क्र०	विषय	पृ०
२०	महान साहित्य-सेवी—मोतीलाल जैन 'विजय'	२५६
२१	स्वर्गीय प० जुगलकिशोर जी—डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्	२५८
२२	जैन साहित्यकारका महाप्रयाण—प० सरमनलाल जैन	२६२
२३	जो कार्य उन्होंने अकेले किया वह बहुतों द्वारा सम्भव नहीं—डा० दरबारीलाल जी कोठिया	२६३
२४	श्री जुगलकिशोर जी 'युगवीर' (कविता)—रामकुमार जैन एम. ए.	२६६
२५	युगपरिवर्तक पीढ़ी की अन्तिम कड़ी थे युगवीर श्री नीरज जैन	२६७
२६	साहित्य-गगन का एक नक्षत्र अस्त—श्री बल-भद्र जैन	२६८
२७	इतिहास का एक युग समाप्त हो गया—डा० गोकुलचन्द जैन	२७०
२८	आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार—डा० कस्तूर-चन्द कासलीवाल	२७३
२९	इतिहास के अध्याय का लोह—प्रो० भागचन्द जैन 'भागेंद्रु'	२७५
३०	युग युग तक युग गायेगा 'युगवीर' कहानी (कविता)—प० जयन्ती प्रसाद शा०	
३१	श्रद्धांजलि (परिशिष्ट)—डा० दरबारीलाल आदि	२७७
३२	भावभीनी सुमनाञ्जलि—बाबू कपूरचन्द बरैया	२७७
३३	संस्मरण—दीलतराम मित्र १-३	२७९
३४	वीरसेवामन्दिर में आचार्य जुगलकिशोर मु० सा० के निधन पर शोक सभा	२८०
३५	श्री मुख्तार साहब अजमेर में—फतेहचन्द सेठी	२८२
३६	दो श्रद्धांजलियाँ	२८१
३७	प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का स्वर्गवास	२८४
३८	अनेकान्त के २१वें वर्ष की विषय-सूची	२८६



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १) रुपये २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं । — व्यवस्थापक अनेकान्त



भा० दि० जैन विद्द परिषद् द्वारा अभिनन्दन के अनन्तर—मूलनार साहब

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २१
किरण ५-६ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ बरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६५, वि० सं० २०२५

{ दिसम्बर १९६६
फरवरी १९६६

वीरजिन-स्तवन

मोहादि-जन्य-दोषान् यः सर्वान् जित्वा जिनेश्वरः ।

वीतरागश्च सर्वज्ञो जातः शास्ता नमामि तम् ॥

शुद्धि-शक्त्योः परां काष्ठं योऽवाप्य शान्तिमुत्तमाम् ।

देशयामास सद्धर्मं तं वीरं प्रणमाम्यहम् ॥

(मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नाम के चार घातिया कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले जो दोष हैं—राग-द्वेष, मोह, काम-क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-ग्लानि, अज्ञान, अदर्शन और अशक्ति आदि के रूप में आत्मा के विकार भाव अथवा वैभाविक परिणमन है—उन सबको जीतकर जो जिनेश्वर, वीतराग, सर्वज्ञ और शास्ता हुए हैं । उन वीरजिन को मैं नमस्कार करता हूँ ॥)

(जो मोहनीय कर्म का क्षय कर शुद्धि को, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का अभाव कर ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति तथा वीर्य शक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं । साथही उत्तम—अनुपमसुखरूप परिणत हुए हैं और इन सब गुणों से सम्पन्न होकर जिन्होंने समीचीन धर्म की देशना की है उन श्री वीर प्रभु को मैं प्रणाम करता हूँ ॥)

—जगलकिशोर मुख्तार

कतिपय श्रद्धांजलियाँ

[पाठकों को यह तो विदित हो ही गया है कि जैनसमाज के प्रसिद्ध साहित्य तपस्वी, कर्मठ समाज सेवी, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, 'जैन हितैषी' और अनेकान्तादि पत्रों के सम्पादक, प्रथित अनुवादक और भाष्यकार, एवं समीक्षक 'मेरी भावना' जैसे राष्ट्रीय निष्पक्ष पाठ के अमर लक्ष्मण, वीरसेवामन्दिर के संस्थापक आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार का २२ दिसम्बर १९६८ को स्वर्गवास हो गया है। उनकी स्मृति में जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकारों, विद्वानों, उद्योगपतियों, पत्र सम्पादकों, समाचार पत्रों और संस्थाओं आदि ने उनके सम्बन्ध में जो श्रद्धांजलियाँ भेजी हैं, और जो एटा में डा० श्रीचन्द्र जी 'सगल' के पास पहुँची हैं, उनमें से कुछ को यहाँ दिया जा रहा है।]

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन :

श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार के निधन से समस्त समाज और साहित्यवर्ग शोकान्वित है। जैन साहित्य में शोध की परम्परा स्थापित कर उन्होंने स्वयं अपना चिरस्थायी स्मारक बना दिया। उन्होंने तो अपना तन-मन-धन सभी इस दिशा में अर्पित कर दिया। ऐसा दूसरा विद्वान समाज में नहीं है। इष्टदेव से प्रार्थना है कि इनकी आत्मा को शान्ति हो।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल :

वास्तव में मुख्तार सा० का निधन जैन समाज की विशेषतः दि० जैन समाज की ऐसी क्षति है, जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में होती नहीं दिखती। वे महान् साहित्य सृष्टा, साहित्य तपस्वी, कर्मठयोगी एवं तत्त्ववेत्ता थे। उनकी दीर्घकालिक साधना हमारे लिए स्पृहणीय और अनुकरणीय है। उनकी लेखनी वज्रमय थी। उन्होंने जो कुछ लिखा, गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन के पश्चात् लिखा और अत्यन्त सुविचारित तथा नपे-तुले शब्दों में। कि वह अकाट्य बना रहा।

उनका समग्र लेखन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए और स्वान्तः सुखाय था। यही कारण है कि उन्होंने किसी के रुष्ट-नुष्ट होने की परवाह नहीं की। ऐसे निर्भीक लेखकों में उनका स्थान सर्वोपरि है। सभी दृष्टियों से उनका व्यक्तित्व महान् और गौरवशाली। उनकी विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा, संयमशीलता—सभी कुछ आदर्श था।

अनेकों बार आवाज उठने पर भी समाज उनके

व्यक्तित्व के अनुरूप समुचित सम्मान न कर सका, यह सोचकर हमारा मस्तक लज्जा से झुक जाता है। मगर उस निस्पृह-निष्काम महापुरुष ने इसकी कभी कामना नहीं की। ऐसा असाधारण व्यक्तित्व क्वचित् कदाचित् ही किसी समाज को प्राप्त होता है। हार्दिक कामना है कि स्वर्गस्थ इस महान् धार्मिक आत्मा को अखण्ड और अक्षयशान्ति प्राप्त हो।

बाबू यशपाल जी सम्पादक 'जीवन साहित्य'

श्रद्धेय मुख्तार सा० के देहावसान का जब दुःखित समाचार मिला, तो मुझे गहरी वेदना अनुभव हुई। इससे कुछ समय पूर्व जब मुख्तार सा० दिल्ली आये थे और उन्होंने मेरे घर पर आने की कृपा की थी तब उनके शारीरिक स्वास्थ्य को देखकर इतना तो लगा था कि वार्धक्य ने उन्हें आक्रान्त कर रक्खा है लेकिन उनसे इतनी जल्दी विछोह हो जायगा, इसकी मैंने कल्पना नहीं की थी।

मुख्तार सा० जैन समाज के एक विशिष्ट व्यक्ति थे। धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जो योग्यदान दिया वह चिरस्मरणीय रहेगा।

मुझे यद्द नहीं आता कि मुख्तार सा० से पहली बार कब मिलना हुआ। लेकिन उनकी 'मेरी भावना' के द्वारा उनसे परोक्ष परिचय बचपन में ही हो गया था। उसका पाठ मैंने न जाने कितनी बार किया है। आज भी प्रतिदिन करता हूँ। मेरी प्रतीति थी कि इस प्रकार की उदात्त भावनाएँ वही व्यक्ति कर सकता है जिसका अन्तःकरण

निर्मल हो और जो समष्टि के हितों में व्यष्टि का हित मानता हो ।

मुख्तार सा० के जीवन के अधिकांश वर्ष सरसावा और देववन्द में व्यतीत हुए, लेकिन उनकी प्रतिभा और साधना संकुचित क्षेत्र तक सीमित नहीं रही । अपनी एकान्त साधना के द्वारा उन्होंने जैन समाज को वह दिया, जो बहुत कम विद्वान और साधक दे पाए हैं । उन्होंने अपने अन्वेषण द्वारा बहुत सी उन मान्यताओं का खंडन किया जो समाज को विश्राम में डाले हुए थी । इतना ही नहीं, उन्होंने शास्त्रीय विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर जैन जीवन को शुद्ध और प्रबुद्ध बनाने का प्रयत्न किया ।

मुख्तार सा० अत्यन्त परिश्रमशील व्यक्ति थे । जब दिल्ली आकर वे स्थायीरूप से रहने लगे तो उनसे प्रायः भेंट हो जाया करती थी । मैं देखता था कि सादा और सात्विक जीवन व्यतीत करते हुए वे निरन्तर धर्म और साहित्य की उपासना में लीन रहते थे । यद्यपि उनका विषय मुख्यतः जैनदर्शन और जैन साहित्य था, तथापि उनकी रुचि और भी बहुत से विषयों में थी । मुझे स्मरण है कि उन्होंने मेरे प्रवास-सम्बन्धित लेखमालाओं को पढ़ कर अनेक बार मुझसे उनके सम्बन्ध में चर्चा की थी । और एक बार बड़े ही आग्रह के साथ मुझसे अनेकान्त के लिये एक कहानी लिखवाई थी ।

दिल्ली आने पर मैं उनका हेतु वीरसेवामन्दिर की प्रवृत्तियों को कुछ सघन और व्यापक बनाना था । उसी दृष्टि से यहाँ पर वीरसेवामन्दिर के भवन का निर्माण हुआ लेकिन बड़े स्थानों की और बड़े कार्यों की कुछ मर्यादाएँ भी होती हैं, वे कुछ ऐसे तत्त्वों को जन्म देती हैं । जो कार्य में सहायक नहीं होते । वीरसेवामन्दिर का विशाल भवन मुख्तार सा० के स्वप्नों को चरितार्थ करने में असमर्थ रहा । पर मुख्तार सा० की लगन और कर्मठता विरोधी तत्त्वों के सामने निरन्तर मन्द पड़ती गई । और अन्तिम दिनों में तो मैंने देखा कि वह बहुत ही निराश हो गये थे ।

अपने जीवन के सीमित वर्षों में एक व्यक्ति जितना कर सकता है । उससे कहीं अधिक काम मुख्तार सा० ने कर दिखाया । वस्तुतः वह व्यक्ति नहीं बल्कि एक संस्था

थे । लेकिन उनका यह स्वप्न कि वीरसेवामन्दिर और उसका मुखपत्र 'अनेकान्त' लोकोपयोगी बने, अभी तक अधूरा पड़ा है । उसे पूरा करने की आवश्यकता है । यह भी जरूरी है कि मुख्तार सा० का जो साहित्य पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुआ वह विविध रूप से पाठकों को सुलभ हो । इसके साथ ही मुख्तार सा० की एक विस्तृत जीवनी भी होनी चाहिए । अनेकान्त को भी अधिक लोकोपयोगी बनाना होगा ।

ये तथा ऐसे और भी अनेक कार्य हैं जो मुख्तार सा० के हितैषियों तथा प्रशंसकों को तत्काल हाथ में ले लेना चाहिए । यही उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धांजलि है ।

मैं मुख्तार सा० को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और कामना करता हूँ कि उनकी सेवाएँ और प्रेरणा चिरकाल तक जैन समाज को मार्गदर्शन करती रहे ।

प० कलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री :

जिन्होंने आचार्य समन्तभद्र, यतिवृषभ, पूज्यपाद, अकलंक, पात्रकेसरी, विद्यानन्द जैसे महान् आचार्यों के सम-यादि सम्बन्ध में विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला । पुरानी बातों की खोज द्वारा अनेक अनुपलब्ध और विस्तृत ग्रन्थरत्नों को प्रकाश में लाया । ग्रन्थपरीक्षा के द्वारा आचार्यों के नाम पर रचित जाली कृतियों का पर्दा फाश करके साहित्य के विकार को प्रस्फुटित किया, उन विस्तीर्ण साहित्यसेवी प्राक्तन विमर्शविचक्षण मुख्तार सा० के प्रांत में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ ।

प्रो० प्रेमसुमन जी जैन :

आदरणीय श्री मुख्तार जी के निधन से निश्चितरूप जैन विद्या के अध्ययन और अनुसन्धान के क्षेत्र में एक सशक्त आलोचक एवं साहित्य-सृष्टा की कमी हुई है । अपने जीवन के अन्तिम दिनों में श्री मुख्तार जी जैन साहित्य की सेवा में रत रहे यह उनकी कार्य क्षमता एवं सच्ची लगन का प्रमाण है । श्री मुख्तार जी ने यद्यपि विविध प्रकार के विपुल साहित्य की रचना की है, किन्तु पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्हें अद्वितीय कहा जा सकता है । उनकी समस्त रचनाओं से परिचित कराने के लिए प्रति-

निधि रचनाओं का एक संग्रह अवश्य प्रकाशित किया जाना चाहिए। वही उनके प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि होगी।

डा० प्रद्युम्न कुमार जी जैन :

जैन जगत का अद्भुत रत्न विलुप्त हो गया—यह जानकर हृदय को करारा धक्का लगा। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि मुस्तार प्रणीत 'मेरी भावना' दोलायमान हो उठी हो। और जीवन की सारहीनता के सम्पूर्ण स्व का अनावरण हो गया हो। प्रातः स्मरणीय प० जुगल किशोर मुस्तार जी जैन वाङ्मय के गौरव प्रतीक थे। पुरातन की खोज एवं भावी के सृजन के अद्भुत सामजस्य थे वह। मेरा प्रत्यक्ष परिचय न होते हुए भी मुझे मुस्तार जी का व्यक्तित्व सदैव परिचित सा लगता रहा। वाणी के इस धनजय से समाज को काफी बड़ी आशाएँ थीं। बा० कामताप्रसाद जी के निधन के बाद जैन जगत को यह दूसरी बड़ी क्षति इतने अल्प समय में ही भोगनी पड़ेगी—यह कोई नहीं जानता था। इन रिक्त स्थानों की पूर्ति हेतु जनमानस को कठिन प्रतीक्षा ही करनी होगी।

मैं अपनी सहज समवेदना उस सम्पूर्ण शोक सतप्त परिवार के साथ एकाकार करता हूँ जो दिवगत भव्यात्मा के प्रत्यक्ष विछोह की वेदना सहन कर रहा है। पंडित जी तो निकटभव्य थे ही और उनका क्षयोपशम भी तीव्र था। मुझे पूर्ण आशा है कि उनकी आत्मा को सद्गति प्राप्त हुई होगी।

जनेन्द्रकुमार जी जैन

स्वर्गीय श्री मुस्तार जुगलकिशोर जी मानों इस शताब्दी के जैन संस्कृति और जागृति के मूर्तिमान इतिहास थे। उनकी लगन और अध्यवसाय अनुपम, जैन वाङ्मय और पुरातत्त्व की दिशा में उनकी सेवाएँ बेजोड़ रही। उनके स्थान को किसी तरह भी भरा नहीं जा सकता, जैन समाज उनका सदा ऋणी रहेगा। उनकी 'मेरी भावना' जैन घरों में ही नहीं जैनोतर परिवारों में भी प्रचारित हुई। और लगभग उनका नित्य पाठ बन गई। उनके द्वारा स्थापित अनेकान्त और वीर सेवामन्दिर उनकी ऐसी यादगार है जो आशा है समाज के सहयोग से

उत्तरोत्तर उन्नत होते जायेंगे। मैं हस्तिनापुर ब्रह्मचर्याश्रम की चौथी श्रेणी का विद्यार्थी रहा हूँगा, कि तभी से मुस्तार सा० का लाभ मेरे चित्त में श्रद्धेय स्थान बना बैठा और वह अन्त तक मेरे लिए उसी प्रकार सम्माननीय बने रहे।

यह मेरा सौभाग्य था जैसे छुटपन में मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ वैसे ही आगे जा कर भी मैं उनका स्नेह भाजन बना रहा। मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि आप के द्वारा उनकी स्मृति के प्रति अर्पित करता हूँ।

परमानन्द शास्त्री

मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी इस युग के महान विद्वान, साहित्य सर्जक, मार्मिक टीकाकार, मान्यसम्पादक, प्राक्तन विद्याविमर्शविचक्षण और इतिहासज्ञ थे। वे प्रबल सुधारक, अच्छे लेखक एवं उग्र समीक्षक थे। पहले मैं उन्हें 'मेरी भावना' के सर्जक के रूप में परोक्ष रूप से जानता था। किन्तु सन् १९३६ से अब तक मैं उनके सानिध्य में रहा। उनके साथ कार्य किया। और उनके कार्यों में यथासाध्य सहयोग भी देता रहा। उनके अनुभव एवं निर्देशों से लाभ भी उठाया। उनका जीवन एक साहित्यिक जीवन था, उनमें साहित्य के प्रति अदम्य उत्साह और लगन थी। इसी कारण वे साहित्य तपस्वी के रूप में उल्लेखित किये जाते हैं। उनकी रचनाएँ प्रौढ़ और प्रामाणिक हैं। उनकी स्मृति और याददाश्त (धारणा) प्रबल थी। वे लिखने से पूर्व उस पर गहरा विचार करते थे, तब कही उस पर लेखनी चलाते थे। उनके अनुवाद करने की पद्धति निराली थी। वे बहुत धीरे-धीरे लिखते, किन्तु उसे बार-बार पढ़ते थे। और शब्दों का जोड़ इस तरह से बँटाने का प्रयत्न करते जिससे उसमें विरोध और असम्बद्धता उद्भावित न हो सके।

उनके समीक्षा ग्रन्थ जैन संस्कृति के अमूल्य रत्न हैं। और विद्वानों के मार्गदर्शक, उनके गवेषणात्मक लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक तथ्यों के उद्भावक तथा भ्रान्ति के उन्मूलक हैं। उनकी व्याख्याएँ कठिन विषय को भी सरल एवं सुबोध बनाती हैं। दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाएँ भी उनके तलस्पर्शी पाण्डित्य की द्योतक हैं। वे वीरसेवामन्दिर जैसी संस्था के संस्थापक थे। उनकी

भाषना संस्था द्वारा इतिहास और प्राचीन साहित्य के अनुपलब्ध ग्रंथों का अन्वेषण कर उन्हें प्रकाश में लाना था, जिससे जैन संस्कृति की महत्ता ख्यापित हो ।

वे अनेकान्त के संस्थापक और सम्पादक थे । उसमें प्रकाशित लेखों द्वारा जैन साहित्य और इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझाई गईं, अनेक अनुपलब्ध ग्रंथों का अन्वेषण कर प्रकाश में लाया गया, और अनेक आचार्यों, विद्वानों भट्टारकों और कवियों का परिचय भी प्रकाशित किया गया ।

मुख्तार साहब स्वयं एक साहित्य सस्था थे । निर्भीक लेखक और शोधक थे । वे साहित्य सृजन में इतने सलग्न एवं तन्मय हो जाते थे कि उन्हें उस समय बाह्य बातों का कुछ भी ध्यान नहीं रहता था । वे सच्चे अर्थों में युगवीर थे । मैं उन्हें अपनी हादिक अद्वाजलि अर्पित करता हूँ ।

श्री पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री

साहित्यतपस्वी श्रद्धेय मुख्तार सा० बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । वे अन्तिम समय तक साहित्य साधना में निरत रहे हैं । यद्यपि मुख्तार सा० आज हमारे बीच में नहीं हैं, पर उन्होंने जो ऐतिहासिक क्षेत्र में अभूतपूर्व काम किया है वह इतिहास में अमिट रहने वाला है । उससे सशोधकों का मार्ग प्रशस्त व निरापद हो गया । प्रख्यात इतिहासकार होने पर भी उनकी तर्कणाशक्ति व वैदुष्य कुछ कम नहीं था । इसी के बल पर उन्होंने युक्त्यनुशासन व देवागमस्तोत्र जैसे तात्त्विक ग्रन्थों के साथ तत्त्वानुशासन और योगसार-प्राभूत जैसे अध्यात्मप्रधान सैद्धान्तिक ग्रन्थों पर भी उच्चकोटि की व्याख्याओं की रचना की है । वे जो सुधारक माने जाते थे सो यथार्थ में ही सुधारक थे । उनका त्यागभय जीवन अतिशय धार्मिक रहा है । ऐसे स्थितिप्रज्ञ के प्रति स्वभावतः नतमस्तक हो जाना पड़ता है ।

रा० ब० सेठ हरल्लचन्द्र जी पाण्ड्या रांची

मुख्तार सा० सचमुच में युगवीर, साहित्यमनीषी, समाजसेवक एवं आदर्श विद्वान् थे । उनका जीवन धरत विद्वानों के लिये प्रेरणा प्रद था । वयोवृद्ध अवस्था में भी निरंतर साहित्य-सेवा में जुटे रहते थे । पूर्वाचार्यों की

अनुपम कृतियों को नूतन विद्वत्तापूर्ण एवं नई खोजों के साथ समाज के सामने रखना आप का ही कार्य था । मैं समझता हूँ निकट भविष्य में श्री मुख्तार साहब के स्थान की पूर्ति होना संभव नहीं है ।

डा० ज्योतिप्रसाद जी लखनऊ :

प्राक्तन विद्या विचक्षण, वाङ्मयाचार्य, सिद्धान्ताचार्य आदि उपाधि विभूषित स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' स्वामी समन्तभद्र के अनन्य भक्त, समन्तभद्र भारती के अद्वितीय उद्योतक, महान् आराधक, सुकवि, टीकाकार, समालोचक, सम्पादक साहित्यकार, समाजसुधारक, स्थितिप्रज्ञ साधक और निःस्वार्थ सस्कृति-सेवी थे । ६१ वर्ष की दीर्घ आयु में उनका निधन न आकस्मिक ही था और न असामयिक ही । तथापि उसके फलस्वरूप भारतीय विद्या के क्षेत्र को और विशेष कर जैन जगत को जो क्षति पहुँची है वह अपूरणीय है । उनका सफल जीवन एवं कृतित्व वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के लिये एक सबल प्रेरणास्रोत एवं आलोक पुञ्ज बना रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इस महामनीषी चिरसाधक की पुनीत स्मृति में अपनी विनम्र अद्वाजलि समर्पित करने का अवसर प्राप्त करना भी परम सौभाग्य है—वैसा करते हुये मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ ।

प० विजयकुमारजी चौधरी एम.ए.

शान्तिनगर जैन गुरुकुल, जोबनेर :

वीर वाङ्मय की साधना में निरन्तर लीन रहने वाले इस महान् साहित्य तपस्वी आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार के वियोग से जैन साहित्य ससार पर अनभ्र वज्र-पात हुआ है । श्री मुख्तार साहब ऐसे दधीचि थे जिन्होंने साहित्य देवता की आराधना में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया । जैन साहित्य के तो वे महारथी थे । उन्होंने दि० जैन आचार्य परम्परा के विलुप्त एवं अनुपलब्ध इतिहास को जिस गहराई के साथ खोजकर उसे सकलित किया उससे जैन सस्कृति का महान् उपकार हुआ है । इस महान् साहित्य तपस्वी की साधनाओं का पूरा उल्लेख लेखनी से हो नहीं सकता । अब हमारे पास इसके सिवाय क्या चारा है कि हम उनके पुण्य-स्मरण से प्रेरणा प्राप्त करें । स्वर्ग

में विराजमान उन्हें बीर-बाणी के प्रचार-प्रसार की चिन्ता अवश्य होगी, जिस काम को उन्होंने अघूरा छोड़ा उसे हम सब अनुयायियों को आगे बढ़ाना प्रथम कर्तव्य है। उस साहित्य-तपस्वी के प्रति हम भाव भरी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

श्रद्धा के फूल

बा० सूरजभान जी जैन 'प्रेमी' आगरा :

संसार की परिवर्तन शीलता के वशीभूत होकर अनेक मानव इस संसार में आते हैं। और चले जाते हैं। ऐसे ही मानवों में कुछ ऐसी विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है। जिनकी संसार को बड़ी जरूरत होती है। वे संसार में अपनी जीवन यात्रा करते हुये, शुभ कार्यों का उपाजन कर अपनी यश पताका संसार में फहरा जाते हैं। इसी कारण से उनका नाम चिरस्मरणीय हो जाता है। उनका लक्ष्य मानव प्रगति की ओर रहता है और स्वार्थमयी भावनाये उन पर अपना प्रभाव नहीं जमा पाती। उनकी उदारता, सच्चरित्रता एवं कल्याणकारिणी धार्मिक प्रवृत्तियों से व्यथित मानव समाज को सुख शान्ति प्राप्त होती है। उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से मनुष्य ऐसी विभूतियों के सन्निकट पहुँच कर आत्मिक शान्ति का अनुभव करता है।

पूर्व जन्म की कठोर तपस्या और शुभ सत्कारों से ही किसी विशेष व्यक्ति को ये गुण संसार की भलाई के लिये प्रेरित करते हैं। वस्तुतः सफल जीवन ही मार्ग-दर्शक है। ऐसे सत्पुरुषों की जीवन गाथा मानवता के उदात्त गुणों का प्रकाश कर मानव को मानवोचित शील संयम, सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाती है। ऐसी दिव्य आत्माओं में वाङ्मय विद्वान् राष्ट्र के महान् साहित्यिक इतिहास वेत्ता, आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगबीर' का नाम भी आता है। जिन्हें संसार के अमूल्य और दुर्लभ पदार्थ विद्या, धन और यश प्राप्त था। उनका जीवन आज के युग के लिए शान्ति का सोपान निश्चित करता है।

आचार्य जी का जन्म मिति मार्गसिर शुक्ला ११ संवत् १६३४ में सरसावा (सहारनपुर) में एक सम्पन्न अग्रवाल कुल में हुआ। आप ने २० वर्ष की अवस्था में बा० सूरज

भान वकील के समीप रह कर मुस्तार गिरी प्रारम्भ कर दी। दस वर्ष तक उसमें पर्याप्त प्रगति की। और आपका अध्ययन निरन्तर चलता रहा। फिर उस कार्य से दोनों को घृणा हो गई। फलतः चलती हुई प्रैक्टिस को दोनों ने यकायक छोड़ दिया। फिर सत्योदय, जैन प्रदीप आदि पत्रों का प्रकाशन किया। आप में दान शीलता, उदारता, विनय, सौजन्य सादगी और सच्चरित्रता आदि सभी गुण विद्यमान थे। उनमें वास्तव्य का भाव भरा हुआ था। अपरिचित व्यक्ति में उनसे मिलने पर आत्मीयता के भाव जगृत हो जाते थे। और यह अनुभव करने लगता था कि न जाने आचार्य जी के साथ कितना प्राचीन और घनिष्ट परिचय है।

इसके पश्चात् आपने अपनी जन्मभूमि सरसावा में अपनी जायदाद पर ही बीरसेवामन्दिर की स्थापना की। फिर इक्यावन हजार का द्रष्ट बना कर शोध कार्य प्रारम्भ किया। भारत स्वतन्त्र होने पर आपने बीरसेवामन्दिर का विशाल भवन बाबू छोटेलालजी कलकत्ताके सौजन्य से दरियागज दिल्ली में निर्माण कराया। जो आज तक शोध और साहित्य का कार्य कर रहा है। इसकी व्यवस्था ५० परमानन्द जी शास्त्री के हाथ में है। इससे आचार्य जी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

आपने अपनी अधिकांश सम्पत्ति का सदुपयोग सम्यग्-ज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिए किया, और बीर सेवा मन्दिर के द्वारा उच्च कोटि के ग्रंथों का प्रकाशन किया था। और वही से अनेकांत पत्र लगभग २० वर्ष से प्रकाशित हो रहा है।

यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मुस्तार सहब ने लगभग ७० वर्ष तक जैन समाज और साहित्य की सेवा की है। आप ने आज तक ३०-४० छोटे बड़े सार्थ ग्रंथ तैयार करके प्रगट किए हैं। सारांश यह है कि आप का सारा जीवन ही जैन साहित्य के सृजन में व्यतीत हुआ है।

आप प्राच्य विद्या के महा पंडित, शोध और खोज के दुरूह कार्यों में सलग्न लेखनी के घनी, आलोचक, श्रद्धा से युक्त थे। आप की साहित्य-सेवा तथा दान के लिए जितना भी लिखा जाय कम है।

आप की आदरणीय कृति 'मेरी भावना' जन-मानस

में सार्वजनिक रूप से कविता के भाव को आलोकित करती रहती है। मेरी भावना के पढ़ने से हृदय के तार झन-झना उठते हैं। इसे मेरी भावना की कविता को राष्ट्रीय गीत के रूप में अनेक प्रान्तीय सरकारों ने मान्यता दी है और जेलों तक की दैनिक प्रार्थनाओं में इसे शामिल किया है। यह अनेक भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में लाखों की तादात में प्रसारित हो चुकी है। इसे जेलों में प्रसार कराने का सौभाग्य इस लेखक को भी प्राप्त हुआ है।

आप २-३ वर्ष से एटा में अपने भतीजे डा० श्रीचन्द जी सगल के निवास स्थान पर चले गए थे डा० साहब भी उनकी परिचर्या में सलग्न रहे। अन्त में ६२ वर्ष की लंबी आयु में ता० २२ दिसम्बर १९६८ को अपनी जीवन लीला समाप्त कर ससार से चले गए।

अन्त में मैं ऐसी दिव्य आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करना उनकी मानवोचित मेरी भावना के एक छंद को लिख कर लेख को समाप्त करता हूँ—

रहे भावना ऐसी मेरी सरल सत्य व्यवहार कहें,
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार कहें।

पं० गोपीलाल जी 'अमर' एम. ए.

आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार का अध्ययन-मनन इतना मौलिक था कि उसके आगे निराधार परम्परायें टिकती न थी, और इतना सूक्ष्म था कि उसके आगे थोथे तर्क नाकाम हो जाते थे।

दलित वर्ग, दस्सा, बिनेकया, स्त्रियों आदि की शास्त्र-सम्मत वकालत करके उन्होंने जैन समाज को सभ्य समाज की श्रेणी में लाने की पुरजोर कोशिश की।

'ग्रन्थपरीक्षा' के जरिए मुस्तार जी ने भट्टारकों के साहित्यिक षड्यन्त्र और स्वेच्छाचार का भंडाभोड़ किया और जैन साहित्य में सदियों से घर बनाते आ रहे जनेतर तत्त्वों को निर्मम होकर निकाल फेका।

काली कमाई को धर्म के नाम पर सफेद बनाने वाले यजमानों को और हाँ में हाँ मिलाकर भोली भरने वाले पुरोहितों को उन्होंने कठोर चेतावनी दी कि वे किराए की पूजन के लिए मंदिर-मूर्तियों का निर्माण न करावें।

अध्यात्मवाद के नाम पर विज्ञानसिद्ध सचाइयों को भी झुठलाने वालों को उन्होंने 'चैतन्यगुणविशिष्ट सूक्ष्माति-

सूक्ष्म अखण्ड पुद्गलपिण्ड (काय)' को जीव की संज्ञा देकर जो चुनौती दी (अनेकान्त, जून '४२ पृ० २०५) उसका जवाब सत्ताइस वरस बाद भी किसी को नहीं सूझ पड़ा।

हिन्दी को सर्व सम्मत और सर्वगुणसम्पन्न बनाने के लिए उसमें उच्च कोटि के विपुल साहित्य का निर्माण ही एकमात्र उपाय जो मुस्तार जी ने, स्वतंत्रता से काफी पहले सुझाया था, उसके बिना आज भी कल्पना नहीं।

इस तरह सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में दी गई चुनौतियों का माकूल जवाब देकर ही हम स्व० मुस्तार जी के कर्ज से बरी हो सकते हैं। हमारी श्रद्धांजलि तभी सार्थक होगी :

डा० प्रेमसागर जी जैन

पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार, जीवन की अन्तिम सांस तक जैन साहित्य के अनुसंधान और सम्पादन में लगे रहे। इतना ही नहीं, उन्होंने उस साहित्य को हिन्दी में अनूदित कर जनमाधारण के लिए सुलभ बनाया। शोधपूर्ण प्रस्तावनायें लिखी—ऐसी कि एक-एक पर पी० एच० डी० सहज ही प्राप्त हो सकती है। इस सब में उन्हें आनन्द मिला और उनका मन केन्द्रित रहा। वे एक साधक थे। उनकी साधना का दीप सूनी कुटिया के कोने में रजनी-भर जलता रहा।

वे शोध-खोज की सूखी राह के राही थे और इस सन्दर्भ में लोग उन्हें नितांत शुष्क समझते हैं, किन्तु ऐसा था नहीं, उनका हृदय रस-स्रोत था। मैं कहता हूँ कि यदि उन्होंने यह सब कुछ बिल्कुल न किया होता तो केवल 'मेरी भावना' ही उनकी व्यापक ख्याति का एक मात्र आधार थी। आज भी जन-जन में वही व्याप्त है। वही उसकी यश-निर्भरणी है। मैं ऐसे एक साधक को जिसने अपनी साधना से हृदय और बुद्धि को समरूप में साधा था, श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, } जयपुर
और पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ }

श्रद्धेय श्री जुगलकिशोर जी सा० मुस्तार के स्वर्ग-वास का समाचार पढ़ कर अत्यधिक दुःख हुआ। स्व०

मुस्तार सा० इस युग के मार्गदृष्टा थे, उन्होंने अपने जीवन के ५० से भी अधिक वर्ष साहित्य लेखन में समर्पित किये और जैन साहित्य, दर्शन एवं इतिहास में अन्वेषण कर एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। यद्यपि वे आजकल के समान डाक्टर नहीं थे लेकिन सैकड़ों डाक्टरों की सेवाएं उनकी साहित्यिक सेवाओं पर न्योछावर की जा सकती हैं। उनकी अकेली मेरी भावना ही ऐसी कृति है जो सैकड़ों वर्षों तक उनकी कीर्ति को चिरस्थायी रखेगी। आ० समन्तभद्र पर उनकी खोज अपने ढंग की अद्भुत खोज है। सचमुच आज की युवा पीढ़ी के विद्वानों में जैन साहित्य के अन्वेषण एवं खोज की ओर जो झुकाव हुआ है उसमें आदरणीय मुस्तार सा० का प्रमुख योग है।

उनके निधन से जैन समाज ने ही नहीं किन्तु भारतीय समाज ने अपनी एक ऐसी निधि खो दी है जिसकी निकट भविष्य में पूर्ति होना संभव नहीं है।

रतनचन्द जी जैन एम० ए० एम० एड लामटा

परम श्रेष्ठ श्री जुगलकिशोर जी मुस्तार की आत्मिक पाथिव मृत्यु का समाचार सुनकर हृदय दुःख से परिपूर्ण हो गया। जैन सिद्धान्त एवं जैन साहित्य के इस प्रणेता का पाथिव शरीर अब इस असार ससार में नहीं रहा, परन्तु उनकी कीर्ति, उनके अविस्मरणीय कार्य सदैव अमर रहेंगे। जैन साहित्य को सार्वजनिक रूप में प्रस्तुत करने, उसके उद्धार, सम्पादन, भाष्य, टीका, एवं प्रकाशन के निमित्त स्वर्गीय मुस्तार जी ने जो किया वह कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

तन-मन-धन सभी का इस प्रकार का पवित्र अर्पण अद्वितीय है। समन्तभद्राश्रम (वीर सेवामन्दिर) इसका महान् उदाहरण है।

समाज सुधार के रूप में मुस्तार जी की सेवाएं अपूर्व हैं। उन्होंने उस समय समाज सुधार का बीड़ा उठाया जब कि समाज का एक वर्ग कट्टरतावादी था। आलोचक के रूप में वे हमारे आदर के पात्र हैं। उनकी आलोचना सुधारात्मक है। सम्पादक के रूप में वे हमारे गुरु हैं और एक महान् मानव के रूप में वे हमारे सच्चे पथ-प्रदर्शक हैं। एक साथ इतने महान् गुणों का समावेश दुर्लभ

है। जैन समाज उनका जितना ऋणी है—वह उस ऋण को चुकाने में शायद ही कभी समर्थ हो सकेगा।

एक साहित्यकार के रूप में वे हमारे श्रेष्ठ निर्देशक थे। उनका सम्पूर्ण साहित्य, हिन्दी साहित्य की एक अपूर्व निधि है।

बालचन्द जी जैन नवापारा राजिम :

इस महान् तपस्वी साहित्यसेवी महापुरुष को इस जीवन में रहकर अभी बहुत कुछ करना शेष था, पर जो भी-जितना भी किया वह सब उस 'युगवीर' ने सर्वोपरि किया। आपकी साहित्य-सेवा से सारी जैन समाज महान् ऋणी है। इस महामना ने मरते क्षण तक साहित्य-सेवा से विराम नहीं लिया और उन अन्तिम क्षणों में भी जैन संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन की चिन्ता रखी।

वास्तव में आपके साहित्यसेवी जीवन की बात ही निराली रही, और इस साहित्य क्षेत्र में आप जैसा अोजस्वी-प्रखर खोजी व्यक्ति होना असंभव-सा है।

पं० के० भुजबली शास्त्री धारवार :

श्री जुगलकिशोर जी 'युगवीर' के स्वर्गवास के समाचार से मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। उनसे मेरा लगभग ४५ वर्षों का सम्बन्ध रहा। वे मुझे बहुत मानते थे। ध्वलादि ग्रन्थों के परिशीलन के लिये वे जब आरा आये थे तब कई मास तक हम लोग साथ ही रहे। वे जब आरे से चलने लगे तब उनके नेत्र सजल हो गये थे। साथ ही साथ वे कहने लगे कि वस्तुतः आप वहाँ नहीं होते तो मैं इतने दिन तक वहाँ नहीं ठहरता। जुगलकिशोरजी एक सूक्ष्म तलस्पर्शी विमर्शक, प्रौढ लेखक और सुबोध सम्पादक थे। जैन पुरातत्त्व एवं इतिहास पर उनकी विशेष भक्ति रही। उनके विमर्श से खासकर दि० जैन समाज को आशातीत भारी क्षति हुई। खेद की बात है कि दि० जैन समाज विद्वानों की कदर नहीं जानता। समाज ने उनका समुचित आदर नहीं किया। ५० वर्षों से धर्म, साहित्य तथा समाज के लिये सर्वस्व समर्पित करने वाले विद्वानों की भी समाज कदर नहीं करता।

डा० नैमिचन्द शास्त्री एम. ए. डी. लिट् आरा (बिहार)
आदरणीय सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ सिद्धान्ताचार्य पं०

श्री जुगकिशोर जी मुस्तार के स्वर्गवास का समाचार अवगत कर हादिक दुःख हुआ। मुस्तार सा० द्वारा की गई साहित्य-सेवा चिरस्मरणीय रहेगी। उनका यशः शरीर इस जगत में कल्पान्त काल तक स्थित रहेगा। मैं दिवंगत आत्मा की शान्ति और सद्गति प्राप्ति की शुभ कामना करता हूँ।

बाबू प्रेमचन्द जी जैन मंत्री-वीर-सेवा मन्दिर

मुझे यह जानकर अत्यधिक दुःख हुआ कि जैन समाज के साहित्य सेवी वयोवृद्ध विद्वान् प० जुगलकिशोर जी मुस्तार का २२ दिसम्बर रविवार को देहावसान हो गया। वे कर्मठ साहित्य-सेवी, जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् थे, उनके द्वारा लिखित पुस्तकें और लेखादि सप्रमाण होते थे, उन्होंने जो साहित्य-समीक्षाएँ लिखी हैं वे बेजोड़ हैं। वे प्रबल सुधारक तथा वीर-सेवामन्दिर जैसी संस्था के संस्थापक थे। और रात दिन साहित्य सेवा में व्यतीत करते थे। उनकी जीवन चर्या निराली थी। जैन धर्म के सुदृढ़ श्रद्धालु और समन्तभद्राचार्य के अनन्य भक्त थे, और उनकी भारती के सम्पादक, अनुवादक थे। आपने स्वामी समन्तभद्र का इतिहास इतना अच्छा और प्रामाणिक लिखा है : साथ ही अनेक आचार्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उनकी लोह लेखनी से जो कुछ साहित्य सजित हुआ वह उच्च कोटि का और नपे-तुले शब्दों में लिखा गया है। वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक साहित्य सेवा में सलग्न रहे। यद्यपि अस्वस्थता के कारण उनका शरीर इतना काम नहीं दे रहा था पर उनका दिल और दिमाग बराबर कार्य कर रहे थे। उन जैसा निश्चार्थ समाजसेवी समाज में दूसरा विद्वान् नहीं है। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति होना असंभव है। मैं उन्हें अपनी और संस्था की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

डा० विमलप्रकाश जी जैन, जबलपुर

स्व० श्रद्धेय मुस्तार साहब से मेरा जीवन में कभी साक्षात् परिचय नहीं हुआ। उनकी साहित्य-सेवा से सारा जैन विद्वत् समाज परिचित है। स्वामी समन्तभद्र रचित साहित्य को श्रेष्ठ रीति से प्रकाशित करने का उनका

कार्य अनुपम अद्वितीय है। जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश भी उनकी अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक है। जैन साहित्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिशा दान किया। हम लोग निज जीवन में स्व० मुस्तार साहब से प्रेरणा ग्रहण करते रहकर निरन्तर साहित्य एवं समाज-सेवा में निरत रहे यही भावना है।

पं० जयन्ती प्रसाद जी शास्त्री

प्राच्य-विद्या-महार्णव, अनविकी लेखनी के धनी, अथक परिश्रमी पूज्य आचार्य प० जुगलकिशोर मुस्तार, जैनधर्म के गौरव के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। समय समय पर उनका अभाव सदा खटकता रहेगा। उनकी सूक्ष्म दृष्टि कभी भुलाई नहीं जा सकेगी।

मुझे उनके सानिध्य में रहने का अवसर मिला था मैंने उन्हें निकट से देखा था समझा था और उनका आशीर्वाद पाकर आगे बढ़ने का प्रोत्साहन पाता रहा था। वह प्रातः स्मरणीय आचार्य समन्तभद्र के अनन्य उपासक थे उन्होंने उनके ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन और मनन किया था उनके शब्दों की आत्मा को समझा था।

मुस्तार सा० ने जो कुछ लिखा वह सब प्रामाणिक एवं युक्तिपूर्ण ढंग से लिखा। धर्म के अनेक विवादों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सुलझाया, उनके शोध-खोज पूर्ण लेखों का लोहा जैन समाज मर्मज्ञों ने ही नहीं माना; बल्कि जैनैतर विद्वान् भी मानते थे। उनके लेखों का आधार लेकर ही अनेक विद्वानों ने पी. एच. डी. पाने में परोक्ष रूप से श्रद्धा प्राप्त की, उनके अनेक भक्त बन गये।

उनका विचार था कि दिल्ली में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना हो जाने से वे अपनी भावना को साकार बनायें। जैन समाज के गण्यमान विद्वानों के साथ अनेक गुत्थियों को सुलझाये परन्तु यह सब न हो सका, फिर भी मैं अब यह आवश्यक समझता हूँ कि उनके द्वारा संस्थापित वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट को वीर सेवा मन्दिर-संस्था के साथ सम्बद्ध कर उस संस्था को एक शोध संस्थान का रूप दे दिया जाय। जिससे पूज्य मुस्तार सा० की आन्तरिक भावना पूर्ण हो और इस संस्था के उद्देश्य की भी पूर्ति हो।

मुझे विश्वास है कि बीर सेवा मन्दिर के कार्यकर्ता उनकी भावना के अनुसार उस अमर ज्योति के कायों को पूरा कर दिवंगत आत्मा को शक्ति प्रदान करेंगे।

अन्तमें मैं उस महान् योगी के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ कि उनका गुण प्राप्त कर सकूँ।

मुझे विश्वास है कि वर्तमान बीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट के संचालक गण इस विषय की ओर अवश्य ध्यान देंगे। इस प्रकार उनके प्रति समाज की हादिक श्रद्धांजलि हो सकेगी और मुस्तार सा० के ग्रहूरे कार्य भी पूरे हो सकेंगे।

डा० विद्याधर जोहरापुरकर :

आदरणीय प० जुगलकिशोर जी मुस्तार जैन इतिहास के निर्माताओं में अग्रणी हैं। उन्होंने तथा स्व० प० तायू-राम जी प्रेमी ने जैन हितैषी और अनेकान्त द्वारा जैन साहित्य की जो सेवा की वह वास्तव में अमूल्य है। जैन विद्वत्समाज में उनका वही महत्त्व है जो संस्कृत पण्डितों में स्व० डा० भण्डारकर का था। उन्हीं के भगीरथ प्रयत्नों का यह फल है कि आज जैन साहित्य का हमारा ज्ञान दन्तकथाओं के स्तर से ऊपर उठ कर इतिहास के दर्जे तक पहुँच सका है। इन दोनों महापण्डितों के प्रत्यक्ष दर्शन का अवसर हमें एक एक बार ही मिला किन्तु उनके साहित्यिक कार्यों से हमारा संपर्क प्रायः प्रतिदिन ही आता है। मुस्तार जी ने जैन शासन के प्रेरणादायी सन्देशों को 'मेरी भावना' में जिस प्रभावशाली ढंग से शब्दबद्ध किया है वह भी बेमिशाल है। यह रचना निःसन्देह रूप से बीसवीं शताब्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय जैन कृति कही जायेगी।

पं० बलभद्र जी जैन—आगरा

मुस्तार साहब एक युग पुरुष थे। उन्होंने जो साहित्य सेवा की, प्राचीन जैन आचार्यों की जो प्रामाणिक शोध-खोज की, सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में जो बहुमुखी क्रान्ति की, उन सबने नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। उन्होंने समाज की रूढ़ परम्पराओं को अपने साहस और व्यक्तित्व से आमूल भङ्गभोर कर जैन समाज को प्रबुद्ध दिशा प्रदान की। निश्चय ही यह युग 'युगवीर' युग के नाम से इतिहास में सदा स्मरण किया जाता रहेगा। उनकी मेरी भावना

आज लाखों व्यक्तियों का कण्ठहार बनी हुई है और वह उन्हें नित नई प्रेरणा देती रहेगी।

मुस्तार सा० ने जो कुछ भी लिखा वह, साहित्य अमर है, उनके निष्कर्ष अकाट्य हैं। उनकी गौरव गरिमा अक्षुण्ण एवं अमलान है। वे किसी एक जमीन, एक सम्प्रदाय के नहीं थे, वे राष्ट्र के साहित्य-जगत के एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र थे, जिन पर युग को, इतिहास को, सदा गर्व रहेगा।

श्री साणिकचन्द जी चवरे कारंजा

सन्माननीय विद्वद्वर्ग विचक्षण पंडित श्री जुगलकिशोर जी 'युगवीर' का २२ दिसम्बर रविवार को स्वर्गवास पढ़कर अत्यन्त दुःख हुआ।

श्रीमान् पंडित जी ने आयु के अन्तिम क्षण तक जैन साहित्य, तत्त्वज्ञान तथा इतिहास आदि के विषयक बहुमूल्य ग्रन्थासम्पूर्ण शास्त्रों की निर्मिति की। विशेषतः आचार्य शिरोमणि श्री समत भद्राचार्य जी के समस्त ग्रन्थों का वर्षों धीरे गम्भीरता से आलोचन करके जो ग्रन्थों का वैशिष्ट्यपूर्ण सम्पादन किया वह अपने रूप में बेजोड़ है। इसी प्रकार अनेकान्त का सम्पादन भी मुरुचिपूर्ण अपने ढंग का वैशिष्ट्यपूर्ण ही रहा। इतिहास तथा संस्कृति के विषय में भी अनेक शोध-प्रबन्ध अपूर्व रूप ही प्रतीत हुए।

श्रीमान् पंडित जी की 'मेरी भावना' एक अमर कृति ही है अपने रूप में स्वयं पूर्ण है। साहित्यिक सर्जनमात्र के लिए ही पंडित जी का जीवन सीमित नहीं रहा। स्वसम्पादित सारा धन पवित्र कार्यों के लिए निष्ठापूर्वक अर्पित करके आपने एक दान और त्याग का आदर्श समाज के लिए प्रस्तुत किया है। श्रीमान् पंडित जी का स्वर्गवास यह वैयक्तिक हानि नहीं है। यह एक सामाजिक अपूर्णीय क्षति है।

श्री प्रेमचन्द जी जेनावाच—देहली

मुस्तार सा० एक अद्वितीय विभूति व सरस्वती के महान् उपासक रहे, उनका सारा जीवन साहित्यिक खोज में ही व्यतीत हुआ। उनकी साहित्य-साधना अपूर्व और अमर है। मैं उन्हें हादिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

श्री मोरज जी जैन—सतना

अद्वेय मुस्तार सा० ने अपने जीवन में जिनका जो,

कर लिया वह हम लोग ३-४ जन्म लेकर भी शायद न कर सकें। वे कर्मण्यता की प्रतिमूर्ति थे। उनकी पावन स्मृति में मैं अपनी हादिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

श्री हीरालाल जी कौशल—बेहली

स्व० मुख्तार सा० जैन साहित्य और इतिहास के महान विद्वान थे। प्रथित इतिहासज्ञ थे। वे अपनी महत्वपूर्ण कृतियों के कारण अमर हैं, उनकी सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकती।

सुबोधचन्द जी जैन साहित्य विकास मण्डल बम्बई

श्रीमान् युगवीर जुगलकिशोर जी के निधन का समाचार पढ़कर अतिशय खेद हुआ। उनके चले जाने से जैन समाज ने एक महा विद्वान खो दिया है।

भगवान् जिनेंद्र के प्रति उनकी भक्ति उनके ससार को अल्प करके शाश्वत सुख के स्वामी बनायेगी यह निश्चित है।

सुकमाल चन्द्र जी जैन :

पूज्य बाबूजी मृत्यु को महोत्सव कहा करते थे और समाधिमरण की भावना व्यक्त किया करने थे। उनका निधन सामयिक भी था। मेरे जीवन में तथा समाज के जीवन में उनके निधन से एक अभाव समुपस्थित हो जाने पर भी हमारे लिए दुःख करने का जैन धर्म द्वारा निषेध है क्योंकि दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन आदि क्रियाओं से असातावेदनीय कर्म का आस्रव और बध होता है।

यह समाज की अज्ञानता और अदूरदर्शिता है कि उसने उनके इतने लम्बे जीवन में उनके साथ समुचित सहयोग नहीं किया और उनसे यथोचित लाभ नहीं उठाया। अब भी यदि समाज उनके शेष रह गये कार्यों को पूरा करने में जुट जाय तो उसका भी कल्याण हो जाय।

बाबूजी की भव्य आत्मा को पूर्ण शान्ति थी; क्योंकि वे तो अदम्य उत्साह के साथ अपने लक्ष्य में अनवरत परिश्रम करते रहते थे। मुझे भी उस शान्ति का लाभ पहुँचता रहता था किन्तु यह सुविधा गत तीन वर्ष से मुझसे दूर हो गई थी। वह शान्ति उनके साथ अवश्य गई होगी। किन्तु पूज्य बाबूजी स्वर्ग में नहीं गये होंगे क्योंकि वे निठल्ले बैठकर भोग भोगने की भावना नहीं

रखते थे। स्वर्ग में शान्ति होती भी नहीं है—यह तो केवल संसारी भोगाभिलाषी जीवों की कल्पनामात्र है। बाबूजी ने तो अवश्य किसी विद्वान के परिवार में (यहाँ पर या विदेह क्षेत्र में) मानवपर्याय ही धारण की होगी।

जिन वाणी माता के मन्दिर को उन्होंने यहाँ साफ किया और सजाया। वीतराग विज्ञान के विद्यार्थी और हमारे लिए प्राध्यापक—उनका जीवन हमारे लिए पूजनीय और आदर्श था।

नेमचन्द धन्नुसा जैन :

मुख्तारसा० के चले जाने से हमारे समाज की बड़ी हानि हुई है। वे एक खवीर नेता थे। तथा 'मेरी भावना' के रचयिता के नाते आबाल वृद्धों के मुख में थे। समन्तभद्र भारती के सब प्रकाशन उनकी देन है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के जीवन पर आपने पूरा प्रकाश डाला है, इतना ही नहीं उनके पूरे लिखान में वे समरस हो गये थे। गधहस्तीमहाभाष्य कही अवश्य मिल जायगा ऐसा उनका मनोदय था। इस आशा से उन्होंने दक्षिण में सुदूर तक भाषा की अडचन होते हुए भी प्रवास किया था। इस अवसर पर उन्होंने बहुत परिश्रम से जिनवाणी माता की सेवा की और अनेक अलम्य और अप्रकाशित ग्रंथों को प्रकाश में लाया। स्व. मुख्तारजी उनके कृति के रूप में अभी भी अमर रहेंगे। मैं उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर :

पूज्य मुख्तार साहब का स्वर्गवास उनके लिए शान्ति-घाम की यात्रा है और हम सबके लिए एक गहरी हानि। उनका जीवन शोक का नहीं, गौरव का हकदार है। हमें उनपर गर्व है। वे बहुत कुछ कर गये। उनका आदर्श हमें बहुत कुछ करने की प्रेरणा देता है।

पं० वंशीधरजी एम० ए० कलकत्ता :

समाज की प्रसिद्ध साहित्यिक विभूति श्रद्धेय मुख्तार जी के देहावसान का समाचार विदित कर बहुत दुःख हुआ। समाज का यह भारी दुर्भाग्य है कि वह एक कर्मठ ठोस सेवाभावी, साहित्यिक, लेखक व अन्वेषक विद्वान की महान सेवाओं से सदा के लिए वंचित हो गया। उनके

निधन से हुई क्षति की पूर्ति असंभव है। मेरे प्रति उनका पुत्र के समान स्नेह रहा। उनके अभाव में सारा समाज ही अनाथ हो गया। यों ही दि० जैन समाज विद्वानों के अभाव से ग्रस्त थी, उनके निधन ने उस अभाव को और बढ़ा दिया। मैं दिगंबत आत्मा के शान्ति लाभ की श्री वीरप्रभू से प्रार्थना करता हूँ। मेरी भावना का जब-जब पाठ करता हूँ उनका स्मरण तो सहज आ ही जाता है, वे अविस्मरणीय हैं।

ब० सोहनलालजी जैन ईसरी

अद्वेय मुख्तार सा० जैसे दिग्गज विद्वान व ज्ञानरूपी सूर्य आज दिवंगत हो गया, इतिहास के पुरातत्त्व की शोधक आत्मा इस युग में अपना चमत्कारिक ट्रस्ट स्थापित कर युग-युगान्तर के लिए अपना अस्तित्व छोड़ गये, जो हमें उनकी अनुपम देन है और उनके इस पथ पर चलकर हम उनको हृदयाङ्गम कर सकें और प्रसार में ला सकें यही मेरी अन्तिम कामना है। उनके आयोजनों को हम आगे बढ़ावे, इसी में हमारी शोभा है।

डा० हीरालालजी जैन जबलपुर :

स्व० मुख्तार साहब अपने आपमें एक महान् जैन संस्थान ही थे। तथा उन्होंने अपना समस्त जीवन जैन-साहित्य की सेवा में ही व्यतीत किया। उनके स्वर्गवास से सामाजिक वा साहित्यिक क्षेत्र में जो कमी हुई है, उसकी पूर्ति होना कठिन है।

पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य—फिरोजाबाद

श्री मुख्तार जैसे महान् पुरुष का वियोग हो जाना जैन समाज का महान् दुर्भाग्य है। इन सौ वर्षों में ऐसा पुरुषार्थी, दि० जैन धर्म-प्रभावनारत, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी सज्जन एक जुगलकिशोरजी ही मिले थे। अब उनके स्थान की पूर्ति होना अशक्य है। अनेक आचार्यों की गवेषणा का उन्होंने पुरातत्त्व-सामग्री से विलोडन कर ठोस धर्म 'रहस्य अमृत' का उद्धार किया। उन्होंने, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, निःस्वार्थ-सेवी बनकर जिनागम-रहस्योद्घाटन की घनघोर तपस्या की। उन्होंने अल्पवय में पुष्कल धनोपार्जन कर अनेक विद्वानों की ऐतिहासिक

शोधें प्रकाशित कीं। वे सतत समन्तभद्र-भारती के प्रचार में दिन-रात संलग्न रहे। उनकी सैकड़ों कृतियाँ आदरणीय हैं। शास्त्रीयज्ञान भी उनका मजा हुआ था।

पं० जगनमोहनलालजी जैन प्राचार्य—कटनी

मुख्तार साहब हम सबके पिता थे। उनकी धर्म, समाज व साहित्य सेवा अपनी उपमा नहीं रखती। उनका दिवंगत होना सारे दिगम्बर जैन समाज की अपूरणीय क्षति है।

सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी—अजमेर :

श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' के निधन के दुःखद समाचार जानकर दुःख हुआ, वैसे तो वे वयोवृद्ध ही थे, जिनवाणी की सेवा के प्रसार से उन्होंने अच्छी आयु प्राप्त की और अन्त समय तक वे इसी सेवा में रत रहे - यह सौभाग्य इस काल में विरले ही पुण्यशाली को प्राप्त होता है। जैन ससार से एक महान् विद्वान जिनवाणी का सेवक उठ गया। यह जैन समाज की महान् क्षति है। उनकी जैन साहित्यिक कृतियाँ ही उनके नाम को सदैव अजम-अमर रखेंगी।

पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य—बोना (सागर)

समाज से एक ऐसा साहित्य-सेवी उठ गया है जिसने समाज के विद्वानों को सृष्टि और साहित्य के विषय में सोचने की नवीन दिशा प्रदान की और जिसने न केवल निःस्वार्थ भाव से अपितु अपने ही सम्पूर्ण द्रव्य को साहित्य के विकासमें लगाकर जीवनभर केवल साहित्य की ही सेवा की। जीवन का अन्तिम क्षण भी उनका साहित्य सेवा में लगा रहा। यद्यपि वे आर्थिक मामले में अत्यन्त कंजूसी से कार्य करते थे, उनका अन्य लोगों के साथ आर्थिक मामले में व्यवहार भी बहुत कड़ा था पर यह साहित्य के विकास के लिए वरदान रूप ही था।

साहू श्यामप्रसादजी—बम्बई :

आदर्श महापुरुष मुख्तार सा० के स्वर्गीय हो जाने से जैन समाज में से एक नर-रत्न का अभाव हो गया है। आप में धार्मिक-लगन, समाज के प्रति गाढ़ स्नेह, कर्तव्य-

निष्ठा, उत्तरदायित्व का ध्यान, गुणज्ञाता, निरभिमानता, सरल परिणाम वृत्ति, वाणी-माधुर्य बहुत से ऐसे गुण थे जिससे कि विरोधी विचारधारा वाला भी बरबस आपके प्रति झुक जाता था। आपकी सामाजिक संगठन की उत्कट भावना, कार्यक्षमता, उत्तरदायित्व की सम्हाल, गुरुभक्ति, सच्चरित्र-निष्ठा, शास्त्रपठन, तथा भाषण कुशलता की छाप समाज पर सदैव रहेगी।

पं० पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य

मंत्री श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् सागर,

विद्वद्वरेण्य श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैन वाङ्मय के स्वयंबुद्ध विद्वान् थे। उन्होंने अतर्ङ्ग की प्रेरणा से जैन शास्त्रों का गहन अध्ययन कर अपने ज्ञान को विकसित किया था। धर्म, न्याय, साहित्य और इतिहास आदि सभी विषयों में उनकी अप्रतिम गति थी। उनके द्वारा रचित विशाल साहित्य उनके अभीष्टज्ञानोपयोग को सूचित करता है। समन्तभद्राचार्य के प्रति आपकी विशेष आस्था थी। आप साहित्य महारथी थे। आपने अपनी सम्पत्ति का बहु भाग समर्पित कर वीरसेवामन्दिर की स्थापना की तथा उसके माध्यम से 'अनेकान्त' पत्र का प्रकाशन कर विद्वानों के लिए विचारणीय सामग्री प्रस्तुत की थी। आपने ६१ वर्ष की वृद्धावस्था में भी विस्तर पर पड़े-पड़े 'योगसारप्राभृत' नामक ग्रन्थ को तैयार कर समाज को दिया है जो ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। आपके उठ जाने से जैन समाज की एक अपूरणीय क्षति हुई।

बाबू नेमिचन्द्र जी वकील—सहारनपुर

श्रद्धेय मुख्तार सा० की मृत्यु से समाज को बड़ी क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति असम्भव है। उनका जीवन बड़ा सात्विक एवं पवित्र रहा है। वह बड़े कर्मठ कार्यकर्त्ता थे तथा अनथक थे। उन्होंने सर्वदा श्री जिनवाणी की सेवा की है और अन्तिम समय तक बराबर करते रहे। इस आयु में भी वह जितना सात्विक कार्य करते थे, उतना आज का नवयुवक भी नहीं कर सकता। अन्त तक उनका दिल व दिमाग सही कार्य करता रहा, और उनकी लेखनी से बराबर मार्मिक एवं प्रामाणिक साहित्य का ही सृजन होता रहा है। ऐसी महान् आत्माओं का ही मनुष्य जीवन सफल तथा सार्थक है। वह धन्य है।

श्री पं० अमोलकचन्द्र जी

पं० जीवंधर जी शास्त्री—इन्डौर

श्री वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट के संस्थापक श्री मुख्तार सा० के स्वर्गवास से जैन समाज को बड़ी क्षति पहुँची है। उनकी धार्मिक, सामाजिक, और जिनवाणी की अपूर्ण सेवाएँ कभी भुलाई नहीं जा सकेंगी।

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला—बाराणसी

'आज एक युग समाप्त हो गया, क्योंकि जैन वाङ्मय का सेवक 'युगवीर' उठ गया।' अब 'वीर-युग' को लाने के लिए कौन सतत लेखनी लिए सन्नद्ध रहेगा।

बाबू नन्दलाल जी सरावगी—कलकत्ता

पंडित जी ने तो सारा जीवन जैन साहित्य की खोज तथा छपवाने में ही लगाया। मेरी समझ में अब उनकी सी लगन का दूसरा पंडित समाज में नजर नहीं आता। उन्होंने तन-मन-धन तीनों को ही शास्त्रोद्धार में लगाया, ऐसे उत्तम कार्यकर्त्ता का स्थान पूर्ण नहीं हो सकेगा।

डा० भागचन्द्र जी जैन—नागपुर

स्व० मुख्तार सा० की अमूल्य सेवाओं से जैन समाज कभी उन्मूलन नहीं हो सकता। समाज में चतुर्मुखी जाग्रति पैदा करने में उनका बहुत बड़ा हाथ है।

बाबू जुगमन्दिर दास जी जैन—कलकत्ता

पंडित जी की लेखनी में जादू का असर था। उनकी सेवाएँ समाज को चिरस्मरणीय रहेंगी। उनके निधन से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है।

प० परमेश्वरीदास जी—ललितपुर

माननीय मुख्तार साहब ने पहले जैन वाङ्मय की जो सेवा की है उतनी सेवा बीसवीं शताब्दी में शायद किसी अन्य ने नहीं की है। जैन समाज और जैन साहित्य प्रिय लोग मुख्तार सा० के सदा ऋणी रहेंगे।

लाला पारसदास जी जैन मोटर वाले

मुख्तार सा० के निधन से जैन समाज की जो क्षति हुई। वह पूर्ण होना असम्भव है।

श्री उपसेन जी मन्त्री जैन समाज—लखनऊ

समाज सुधार के बारे में जब कोई जवान ही नहीं

खोल सकता था तब ऐसे समय मुस्तार सा० ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने निडरता के साथ जैन शास्त्रों पर कुछ ऐसे ट्रैक्ट लिखे जिनको आज भी कोई नहीं लिखता जितनी बारीकी के साथ मुस्तार सा० ने जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझा था, शायद ही आज तक किसी विद्वान ने समझा हो, वह जो कुछ लिखते थे निडरता और खोज-पूर्ण लिखते थे।

मुस्तार साहब ने केवल ६०-७० वर्ष बराबर जैन साहित्य की बहुमूल्य सेवा ही नहीं की बल्कि अपनी तमाम सम्पत्ति जैन साहित्य के उद्धार और प्रचार के लिए भी अर्पण कर दी है। मुस्तार सा० की सेवाये जैन समाज के इतिहास में अमर रहेंगी और स्वर्ण अक्षरों में अंकित की जायेंगी। उनकी क्षति पूर्ति होना असम्भव है।

लाला राजकृष्ण जी जैन

साहित्याचार्य पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार के स्वर्गवास का समाचार समस्त जैन समाज और साहित्य प्रेमी संसार में शोक से सुना गया है। उन्होंने अपनी लोह लेखनी के द्वारा जैनधर्म, जैन साहित्य, जैन पुरातत्व और पत्रकारिता आदि की सेवा सत्तर वर्ष से भी अधिक समय तक की। वे ६२ वर्ष की अवस्था में भी साहित्य सेवा में लगे हुए थे। उन्होंने बहुत से अप्राप्त जैन शास्त्रों की खोज करके उनका उद्धार किया। जैन आचार्यों के समय तथा उनकी रचनाओं के बारे में उनके निष्कर्ष और निर्णय इतने सप्रमाण हैं कि भावी विद्वानों के लिए वे बड़े उपयोग की सामग्री होंगे। कई ग्रन्थों की युक्तियुक्त तथा सप्रमाण परीक्षा लिखकर उन्होंने साहित्यिक भ्रष्टाचार और धार्मिक अन्धविश्वासको दूर किया। अपने अध्यवसाय और लगन पूर्वक अध्ययन से वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के महाविद्वान और जैन साहित्य के प्रकाण्ड आचार्य बन गये। वे जैन गजट, जैन हितैषी के सम्पादक तथा अनेकान्त के संस्थापक और सम्पादक थे। वीर सेवामन्दिर की स्थापना करके उन्होंने जैन साहित्य की दीर्घकालीन सेवा का मार्ग खोल दिया। वे सादा रहन-सहन, मितव्ययता, परिश्रम, विरोधों का डटकर सामना करने और

सच्ची लगन आदि गुणों के स्वामी थे। उनका आचरण एक सच्चे जैन का आचरण था। और अब तो वे सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन कर रहे थे। उनका आचार और ज्ञान उच्च कोटि के थे। उनकी सेवायें जैन इतिहास में अमर स्थान पायेंगी।

मेरा उनसे साठ वर्ष से अधिक समय से परिचय था और वीरसेवामन्दिर की दिल्ली में स्थापना के पश्चात् उनसे गहरा सम्बन्ध हो गया था। आशा है जैन समाज और वीरसेवामन्दिर उनका यथोचित स्मारक स्थापित करेंगे और उनकी अधूरी और अप्रकाशित सामग्रियों की सुरक्षा तथा प्रकाशन का प्रबन्ध करेंगे, मैं उनके प्रति अपनी हादिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

बाबू माईदयाल जैन बी. ए. ऑनर्स

साहित्याचार्य पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार से मेरा परिचय दिल्ली में सन् १९२१-२२ में उस समय हुआ था जब वे आचार्य समन्तभद्र की जीवनी लिखने में व्यस्त थे। पैंतालीस वर्ष की लम्बी अवधि में हजारों बार उनसे मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मेरा उनका बड़ा निकट का सम्बन्ध था। मैं उनकी साहित्यसेवा, ग्रन्थ परीक्षा, पुरातत्व सम्बन्धी खोजों और पत्रकारिता से इतना प्रभावित था कि उनके दर्शन और वीर सेवामन्दिर सर-सावा तथा दिल्ली की यात्रा को तीर्थयात्रा तुल्य समझता था और हर बार उनसे कुछ न कुछ प्रेरणा पाता था। मेरे हृदय पर उनके शास्त्र ज्ञान, उच्चाचरण, साहित्यसेवा, लगन, जैन धर्म में आस्था और ग्रन्थ कार्य शक्ति की गहरी छाप पड़ी थी। मैं उनका भक्त था और उनसे अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा से मिलता था और हर एक भेट को अपना सौभाग्य समझता था। उनकी सेवायें अमर रहेंगी। समाज और वीरसेवामन्दिर को उनके प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए और उनकी अधूरी या अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाश में लाना चाहिए। मुस्तार साहब की जीवनी तैयार कराये जाने की भी बड़ी आवश्यकता है। उनके स्वर्गवास से जो क्षति समाज को हुई है, उसे पूरा करना अत्यन्त कठिन है। मैं उनके प्रति अपनी हादिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

बाबू दीपचन्द्रजी—कैराना

जैन समाज को मुस्तार सा० के निघन से बड़ी भारी क्षति पहुँची है। वास्तव में वह सदा साहित्य सेवा में संलग्न रहते थे। और इतनी वृद्धावस्था में भी काम करते रहे। आशा है कि उनकी अन्तिम इच्छा नुसार कार्य होता रहेगा और जिस वीर सेवा-मन्दिर सस्था की वह सस्थापना कर गये है वह चलती रहेगी।

पं० बाबूलालजी जमादार - बड़ौत :

उस महान आत्मा ने जीवनभर ज्ञान दीप जलाकर जैन समाज को अंधेरे से बचाया। आचार्य समन्तभद्र स्वामी की तरह वादियों के मुह मोड़े और दिग्गम्बर धर्म की रक्षा की। मिथ्या अहंकारियों को उन्होंने सदैव ललकारा और उन्हें धर्म विरोध से रोका। आज उनके निघन से जो क्षति समाज को उठानी पड़ी है वह पूर्ण होता असम्भव है।

पं० मिलापचन्द रतनलाल जी कटारिया—केकड़ी

मुस्तार सा० जैसे साहित्यिक महारथी, अब दुर्लभ है। उनके उपकार और उनकी महान उच्च साहित्य-सेवा सदा सब को याद आती रहेगी। चाहते हुए भी विद्वज्जगत उन दुर्लभ विभूति का यथोचित अभिनन्दन नहीं कर सका। यह सदा पश्चाताप की चीज रहेगी। विद्वज्जगत उनकी वरद छत्र-छाया में सब तरह से सम्पन्न और प्रसन्न था। अब तो उनकी स्थिति में विशाल स्मृति ग्रन्थ निकालकर कुछ उक्तुण हुआ जा सकता है।

पं० नाथूलाल जी शास्त्री—इन्दौर

वीर सेवामन्दिर के सस्थापक श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार 'युगवीर' का स्वर्गवास जानकर अपार दुःख हुआ। मुस्तार सा० ने ५० वर्ष से अनवरत जैन संस्कृति की सेवा में अपने जीवन को समर्पित कर जैन साहित्य इतिहास और समन्तभद्रभारती का जो महान कार्य किया है उससे उनकी कीर्ति ऊपर रहेगी। ग्रन्थ परीक्षा और मेरी भावना तथा अनेकान्त पत्र उनके अपूर्व कार्य है। विद्वानों के लिये वे अनुपम आदर्श थे। मैं उनके प्रति हार्दिक अर्धांजलि अर्पित करता हूँ।

संस्मरण और अर्धांजलि

होरालाल सिद्धान्त शास्त्री—व्यावर

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी मुस्तार सा० के पास मुझे लगभग १० वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने उनकी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को अत्यन्त नजदीक से गहराई के साथ देखा है। मैंने सदा ही यह अनुभव किया है कि वे अपनी धुन के पक्के थे। जिस कार्य को हाथ में लेते थे उसमें तन्मय हो जाते थे। चार-चार घंटे एक साथ एक आसन से बैठकर काम करना तो उनके लिए एक साधारण सी बात थी। काम में संलग्न हो जाने पर उन्हें समय का बिल्कुल ध्यान नहीं रहता था। यहाँ तक कि कई बार वे भोजन और सामायिक जैसे ज़रूरी कार्यों का करना भी भूल जाते थे। जिस कार्य को हाथ में लेते—रात-दिन उसी के चिन्तन-मनन और लिखने में संलग्न रहते। मैंने उन्हें युक्त्यनुशासनादि कई गभीर ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ लिखते समय देखा है कि वे लगातार कई दिन तक मौन धारण करके अपने लेखन-कार्य में जुटे रहते थे। उनकी इस एकान्त साधना का ही यह परिणाम है कि जो कुछ भी उन्होंने लिखा है, उसका एक अक्षर भी इधर से उधर करने का साहस आज तक किसी ने नहीं किया।

मुस्तार सा० अपने नियमों को बड़ी दृढ़ता से पालन करते थे। जब से उन्होंने मत्तम प्रतिमा धारण की थी। तब से वे त्रिकाल सामायिक नियम से यथा समय ही करते थे। एक बार जब वे एक गभीर बीमारी से अच्छे हुए—तो स्वास्थ्य-लाभ के लिए मैंने उन्हें प्रातःकाल घूमने की सलाह दी। वही समय उनकी सामायिक का था—अतः यह स्थिर हुआ कि वे ५ बजे वीर सेवामन्दिर में घूमने निकलेगे और गांधी समाधि के १-२ चक्कर लगाने के बाद वही सामायिक करेंगे। वर्षा ऋतु थी, एक दिन वे छतरी ले जाना भूल गये और घूम करके जैसे ही सामायिक को बैठे कि पानी बरसना प्रारम्भ हो गया। मैं उस दिन उनके साथ नहीं जा सका था—अतः पानी बरसने पर मेरा ध्यान उनकी ओर गया और देखा कि वे

छतरी नहीं ले गए हैं, अतः मैं अपनी छतरी लेकर गांधी समाधि पर पहुँचा—देखता हूँ कि खूब जोर की बारिश होने पर भी ये अडोल आसन से बैठे हुए सामायिक कर रहे हैं, उनकी यह दृढ़ता देख कर मैं दग रह गया और तब तक उनके ऊपर छतरी लगाये पीछे की ओर खड़ा रहा—जब तक कि उनकी सामायिक पूरी नहीं हो गई। जब उठे और मुझे छतरी लगाये देखा, तो बोले—कब से तुम यहाँ पर हो ? मैंने ऐसे अवसरों पर अनेक पहुँचे हुए त्यागियों को सामायिक छोड़ कर और आसन उठाकर भागते हुये देखा है। तथा मध्याह्न सामायिक के समय ऊँघते हुए और गिरते हुए भी देखा है मगर मुस्तार साहब को कभी ऐसी दशा में देखने का मौका नहीं मिला।

भर जवानी में पत्नी-वियोग हो जाने के बाद से वे अखण्ड ब्रह्मचर्य का तो पालन कर ही रहे थे—साथ ही उनका रसनेन्द्रिय पर भी गजब का कंट्रोल था, प्रातः साय गोदुग्ध, फल और मध्याह्न में एक बार सात्विक भोजन के अतिरिक्त कभी भी उन्हें मीठी या चटपटी चीजे खाते नहीं देखा। प्रातःकाल ४ बजे उठकर रात के १० बजे सोने तक वे त्रिकाल सामायिक करने एवं भोजन के समय को छोड़कर निरन्तर अपने कार्य में जुटे रहते थे। प्रतिदिन १०-१२ घण्टे काम करना उनका नियमित दैनिक कार्य था।

वे दिल्ली में रहते समय तक अपने कपड़े भी अपने ही हाथ से साबुन लगाकर धोया करते थे। एक बार जब वे कपड़े धो रहे थे—तो मैं उनके ही सामने बैठकर उनकी यह चर्या लिखने लगा। बोले—क्या लिख रहे हो ? मैंने कहा—यह लिखता हूँ कि मुस्तार सा० कपड़े धोने जैसे छोटे कामों में अपने अमूल्य समय का दुरुपयोग करते हैं। यह सुनकर वे तुरन्त बोले—भाई—यह समयका दुरुपयोग नहीं है बल्कि स्वावलम्बीपन के पाठ का अभ्यास है। मैं नहीं चाहता कि कोई मेरे कपड़े धोवे ? अपने हाथ से धोते रहने से हाथों में उतनी शक्ति बनी हुई है। यदि मैं ऐसा न करता, तो पराधीन तो होना ही पड़ता—मेरे हाथों में वह शक्ति भी नहीं होती—जो कि आज है। यह थटना उनके ८० वर्ष होने के बाद की है।

कुछ लोग उनके रुखे स्वभाव की बात कहते हैं। मगर मैंने यह अनुभव किया है कि वे मितव्ययी होने पर

भी स्वभाव के बड़े भद्र थे। जो भी व्यक्ति उनके साथ थोड़ा सा भी भद्र व्यवहार करता—वह प्रतिफल में उनसे कई गुणा भद्र व्यवहार पाता था। उनका हृदय-दर्पण के समान स्वच्छ था जो व्यक्ति जिस भावना के साथ उनसे बात करता, उसे वे तुरन्त जान लेते थे। पर गंभीर स्वभाव के कारण वे उसे अपने चेहरे पर नहीं आने देते थे। और वे स्वभाव के तो इतने भोले थे कि गूढ़ मायावी व्यक्तियों के जाल में सहज ही फस जाते थे। यही कारण था कि स्व० बा० छोटेलाल जी के साथ अंतिम वर्षों में उनका मनोमालिन्य हो गया था—पर यह सन्तोष की बात है कि अन्त में उन दोनों का पारस्परिक मनो-मालिन्य दूर हो गया था।

दिवंगत हो जाने के बाद उनकी कमियों की चर्चा करना अपनी ही क्षुद्रता का परिचय देना है। और फिर कौन ऐसा व्यक्ति है—जो कि पूर्णरूप से निर्दोष हो—या उसमें सासारिक सहज कमियाँ न हों। पर उनकी जीवन भर की गई समाज सेवाओं को देखते हुए एक बात सदा ही खटकती रहेगी—कि समाज ने उनकी सेवाओं का समुचित समादर नहीं किया—बल्कि प्रारम्भ में तो उनके सत्कार्यों का भी घोर विरोध किया—जिसे वे अपने दृढ़ अध्यवसाय से सहन करते रहे—और अपने कर्त्तव्य से रञ्च मात्र भी नहीं डिगे। उन्होंने हमारे सामने “न्या-यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरः” का उच्चादर्श रखा है।

श्री मुस्तार सा० के चले जाने के बाद उनके ट्रस्ट के उत्तराधिकारियों का और समाज के प्रमुख व्यक्तियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे उनके द्वारा छोड़े हुए कार्यों को पूरा कराने के लिए अविलम्ब कदम उठावें। वीर सेवामन्दिर में उनके नाम पर एक शोध संस्थान कायम करें और उनकी स्मृति में एक विशाल स्मृति-ग्रन्थ निकाल करके अपनी कृतज्ञता प्रगट करें।

दिवंगत होने के कुछ समय पूर्व तक उनके पत्र मेरे पास आते रहे हैं। जिनमें सदा ही खोज-शोध प्रेरणा रही है। मुझे अत्यन्त दुःख है कि अन्तिम समय में उनके समीप नहीं रह सका—ऐसे जीवन पर्यन्त साहित्य सेवा करने वाले महारथी आचार्य श्री मुस्तार सा० को मेरी कोटि : कोटि श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

अमर साहित्य-सेवी

श्री पं० कलाशचन्द्र सि० शास्त्री

स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार एक आदर्श समाजसेवी और साहित्य सेवी थे। मैंने जब से होस सम्हाला उनका नाम सुना। ऐसा प्रतीत होता है मानों उनका निर्माण सेवा के लिये ही हुआ था और वह भी जैन समाज और जैन साहित्य की।

जब समाज में प्रचारक नहीं थे उन्होंने महासभा में उपदेशकी का भी कार्य किया। उसके पश्चात् कुछ समय तक महासभा के मुखपत्र जैन गजट की सम्पादकी भी की। यह उस समय की बात है जब समस्त दिगम्बर जैनो की एक मात्र सभा महासभा थी और बाबू पण्डित का भेद प्रगट नहीं हुआ था। महासभा के निर्माण में और उसे प्रगति देने में बाबू और पण्डित दोनों का समान योग रहा है दोनों ने ही कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है। फलतः मुस्तार साहब ने भी प्रारम्भ में महासभा के द्वारा

स्वतंत्र जैन :

जैन जगत में यह समाचार महान् खेद के साथ सुना कि जैन विद्वत् समाज के उदीयमान नक्षत्र, साहित्य महारथी, सुधारक, मीमांसक, विचारक, आलोचक, लेखक, पत्रकार, दार्शनिक विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार का ६२ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया है।

आज उनका नदवर देह हमारे समक्ष नहीं है, पर "यशः काय" के रूप में आप सतत विद्यमान हैं। श्रद्धेय मुस्तार जी आज जैसे उच्च डिग्री होल्डर नहीं थे। पर उनका ज्ञान, उनका आलोचन, मन्थन, उनका अनुभव इतना विशाल था कि वे अनेक न्यायाचार्य, दर्शनाचार्य साहित्याचार्यों के जनक एवं सृजक थे।

पूर्व जन्म के कुछ ऐसे सस्कार लेकर जन्मे थे कि आपको जानावरणी कर्म का क्षयोपशम इस रूप में सुखद फलित हुआ कि आपने समाज में एक देश में साहित्य सेवा, साहित्य प्रचार, अनुसन्धान, गंभीर विवेचना आदि कार्यों के द्वारा अमर हो गये। पूज्य मुस्तार जी निष्पक्ष एवं प्रखण्ड वश कटु समालोचक भी थे। अतएव शास्त्राधार से खरी कहने में वे नहीं चूकते थे। उन जैसे मीमांसक एवं समालोचक विद्वान् का अभाव सा हो गया।

ही समाज सेवा में योगदान किया प्रतीत होता है।

सन् १९१० के लगभग खतोली में जो दस्सों और बीसों के बीच में ऐतिहासिक मुकदमा चला और उसमें स्व० पं० गोपालदास जी वरैया और मुस्तार साहब ने दस्सों के पक्ष में गवाही दी तथा बीसों की ओर से स्व० पं० न्याय दिवाकर पन्नालाल जी उपस्थित हुए। इस काण्ड ने उत्तर भारत के जैन समाज को उद्वेलित कर दिया, उसी प्रसंग से मुस्तार साहब ने जिन पूजाधिकार मीमांसा नामक ट्रैक्ट लिखा। इस ट्रैक्ट से ही मुस्तार साहब की लोह लेखनी का आभास होता है तथा उनकी अध्ययन शीलता प्रकट होती है। इसके पश्चात् उनकी ग्रन्थ परीक्षा शीर्षक लेखमाला जैन हितैषी में क्रमशः प्रकट हुई। उनकी इन समीक्षाओं का या जिन पूजाधिकार मीमांसा का कोई उत्तर मेरे देखने में नहीं आया इसी से प्रकट है कि मुस्तार

पकड़ की कोई बात उनकी सूक्ष्म और पैनी दृष्टि से बच नहीं पाती थी। निर्भीकता एवं सत्यता के वे प्रतीक थे, पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज में आपका सर्वप्रथम अग्रगामी द्रुतगति कदम है। जब आप किसी भी तथ्य को सामने लाते थे तब उसका अकाट्य एवं युक्ति सगत प्रमाणों के द्वारा खण्डन का मण्डन करते थे। तब विरोधी पक्ष का भी व्यक्ति आपका हो जाता था, फिर उसका यह साहस नहीं होता था कि मैं दुबारा लिखू।

किसी भी विषय पर शोध निबंध लिखने वाला स्नातक पहिले मुस्तार जी से समति और आशीर्वाद लेता था तब वह अपनी लेखनी चलाता था।

सच तो यह है कि श्रद्धेय मुस्तार जी स्वयं एक जोती जागती सस्था थे, वे स्वयं वीर-सोत्र-मन्दिर थे। उनकी लोह लेखनी द्वारा लिखित साहित्य उनकी प्रतिभा सम्पन्न विद्वत्ता का परिचायक है। 'मेरी भावना' आपकी अमर सार्वजनिक रचना है।

आपके द्वारा लिखित प्रकाशित साहित्य मैंने पढ़ा है, इतनी उच्चकोटि के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ मुझे कम ही देखने को मिले हैं।

आपके चरणोंमें लेखककी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित है।

साहब की लेखनी उनका लेखन कितना प्रौढ़ और सप्रमाण होता था।

उत्तर तो कोई दे नहीं सका किन्तु मुस्तार साहब सुधारक शिरोमणि मान लिये गये और स्थिति पालक समाज से एक तरह से उनका सम्बन्ध विच्छेद जैसा हो गया। उसने उनको कभी नहीं सराहा।

सन् १९२३ में देहली पञ्चकल्याणक महोत्सव के अवसर पर बाबूदल महासभा से अलग हो गया और उसने दि० जैन परिषद् की स्थापना की। परिषद् सुधारकों की संस्था थी; किन्तु मुस्तार साहब का उसके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं था। एक तरह से मुस्तार साहब सामाजिक से अधिक साहित्यिक ही थे और उसी और उनकी रुचि तथा प्रवृत्ति बढ़ती गई। किन्तु उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति भी सुधारक प्रवृत्ति से अछूती नहीं थी। उसमें भी वह ऐसे विषयों पर लेखनी चलाते थे जो समाज के स्थिति पालक पक्ष के लिये ग्राह्य नहीं होता था जैसे 'गोत्र कर्माश्रित उच्चनीचता।' इसका फल यह हुआ कि मुस्तार साहब एक तरह से समाज से विलग जैसे हो गये। चूँकि उनका जीवन स्वावलम्बी था, समाजाश्रित नहीं था तथा उन्हें अपने लेखन और अध्ययन से भी अवकाश नहीं था अतः मुस्तार सा० ने भी उस विलगाव की उपेक्षा सी की।

१९३० में प्रथमवार मुस्तार साहब ने देहली में एक संस्था समन्तभद्राश्रम की स्थापना की और उससे 'अनेकान्त' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया उसी समय प्रथमवार में पत्र द्वारा मुस्तार सा० के परिचय में आया। उनकी योजना अद्भुत थी, उसे पढ़ कर मेरे जैसे साहित्याभिरुचि युवक का आकृष्ट होना स्वाभाविक था। श्रीष्मावकाश में मैं बनारस से देहली गया और समन्तभद्राश्रम में ठहरा। तब भी वह अकेले ही काम में जुटे रहते थे। गर्मी के दिन थे। किन्तु उनके लिये गर्मी सर्दी और दिन रात सब बराबर थे। उस समय वहाँ डा० ए. एन. उपाध्ये भी आये थे। वह भी तभी कार्य क्षेत्र में उतरे थे।

अनेकान्त के प्रारम्भिक वर्षों के अंक बहुमूल्य नवीन सामग्री से परिपूर्ण होते थे। मुस्तार साहब का श्रम उसके कण-कण में समाया रहता था। किन्तु समाज से सहयोग न मिलने के कारण समन्तभद्राश्रम देहली से उठा कर सरसावा चला गया और मुस्तार साहब ने सरसावा में

ही स्वद्रव्य से वीर सेवा-मन्दिर के भवन का निर्माण कराया। वहाँ भी मैं एक दो बार गया। मुस्तार साहब को मैंने कभी हताश या निराश नहीं पाया। मेरे विचार से मुस्तार साहब का एक-मात्र कर्म में विश्वास था। वह किसी भी स्थिति में कर्मविरत नहीं हुए उन्होंने कभी भी इस और दृष्टि नहीं दी कि उनकी सेवा का मूल्यांकन समाज करता है या नहीं? क्योंकि उनकी सेवा मूल्यांकन के लिए नहीं थी, वह तो सेवा के लिए, आत्मसन्तोष के लिए थी। यदि ऐसा न हो तो क्या अपनी सस्थापित संस्था वीर सेवा मन्दिर से हट कर और अपने भतीजे के घर में रह कर भी उसी तरह साहित्य के सर्जन में तल्लीन रह सकते थे? उन्हें हमने कभी किसी से शिकवा करते नहीं सुना। कभी उन्होंने यह नहीं कहा कि मैंने इतनी सेवा की किन्तु किसी ने कद्र नहीं की।

वह तो सबसे यही चाहते थे कि मेरी ही तरह सब लोग सेवा में जुटे रहें इसी से उनके पास कोई ठहरता नहीं था। विचारों में उदार होते हुए भी व्यवहार में अनुदार थे। यह भी कह सकते हैं कि वह व्यवहार चतुर नहीं थे। यदि वह वीर सेवा मन्दिर के व्यवस्थापन कार्य से निरपेक्ष रह कर साहित्य सेवा में सलग्न रहते तो वीर सेवा मन्दिर की तथा स्वयं उनकी ऐसी स्थिति न होती। उनका एक साहित्यिक परिवार होता जो उनके कार्य को प्रगति देता। उन्होंने जिस भावना से वीरसेवा मन्दिर की स्थापना की थी उनकी वह भावना भावना ही रही। उस भावना को चरितार्थ करने का प्रयास तो करना चाहिए। देहली में वीरसेवा मन्दिर बहुत अच्छे स्थान पर स्थित है उसे साहित्यिक प्रगति का केन्द्र बनाया जा सकता है। उसके भवन में मुस्तार साहब का एक तैल चित्र रहना चाहिये। अनेकान्त के मुख्य पृष्ठ पर उनका एक छोटा सा ब्लाक बराबर छपना चाहिए। मुस्तार सा० के जीवन में जो नहीं हो सका यदि वह उनके बाद भी हो सके तो उत्तम है। जो कुछ मालिन्य थे वह तो उनके साथ चले गये। उन सब को भुलाकर मुस्तार साहब ने जो कुछ किया अब उसे देखना चाहिए।

मुस्तार साहब मुस्तार साहब थे। उनके जैसा लेखनी का घनी और साहित्यसेवी होना दुर्लभ है।

अनुसन्धान के आलोक-स्तम्भ

प्रो० प्रेमसुमन जैन, बीकानेर

अद्वेय पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार जैन समाज के उन कीर्ति-स्तम्भों में से हैं, जो समाज व देश को जगाने के लिये ही जन्मते हैं। मुस्तार जी का सम्पूर्ण जीवन जैन-साहित्य के अध्ययन-अनुसन्धान में ही व्यतीत हुआ। समाज के अधिकांश विद्वानों के वे प्रेरणास्रोत थे। पत्र-कारिता के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया है। मेरा दुर्भाग्य है, मुझे उनके दर्शन प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि उनके गवेषणापूर्ण लेखों एवं ग्रन्थों का अवलोकन मैं मनन पूर्वक करता रहा हूँ। उनकी गवेषणात्मक निष्पक्ष दृष्टि ने मुझे अधिक प्रभावित किया है।

श्री मुस्तार जी में अनुसन्धान की प्रवृत्ति १९०७ में जैन गजट के सम्पादक होने के बाद प्रारम्भ हुई। इसी वर्ष में १ सितम्बर के अंक में प्रकाशित आपके लेख 'हर्ष समाचार' से अनुसन्धान के प्रति आप की बढ़ती हुई अभिरुचि का पता चलता है। तथा ८ सितम्बर १९०७ के अंक में सम्प्रेम शिखर तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा गया आपका अप्रलेख इस प्रवृत्ति की पुष्टि करता है। 'जैनगजट' के सम्पादन-कार्य से जो समय बचता था, मुस्तार जी उसे जैन-साहित्य के गम्भीर अध्ययन में लगाते थे। इस अध्ययन से यह फल हुआ कि भट्टारकों द्वारा जैनशास्त्रों में जो जैनधर्म के विरुद्ध बातें लिख दी गयी थी, उनका निराकरण करना मुस्तार जी ने प्रारम्भ कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर एक मौलिक खोज यह भी की, कि जैन-शास्त्रों के प्रक्षिप्त अंशों के मूलस्रोत भी खोज निकाले। बाद में यही खोज 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक पुस्तक के चार भागों में प्रकाशित हुई।

मुस्तार जी ने जैन-साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के लिए मुस्तारगिरी को भी छोड़ दिया। एकचित्त होकर वे जैन-साहित्य की सेवा में लग गये। १९१६ के लगभग आपने अपने गम्भीर अध्ययन के आधार

पर 'जैनाचार्यों तथा जैन तीर्थङ्करों में शासनभेद' के नाम से एक लेखमाला का प्रारम्भ किया, जिसमें आप ने यह प्रमाणित किया कि वीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नहीं है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और संशोधन की आवश्यकता है। यद्यपि इसके विरुद्ध भी आवाजें उठायी गयीं। लेकिन श्री मुस्तार जी अपनी स्थापनाओं पर अटल रहे और शान्तभाव से अध्ययन करते रहे। आप अपनी स्थापना के प्रति विश्वस्त रहते थे, क्योंकि कोई बात बिना प्रमाण के नहीं लिखते थे। श्री नाथूराम जी प्रेमी ने आपकी प्रामाणिकता के विषय में लिखा है—'आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आप की कलम से कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण और सुनिश्चित।'।

'ग्रन्थपरीक्षा' का तीसरा भाग जब १९२८ में प्रकाशित हुआ तो मुस्तार जी के गहन अध्ययन एवं प्रामाणिकता से अधिकाधिक लोग परिचित हुए। जो लोग जैन धर्म को प्रक्षेपो से दूषित कर रहे थे, सत्यता प्रगट होते ही शान्त हो गये। श्रीमान् प्रेमी जी ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—'मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षों से किसी भी जैन विद्वान ने कोई इस प्रकार का समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रम से लिखा होगा... इस प्रकार के परीक्षा लेख जैन साहित्य में सब से पहिले हैं... जांच करने का यह ढंग विल्कुल नया है और इसने जैन धर्म का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने वालों के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।'।

श्री मुस्तार जी की इस सूक्ष्म और मौलिक दृष्टि से मैं अभी परिचित हुआ जब किसी वसुन्दि नाम के आचार्य द्वारा लिखित प्राकृत रचना 'तत्त्व-विचार' का परीक्षण कर रहा था। यह ग्रन्थ ३०० गाथाओं का है। आचार सम्बन्धी जैन धर्म के प्रमुख तत्त्वों का इसमें सुन्दर

वर्णन है। श्री मुख्तार जी ने बम्बई प्रवास में इसकी पाण्डुलिपि देखी थी। वहां से आकर आप ने अनेकान्त में एक लेख लिखा, जिसमें यह सम्भावना व्यक्त की कि 'तत्त्व विचार' मौलिक ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। इसे संग्रह ग्रन्थ होना चाहिए।' मुख्तार जी की इस सूचना ने मुझे सतर्क कर दिया। और जब मैंने सूक्ष्म दृष्टि से ग्रन्थ का परीक्षण किया तो सचमुच 'तत्त्वविचार' की लगभग २५० गाथायें अन्यान्य २०-२२ प्राकृत के ग्रन्थों से सगृहीत की गयी हैं, जिनमें कुछ श्वेताम्बर ग्रन्थ भी हैं। श्री मुख्तार सा० के 'पुरातन जैन वाक्य सूची' ग्रन्थ से इस सम्बन्ध में मुझे पर्याप्त सहायता मिली। श्री मुख्तार सा० का यह प्रयत्न अपने ढंग का अकेला है। वे कितने परिश्रमी थे यह जानने के लिए अकेला यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है।

अनुसन्धान के क्षेत्र में श्री मुख्तार सा० का दूसरा प्रशासनीय कार्य जैनाचार्यों के विषय में खोजबीन करने का है। पात्र केसरी और विद्यानन्द की पृथक्ता आप के प्रयत्न से ही मान्य हो सकी। पंचाध्यायी के कर्त्ता की आपने खोज की। तथा महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र के इतिहास एवं साहित्य के विषय में तो आपने अपना जीवन ही लगा दिया है। श्री मुख्तार सा० की जैनशासन के प्रति इस सेवा को देखते हुए पं० राजेन्द्रकुमार जी का कथन यथार्थ है—'मुख्तार साहिब यह काम न करते तो दिगम्बर-परम्परा ही अस्त-व्यस्त हो जाती। इस इस कार्य के कारण मैं उन्हें दिगम्बर परम्परा का संरक्षक मानता हूँ।' इसी तरह महावीर भगवान् के समय आदि के सम्बन्ध में जो मतभेद एवं उलझने उपस्थित थीं उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और बीर शासन-जयन्ती की खोज तो आपके जीवन का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है।

श्री मुख्तार साहब ने एक और महत्वपूर्ण कार्य का सूरपात किया वह है, विलुप्त प्रायः ग्रन्थों का सन्दर्भों के आधार पर पुनराकलन। आपने विशाल जैन-साहित्य में लिखे उल्लेखों के आधार पर ऐसे बहुत से अप्राप्य ग्रन्थों की एक सूची तैयार की थी। कुछ ग्रन्थों की प्राप्ति भी उन्हें हुई थी। किन्तु अधिकांश कार्य यह अधूरा ही पड़ा है। इसके लिए गहन अध्ययन एवं अथक परिश्रम की आवश्यकता है। फिर भी मुख्तार साहब के इस कार्य को पूरा करने से मैं समझता हूँ उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि ही अर्पित नहीं होगी, अपितु जैन-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा भी।

श्री मुख्तार साहब की अनुसन्धान प्रवृत्ति के विकास का फल 'अनेकान्त' है। अनेकान्त के प्रकाशन से केवल जैन-साहित्य ही प्रकाश में नहीं आया, बल्कि जैन विद्वानों की एक लम्बी परम्परा प्रारम्भ हुई है। मुख्तार सा० के सम्पादकीय टिप्पणों से कोई अच्छा से अच्छा लेखक भी नहीं छूट सका। उन्होंने हमेशा लेख को देखा है, लेखकों को नहीं। शायद इसी का यह परिणाम है, लेखन में दिनोंदिन प्रमाणिकता की वृद्धि होती गयी। और कई लेखक मुख्तार सा० की इस कृपा से पाठकों में उनसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके।

इस तरह स्वर्गीय श्री मुख्तार सा० की जैन-साहित्य के अनुसन्धान के क्षेत्र में अपूर्व देन है। जीवन के अन्तिम दिनों में भी वे उसी उत्साह और लगन के साथ साहित्य-साधना में रत रहे। वे अनुसन्धान के एक ऐसे आलोचक-स्तम्भ थे, जिससे निरन्तर अनेक दीपक प्रज्वलित होते रहे हैं। मुख्तार सा० ने हमेशा सब को गति प्रदान की है। ऐसा लगता है, अपने अन्तिम दिनों में भी वे इस स्वभाव को नहीं भूले। जब अपनी अन्तिम सांसों के कारण गतिरोध हो रहा था तो मुख्तार सा० ने अपनी सांसें उन्हें प्रदान कर दी। समय भी उनसे उपकृत हो गया। ऐसे महान तपस्वी के चरणों में मुझ अकिंचन के अनन्त प्रणाम।

१. अनेकान्त, वर्ष प्रथम, किरण ५, पृ० २७५

२. इस विषयक लेखक का एक लेख अनेकान्त की अगलीकिरण में प्रकाशित हो रहा है।

३. जैन जागरण के अग्रदूत में प्रकाशित परिचय के आधार पर।

जैन समाज के भीष्मपितामह

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री एम. ए. पी-एच. डी.

उन्नीसवीं शताब्दी का वह अरुण युग जिसमें सभ्यता और संस्कृत ही नहीं शिक्षा और संस्कार पश्चिमोदय के प्रभाव में इस देश के जन-मानस पर अंकित हो रहे थे उसी युग में भारतीय श्रमण संस्कृति से आप्यायित, पूर्व जन्म के सुसंस्कारों से समन्वित बालक 'किशोर' ने जैन कुल में जन्म लिया। बचपन से ही उसकी प्रतिभा तथा सुसंस्कारों का विकास हो चला था, यह उनके जीवन की विविध घटनाओं से प्रमाणित होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का वास्तविक उन्मेष सघर्षों के बीच होता है। जिसके जीवन में और जिस समाज में सघर्ष न हो उसे मृतप्राय समझना चाहिए। जुगलकिशोर मुस्तार के रूप में जैन समाज को एक ऐसा ही व्यक्तित्व मिला था जो जन-जीवन को झकझोर कर उसे वास्तविक रूप में ला देना चाहता था। बाबू सूरजभानु वकील, अर्जुनलाल जी सेठी और जुगलकिशोर जी ऐसे ही परम्परा के प्रवर्तक थे, जिसे आज की भाषा में समाजसुधारक कहते हैं। वास्तव में इस परम्परा का प्रवर्तक जैन समाज के अनुपम विद्वान् गुरुवर्य पं० गोपालदास जी वरैया ने किया था। समय-समय पर इन विद्वानों के लेखों ने तथा वक्तृताओं ने जैन समाज में जागृति का शंखनाद फूका, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पं० मुस्तार जी इसी पीढ़ी के विद्वानों में से थे। किन्तु अपनी पीढ़ी में उन्होंने सबसे अधिक कार्य किया। क्या इतिहास, क्या दर्शन, क्या साहित्य और क्या धर्म-संस्कृति तथा राष्ट्रीयता सभी क्षेत्रों में मुस्तार जी की प्रवृत्तियाँ सलग्न रही हैं। उन समस्त प्रवृत्तियों के कार्य-कलापों के मध्य 'युगवीर' का प्रबल व्यक्तित्व सतक्षित होता है।

असाधारण व्यक्तित्व की भांति पं० मुस्तार जी का कृतित्व भी असाधारण रहा है। इसलिए वे जैन समाज में भीष्मपितामह के तुल्य थे, जिसने समाज की भ्रमावातों

को सदा अकेले ही भँल कर राष्ट्र का पथ प्रशस्त किया। वे सघर्षों से अकेले जूझते रहे। और सबा समाज को कुछ न कुछ नहीं अपितु बहुत ही अमूल्य देने रहे। उनके जीवन में अवरोधक बहुत रहे, किन्तु उनकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। उनकी जीवनव्यापिनी चिन्ता एक ही रही और वह थी साहित्य की गवेषणा तथा जैनसिद्धान्त की प्रतिष्ठा। उनका जीवन ऐसे ही पार्थ धनुर्धरो के लिए समर्पित था। वे आसन्न काल तक कभी इस भीष्म व्रत से विचलित नहीं हुए, सदा अटल ही रहे। उनकी जीवन-साधना जितनी सरल और निश्छल थी उतना महान् उनका व्यक्तित्व भी। युग-युगों के अनुभवों तथा कर्म-निरत साधना में संपृक्त हो उन्होंने समाज को जो दिया वह अपरिमय तथा अमूल्य है। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी जितना कार्य अकेले किया उतना एक संस्था भी सम्भवतः न कर पाती। बीरसेवा मन्दिर के प्रकाशनों से स्पष्ट है कि उस महान् साहित्यकार ने कितना अधिक कार्य किया। कठिन से कठिन तथा अप्रकाशित ग्रन्थों का सरल भाषा में प्रकाशित कर जनमुलभ बनाने में आपकी कर्मठ साधना तथा कठोर श्रम एवं विद्वत्ता श्लाघनीय है। इतना ही नहीं, मौलिक साहित्य का सज्जन कर आपने समाज का एक चेतना तथा जागृति प्रदान की। 'मेरी भावना' तो एक राष्ट्रीय गौरव की कृति बन गई है। अकेली इस रचना ने ही आपको पर्याप्त यश तथा लोकाश्रय प्रदान किया। इसी प्रकार साहित्य के अनाघात क्षेत्र में 'जैनग्रन्थ परीक्षा' और चिन्तन-मनन के साथ प्रकाशित 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' जैसे ग्रन्थ लिख कर आपने अनुसन्धान जगत् में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

सम्पादन तथा अनुवाद—

'जैन गजट', 'जैन हितैषी' तथा 'अनेकान्त' जैसे

समाज के मुख्यपत्रों के सम्यक् सम्पादन के अतिरिक्त आप ने कई ग्रन्थों का सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद भी किया है। ये सभी ग्रन्थ सस्कृत से हिन्दी में अनूदित किए गए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र, (२) युक्त्यनुशासन, (३) स्वयम्भूस्तोत्र, (४) योगसार प्राभूत (५) समीचीन धर्मशास्त्र, (६) अध्यात्म-रहस्य, (७) (७) अनित्यभावना, (८) तत्त्वानुशासन, (९) देवागम (आप्त-मीमांसा), (१०) सिद्धिसोपान (आ० पूज्यपाद विरचित सिद्धभक्ति का भावात्मक हिन्दी पद्यानुवाद), (११) सत्साधुस्मरणमंगलपाठ (संकलन तथा हिन्दी अनुवाद)।

सम्पादन तथा अनुवाद में लेखक ने मूल भाव को बनाये रखने का पूरा यत्न किया है और यही उनकी मुख्य विशेषता है। मूल लेखक के भावों को हृदयगम कर उसके भावों को सरल भाषा में प्रकट करना मुस्तारजी का ही कार्य है। 'युक्त्यनुशासन' जैसे जटिल, दार्शनिक तथा महान् ग्रन्थ का प्रामाणिकता के साथ हिन्दी अनुवाद कर यथार्थ मर्म को प्रकाशित करना मुस्तारजी की प्रतिभा का ही कार्य है। इसी प्रकार 'देवागम' तथा अध्यात्म-रहस्य' जैसे कठिन ग्रन्थों की गुत्थिया सुलझा कर हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने की सामर्थ्य आप में ही लक्षित हुई है। विस्तार से यहां पर सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद की विवेचना न करना इतना कहना ही पर्याप्त समझता हूँ कि सम्पादन तथा अनुवाद-कार्य के क्षेत्र में आप जैन समाज के विरले ही विद्वान् हैं। दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के शब्दों में— 'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थ का सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र के अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार ने जिस अकल्पनीय सरलता से प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्या के अभ्यासियों के लिए आलोक देगा। सामान्य-विशेष, युतसिद्धि-अयुत-सिद्धी, क्षणभंगवाद, सतान आदि पारिभाषिक दर्शन शब्दों का प्रामाणिकता से भावार्थ दिया है। आचार्य जुगल-किशोरजी मुस्तार की यह एकान्त साहित्य-साधना आज

के मोल-तोल वाले युग को ही महंगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर इस तपस्वी की निष्ठा का अनुवाद की पंक्ति-पंक्ति पर दर्शन करेगा। स्पष्ट ही लेखक की साहित्य-साधना महान् है। इस साहित्य-देवता की सभी विशेषताओं पर प्रकाश डालना संभव भी नहीं है। इस छोटे से निबन्ध में कितना लिखा जा सकता है? किन्तु साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आपका जितना साहित्य-सृजन का कार्य है वह अत्यन्त श्रमसाध्य, निष्ठा तथा लगन से परिपूर्ण है। सम्पादन तथा अनुवाद-जगत में ऐसी रचनाएं अत्यन्त अल्प हैं। इनके महत्व को वही समझ सकता है जो ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों का अनुवाद करने बैठा हो और अपनी सच्चाई तथा ईमानदारी के कारण सफल न हो सका हो। इससे अधिक इस संबंध में और क्या कहा जा सकता है? वास्तविकता यही है कि विद्वानों के वास्तविक महत्व का मूल्यांकन उस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं।

मुस्तारजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता, लेख, निबन्ध तथा समाजसुधारक से संबंधित सामयिक साहित्य पर सफल तथा सरल रचनाएं प्रस्तुत कर उन्होंने जैन समाज में अमिट स्थान बना लिया है। मैं समझता हूँ कि अभी तक उनके लगभग पाच सौ से भी अधिक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं और लगभग दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उन सबका विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है।

वस्तुतः जैन समाज का एक महान् व्यक्तित्व मुस्तारजी जी की छाया के साथ उठ गया, इसमें कोई संदेह नहीं। आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने जीवन की अन्तिम सास तक लेखन-पठन कार्यों में व्यवधान नहीं आने दिया। बाहर से कोई न कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ मगवाकर उसका श्रवण-मनन-चिन्तन करना उनके जीवन का सहज व्यापार हो गया था। समाज ऐसे धनी-मानी, तपःपूत साहित्यसेवी और बिद्वद्वर तथा जैनसमाज के भोष्मपितामह के निधन पर अपनी भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

मुख्तार साहब का व्यक्तित्व और कृतित्व

पं० परमानन्द शास्त्री

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार इस युग के साहित्य तपस्वी और जैन साहित्य और इतिहास के वयोवृद्ध विद्वान लेखक थे। उनके सुधारक, स्वाभिमानी, अपनी बात पर अडिग, प्रतिभा के धनी और समीक्षक थे। उनकी प्रतिभा तर्क की कसौटी पर कस कर ही किसी बात को स्वीकार करती थी। वह जो कुछ लिखते निडर होकर लिखते, दूसरे के लेखों में कमी या विरुद्धता पाते तो उसका निराकरण करते, उनकी भाषा कुछ कठोर होती, तो भी वे उसे सरल नहीं करते। हा, वे जो कुछ लिखते थे उसे बराबर सोच समझ कर लिखते उसमें विलम्ब भले ही हो जाता, पर वह सम्बद्ध विचारधारा से प्रतिकूल नहीं होता था। मुझे उनके साथ सरसावा और दिल्ली वीरसेवामन्दिर में काम करने का वर्षों अवसर मिला है। जो लेख वे लिखना चाहते थे उस पर वे पहले चर्चा कर लेते थे और फिर लिखने बैठते। लेख पूरा होने पर या कभी-कभी तो अधूरा लेख ही सुनने व पढ़ने को दे देते। उसके सम्बन्ध में वे जो कुछ पूछते व प्रमाण माँगते तो यथा सभव मैं उन्हें तलाश कर देता था कभी-कभी वे रात को दो बजे लिखने बैठ जाते, तब मुझे आवाज देकर बुलाते, और मैं आकर उन्हें यथेष्ट ग्रन्थ या प्रमाण निकाल कर दे देता। वे लिखना प्रारम्भ करते और उसे ही पूरा करने में ही लगे रहते। उठते बैठते सदा उसी का विचार करते रहते थे। उसके पूरा होने पर ही वे विराम लेते। फिर मुझे उसकी कापी करने को देते। कापी होने पर उसे छपवाते। मैं जब कोई लेख लिखता तो उन्हें जरूर सुनाता और वे जो कुछ निर्देश करते उसके अनुसार ही उसे पूरा कर उन्हें दे देता था। यह क्रम सरसावा में चलता रहा, दिल्ली आने पर कुछ वर्ष यहाँ भी चला। इससे लेखकी प्रमाणिकता हो जाती है और लेख में रही सही अशुद्धियाँ भी नहीं

रहती। यद्यपि मुख्तार सा० की प्रकृति में नीरसता थी, और वह कभी कभी कठोरता में भी परिणत हो जाती थी। कष्ट का आवेश भी उनमें भुझलाहट उत्पन्न करता, पर वे उसे बाहर प्रकट नहीं करते थे। अवसर पर उसका प्रभाव अवश्य-कार्य करता था। वे इतिहास की दृष्टि में असम्प्रदायिक थे। उन्हें सम्प्रदाय से इतना व्यामोह नहीं था, वे सत्यता को पसन्द करते थे। प्रमाण व युक्ति से जो बात सिद्ध होती थी उसे वे कभी भी बदलने को तैयार नहीं होते थे। अनेक अवसरों पर वे इस बात में खरे थे। प्रमाण विरुद्ध बात को कभी स्वीकार नहीं करते थे और न सुनी सुनाई बातों पर आस्था ही करते थे। जैसे कोई दार्शनिक वा वकील अनेक तरह की दलीले देकर मुकदमा या विवाद में जीतने या जिताने का प्रयत्न करता है वैसे ही मुख्तार साहब भी प्रमाणों के आधार पर अपना अभिमत व्यक्त करते, अथवा लेख का निष्कर्ष निकालते थे। इसीलिये उनके लेख विद्वत् जगत में ग्राह्य और प्रमाण रूप में माने जाते हैं। वे अपनी सूक्ष्म विचारधारा एवं आलोचना और समीक्षात्मक दृष्टि से पदार्थ पर गहरा चिन्तन तथा मनन करते थे। उनके समीक्षा ग्रन्थ भी इसी बात के द्योतक हैं। भट्टारकों की अधार्मिक प्रवृत्तियों और आध्माय विरुद्ध ग्रन्थ चर्चाओं पर उन्होंने जो समीक्षाएं लिखी हैं वे जैन समाज में प्रमाण रूप से मानी जाती हैं, और अभी समाज में उनकी आवश्यकता बनी हुई है। यद्यपि वे अप्राप्य हैं, किन्तु भविष्य की पीढ़ी के लिये वे अधिक प्रमाण भूत होंगी। भविष्य के विचारकों को वे पथ प्रदर्शन का काम अवश्य करेगी। समीक्षा ग्रन्थ लिखकर उन्होंने विद्वानों के लिये आलोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। अब कोई भी विद्वान निर्भय होकर आर्थ मार्ग से विरुद्ध ग्रन्थों की समीक्षा कर सकता है।

आपने कभी कोई लेख भट-पट नहीं लिखा। सम्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर पर जो 'सम्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका निबन्ध मुख्तार सा० ने लिखा है और जो अनेकान्त वर्ष ६ की ११वीं १२वीं किरण में प्रकाशित हुआ है। वह कितना युक्ति पुरस्सर है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं, पाठक उसे पढ़कर स्वयं अनुभव कर सकते हैं। उसमें जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनका उत्तर आज तक भी नहीं हुआ। खींचा तानी की जा सकती है, पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर मुख्तार साहब का लिखना युक्ति संगत और प्रमाण भूत है। यह स्वयं अनुभव में आ जाता है, उसमें तथ्यों को तोड़ा मरोड़ा नहीं गया है प्रत्युत वास्तविक तथ्यों को देने का उपक्रम किया गया है। उनकी समीक्षात्मक दृष्टि बड़ी पैनी और तर्क-शालिनी है। समीक्षा लेखों के अतिरिक्त शोध-खोज के लेख भी उनके महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये 'स्वामी पात्र केसरी और विद्यानन्द' वाला लेख कितना विचार पूर्ण और नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाने वाला है, उसमें उन दोनों को एक समझने वाली भ्रान्ति का उन्मूलन कर वस्तु स्थिति को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह 'भगवान् महावीर और उनका समय' वाला लेख भी सम्बद्ध और प्रामाणिक है, यद्यपि उनके लेख कुछ विस्तृत हैं, पर वे रोचक और वस्तुस्थिति के यथार्थ निदर्शक हैं। इसी तरह श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जाच, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की एक सटिप्पण प्रति, समन्तभद्र का मुनि जीवन और आपत्काल समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० पाठक, सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव, जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्यों का शासन-भेद, रत्नकरण्ड के कर्तृत्व विषय में मेरा विचार और निर्णय आदि लेख भी वस्तुतत्त्व के निदर्शक हैं। और भी अनेक लेख हैं, जो उनकी शोध और समीक्षात्मक दृष्टि के जनक हैं। लेखों की भाषा भी प्रौढ़ सम्बद्ध और स्पष्ट है।

उपासना सम्बन्धी लेख भी उनके कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, वे भक्ति योग पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, और निष्काम भक्ति की महत्ता के हार्द को प्रस्फुटित करते हैं। भक्तिपरक निबन्धों में 'उपासनातत्त्व, उपासना का ढग भक्तियोग रहस्य, वीतराग की पूजा क्यों? और वीतराग

से प्रार्थना क्यों? है, जिनमें भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया गया है। और निष्काम भक्ति से होने वाले सुखद परिणाम का अच्छा चित्रण किया है। उन्होंने सिद्धि को प्राप्त शूद्धात्माओं की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम 'भक्तियोग' अथवा 'भक्तिमार्ग', बतलाया है। वह यथार्थ है, पूजा, भक्ति, उपासना, आराधना, स्तुति, प्रार्थना, वन्दना और श्रद्धा सब उसी के नामान्तर हैं। अन्तर्दृष्टि पुरुषों के द्वारा आत्म-गुणों के विकास को लक्ष्य में रखकर जो गुणानुराग रूप भक्ति की जाती है वही आत्मोत्कर्ष की साधक होती है। लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, यश, भय और रूढ़ि आदि के वश होकर जो भक्ति की जाती है उसे प्रशस्त अध्यवसाय की साधक नहीं कहा जा सकता, और न उससे संचित पापों का नाश, या आत्म-गुणों का विकास ही हो सकता है। स्वामी समन्त-भद्र जैसे महान् दार्शनिक आद्य स्तुतिकार ने भी परमात्मा की स्तुति रूप भक्ति को कुशल परिणाम की हेतु बतलाकर उसके द्वारा श्रेयोमार्ग को सुलभ और स्वाधीन बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वीतराग परमात्मा की यथार्थ भक्ति केवल परिणामों की कुशलता की ही सूचक नहीं प्रत्युत आत्म-सिद्धि की सोपान है—घातिकर्म का विनाश कर निरंजन भाव की साधिका है। मुख्तार सा० ने जो कुछ लिखा वह आचार्यों द्वारा प्रतिपादित परम्परा से लेकर ही लिखा है। उन्होंने उसमें अपनी तरफ से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नहीं किया; किन्तु उसके भाव को अपने शब्दों एवं भावों को भाषा सौष्टव के साथ प्रकट किया है।

आप के सामाजिक लेख क्रान्ति के जनक हैं। आप के उन लेखों से जैन समाज में क्रान्ति की धारा बह चली। उनसे समाज में क्रान्ति तो जरूर हुई किन्तु वह अस्थायी रही। सामाजिक लेखों में 'जैनियों में दया का अभाव', 'जैनियों का अत्याचार', नौकरो से पूजा कराना, 'जैनी कौन हो सकता है' जाति पचायतो का दण्ड विधान जाति आचार्य भेद पर अमित गति, विवाह समुद्देश आदि लेख समाज में जागृति लाने वाले हैं। इन लेखों में उस समय की कुत्सित प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए समाज में नवजीवन लाने के लिए आध्यात्मिक युवत प्रवृत्तियों को अनु-

चित्त बतलाया, तथा यह भी लिखा कि हृदय की शुद्धि के बिना बाह्य प्रवृत्तियाँ मिथ्या हैं, निस्सार हैं, उनका जीवन में कुछ भी उपयोग नहीं।

पत्र सम्पादक

मुख्तार सा० सन् १९०७ में 'जैन गजट' के सम्पादक बनाये गए। उस समय के आप के सम्पादकीय लेख देखने से पता चलता है कि उस समय आप में लेखन कला और सम्पादन कला का विकास हो रहा था। उसके बाद वे जैन हितैषी के सम्पादक बनाये गये। उस समय आप की विचारधारा प्रौढ़ और लेखों की भाषा भी परिमार्जित तथा विचारों में गहनता और ऐतिहासिकता आ गई थी। उस समय आप ने 'पुरानी बातों की खोज' शीर्षक के नाम से अनेक लेख लिखे। और सन् १९२६ में आप ने दिल्ली के करोलबाग में 'समन्तभद्राश्रम' की स्थापना की और अनेकान्त पत्र को जन्म देकर उसका सम्पादन प्रकाशन किया। आप की सम्पादन कला निराली है, वह अपनी बहुत कुछ विशेषता रखती है। अनेकान्त के प्रथम वर्ष में प्रकाशित आपके लेख ऐतिहासिक दृष्टि से वस्तुतत्त्व के विवेचक और भूल-भ्रान्तियों के उन्मूलक थे। उस समय आपकी ऐतिहासिक विचारधारा प्रौढ़ बन गई थी। अनेकान्त में आपके अनेक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुए, कितने ही लेख समीक्षात्मक उत्तरात्मक दार्शनिक और विचारात्मक लिखे गये। आपके यह सब लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। पाठकों को उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए।

इतिहास लेखक

मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र का इतिहास लिखा, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी बम्बई को समर्पित किया गया था और जिमका प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ था। सन् १९२५ से पहले किसी भी जैन विद्वान ने किसी आचार्य के सम्बन्ध में ऐसा खोजपूर्ण इतिहास ग्रन्थ लिखा हो, यह मुझे ज्ञात नहीं जैसा कि मुख्तार सा० ने स्वामी समन्तभद्र का इतिहास ग्रन्थ लिखा। मुख्तार सा० को रत्न करण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना और समन्तभद्र के इतिहास को लिखने में पूरे दो वर्ष का समय लगा। प्रस्तावना और इतिहास दोनों शोधपूर्ण हैं। उसके लिये मुख्तार सा० ने

अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। दिल्ली की आर्किलाजिकल डिपार्टमेंट की लायब्रेरी से एपिग्राफिया इंडिका और कर्णाटिका, अनेक जनरल और कनिष्ठा की रिपोर्ट आदि पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थों का आलोचन कर अनेक उपयोगी नोट्स लिये और सरसावा में बैठकर बड़े भारी परिश्रम से समन्तभद्र का इतिहास लिखा। इसमें लेखक ने आचार्य समन्तभद्र के मुनि जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला। भस्मक व्याधि के समय आपत्काल में उन्होंने अपनी साधु चर्या का किस कठोरता और दृढ़ता से पालन किया। और रोगोपशान्ति के बाद जैन शासन की सर्वोदयी धारा को कैसे प्रवाहित किया? और भगवान् महावीर के शासन की हजार गुणी वृद्धि की, आदि का सविस्तृत वर्णन है। साथ में उनकी महत्वपूर्ण कृतियों का भी परिचय कराते हुए उनके समयादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी है। इस इतिहास के प्रकाशित होने के बाद भी वे उनके सम्बन्ध में अन्वेषण करते हुए लिखते रहे हैं। समन्तभद्र पर उनकी बड़ी आस्था जो थी। समन्तभद्र का यह इतिहास ग्रंथ अप्रामाण्य है। अतः इसका पुनः प्रकाशन होना चाहिये, और परिशिष्ट में समन्तभद्र के संबन्ध में जो सामग्री प्रकाश में आई है उसे भी यथा स्थान देना चाहिये।

व्यक्तित्व

मुख्तार सा० का व्यक्तित्व महान है, उनमें सहिष्णुता और कार्य क्षमता अधिक है। वे श्रम करने में जितने दक्ष और उत्साही थे, विरोधियों के विरोध सहने या पचाने में भी उनमें ही सक्षम थे। सन् १९१० में खर्तौली के दस्तों और बीसों के पूजाधिकार-विषयक ऐतिहासिक मुकदमे में आपने और गुरुवर्य गोपालास जी वरैया ने दस्तों की ओर से गवाही दी थी, तब आप स्थिति पालकों के रोष के भाजन बनें, तथा धर्म विरोधी घोषित किये गये और जाति वहिष्कार की धमकी के पात्र हुए। उस समय आपने जिन पूजाधिकार मीमांसा नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें जिन पूजा, पूजक और उसका अधिकार और फल पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जहाँ वे प्रबल सुधारक थे, वहाँ कर्मठ अध्यव-

सायी भी थे। और अपने विचारों में चट्टान की तरह अडिग रहने वाले थे। सन् १९१७ में जब ग्रन्थ परीक्षा के दो भाग प्रकाशित हुए, इनमें से प्रथम भाग में उमा-स्वामी श्रावकाचार, कुन्द-कुन्द श्रावकाचार, और जिनसेन त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थों की परीक्षा की गई है। और दूसरे भाग में भद्रबाहुसहिता की परीक्षा की गई है, इसमें ग्रन्थ के अन्तरंग परीक्षण के साथ, प्रत्येक अध्याय का वर्ण्य विषय, तुलनात्मक अध्ययन और ग्रन्थ में असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा विरोधी तथ्यों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें लेखक की तटस्थ वृत्ति और विषय का प्रतिपादन श्लाघनीय है।

ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग में जो सन् १९२१ में प्रकाशित हुआ है। इसमें भट्टारक सोमसेन के त्रिवर्णाचार, धर्म परीक्षा, अकलक प्रतिष्ठा पाठ और पूज्यपाद उपासका-चार की परीक्षा अंकित है। सोमसेन द्वारा इस त्रिवर्णा-चार में वैदिक संस्कृति के हारीत पाराशर और मनु आदि विद्वानों के ग्रन्थों के अनेक पद्य ज्यों के त्यों लठाकर रखे गये हैं। मुस्तार सा० के गम्भीर अध्ययन ने ग्रन्थ की अप्रामाणिकता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। भट्टारक सोमसेन ने जैन संस्कृति के आचार मार्ग को कलंकित किया था। मुस्तार सा० ने ग्रन्थ-परीक्षा द्वारा उस कलक को धोकर जैन संस्कृति को पुनः समुज्ज्वल किया। उनकी ग्रन्थ परीक्षण की यह स्वतन्त्र विचारधारा विद्वानों के द्वारा अनुकरणीय है। ग्रन्थ परीक्षा का चतुर्थ भाग सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें सूर्य प्रकाश ग्रन्थ का परीक्षण किया गया है। जिसमें आर्षविरुद्ध एवं असंबद्ध बातों का दिग्दर्शन कराते हुए तथा अनुवाद सम्बन्धी त्रुटियों का उद्घाटन करते हुए उसे अप्रामाणिक ठहराया है। इस तरह मुस्तार साहब के ये चारों परीक्षा ग्रन्थ महत्वपूर्ण कृति हैं।

इन परीक्षा ग्रन्थों के प्रकाशन के समय जैन समाज में जो बबडर उठा, उसमें मुस्तार सा० को धर्म-विघातक बतलाया गया, अनेक धमकी भरे पत्र मिले पर मुस्तार सा० घबड़ाये नहीं, बिना सोचे समझे ही समाज में क्षोभ की लहर फैली, अनेक स्थिति पालकों ने विविध प्रकार दोषारोपण किये। उस समय भी आपने साहस और धैर्य

से काम लिया। उनकी सहनशीलता ने उन्हें जो शक्ति प्रदान की, उससे विरोधियों को मुह की खानी पड़ी और धीरे-धीरे वे विरोधी जन भी उनके प्रशंसक बन गए।

सन् १९२२ में जब 'विवाह समुद्देश' नाम का ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ, तब उसके उत्तर में शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामक लेख लिखा गया, जिसके उत्तरमें मुस्तार सा० ने सन् १९२५ में 'विवाह-क्षेत्र प्रकाश' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण का जोरदार खण्डन करते हुए अनेक प्रमाणों द्वारा अपनी पूर्व मान्यता को पुष्ट किया। सन् १९२२ में जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरों का शासन भेद नाम की पुस्तक लिखी जिसमें जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरों के शासन भेद का स्पष्ट निवेचन किया। पर किसी विद्वान को मुस्तार सा० के खिलाफ लिखने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि मुस्तार सा० ने अपनी लोह लेखनी से जो भी लिखा वह सब सप्रमाण और सयुक्तिक लिखा था इस कारण विरोधी जनों को अप्रिय एवं अरुचि-कर होते हुए भी वे उसका प्रतिवाद करने में सर्वथा असमर्थ रहे। उनके युक्ति पुरस्सर लेख को देखकर विरो-धियों को विरोध करने का साहस भी नहीं होता था। इससे पाठक मुस्तार साहब की लेखनी की महत्ता को सहज ही समझ सकते हैं।

मुस्तार सा० की महत्ता जैनधर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और संयमाराधन की उत्कट भावना से है। वे ज्ञान के साथ चारित्र्य को भी महत्व देते थे और जितना उनसे हो सकता था उसे वे जीवन में करते रहे। वे स्वामि समन्तभद्रोदित सप्तम प्रतिमा का अनुष्ठान करते थे। और त्रिकाल सामयिक करना अपना कर्तव्य मानते थे। वे रात दिन साहित्य साधना में सलग्न रहते थे। इसी से सामाजिक और व्यक्तिगत बुराइयों से बचे रहते थे। मैंने उन्हें कभी दूसरों की निन्दा करते हुए नहीं देखा। वे कर्मठ अध्यवसायी और साहित्य तपस्वी थे। साहित्यसृजन के प्रति उनकी लगन अद्भुत थी। यद्यपि उनके जीवन में रुक्षता और कृपणता दोनों का सामंजस्य था। वे एक पैसा भी फिजूल खर्च नहीं करते थे। यद्वा तद्वा खर्च करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था, वे उपयोगिता को

देख कर ही खर्च करते थे। मितव्ययी थे और जो खर्च करते थे उसका पाई-पाई का पूरा हिसाब लिखते थे। राष्ट्र एवं देश के नेताओं के प्रति उनकी महती आस्था थी महात्मा गांधी के निधन पर 'गांधी स्मारक निधि' के लिए आपने स्वयं एक सौ एक रुपया दिया और पांच-पांच दिन का वेतन अपने विद्वानों से भी दिलवाया था। कांग्रेस के प्रति भी उनकी अच्छी निष्ठा थी। वे सूत कात कर 'चर्खासिंध' को देते और बदले में खादी लेकर कपड़े बनवाते थे।

मुस्तार सा० का कृतित्व

उनका रहन-सहन सादा था। अधिकतर वह गाढ़े का उपयोग करते थे। राष्ट्र की सुरक्षा में भी उन्होंने राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी के पास एक सौ एक रुपया भेजा था। वे साहित्य रसिक थे, और उसमें ही रचे-पचे रहते थे।

उन्होंने सन् १९१६ में 'मेरी भावना' नाम की एक कविता लिखी, जो राष्ट्रीयगीत के रूप में पढ़ी जाती है, यह कविता बड़ी लोकप्रिय हुई। इसके विविध भाषाओं में अनुवादित अनेक संस्करण निकले। लाखों प्रतियां छपीं। उसके कारण लाखों व्यक्ति मुस्तारसा० के परिचय में आये और वे सदा के लिये अमर बन गये। पाठकों की जानकारी के लिए मेरी भावना के तीन पद्य नीचे दिये जाते हैं—

मेरी भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
वीन-दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे।
हुज्जत क्रूर-कुमांगरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥

+ + + +

कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥

+ + + +

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न धवरावे।
बैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।

घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावे,
ज्ञान चरित उन्नति कर अपना मनुज जन्म फल सब पावे ॥

मुस्तार साहब ने मेरी भावना के पद्यों में अनेक आर्थग्रन्थों का सार भर दिया है। पद्यों में जहाँ शब्द योजना उत्तम है वहाँ भाव भी उच्च और रमणीय है।

मुस्तार साहब केवल गद्य लेखक ही नहीं थे किन्तु कवि भी थे। आपकी कविता हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलती है। कवि भावुक होते हैं और वे कविता की उड़ान में अपने को भूल जाते हैं। पर मुस्तार सा० की गणना उन कवियों में नहीं आती; क्योंकि उनकी कविता केवल कल्पना पर आधारित नहीं है। मुस्तार साहब की कविताओं का आधार संस्कृत के वे पद्य हैं जो विभिन्न आचार्यों द्वारा रचे गए हैं। घटनाक्रम की कविता 'अज सम्बोधन' है जिसमें वध्य भूमि को जाते हुए बकरे का चित्रण किया गया है। उसमें उसका सजीव भाव समाया हुआ है। आप की हिन्दी की कविताओं में मानव धर्म वाली 'कविता में' अछूतोद्धार की भावना का सजीव चित्रण है—उसमें बतलाया गया है कि मल के स्पर्श से कोई अछूत नहीं होता। मल-मूत्र साफ करने का कार्य तो मानव अपने जीवन काल में कभी न कभी करता ही है फिर बेचारे इन अछूतों को ही मल-मूत्र उठाने के कारण अपवित्र क्यों माना जाता है—

गर्भवास और जन्म समय में कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलों से भरा नहीं किसने मल मूत्र न साफ किया ?
कैसे अछूत जन्म से तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमार का करते क्यों न लजाते हो ? ॥४॥

संस्कृति की कविता, 'मदीया द्रव्य पूजा', वीरस्तोत्र, और समन्तभद्रस्तोत्र आदि हैं। समन्तभद्रस्तोत्र की कविता का एक पद्य नीचे दिया जाता है—

देवज्ञ-मान्त्रिक-भिषग्वर-तान्त्रिको यः
सारस्वतं सकलसिद्धिं गतं च यस्य।

मान्यः कविर्गमक-वाग्मि-शिरोमणिः स
वादीश्वरो जयति धीर समन्तभद्रः ॥

अनित्य भावना आचार्य पद्मनन्दी की कृति है जिसका आपने सन् १९१४ में पद्यानुवाद किया था, उसके एक

श्लोक का पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है—

एक दिवस भोजन न मिले या, नींद न निशिको आवे,
अग्नि समीपी अम्बुज दल सम, यह शरीर मुरझावे ।
शास्त्र व्याधि जल आदिक से भी, यह शरीर मुरझावे,
चेतन क्या फिर बुद्धि देह में ? विनशत अचरज को है ।

इसी तरह आचार्य देवनन्दी को 'सिद्ध भक्ति का पद्यानुवाद भी सुन्दर हुआ है, जो 'सिद्ध-सोपान' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है । वह सुन्दर और कण्ठ करने योग्य है—यथा

स्वात्मभाव की लब्धि 'सिद्धि' है, होती वह उन दोषों के उच्छेदन से, अच्छादक जो ज्ञानादिक-गुण बून्दों के ।

योग्य साधनों की सुयुक्ति से; अग्नि प्रयोगादिक द्वारा हेम-शिला से जग में जैसे हेम किया जाता न्यारा ॥

इस तरह मुस्तार सा० की गद्य पद्य रचना सभी सुन्दर और भावपूर्ण है ।

व्याख्याकार या भाष्यकार

आप की समस्त कृतियों की संख्या ३०-३५ है जिनमें कुछ छोटे छोटे ट्रेक्ट भी हैं । उनमें आपने जिनका अनुवाद तथा सम्पादन किया है । उनके नाम इस प्रकार हैं—पुरातन जैनवाक्य-सूची, बृहत्सर्वभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, अध्यात्मरहस्य, समीचीनधर्मशास्त्र, सत्साधुस्मरण मंगल पाठ, प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र कल्याण-कल्पद्रुम, तत्त्वानुशासन, देवागम (आप्तमीमांसा) योगसार प्राभूत और जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सगह (प्रथम भाग) समाधितत्र ।

आपकी इन कृतियों का अध्ययन करने से स्पष्ट पता चलता है कि मुस्तार सा० ने इन ग्रन्थों के अनुवाद, सम्पादन प्रस्तावनादि लिखने में पर्याप्त श्रम किया है । मूलानुगामी अनुवाद के साथ व्याख्या या भाष्य द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट किया गया है । भाष्यकार को मूल लेखक की अपेक्षा उसके हार्द को स्पष्ट करने के लिए विशेष परिश्रम और प्रतिभा का उपयोग करना पड़ता है । मूल ग्रन्थकार के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए उनकी सरल और स्पष्ट व्याख्या करनी होती है, मूल ग्रन्थ की तह में (गहराई में) छिपे हुए तथ्यों को प्रकाश में लाने

के लिये भाष्यकार को तलस्पर्शी पाण्डित्य के साथ तथ्यों का विश्लेषण करना अनिवार्य होता है । मूल ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द किन किन किन स्थानों में और किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसके लिये मूल ग्रन्थ का गहराई से पारायण करना पड़ता है । भाष्य लिखते समय मूल ग्रन्थ के शब्द को सामने रखते हुए उसके अन्दर निहित अर्थ या भाव को सरल भाषा में रखते हुए वाच्य वाचक सम्बन्ध, अभिधेय, संवेदन और वाक्यार्थ की अभिव्यजना का परिज्ञान आवश्यक होता है । तभी भाष्यकार मूल ग्रन्थ के गभीर अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ हो सकता है ।

मुस्तार सा० ने अनुवाद करने से पूर्व स्वामी समन्तभद्र भारती के ग्रन्थों का एक शब्दकोष प० दीपचन्द्र जी पाण्ड्या केकडी से तय्यार कराया था । मूलग्रन्थ के पाठ संशोधन के पश्चात् अनुवाद प्रारम्भ किया । अनुवाद हो जाने के बाद भाष्य लिखने के लिये ग्रन्थ और अनुवाद का पारायण तथा संशोधन किया, और भाष्य लिखने से पूर्व मूलग्रन्थकार की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिये विविध ग्रन्थों का परिशीलन किया, तथा लिखने समय उन्हें सामने रक्खा । मुस्तार सा० का दृष्टिकोण मूल के हार्द को स्पष्ट करना था अतएव उन्होंने मूलग्रन्थ के पद्यों के अन्दर प्रन्तनिहित अर्थ को उसकी गहराई में जाकर तलदृष्टावन मूल को स्पष्ट करने वाली व्याख्या या भाष्य लिखा । अनुवाद और भाष्य लिखने में मुस्तार सा० ने अथक श्रम किया तभी वह मूल ग्रन्थ के अनुकूल और उपयोगी हो सका है । उसमें उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नहीं किया । अतएव वह भाष्य लिखने में कितने सफल हुए इसका निर्णय विद्वान पाठक ही कर सकते हैं । स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थों का जो अनुवाद और भाष्य लिखा वह कितना परिमार्जित और मूलग्रन्थकार की दृष्टि का अभिव्यंजक है । मैंने उसे लिखते समय पढ़ा और बाद में प्रेस कापी करते हुए भी पढ़ा है मुझे तो उसमें कोई स्खलन प्रतीत नहीं हुआ । कारण कि मुस्तार सा० लिखने में बहुत सावधानी रखते थे । साथ ही शब्दों को जाँच तोल कर रखते । उनकी लेखनी भटपट और चलता

हुआ नहीं लिखती थी। लिखते समय उनकी एकाग्रता और संलग्नता अनुकरणीय है।

तत्त्वानुशासन का भाष्य लिखते समय आचार्य रामसेन के मूल्य पद्यों का मूलानुगामी अनुवाद किया और बाद में भाष्य लिखा। भाष्य लिखते समय मूल ग्रन्थकार की दृष्टि को अक्षुण्ण रखते हुए पद्यों में आये हुए विशेषणों का स्पष्टीकरण किया। पाठकों की जानकारी के लिये उसके दो पद्यों का अनुवाद और व्याख्या नीचे दी जाती है—

**संगत्यागः कषायानां निग्रहो व्रत धारणम्
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ॥**

परिग्रहों का त्याग, कृपायों का निग्रह-नियंत्रण, व्रतों का धारण और मन तथा इन्द्रियों का जीतना यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति में सहायभूत-सामग्री है। व्याख्या—यहाँ सग त्याग में बाह्य परिग्रहों का त्याग अभिप्रेत है; क्योंकि अन्तरंग परिग्रह में क्रोधादि कषाये तथा हास्यादि नो कषाये आती है जिन सबका कषायों के निग्रह में समावेश है। कुसंगति का त्याग भी सगत्याग में आ जाता है—वह भी सद्ध्यन में बाधक होती है। व्रतों में अहिंसादि महाव्रतों तथा अणुव्रतों आदि का ग्रहण है। अनशन ऊनोदर आदि के रूप में अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतों में शामिल हैं। इन्द्रियों के जय में स्पर्शन-रसन घ्राण-चक्षु-श्रोत्र ऐसी पाँचो इन्द्रियों की विजय विवक्षित है। ध्यान की और भी सामग्री है, परन्तु यहाँ सर्वतो मुख्य सामग्री का उल्लेख है। शेष सामग्री का 'च' शब्द में समुच्चय किया गया है। उसे अन्य ग्रन्थों के सहारे से जुटाना चाहिये। इस ग्रन्थ में भी परिकर्म आदि के रूप में जो कुछ अन्यत्र कहा गया है उसे भी ध्यान की सामग्री समझना चाहिये।

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु।

मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥

इन्द्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में मन प्रभु-सामर्थ्यवान है, इसलिये (मुख्यतः) मन को ही जीतना चाहिये मन को जीतने पर मनुष्य (वास्तव) में जितेन्द्रिय होता है—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियों से भी पहले मन को जीतने

का सहेतुक निर्देश किया गया है। और यह बतलाया है कि मन को जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मन को नहीं जीता वह इन्द्रियों को क्या जीतेगा? मन के सकल्प-विकल्प रूप व्यापार को रोकना अथवा मन की चंचलता को दूर कर उसे स्थिर करना, मन को जीतना कहलाता है। मन का व्यापार रुकने अथवा उसकी चंचलता मिटने पर इन्द्रियों का व्यापार स्वतः रुक जाता है—वे अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होती उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्ष का मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमें पत्र-पुष्पादिक की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

तत्त्वानुशासन की प्रस्तावना बहुत विचार-विमर्श के बाद लिखी गई है। उसके लिखने में मुख्तार सा० ने अच्छा श्रम किया है। इस सम्बन्ध में मैंने उन्हें पर्याप्त सामग्री दी थी। उन्होंने मेरा उल्लेख भी किया है। रामसेन के समय का निर्णय उन्होंने कितने ही सुन्दर और सरल ढंग से किया यह देखते ही बनता है।

आप के ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ बड़ी मार्मिक और शोधपूर्ण हैं। अध्यात्म-कमलमातृण्ड की प्रस्तावना में १७वीं शताब्दी के विद्वान तथा प्रथित ग्रन्थकार पांडे राजमल्ल का परिचय और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

पुरातन जैन वाक्य-सूची की प्रस्तावना और उसका सम्पादन अपने सहयोगी विद्वानों के साथ किया। ग्रन्थ अन्वेषण करने वाले विद्वानों के लिये उपयोगी है मुख्तार सा० ने उसकी प्रस्तावना में प्रत्येक ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है। खासकर सन्मति सूत्र और सिद्धसेन के सम्बन्ध में जो विचार अथवा निष्कर्ष दिया गया है वह मौलिक है। गोम्मटसार की त्रुटि-पूर्ति पर भी प्रकाश डाला है। और भी अनेक विद्वानों के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है। जो शोधक विद्वानों के लिये उपयोगी है।

'समन्तभद्र भारती' के ग्रन्थों का अनुवाद और व्याख्या बहुत ही परिश्रम के साथ सम्पन्न की है। खासकर युक्त्यनुशासन का हिन्दी अनुवाद उन्होंने कितनी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। यह उनकी महत्वपूर्ण देन है। जो दार्शनिक विषय पर भी इतना अच्छा प्रकाश डालती

है। देवागम का अनुवाद भी उन्होंने सरल ढंग से प्रस्तुत किया है, जो पठनीय है।

इसी तरह समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) का अनुवाद, भाष्य और प्रस्तावना बड़ी महत्वपूर्ण है, वह मूल ग्रंथ पर अच्छा प्रकाश डालती है, और टीकाकार प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक दृष्टि से यथेष्ट प्रकाश डालती है।

आपका अन्तिम भाष्य अमितागति प्रथम का योगसार प्राभूत है। जिसका उन्होंने बीसों बार अध्ययन किया है। और बहुत कुछ चिन्तन के बाद उसका मूलानुगामी अनुवाद और भाष्य प्रस्तुत किया है। यह उनकी अन्तिम कृति है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है। आशा है समाज उससे विशेष लाभ उठाने का प्रयत्न करेगी।

मुख्तार साहब का जीवन सादा रहा है। वे सदा सिपाही की भाँति कार्य करने के लिये तत्पर रहते थे। परावलम्बी होना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था। वे अपना सब कार्य स्वयं करके प्रसन्न रहते थे। उनके इस सेवा कार्य को देखते हुए यह स्वाभाविक लगता है कि ऐसे निस्वार्थ सेवाभावी विद्वान का समाज ने कोई सार्वजनिक सम्मान नहीं किया, इसका हमें खेद है। पर कुछ व्यक्ति की अपनी कमजोरियाँ भी होती हैं जो उसे आगे बढ़ने नहीं देतीं। मुख्तार सा० का जीवन एकांगी था, वे जितना साहित्यिक विषयों पर विचार करते थे, उतना उन्होंने समाज के बारे में कभी चिन्तन ही नहीं किया, समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः अनुदार-सा ही रहा प्रतीत होता है। इस कारण उनके कितने ही कार्य अधूरे पड़े रहे, जिन्हें वे स्वयं सम्पन्न करना चाहते थे। वे वीरसेवा मन्दिर जैसी उच्चकोटि की संस्था के संस्थापक थे, उन्हें अच्छे कार्यकर्त्ता विद्वानों का सहयोग भी मिला था। उनकी प्रौढ़ लेखनी से प्रभावित हो बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता ने उन्हें आर्थिक सहयोग स्वयं दिया और अपने दूसरे मित्रों

से दिलाया। मुख्तार सा० के व्यक्तित्व को उभारने का भी प्रयत्न किया। वीर शासन-जयन्ती के अवसर पर सरसावा में अध्यक्ष पद से जो भाषण दिया था उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि 'मैं मुख्तार सा० को वर्तमान के मुनियो से भी कहीं अच्छा मानता हूँ जो सामाजिक भगड़ों से दूर रह कर ठोस साहित्य के निर्माण द्वारा जिन शासन और समाज की सेवा कर रहे हैं।' बा० छोटेलाल जी की उदारता, उत्साह और परिश्रम से तथा पूज्य प० गणेश प्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से वीर सेवामन्दिर का भवन दिल्ली में बन गया। मुख्तार सा० का बाबू छोटेलाल जी के साथ पिता-पुत्र जैसा सुदृढ़ प्रेम सम्बन्ध बहुत वर्षों तक रहा। पर कुछ कारणों से परस्पर में मतभेद उत्पन्न हो गया था बाद में उसमें पत्र व्यवहारदि द्वारा सुधार हो गया था और उनका परस्पर पत्र-व्यवहार भी चालू हो गया था, किन्तु दुर्भाग्य है कि सन् १९६२ के बाद उनका दोनों का परस्पर मिलन नहीं हो सका।

मुख्तार सा० का अन्तिम जीवन भी सानन्द व्यतीत हुआ, वे वीरसेवा मन्दिर दिल्ली से अपने भतीजे डा० श्रीचन्द्र जी सगल के पास एटा चले गए थे। सगल जी ने अपने ताऊ जी की सेवा प्रसन्नता से की। डा० साहब का सारा परिवार उनकी सेवा में संलग्न रहता था। वे उनकी सेवा से प्रसन्न भी थे। डा० सा० ने लिखा है कि उनका अन्त समय बड़ी शान्ति के साथ व्यतीत हुआ। मैं रातभर उनके पास बैठा रहा, णमोकार मन्त्र और समन्तभद्रस्तोत्र का पाठ करते हुए उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया। उनका देहावसान २२ दिसम्बर को ६१ वर्ष २२ दिन की आयु में प्रातःकाल हुआ। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति होना असंभव है। मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनकी आत्मा को परलोक में सुख-शान्ति की कामना करता हूँ।

उस मृत्युञ्जय का महाप्रयाण

डा० ज्योतिप्रसाद जैन एम. ए. पी-एच. डी.

जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर हैं। ससार तो अगादि-अनन्त है, किन्तु ससार के प्रत्येक प्राणी का जीवन सादि-सान्त ही होता है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है—वह टल नहीं सकती। यह देखते और जानते हुए भी कौन ऐसा है जो मरना चाहेगा? मृत्यु तो सभी को अनिष्ट और अप्रिय होती है। ऐसे व्यक्ति भी विरले ही होते हैं जो मृत्यु से भयभीत नहीं होते, अथवा जो उस भय पर विजय पा लेते हैं। यदि कोई पर्याप्त दीर्घजीवी होता है तो बहुधा कह दिया जाता है कि उसने मृत्यु को जीत लिया है। किन्तु केवल दीर्घ-जीवी होना ही मृत्युजयी होने का प्रमाण नहीं होता। मृत्युजयी कहलाने का अधिकारी तो वह व्यक्ति है जो मरना न चाहने हुए भी मरने से डरता नहीं है। जो जीवन के प्रत्येक क्षण का यथाशक्य सदुपयोग करता है, किन्तु मृत्यु के लिए भी सदैव तैयार रहता है। मृत्यु को वह कोई संकट या विपत्ति नहीं समझता, वरन् उसे जीवन का अनिवार्य विराम स्वीकार करके जब भी वह आये, समभाव से उसके लिए प्रस्तुत रहता है। ऐसी मनःस्थिति स्वयमेव, अथवा क्षणमात्र में नहीं बनती। उसके लिए पर्याप्तकालीन मनोनुशासन एवं मानसिक तैयारी करते रहना अपेक्षित होता है।

प्राक्तन-विद्या-विचक्षण श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' ने साधक इक्यानवे वर्ष का दीर्घ जीवन पाया। मन और तन का स्वास्थ्य भी सामान्यतया उत्तम प्राप्त किया। अत्यन्त सरल एवं सादा खान-पान और रहन-सहन, नियमित-संयमित जीवनचर्या और मुख्यतया बौद्धिक वृत्ति में लग्नता इस दीर्घजीवन और मानसिक स्वास्थ्य की विशेषताएँ थी, और सभवतया उनके मूलाधार भी थे। इस दीर्घजीवन का बहुभाग, लगभग सत्तर वर्ष, उन्होंने साहित्य, संस्कृति और समाज की सेवा में अर्पित किया। जीवन के अन्तिम पचास वर्षों

में तो यह समर्पण एक निष्ठ रहा। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का तथा उनकी समर्पक उपलब्धियों का मूल्याङ्कन कुछ हुआ है, शेष वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ियाँ करेंगी। उनके जीवन में जैसी प्रतिष्ठा, सन्मान और प्रभावना उन्हें प्राप्त होनी चाहिए थी वैसी नहीं हुई। कुछ लोग कहते रहे हैं कि इसका कारण मुख्तार साहब का व्यक्तित्व, स्वभाव और व्यवहार रहे है। हो सकता है कि उसका अशतः यह कारण भी रहा हो। किन्तु क्या इसका साथ ही यह कारण भी नहीं हो सकता कि जिस समाज में वह जन्मे, जिये और जिसकी सेवा में उन्होंने अपना सम्पूर्ण तन, मन और धन समर्पित कर दिया वह समाज कृतघ्न था, अथवा उसमें समुचित गुणग्राहकता या कद्रदानी का अभाव था? इस प्रश्न का समाधान भी समय करेगा।

ऐसे निष्काम कर्मयोगी एवं दीर्घकालीन एकनिष्ठ साधक से, जिसने श्रमण तीर्थङ्करों के उस धर्म को अपनाया और अपना इष्ट अध्ययनीय एवं मननीय विषय बनाया जिसमें मरण को 'मृत्युमहोत्सव' सज्ञा दी गई है, यह तो अपेक्षित था ही कि वह मृत्यु पर विजय पा लेता। स्वामि समन्तभद्र का अनन्य भक्त और समन्तभद्रभारती का अप्रतिम तलस्पर्शी अध्येता एवं प्रख्याता भी यदि मृत्युभय पर विजय न पा सका होता तो उसके उस दीर्घ-जीवन, चिरकालीन साधना, धर्मज्ञता और जितना कुछ भी धर्माचरण था उस सबकी क्या सार्थकता रहती। मृत्यु से लगभग साठ वर्ष पूर्व रचित अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय 'मेरी भावना' में उसने उद्घोष किया था—

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ, या मृत्यु आज ही आजावे ॥
अथवा कोई कंसा हो भय या लालच देने आवे।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पद ढिगने पावे ॥

होकर सुख में मग्न न फूले, दुःख में कभी न धबकाऊँ ।
पर्वत नदी शमशान भयानक, अटवी से नहीं भय खाऊँ ॥
रहे अडोल अकम्प निरन्तर. यह मन बड़तर बन जावे ।
दृष्ट विद्योग अनिष्ट योग में, सहनशीलता दिखलावे ॥

उसकी इस 'भेरी भावना' ने लाखों व्यक्तियों को मनोबल प्रदान किया । क्या वह स्वयं उसके जीवन पर कोई प्रभाव न रखती ? इस महाभाग के अवसान से प्रसून दुःख में यह हर्ष मिश्रित है कि अपने अर्धवसाय और लगन से उसने अपना जीवन तो सार्थक सिद्ध किया ही, मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए उसने स्वयं को जिस प्रकार तैयार रखा उससे उसने अपना अन्त भी सार्थक सिद्ध कर दिया ।

स्व० मुख्तार साहब की जीवनेच्छा बड़ी प्रबल थी । मरना तो शायद कोई भी नहीं चाहता, किन्तु वह तो मृत्यु का नाम भी नहीं लेते थे । अब से दस-पाँच वर्ष पहिले तक भी वह अपनी मृत्यु के बारे में कभी सोचना भी नहीं चाहते थे । प्रसंग चलता तो उसे टालने का प्रयत्न करते । मृत्यु का नाम लेना या लिया जाना वह अशक्नुन या अपशब्द जैसा समझते थे । अपने स्वस्थ और नीरोग रहने की चिन्ता अथवा सावधानी वह एक अत्यन्त स्वार्थी व्यक्ति की भाँति रखते थे । अपनी भावी साहित्यिक योजनाओं को सदैव ठोस और विस्तृत बनाये रखने और यही कहते रहने कि अभी अमुक-अमुक कार्य पूरे करने हैं—इन कार्यक्रमों को पूरा करने में जीवनावधि भी आगे ही आगे बढ़ती जाती थी । एक सौ वर्ष से कम जीने का तो उनका इरादा ही नहीं था । किन्तु इधर दो-तीन वर्षों से उन्हें ऐसा लगने लगा था कि जीवन अब अबिक नहीं चलना है, तदनुसार अपने साहित्यिक कार्यक्रमों को भी वह सीमित करने लगे थे । अपने अन्तिम वर्षों में समन्तभद्र स्मारक और समन्तभद्र पत्रिका आदि की जो योजनाएँ उन्होंने बनाई थी और जिन्हें कार्यान्वित हुआ देखने की उनकी उत्कट लालसा थी, उनके विषय में भी यह कहने लगे थे कि अब मेरा कुछ भरोसा नहीं है, मैं शायद इन्हें कार्यान्वित हुआ देखने के लिए नहीं रह पाऊँगा । जब कभी अस्वस्थ हो जाते तो इस प्रकार की बातें विशेषरूप से करने लगते । ऐसे ही एक प्रसंग में मैंने

उनसे कहा था कि 'आपतो भीष्मपितामह हैं, क्यों धबकाते हैं, आपकी तो इच्छा मृत्यु होगी—जब तक नहीं चाहेंगे मृत्यु आपके पास नहीं फटकेगी ।' इससे उन्हें कुछ बल मिला और बोले, 'ठीक है । उत्तरायण-दक्षिणायण का ही अन्तर है । अब अधिक दिन तो चलना नहीं है, जो चार-पाँच कार्य हाथ में ले रखे हैं उन्हें पूरा कर लूँ, फिर भले ही मृत्यु आ जाय ।' और ऐसा ही हुआ ।

दिसम्बर १९६६ में एटा में उनकी ८९वीं जन्म-जयन्ति मनी थी । उक्त अवसर पर उत्सव की अध्यक्षता करने के लिए मुझे बुलाया गया था । उसके दो-डेढ़ वर्ष पूर्व से समन्तभद्र स्मारक योजना और वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट की पुनर्व्यवस्था के सम्बन्ध में पत्रों द्वारा विचार विमर्श चल रहा था । इन दोनों की ही उन्हें विशेष चिन्ता बनी हुई थी । उस अवसर पर इस सम्बन्ध में साक्षात् बातचीत भी हुई । अपने हाथ में लिए हुए साहित्यिक कार्यों के विषय में भी बातचीत करते रहे । उस समय स्वस्थ और प्रसन्न थे । किन्तु मार्च ६७ के प्रारम्भ से ही अस्वस्थ रहने लगे । बन्धुवर डा० श्रीचन्द्र जी सगल के १८ मार्च के पत्र से ज्ञात हुआ कि 'ता० ४ मार्च से मुख्तार श्री अस्वस्थ चल रहे हैं । उन्हें ज्वर गुदों में सूजन (नेफ्राइटिस), रक्तचाप अधिक और चेहरे पर वरम तथा कमजोरी अधिक है । बीच में हालत चिन्ता-जनक हो गई थी । परन्तु अब तीन-चार दिन से तबियत सुधार पर है । आशा है शनैः शनैः स्वास्थ्य लाभ हो जायगा । चिकित्सा पूर्णरूप से ठीक हो रही है । चिन्ता की कोई बात अभी नहीं मालूम पड़ती है ।' उन्हीं के २९ मार्च के पत्र से ज्ञात हुआ कि तबियत फिर कुछ गड़बड़ हो गई थी, तब तक ठीक नहीं हुई । और ४ मई के पत्र में डा० सगल ने लिखा था कि 'ताऊ जी की तबियत अभी ठीक नहीं है । दुबारा दुबारा रिलेप्स हो जाता है । ब्लड प्रेशर और गुरदों की बीमारी ऐसी ही है, अच्छी तो होती ही नहीं, फिर भी उपचार से और ब्यावृत्त्य से ठीक रहती है । परन्तु उनका यह हाल है जरा तबियत ठीक होती है तो अपना धन्दा लिखने पढ़ने का लेकर बैठ जाते हैं और रोकने से मानते नहीं । दुनिया भर की फिकरें मोल ले रखी हैं । अब कौन उनसे कहे, और कह कर

भी देख लिया। अपने आगे किसी की सुनते ही नहीं, जो जो मन में आता करते हैं.....वे आपको एक लम्बा पत्र लिखना चाहते हैं, परन्तु स्वास्थ्य ठीक नहीं हो पाता, इसलिए नहीं लिख सके, ऐसा कह रहे थे।'

अगस्त-सितम्बर तक मुस्तार सा० की तबियत बहुत कुछ ठीक हो गई और वह अपने साहित्यिक कार्यों में फिर से जुट गए, किन्तु अधिक दिन तक जीवित रहने की उनकी आशा अब क्षीण हो चली थी। अपने ३ नवम्बर के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था कि—'ता० ३-१० का पत्र मिला, धन्यवाद। द्रव्यसंग्रह सम्बन्धी जो लेख मैं लिख रहा था वह समाप्त हो गया है। मेरे १६ पेजों पर आया है और एक फार्म से कम का है। आपने उसे शोधाङ्क में प्रकाशित करने के लिए अपने पास भेजने को लिखा परन्तु अगला शोधाङ्क २६ तो अब तीन महीने बाद प्रकाशित होगा। उस समय तक जीवन की न मालूम क्या स्थिति रहती है, इसलिए मैं उसे पं० कैलाशचन्द्र जी के पास भेजना चाहता हूँ। जैन सन्देश और शोधाङ्क के ग्राहक तो एक ही है, अतः उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।' अपने १३ दिस० ६७ के पत्र में उन्होंने लिखा—'ता० ६-१२ का पत्र मिला। आपने मेरे ६० वर्ष पूर्ण करके ६१वें वर्ष में प्रवेश पर अपनी शुभकामना, बधाई तथा श्रद्धांजलि प्रेषित की, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। मैं तो अपने ३ नवम्बर के पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था.....कोई सवा महीना हुआ रविवार के दिन मैंने योगसार प्राभृत की प्रस्तावना लिखने का निश्चय किया था कि रविवार के सुबह से ही ज्वर आ गया और मेरा विचार धरा रह गया.....' तदनन्तर ५ जनवरी ६८ के पत्र में उन्होंने लिखा था कि—'ता० २४ दिसम्बर का पत्र मिला.....मेरा स्वास्थ्य अभी तक गड़-बड़ में ही चला जाता है, गुर्दों की खराबी के कारण पैरों पर और पैरों के ऊपर टांगों पर घुटनों के नीचे तक वरम कुछ ठहर सा गया है, जिससे पैर कुछ कच्चे पड़ रहे हैं। और टांगों में कमजोरी है जिसके कारण बैठकर उठने में दिक्कत मालूम होती है और बिना किसी वस्तु के सहारे के उठा नहीं जाता। पैरों की कच्चाई और टांगों की कमजोरी के कारण दो एक बार मेरे गिरने की नौबत आई

है। अस्तु, नियोगशक्ति के अनुसार चिकित्सा हो रही है। जो कुछ होना होगा वह होगा। अलंघ्यशक्ति भवितव्यता के आगे किसी का चारा नहीं है, ऐसा स्वामी समन्तभद्र ने सूचित किया है। मेरे लिए चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं तो मृत्यु महोत्सव मनाने को तैयार हूँ। मेरा मरण अच्छा समाधिपूर्वक हो यही आन्तरिक कामना एवं भावना है। इसीलिए मैं अपने पड़े हुए कार्यों को निपटा रहा हूँ। शेष सब कुशल मंगल है, योग्य सेवा लिखे, बच्चों को शुभाशीर्वाद।'।

महाप्रयाण से लगभग एक वर्ष पूर्व लिखे गये इस पत्र के (बड़े टाइप में मुद्रित) उपरोक्त शब्द स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य है। वे एक सच्चे जिनानुयायी एवं समन्तभद्र भक्त के ही अनुरूप हैं। यह शब्द यह भी सिद्ध करते हैं कि अपने निधन से कम-से-कम एक वर्ष पूर्व तो उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हो ही गया था और वह उसके लिए तैयार भी हो गए थे। मृत्युभय को जीतकर वह मृत्युञ्जय हो गए थे।

इस पत्र में तथा इसके पूर्व के एवं पश्चात् के पत्रों में अन्य अनेक ऐसी बातें और चर्चाएँ भी हैं जिनसे स्पष्ट है कि इतने वार्धक्य, रुग्णावस्था और जीवन के अन्तिम मासों में भी उनका मस्तिष्क पूर्ववत् सजग, सप्राण और क्रियाशील था। शोध-खोज, चिन्तन-मनन, पठन-अध्ययन और लेखन-सृजन भी चलते रहे। इस काल के उनके लेखादिकों में उनका वही ओज और स्तर बना रहा जिसके लिए वह प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी लेखनी वैसी ही सधी हुई और निष्कम्प बनी रही।

लगभग चालीस वर्ष मेरा उनके साथ सम्पर्क रहा और गत तीस वर्षों में कई बार अल्पाधिक समय के लिए उसका सत्संग प्राप्त हुआ और सैकड़ों पत्र प्राप्त हुए, जिनमें से अनेक ऐतिहासिक, साहित्यिक अथवा सामाजिक महत्त्व के हैं। वह मेरे पितृव्यों की आयु के थे और मैं उन्हें पितृव्य तुल्य ही मानता रहा। वह भी मुझे आतृज-तुल्य मान कर वैसा ही वात्सल्य प्रदान करते रहे।

उनके २३ जनवरी ६८ के पत्र का उत्तर ३० जनवरी को दे दिया था, किन्तु उसके बाद अस्वास्थ्य के कारण

पत्र देने में कुछ प्रमाद हुआ तो अपने ६ मार्च के पत्र में उन्होंने लिखा कि—‘कितनेही दिन से आपका कोई पत्र नहीं आया है.....नहीं मालूम क्या कारण है। आशा है आप का स्वास्थ्य तो ठीक है और कुटुम्ब के सब व्यक्ति सानन्द हैं।’ इस पत्र का उत्तर मैंने १५ मार्च को दिया, किन्तु इसके पहुँचने के पहिले वह १६ मार्च को एक पत्र दे चुके जिसमें लिखा था—‘कितने ही दिन से आपका कोई पत्र नहीं है.....न ६ मार्च को दिये गये पत्र का ही कोई उत्तर है। नहीं जाने इस असाधारण विलम्ब का क्या कारण है। इससे चिन्ता हो रही है। आशा है आपका स्वास्थ्य तो ठीक होगा। अपने स्वास्थ्य सम्बन्धादि के विषय में शीघ्र ही सूचित करने की कृपा करें और पत्रों का उत्तर अवश्य ही देने-दिलाने का कष्ट करें।’ २६ जून के पत्र में उन्होंने लिखा था कि ‘प्रतीक्षा के बाद २३ जून का पत्र मिला। यह जानकर कि आप व्यस्तता के साथ कुछ अस्वस्थ भी रहे हैं, अफसोस हुआ। मैं कुछ ज्यादा अस्वस्थ हो गया था। १० दरबारी लाल जी आये थे, बहन जयवन्ती भी आई थी। इसी अवसर पर ट्रस्ट मीटिंग भी बुलाई गई थी.....अब मुझे नये सिर से अपने ट्रस्ट की व्यवस्था करनी है, इस सम्बन्धमें आपके जो भी सुझाव हों उनसे शीघ्र सूचित करने की कृपा करें.....मेरा विचार अब समन्तभद्र पत्र को मासिक रूप में निकालने का प्रबल होता जाता है.....मैं अपने जीवन में उसे प्रकाशित देखना चाहता हूँ।’—खेद है कि ऐसा न हो सका। इसके बाद १२ जुलाई के पत्र में उन्होंने लिखा

कि—“ता० ८ जुलाई का पत्र मिला, धन्यवाद.....समय बीतता जा रहा है, कार्य शीघ्रता से होना चाहिये। जीवन का कोई भरोसा नहीं। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन में ही संस्था और पत्र की कोई योग्य व्यवस्था बन जाय... मेरे गुर्दों का मूल रोग ज्यों का त्यों है। ज्वर न होने पर कुछ काम कर लेता हूँ। बच्चों को आशीर्वाद।”—यही उनका मुझे प्राप्त अन्तिम पत्र है।

डा० श्रीचन्द्र जी के पत्र से ज्ञात हुआ कि मुस्तार सा० पुनः अतिरुग्ण हो गये हैं। २६ जुलाई को मैं अपने अनुज अजितप्रसाद जैन के साथ उन्हें देखने के लिए एटा गया। वह खाट से लग गये थे, बोल भी थक गया था, शक्तिया क्षीण होती जा रही थी। तथापि देखकर गद्गद् हो गये और लेटे ही लेटे प्रसन्न मन से बात चीत की। यही मेरे लिये उनका अन्तिम दर्शन था।

५ नवम्बर को विद्वत्परिषद द्वारा एटा में ही मुस्तार साहब के अभिनन्दन की रस्म अदा की जानी थी उसमें सम्मिलित होने के लिये बन्धुवर कोठिया जी का पत्र मिला। पत्र २ ता० को लिखा गया था, किन्तु सम्भवतया डाक की गड़बड़ से, मुझे ५ को ही मिला। जाने का प्रश्न ही नहीं था, और उनके अन्तिम दर्शन का यह अवसर चूक गया। २६ दिस० को प्राप्त डा० श्री चन्द्र जी आदि के पत्र से ज्ञात हुआ कि २१ दिसम्बर ६८ को—६१ वर्ष और २२ दिनकी आयु में वर्तमान युग के इस मृत्युञ्जय का महाप्रयाण हो गया !

गुणों की इज्जत

एक आदमी हलवाई की दुकान पर गया, और दोने में गुलाब जामुन लेकर बला। दोना रेशमी रुमाल से ढक दिया। दोना प्रसन्न हो मन में सोचने लगा—इस दुनिया में मेरे जैसा भाग्यशाली कोई नहीं है, मुझे रेशमी बस्त्र से ढका गया है। वह आदमी दोना लेकर अपनी हवेली में पहुँचा। और चौथी मंजिल पर उसे एक सुन्दर टबिल पर रखा। दोना फूल गया अभिमान में। अहो मेरी कंसी इज्जत हो रही है। मुझे बंठने के लिए कंसा सुन्दर आसन मिला है, राजा महाराजाओं की तरह मेरा स्वागत हो रहा है। सभी लोग मुझे उच्च दृष्टि से देख रहे हैं।

किन्तु उस अभिमानी दोने को यह खबर नहीं थी कि यह इज्जत, प्रतिष्ठा, और स्वागत मेरा हो रहा है या गुलाबजामुन का। गुलाबजामुन के बिना दोने की क्या कीमत ? कुछ ही देर बाद दोना से गुलाबजामुन तस्तरी में रख दिये, और उस बेकार दोना को नीचे फेंक दिया गया।

अब दोने को भान हुआ, आँखें खुलीं, और अहंकार का मज्जा उतरा। इसी तरह शरीर की कोई इज्जत नहीं है। यदि शरीर रूपी दोने में सद्गुण रूपी गुलाबजामुन होंगे तो उसकी पूछ होगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी। उसका सत्कार होगा। सद्गुणों के अभाव में उसका कोई मूल्य नहीं। (जैन भारती)

मुख्तार सा० की बहुमुखी प्रतिभा

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

साहित्य के अनन्य उपासक स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार एक ख्यातिप्राप्त इतिहासकार थे। उनका लौकिक शिक्षण हाईस्कूल तक ही हो सका था। धार्मिक शिक्षण भी एक स्थानीय (सरसावा) छोटी सी पाठशाला में साधारण ही हुआ था। परन्तु वे बाल्यावस्था से ही अतिशय प्रतिभाशाली रहे हैं, तर्कणाशक्ति भी उनकी अद्भुत थी। इसीलिये वे सुरुचिपूर्ण सतत अध्यवसाय से एक आदर्श साहित्यचमूटा और समीक्षक हो सके। उन्होंने जीवन में वह महान कार्य किया है जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्वानों से सम्भव नहीं हुआ।

जिस समय समाज में रूढ़िवाद प्रबल था उस समय उन्होंने धीरे सामाजिक विरोध का दृढ़ता से सामना करते हुए भट्टारकों के द्वारा भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद और अकलक जैसे प्रतिष्ठाप्राप्त पुरातन आचार्यों के नाम पर जो भद्रबाहुसंहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, पूज्यपाद श्रावका-चार और अकलकप्रतिष्ठा-पाठ आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं उनका अन्तःपरीक्षण कर उन्हें जैनागम के विरुद्ध सिद्ध किया। समय-समय पर लिखे गये उनके इस प्रकार के निबन्ध 'ग्रन्थ-समीक्षा' के नाम से पुस्तक रूप में ४ भागों में प्रकाशित हुए हैं। उनके इस दृढ़तापूर्ण कार्य को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने आचार्य प्रभाचन्द्र की 'त्यजति न विदधानः कार्यमुद्विज्य धीमान् खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन।' इस उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ किया है। उन्होंने जिस विरोधी वातावरण में इस कार्य को सम्पन्न किया है उसमें अन्य किसी को यह साहस नहीं हो सकता था कि उपर्युक्त ग्रन्थों को इस प्रकार से अप्रामाणिक घोषित कर सके।

भाष्यकार के रूप में—

उन्होंने संलग्नतापूर्वक निरन्तर चलने वाले अपने अध्ययन से जो उत्कृष्ट आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया वह आश्चर्यजनक था। इस प्रकार से जो उन्होंने प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया उसके

बल पर ही स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावका-चार, तत्त्वानुशासन, देवागमस्तोत्र, कल्याण-कल्पद्रुम (एकीभाव-स्तोत्र) और योगसार-प्राभृत जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं। ग्रन्थ के अन्तर्गत रहस्य को प्रस्फुटित करने वाले उनके इन भाष्यों की भाषा भी तदनु रूप सरल और सुबोध है। इन भाष्यों के परिशीलन से ग्रन्थकार के अभिप्राय के समझने में किसी को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। उनकी पद्धति यह रही है कि प्रथमतः ग्रन्थ के विवक्षित श्लोक आदि का नपे तुले शब्दों में शब्दानुवाद करते हुए यदि उसमें कहीं कुछ विशेष शब्दार्थ की आवश्यकता दिखी तो उसे दो डैशो (—) के मध्य में स्पष्ट कर देना और तत्पश्चात् वाक्यगत पदों की गम्भीरता को देखकर व्याख्या के रूप में तद्गत ग्रन्थकार के आशय को उद्घाटित कर देना।

मु० सा० कुशाग्रबुद्धि तो थे ही, साथ ही वे अध्ययन-शील भी थे। जब तक वे किसी ग्रन्थ का मननपूर्वक पूर्ण-तया अध्ययन नहीं कर लेते तब तक उसके अनुवादादि में प्रवृत्त नहीं होते थे। आवश्यकतानुसार वे एक-दो बार ही नहीं, बीसों बार ग्रन्थ को पढ़ते थे। साथ ही ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के अभीष्ट आशय के ग्रहण करने का भी पूरा विचार करते थे। कारण कि इसके बिना ग्रन्थ के मर्म को उद्घाटित नहीं किया जा सकता।

उदाहरणार्थ समीचीन-धर्मशास्त्र—उनके रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के भाष्य—को ही ले लीजिये। वहाँ श्लोक २४ में 'पाषण्डी' शब्द का प्रयोग हुआ है^१। इसका प्राचीन

१. योगसार-प्राभृत की प्रस्तावना (पृ० २५) में उन्होंने स्वयं उस ग्रन्थ के सी से भी अधिक बार पूरा पढ़ जाने की सूचना की है।

२. सग्रन्थारम्भ-हिसानां संसाराऽऽवर्तवर्तिनाम्।

पाषण्डिना पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥

(स० ध० शा० २४, पृ० ५६)

अर्थ मूल में 'पाप का खण्डन करने वाला (साधु)' रहा है। पर बाद में वह 'धूर्त' या 'ढोंगी' अर्थ में रूढ़ हो गया। अब यदि उसके उपर्युक्त आशय को न लेकर वर्तमानमें प्रचलित धूर्त अर्थको ले लिया जाय तो प्रकृत श्लोकका अर्थ ही असंगत हो जाता है। कारण कि वहां पाखण्डियोंके आदर-सत्कारको पाखण्डिमूढता—जो पाखण्डी नहीं है उन्हें पाखण्डी समझ लेना—बतलाया है। अब यदि पाखण्डी का अर्थ धूर्त ग्रहण कर लिया जाता है तो उसका अभिप्राय यह होगा कि जो वास्तवमें धूर्त नहीं है उन्हें धूर्त मानकर उनका धूर्तों जैसा आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डिमूढता है। यह अर्थ प्रकृतमें कितना असंगत व विपरीत हो जाता है, यह ध्यान देनेके योग्य है। और जब उसका यथार्थ अर्थ 'पापका खण्डन करनेवाला समीचीन साधु' किया जाता है तब वह प्रकृतमें संगत होता है जो ग्रन्थकारको अभीष्ट भी रहा है। यथा—

जो परिग्रह, आरम्भ और हिसामे निरत है तथा भवभ्रमण करानेवाले कुत्सित कार्यरूप आवर्त—जलकी चक्राकार घूमनेरूप भँवर—में फसे हुए है ऐसे वेषधारी साधुओंको यथार्थ साधु समझकर उनका यथार्थ साधुओंके समान आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डितमूढता—पापप्रध्वंसक यथार्थ साधुविषयक अज्ञान—है।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्रद्धेय मुख्तार साहब कितने तलस्पर्शी अध्येता थे। विवक्षित ग्रन्थकी व्याख्याके लिये उन्होंने उसके समकक्ष अन्य अनेक ग्रन्थोंका गम्भीरतापूर्ण अध्ययन किया है। इसीसे वे व्याख्येय ग्रन्थोंमें जहां-तहां तुलनात्मकरूपसे अन्य कितने ही ग्रन्थोंके उद्धरण दे सके हैं। साथ ही उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाओंमें भी इस मर्मको उद्घाटित किया है। पर्याप्त चिन्तनके साथ ही उन्होंने विवक्षित श्लोक आदि की व्याख्या की है। ग्रन्थके मर्मको प्रस्फुटित करनेके लिये जहां जितना आवश्यक था उतना ही उन्होंने लिखा है—अनावश्यक या ग्रन्थके बाह्य उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा।

मुख्तार सा० का यह कार्य इतना विस्तृत है कि उस सबका परिचय कराना अशक्य है। यहां मैं केवल उनके

१. देखिये समीचीन-धर्मशास्त्र मूल पृ० ५६ और प्रस्तावना पृ० ६-११।

अन्तिम भाष्य—योगसार-प्राभूतकी व्याख्या—का संक्षेपमें परिचय करा देना चाहता हूँ। यह भाष्य उन्होंने लगभग ८५-८६ वर्षकी अवस्थामें लिखा है। उसके पढ़नेसे अनुमान किया जा सकता है कि इस वृद्धावस्थामें भी—जब कि बहुतांकी बुद्धि व इन्द्रियां काम नहीं करतीं—उनकी ग्रहण-धारणशक्ति कितनी प्रबल रही है।

इसकी प्रस्तावना (पृ० १७-१६) में उन्होंने ग्रन्थके 'योगसार-प्राभूत' इस नामकी सार्थकताको प्रकट करते हुए बतलाया है कि यह नाम योग, सार और प्राभूत इन तीन शब्दोंके योगसे निष्पन्न हुआ है। इनमें योग शब्दके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए नियमसार (गा० १३७-३६) के आधारसे बतलाया है कि आत्माको रागादिके परित्याग और समस्त संकल्प-विकल्पोंके अभावमें जोड़ना—उससे संयुक्त करना, इसका नाम योग है। साथ ही विपरीत अभिप्रायको छोड़कर जिनोपदिष्ट तत्त्वोंमें आत्माको संयुक्त करना, यह भी योग कहलाता है। यह योग शब्दका अर्थ 'युनक्ति आत्मानमिति योग.' इस निरुक्तिके अनुसार किया गया है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि रागादिके साथ समस्त संकल्प-विकल्पोंको छोड़कर तत्त्वविचारमें सलग्न होना, इस प्रकारकी प्रशस्त ध्यानरूप प्रवृत्तिका नाम योग है।

दूसरा जो सार शब्द है उसका अर्थ विपरीतताका परिहार—यथार्थता—है (नि० सा० ३)। इस प्रकार 'योगसार' का अर्थ हुआ—विपरीततासे रहित योगका यथार्थ स्वरूप। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ, स्थिराश, सत् और नवनीत; इन अर्थोंमें भी उक्त सार शब्दका प्रयोग देखा जाता है। तदनुसार 'योगसार' का अर्थ 'योगविषयक कथनका नवनीत' समझना चाहिये। जिस प्रकार दहीको बिलोकर उसके सारभूत अंश नवनीतको निकाल लिया जाता है उसी प्रकार अनेक योगविषयक ग्रन्थोंका मन्थन करके उनके साराशरूप प्रकृत योगसार ग्रन्थ है।

तीसरा शब्द प्राभूत है, जिसका अर्थ 'भेंट' होता है। तदनुसार जिस प्रकार किसी राजा आदिके दर्शन लिये जानेवाला व्यक्ति उसे भेंट करनेके लिये कुछ न कुछ सार-भूत वस्तु ले जाता है उसी प्रकार परमात्मारूप राजाका दर्शन करनेके लिये भेंटरूप यह ग्रन्थकारका प्रकृत ग्रन्थ है।

निष्कर्ष यह हुआ कि यथार्थ योगस्वरूपका प्ररूपक यह योगसार-प्राभृत ग्रन्थ अध्येताके लिये परमात्माका साक्षात्कार करनेवाला है।

जयध्वला (१, पृ० ३२५) के अनुसार प्राभृत (प्र+प्राभृत) वह होता है जो प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तीर्थकर द्वारा प्रस्थापित हुआ है, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् विद्यास्वरूप धनसे सम्पन्न ऐसे आरातीय आचार्योंके द्वारा धारण किया गया है—जिसका व्याख्यान किया गया है—या पूर्व परम्परासे जो लाया गया है।

यह है मुख्तार सा० की सूक्ष्म दृष्टि जो ग्रन्थकारके हार्दिको स्पर्श कराती है। इस ग्रन्थ-नामकी यथार्थतामे ग्रन्थकारको योग शब्दसे उपर्युक्त प्रशस्त ध्यान ही अभीष्ट रहा है। यथा—

विविक्तात्मपरिज्ञानं योगान् सजायते यत् ।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥

यो० रा० प्रा० ६-१०

अर्थात् योगसे कर्म-कालिमाको धो डालनेवाले योगियो ने योग उसे ही कहा है जिसके आश्रयसे विविक्त—समस्त पर भावोंसे भिन्न शुद्ध—आत्मतत्त्वका बोध होता है। इस प्रकार चूँकि वह आत्मावबोध प्रशस्त ध्यानसे ही सम्भव है, अतः वही प्रकृत मे ग्राह्य रहा है।

इस प्रकार अपने उक्त सार्थक नामके अनुसार योग-स्वरूपकी प्ररूपणा करनेवाला प्रस्तुत ग्रन्थ अतिशय मनो-मोहक है; उसकी भाषा सरल व सुललित है, विषयके प्रतिपादनकी शैली भी उत्कृष्ट है। ग्रन्थकार श्री अमित-गतिने भगवान् कुन्दकुन्दके समस्त आध्यात्मिक साहित्यका मनन कर तदनुसार ही इस ग्रन्थको रचा है। उसके बहुतसे श्लोकोंमें समयसारादि ग्रन्थोंकी छाया स्पष्टतया दृष्टि-गोचर होती है। इसे भाष्यकारने तुलनात्मकरूपसे कही अपनी व्याख्याके मध्यमें और कही टिप्पणीके रूपमें इतर ग्रन्थगत समान उद्धरणोंको देकर स्पष्ट भी कर दिया है।

ग्रन्थका प्रमुख विषय योग है। उसके विवेचनके लिये जिन प्रासंगिक विषयोंका—जीवाजीवादि तत्त्वोंका—विवेचन आवश्यक प्रतीत हुआ उनका भी वर्णन ग्रन्थमें कर दिया गया है। तदनुसार ग्रन्थ इन नौ अधिकारोंमें विभक्त है—(१) जीवाधिकार, (२) अजीवाधिकार, (३) आस-

वाधिकार, (४) बन्धाधिकार, (५) सवराधिकार, (६) निर्जराधिकार, (७) मोक्षाधिकार और (८) चारित्राधिकार। प्रतियों में नौवें अधिकारका कोई विशेष नाम नहीं उपलब्ध हुआ—उसका उल्लेख प्रायः 'नवमाधिकार' के नामसे हुआ है। भाष्यकारने उसका निर्देश 'चूलिका-धिकार' नामसे किया है। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकारसे किया है—

दूसरे अधिकारोंकी तरह उसका कोई खास नाम नहीं दिया गया, जब कि ग्रन्थसन्दर्भकी दृष्टिसे उसका दिया जाना आवश्यक था। वह अधिकार सातो तत्त्वों तथा सम्यक्-चारित्र जैसे आठ अधिकारोंके अनन्तर 'चूलिका' रूपमें स्थित है—आठों अधिकारोंके विषयको स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओंका उल्लेख करता है—और इस-लिये उसका नाम यहाँ 'चूलिकाधिकार' दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर (भवन) की चूलिका—चोटी—उसके कलशादिके रूपमें स्थित होती है उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक इस ग्रन्थ-भवनकी चूलिका—चोटी—के रूपमें यह नवमा अधिकार स्थित है, अतः इसे 'चूलिका-धिकार' कहना समुचित जान पड़ता है।

(प्रस्तावना पृ० २५)

ग्रन्थगत समस्त श्लोकसंख्या ५४० है। विषयका विवेचन अधिकारोंके नामानुसार यथास्थान रोचक आध्यात्मिक पद्धतिसे किया गया है। उसका परिचय भाष्यकारने प्रस्तावना पृ० २५-३१ में श्लोकसंख्याके निर्देशपूर्वक स्पष्टतासे करा दिया है।

प्रथम जीवाधिकारके अन्तर्गत आत्मा और ज्ञानके प्रमाण तथा ज्ञानकी व्यापकताको बतलानेवाला निम्न श्लोक प्राप्त होता है—

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञान ज्ञेयप्रमं विदुः ।

लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगत ततः ॥१६॥

यह श्लोक प्रवचनसार गा० १-२३ का प्रायः छाया-नुवाद है^१। इस श्लोककी व्याख्या मुख्तार सा० ने सरलतापूर्वक विस्तारसे की है। आत्मा ज्ञानप्रमाण क्यों है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि

१. आदा णाणपमाणं ज्ञानं ज्ञेयपमाणमुद्दिष्टं ।

जेयं लोकालोमं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥

यदि आत्माको ज्ञानसे—आयिक अनन्त केवलज्ञानसे—बड़ा माना जाय तो उसका वह बड़ा हुआ अंश ज्ञानविहीन होनेसे अचेतन (जड़) ठहरेगा। तब वैसी अवस्थामें वह ज्ञानस्वरूप कैसे माना जा सकता है? इसके विपरीत यदि उसे ज्ञानसे छोटा माना जाता है तो उस आत्मासे ज्ञानका जितना अंश बड़ा हुआ होगा वह स्वाश्रयभूत आत्माके बिना निराश्रय ठहरता है। सो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण कभी गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रहता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानके प्रमाण है—न उससे बड़ा है और न छोटा भी^१।

आये वह ज्ञान ज्ञेय—अपने विषयभूत लोक-अलोक—प्रमाण है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्यामें लोक और अलोकके स्वरूपको दिखलाकर कहा गया है कि ज्ञेय तत्त्व लोक और अलोक है, कारण कि उनसे भिन्न अन्य किसी ज्ञेय पदार्थका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इसका भी कारण यह कि जो ज्ञानका विषय है वही तो ज्ञेय कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानकी सीमाके बाहिर लोक और अलोक को छोड़कर अन्य किसी ज्ञेयका जब अस्तित्व सम्भव नहीं है तब यह स्वयं सिद्ध है कि ज्ञान अपने विषयभूत लोक-अलोकके ही प्रमाण है।

इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि आत्मा ज्ञान प्रमाण और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है तब चूँकि अलोक सर्व-व्यापक है, अतएव उसको विषय करनेवाला ज्ञान भी सर्व-गत सिद्ध होता है। इसका यह तात्पर्य निकला कि आत्मा अपने ज्ञान गुणके साथ सर्वव्यापक होकर लोकके साथ अलोकको भी जानता है। यह स्थिति सर्वज्ञताको प्राप्त सभी केवलज्ञानियोंकी समझना चाहिये।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होना है कि आगममें जब

१. इस स्पष्टीकरणकी आधारभूत प्रवचनसार की अगली ये तीन गथाये रही है—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स तो आदा ।
हीणो वा अधिगो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदण ण जाणादि ।
अधिगो वा णाणादो णाणेण विणा कहुं णादि ॥२५॥
सव्वगदो जिणवमहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्टा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

जहां-तहां आत्मा—संसारी आत्मा—को अपने प्राप्त शरीरके प्रमाण ही बतलाया गया है, तथा मुक्त जीवोंके आत्मप्रदेश अन्तिम शरीरके प्रमाणसे कुछ हीन ही रहते हैं, यह भी कहा गया है; तब उस आत्माको सर्वगत कहना कैसे संगत होगा? इसके समाधानस्वरूप व्याख्यामें यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तात्मार्ये सभी वस्तुतः स्वात्म-स्थित^२—अपने अन्तिम शरीरके आकारमें विद्यमान आत्म-प्रदेशोंमें ही स्थित—हैं, उनके बाहिर उनका अवस्थान नहीं है, फिर भी आत्माको जो सर्वगत कहा गया है वह औपचारिक है।

इस उपचारका कारण यह है कि ज्ञान उस दर्पणके समान है जिसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं^३। अर्थात् दर्पण जैसे न तो पदार्थोंके पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा वे पदार्थ भी न तो दर्पणके पास आते हैं और न उसमें प्रविष्ट ही होते हैं; फिर भी वे पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होकर तद्गतसे दिखते अवश्य हैं, इसी प्रकार सर्वज्ञका ज्ञान भी न तो पदार्थोंके पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा पदार्थ भी न ज्ञानके पास आते हैं और न उसमें प्रविष्ट भी होते हैं; फिर भी वे उस ज्ञानके विषय अवश्य होते हैं—उसके द्वारा निश्चित ही जाने जाते हैं। यह वस्तुस्वभाव ही है—जिस प्रकार दर्पण और पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही उसमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान और पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही उस केवलज्ञानके द्वारा अलोकके साथ लोकमें स्थित सभी पदार्थ जाने जाते हैं। इस प्रकार विषय की व्यापकता से विषयी ज्ञान को भी सर्व-व्यापक कहा गया है^४।

२. स्वात्मस्थित. सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसग. ।

प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात् पुरुष. पुराणः ॥
(विपापहार १)

३. नमः श्री-वर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।

सालोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायेते ॥

(२० क० श्रा० १)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

(पु० सि० १)

४. इस व्याख्या का आधार आचार्य अमृतचन्द्र की वृत्ति

दूसरे अजीवाधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार घर्मादि द्रव्यों के उपकार को बतलाकर (१५-१७) आगे यह कहा गया है—

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं[-पे] परमार्थतः ।

करोति कोऽपि कस्यापि न किञ्चन कदाचन ॥

यहाँ 'परमार्थतः' पद पर बल देते हुए व्याख्या में उमका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि यह जो उपकार का कथन है वह व्यवहार नय के आश्रित है । निश्चयनय की अपेक्षा सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में निमग्न होकर स्वभाव परिणमन ही करते हैं—उनमें से कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का उपकार-अपकार नहीं करता । इन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभाव में परिणत रहते हैं, इसलिए वे वस्तुतः किसी का भी उपकार नहीं करते । जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्ति से सहित होने के कारण स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार का परिणमन करते हैं । जीवों में जो विभाव परिणमन होता है वह कर्म तथा शरीरादि के सम्बन्ध से ससारी जीवों में ही होता है—मुक्त जीवों में कर्म और शरीर का अभाव हो जाने के कारण वह नहीं होता, उनमें केवल स्वभाव परिणमन ही होता है । पुद्गलों में से परमाणुओं में स्वभाव परिणमन और स्कन्धों में विभाव परिणमन होता है ।

रही है—ज्ञान हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्य-पर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तम्, तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद् भगवानपि सर्वगत एव । एव सर्वगतज्ञानविषयत्वात् सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात् तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यस्येदमत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽस्तिद्विगता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चयः । (प्रवचनसार १-२६) ।

पञ्चास्तिकाय (७४-७५) आदि ग्रन्थों में जो पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्धदेश, रक्न्धप्रदेश और परमाणु इस प्रकार चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं तथा उनका स्वरूप भी कहा गया है वह उसी प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में भी (२-१९) संक्षेप से कहा गया है । इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने उन्में स्पष्ट करने हुए कहा है कि संख्यात, असंख्यात, अनन्त अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्डरूप वस्तु को स्कन्ध कहा जाता है । स्कन्ध का एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब वह देश स्कन्ध कहलाता है । इसी क्रम से जब यह देश स्कन्ध आधा रह जाता है तब वह प्रदेश स्कन्ध कहलाता है । प्रदेश स्कन्ध के खण्ड होते-होते जब उसका खण्ड होना सम्भव नहीं रहता तब वह परमाणु कहलाता है । इस प्रकार मूल स्कन्ध के उत्तरवर्ती और देश स्कन्ध के पूर्ववर्ती जिनमें भी खण्ड होंगे उन सबको स्कन्ध ही कहा जाता है । इसी प्रकार देश स्कन्ध आदि नामों का क्रम भी जानना चाहिये ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुख्तार सा० ने जितने ग्रन्थों का भाष्य लिखा है वह उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है—वे इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सर्वथा सफल रहे हैं । उनके इन भाष्यों से ग्रन्थों का महत्त्व और भी बढ़ गया है । इन भाष्यों के आधार से सर्वसाधारण उन ग्रन्थों के मर्म को भली भाँति समझ सकते हैं ।

१. इस व्याख्या का आधार पञ्चास्तिकाय की यह जयसेन वृत्ति रही है—समस्तोऽपि विविक्षतघट-पटाद्यखण्डरूपः सकल इत्युच्यते, तस्यानन्तपरमाणुपिण्डस्य स्कन्दसंज्ञा भवति । तत्र दृष्टान्तमाह—षोडशपरमाणुपिण्डस्य स्कन्दकल्पना कृता तावत् एकैकपरमाणोरपनयेन नवपरमाणुपिण्डे स्थिते ये पूर्वविकल्पा गतास्तेऽपि सर्वे स्कन्दा भण्यन्ते । अष्टपरमाणुपिण्डे जाते देशो भवति, तत्राप्येकैकापनयेन पञ्चपरमाणुपर्यन्तं ये विकल्पा गतास्तेषामपि देशसंज्ञा भवति । परमाणुचतुष्टयपिण्डे स्थिते प्रदेशसंज्ञा भण्यते, पुनरप्येकैकापनयेन द्व्यणुकस्कन्दे स्थिते ये विकल्पा गतास्तेषामपि प्रदेशसंज्ञा भवति । परमाणुश्चैवाविभागीति । (पञ्चास्तिकाय ७५)

वह युग-सृष्टा सन्त ?

मनु जानार्थी

वह सरसावा का सन्त !
तपः पूत व्यक्तित्व !
तिल-तिल कर आत्मावृत मनोषि !
जब-जब समाज की स्मृति के
जर्जर-कुरूप-वातायन में आया है
में उदास हो गया हूँ ।
जिस ऊर्जस्ति मेधा ने
विस्मृति के गर्भ में खोया हुआ
आचार्य समन्तभद्र जैसा नर-शार्ङ्गल,
दीमकों का आहार बनने से बचाया
और संस्कृति का दर्पण साहित्य
इतना दमकाया, इतना उद्भासित किया
कि अनुदार-चेता वाग्मियों को भी स्वीकारना पड़ा —
“अमण-संस्कृति भारत की अक्षय-निधि है”;
एक दिन हाथ ! जब वह
भास्कर-सा भास्वर
जगमगा रहा था साहित्य के गगन-में
चिर-कुटला दिल्ली,
भोगभूमि दिल्ली,
वही दिल्ली जिसने गाँधी को भी नहीं जीने दिया,
बंबव के प्रकोष्ठ में घेर कर बंठ गयी उसे
और नागिन-सी कुण्डली मार कर
लपेट लिया उस साहित्य-देवता को !

और, चिर-सामाजिक-व्यक्तित्व के मुखौटे,
जो न कभी सामाजिक थे और न आज हैं,
दंश मार-मार कर चूसने लगे
चिर-संचित अशेष तपोबल-अमृत उसका ।
बंबव के पुजारियों की कारा में,
छली गयी सरस्वती, बन्दिनी बना ली गयी !
अफसोस ! एक व्यवस्था ने उसे
सामान्य आदमी की तरह भी नहीं जीने दिया !
हे युगवीर !
जब-जब तुम्हें सामाजिक-व्यक्तित्व के मुखौटों में छिपे
भेड़ियों ने स्मरण किया है
मेरी अशेष चेतना तिलमिला उठी है
और मैं उस व्यवस्था के प्रति
विद्रोह करने को पागल हो उठा हूँ
जो आदमी को आदमी की तरह नहीं जीने देती ।
लेकिन कितनी विवशता है—
जो निष्ठुर हाथ युग-चेतना को निष्प्राण बना देते हैं
वही श्रद्धा-सुमन अर्पित करने वालों में
मगरमच्छ के आँसू लिये प्रथम पंक्ति में खड़े होते हैं ?
इतिहास अपने आप को बुहराता है,
शायद, कभी कोई नयी पीढ़ी आयेगी
और तुम्हें भी आचार्य समन्तभद्र की तरह
दीमकों का आहार बनने से बचायेगी ।





एटा में विद्वद् परिषद् के अध्यक्ष डा० नेमचन्दजी शास्त्री अभिनन्दन पत्र समर्पित करत हुए



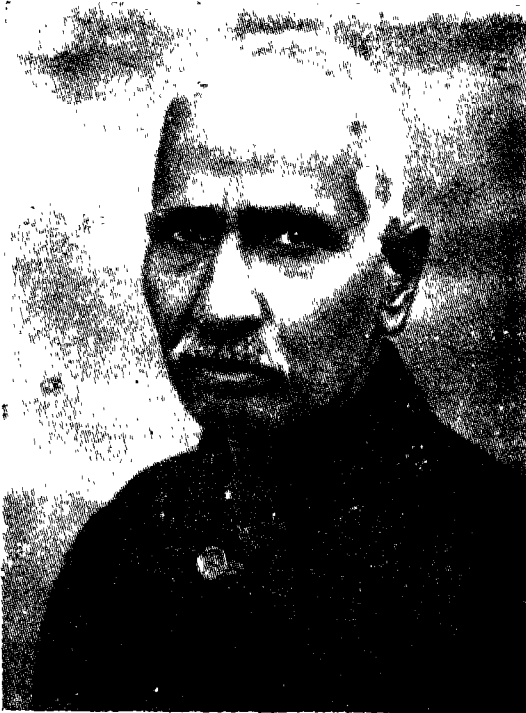
घोरसेवा मन्दिर में कान जी स्वामी के अभिनन्दन के समय सुल्तार सा० कान जी स्वामी के साथ बैठे दिखवाई दे रहे है । श्रीर प्रेमचन्द जंनावाच अपना भाषण दे रहे है ।



अभिनन्दन के समय एटा में मुस्तार सा० और विद्वद् परिषद् के मंत्री
पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य बैठे हुए दिखाई दे रहे हैं।



सूर्य प्रकाश ग्रन्थ की समीक्षा-लेखक
जगलकिशोर मुस्तार का सन् १९३४
में लिया गया चित्र से पूर्व



आ० जगलकिशोर मुस्तार

५ दिसम्बर सन् १९८३ में

सहारनपुर में सम्मान समारोह

के समय लिया गया चित्र

“युगवीर” का राष्ट्रीय दृष्टिकोण

जीवनलाल जैन बी. ए. बी. एड.

“भारत की कीर्तिलता दसों दिशाओं में व्याप्त थी। उसका विज्ञान कला-कौशल और आत्म-ज्ञान अन्य समस्त देशों के लिए अनुकरणीय था.....पर खेद है कि आज भारत वह भारत नहीं। आज भारत का मुख समुज्ज्वल होने के स्थान में मलिन तथा नीचा है।”

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रभक्त जब अपने अतीत के स्वर्णिम प्रभात पर दृष्टिपात कर वर्तमान की धूल धूसरित संध्या-बेला की दीन हीन दयनीय दशा पर विचार करता है तब उसका हृदय पटल विदीर्ण होना स्वाभाविक है। सामान्यतः प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र हित का चिन्तन करने में गौरव का अनुभव करता है। युगवीर जी ने राष्ट्रीय चेतना जागृति हेतु तलवार की अपेक्षा कलम को अधिक पसन्द किया है। अतएव उन्होंने साहित्य सृजन में सलग्न रह समाज तथा राष्ट्र सेवा का दृढ सकल्प कर वैचारिक क्रान्ति द्वारा हृदय परिवर्तन कर मानव कल्याण ही नहीं अपितु राष्ट्रोद्धार का सामयिक साहसिक एवं प्रशसनीय कदम आगे बढ़ाया है। आपने साहित्य के माध्यम से बाह्याडम्बर तथा सिर्फ परम्परा निर्वाह करने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करते हुए सरल निर्मल, निःस्वार्थ दया, करुणा ममता, सहानुभूति, सहयोग आदि मानवीय वृत्तियों से परिपूर्ण विशाल हृदयशाली जन मानस निर्मित करने की प्रेरणा प्रवाहित की है।

व्यक्ति से समाज तत्पश्चात् राष्ट्र निर्माण होता है, अतएव राष्ट्रीय आधारशिला व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभारने की चेष्टा युगवीर जी ने की है। व्यक्ति की हार्दिक निर्मलता शूद्धविचार एवं आचार से ही समाज में न्याय-सदाचार एवं सद्व्यवस्था के प्रति निष्ठा उत्पन्न होगी, तब समाज न केवल स्वच्छ एवं स्वस्थ रहेगा अपितु विशुद्ध राष्ट्रीयता का पोषक भी बनेगा इसी लिये मानवीय गुणों को तिलांजली देने वाले लोगो को जहाँ कहीं कवि ने

अच्छी फटकार लगाई है वहीं उनका दृढ़ता पूर्वक सामना करने के लिए अपने आत्मबल पर विश्वास रखते हुए आत्म-बलिदान तक करने के लिए तैयार रहने की सलाह दी है।

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्”

जो क्रिया कलाप मुझे पसन्द नहीं उनका प्रयोग दूसरे के प्रति न करना मानवीय प्रेम की प्रथम सीढ़ी है। स्वतः के कृत्यों द्वारा सयम एवं साहस का परिचय देते हुए समाज के अन्य विभिन्न प्रकार के घटको हृदय-कपट खोल कर प्रेम रस संचारित करते हुए एकाकार होने का प्रयत्न करना राष्ट्रीय एकता एवं सठगन के लिए परमावश्यक है। आत्मबल का अवलम्बन प्राप्त कर आत्म बलिदान का दुधार हाथ में लेकर समाज एवं राष्ट्र को वैचारिक क्रान्ति द्वारा उसमें समाहित विवृत्तियों का परिहार करने प्रत्येक राष्ट्रीय नागरिक को सदैव तैयार रहना चाहिए।

युगवीर जी की कथनी एवं करनी में भेद नहीं किया जा सकता है। वे न केवल अपने विचारों से ही समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे अपितु उसे स्वतः के जीवन में क्रियात्मक रूप देकर समाज के समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया करते थे। वे तत्कालीन राजनैतिक एवं राष्ट्रीयता से ओत प्रोत-वातावरण के प्रभाव से मुक्त न रह सके। आपके हृदय में देश भक्ति कूट कूट कर भगी हुई थी आप स्वयं विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर म्वय चरखे पर सूत कात कर स्वावलम्बन व्रत पालन करते हुए नियमित शूद्ध खादी धारण कर न केवल राष्ट्रीयता का ही परिचय देते थे अपितु स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों तथा उनके परिवार जनों को समयानुसार तन मन से पूर्ण सहयोग निःस्वार्थ भाव से दिया करते थे। आप अपने लेखों से लोगों का न केवल उत्साहवर्धन ही किया करते थे बल्कि सामयिक सूझ बूझ द्वारा अनेक समस्याओं का हल भी निकाल कर दिया करते थे।

“यह शरीर नक्कर है हमारी इच्छा से यह प्राप्त नहीं हुआ और न हमारे रखे यह रह सकेगा..... अब भारत को पूर्ण स्वाधीन बनाकर छोड़ेंगे। इसी में सब कुछ श्रेय और इसी में देश कल्याण है।” इस प्रकार स्फूर्ति दायक उद्बोधन प्राप्त कर ऐसा कौन होगा जिसका हृदय स्वातंत्र्य समर में कूदने के लिए न मचल उठता हो। साथ ही राष्ट्र हित की भावना से सम्पूर्ण देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनी रहे भय आतंक, एवं अराजकता न फैले इसके लिए समस्त लोगों को समय समय पर चेतावनी देते रहे। विदेशी सरकार के दमन चक्र का साहसपूर्वक सामना करने के लिए आप कहा करते थे—

“सरकारी दमन के प्रति हमारी नीति ‘शठ’ प्रति शाठ्य’ न होकर रमे पशुबल का उत्तर आत्मबल से देना है इसी में हमारी विजय निहित है। हमे क्रोध को क्षमा से अन्याय को न्याय से अशान्ति को शान्ति से और द्वेष को प्रेम से जीतना चाहिए तभी स्वराज्य रसायन सिद्ध हो सकेगी।”

गांधी जी के अछूतोद्धार कार्यक्रम के प्रति आपके हृदय में पूर्ण श्रद्धा थी। आपके विचारानुसार अछूत जन्म से नहीं कर्म से होता है। मलमूत्र स्पर्श से अस्पृश्य नहीं हो सकता है इसके सम्बन्ध में आपने अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

‘गर्भवास ‘श्री’ जन्म समय में कौन नहीं अस्पृश्य हुआ। कौन मलों से भरा नहीं? किसने मलमूत्र न साफ किया” किसे अछूत जन्म से तब फिर कहना उचित बताते हो। तिरस्कार भंगी चमार का करते क्यों न लजते हो।

राष्ट्रोन्नति हेतु स्वास्थ एवं बलिष्ठ नवयुवकों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए आपने गौ संवर्धन की सिफारिश जोरदार शब्दों में की है। आपके कथनानुसार कमजोर नवयुवक पीढ़ी का कारण गोवध तथा घी दुग्ध की अशुद्धि तथा उनकी मंहगाई है। अतएव इन सब के निराकरण हेतु प्रत्येक सद्युहस्थ नागरिक से गौ संवर्धन में पूर्ण सहयोग देने का निवेदन युगवीर जी यदा कदा करते रहे हैं जिससे राष्ट्र को पुनः भीम अर्जुन सदृश्य राष्ट्रीय पुरुष प्राप्त हो सकें।

देश के आर्थिक विकास एवं औद्योगिक प्रगति हेतु धनिक वर्ग के सहयोग के लिए उनका ध्यान उनके कर्तव्यों के प्रति बड़ी चतुराई से आकर्षित किया है।

“भारतवर्ष तुम्हारा, तुम हो भारत के सत्पुत्र उदार।

फिर क्यों देश विपत्ति न हरते, करते इसका बेड़ा पार ॥

+ + + +

चक्कर में विलास प्रियता के मत भूलो अपना देश।

+ + + +

कल कारखाने खुलवाकर सेटो भारत के क्लेश।

स्वतंत्रता को प्राणों से प्रिय मान कर उसकी रक्षा करना किसी भी समाज तथा व्यक्ति का सर्व प्रथम कर्त्तव्य माना गया है। जो जाति समाज अथवा व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता का सम्मान करते हुए प्राण निछावर करने में गौरव की अनुभूति करता है वह सम्माननीय है। स्वतंत्रता अमूल्य निधि है। उसकी सुरक्षा हमारा परम कर्त्तव्य है। उसकी अमरता राष्ट्रीय एकता में निहित है जिसका आधार “भाषा” है। श्री मुख्तार जी हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसके प्रचार एवं प्रसार में जीवन पर्यंत लगे रहे। इस कार्य हेतु उन्होंने प्रत्येक देशवासी से अपील की है—“राष्ट्र भाषा के प्रचार के लिए हिन्दी में लिखें, हिन्दी में बोले पत्र व्यवहार हिन्दी में हो, अधिक से अधिक हिन्दी पुस्तकों तथा समाचार पत्रों का प्रकाशन पठन तथा मनन हो।” इस प्रकार वर्तमान भाषा समस्या का सरल हल निकाल कर राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त कर युगवीर जी सचमुच युग निर्माता के पद पर आसीन हुए हैं।

आगे चल कर उनका दृष्टि कोण केवल समाज अथवा राष्ट्र के सकुचित क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सका उनका उदार हृदय विश्व कल्याण की भावना से भर उठा तभी तो उनकी भावना रही—

इति भीति व्यापे नहीं, जग में वृष्टि समय पर हुआ करे
धर्म निष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे ॥
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत में, फैल सर्व हित किया करे ॥

साहित्य तपस्वी स्व० मुख्तार सा०

अगरचन्द नाहटा

मनुष्य जन्म के समय तो प्रायः एक समान बालक होता है। यद्यपि पूर्व जन्म के संस्कार और अपने समय के वातावरण द्वारा उसका विकास भिन्नता लिये होता है, पर छोटी उम्र तक इतना अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता चला जाता है, स्वतन्त्र गुणों का विकास अधिक स्पष्ट हो जाता है। फिर भी कई बालक बाल्यावस्था में तो साधारण से लगते हैं। पर आगे चलकर तेज निकल आते हैं। अपनी प्रतिभा, परिश्रम, सयोग और परिस्थितियाँ अपना रंग दिखाती हैं। कभी-कभी तो किसी आकस्मिक सयोग से जीवन धारा पूर्णतः बदल जाती है; एक विलासी व्यक्ति परित्यागी बन जाता एक मूर्ख व्यक्ति पंडित बन जाता है। शारीरिक विकास भी इतना अधिक अन्तर वाला होता है कि एक ही व्यक्ति के समय-समय पर लिये हुए चित्रों से उसे पहचानना कठिन हो जाता है। बाल्यावस्था में जो दुबला-पतला होता है, वह बड़े होने पर काफी स्थूल याने मोटा-ताजा हो जाता है। नेहरू जी आदि अनेक व्यक्तियों के बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के अनेक चित्रों को देखते हैं तो यह कल्पना में भी नहीं आता कि ये सभी एक ही व्यक्ति के चित्र हैं। कुछ इसी तरह का आन्तरिक-चित्र स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार का भी मुझे दिखाई देता है। साधारणतया मुख्तारगिरी या याने मुख्तारपने का काम या पेशा करने वाले व्यक्ति भिन्न प्रकार के होते हैं। मुख्तार साहब इस दृष्टि से एक निराले ही व्यक्ति थे। जिन्होंने अपने जीवन के करीब ४० वर्ष साहित्य सेवा में लगा दिये। मुख्तार साहब की संक्षिप्त जीवनी अभी डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के द्वारा लिखी हुई, जैन विद्वत्परिषद् से प्रकाशित हुई है। उससे अभी तक जो बातें ज्ञात नहीं थी, वे प्रकाश में आई हैं। उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति और भी बहुत-से अज्ञात तथ्य बतला

सकते हैं। मुख्तार साहब की बहुमुखी प्रतिभा, सतत अध्ययनशीलता और विशिष्ट लेखन अवश्य ही हमारे लिये एक स्पृहणीय व्यक्तित्वका भव्य चित्र उपस्थित करता है।

मुख्तार साहब का परिचय तो मुझे बहुत पीछे मिला। पर जब मैं जैन पाठशाला में पढ़ता था तभी उनकी 'मेरी भावना' नामक कविता देखने को मिली, और वह बहुत ही अच्छी लगी। ऐसी सुन्दर भावना वाले व्यक्ति 'युगवीर' सज्जक कौन है? इसका उस समय कुछ भी पता नहीं था। जब साहित्य-शोध की रुचि पनपी, तथा अनेक नये नये ग्रन्थों का अध्ययन चालू हुआ और तभी मुख्तार साहब की 'ग्रन्थ परीक्षादि' पुस्तकें पढ़ने में आईं। कहीं 'मेरी भावना' के लेखक मुख्तार साहब और कहीं 'ग्रन्थ परीक्षा' के लेखक मुख्तार साहब, कुछ भी ताल-मेल नहीं बैठ सका। 'ग्रन्थ परीक्षा' में गहरी छानबीन करके सत्य को बड़े नग्न रूप में उपस्थित किया गया है जो श्रद्धाशील व्यक्तियों के लिए मर्यादित प्रहार और कटु सत्य-सा कहा जा सकता है क्योंकि जिन ग्रन्थों को, जिन आचार्यों की रचना मानते रहे उनको उन्होंने बहुत परवर्ती रचना सिद्ध किया, और जिन विधि-विधान वाले ग्रन्थों को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता था उनमें से रोमांचक बातों को प्रकट में लाना जिससे उन ग्रन्थों के प्रति धारणा ही बदल जाय, इस प्रकार का क्रान्तिकारी कदम बहुत विरले व्यक्ति ही उठा पाते हैं। कई व्यक्ति सही बात को जानते भी हैं पर समाज के विद्रोह एवं निंदा के भय से साहस पूर्वक उन्हें प्रकट नहीं कर पाते। जबकि मुख्तार साहब ने 'ग्रन्थ परीक्षा' में बड़ा निर्भीक और साहसिक कदम उठाया और परीक्षा का एक आदर्श उपस्थित किया। वास्तव में परीक्षक पक्षपात से काम नहीं ले सकता। उसे तो तथ्य पर ही पूर्ण निर्भर रहना पड़ता है।

मुख्तार सा० का वास्तविक परिचय तो मुझे जबसे उनका 'अनेकान्त' पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ, तभी मिला। 'अनेकान्त' अपने ढंग का निराला मासिक पत्र देखने में आया। उसमें सम्पादक की सत्य सशोधक वृत्ति विशाल अध्ययन, गम्भीर चिन्तन, जैन साहित्य और शासन की सेवा भावना आदि कई बातें एक साथ देखने को मिली, जिससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनके सूचित अलम्य ग्रन्थों की खोज का काम भी मुझे बहुत आवश्यक लगा। मुख्तार साहब ने ऐसे कई ग्रन्थों की सूची 'अनेकान्त' में प्रकाशित की थी जिनका उल्लेख तो मिलता है पर प्रतियों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इसी तरह मुख्तार साहब के कई लेख तो बहुत ही पठनीय लगे।

उनसे मिलने का प्रसंग तो दिल्ली में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना के समय ही मिला। अपने व्यापारिक केन्द्र कलकत्ता व आसाम जाते-आते समय मैं दिल्ली में प्रायः ठहर जाता और 'वीर सेवा मन्दिर' में जाकर मुख्तार सा० से मिलने की उत्सुकता रहती। इतने बड़े विद्वान् होने की छाप तो मुझ पर पहले से ही अनेकान्त और उनके ग्रन्थों से पड़ चुकी थी, पर वे इतने सरल और प्रेम मूर्ति होंगे, इसकी कल्पना नहीं थी। मेरे लेख 'अनेकान्त' में छपने लगे। इससे वे मेरी शोध प्रवृत्ति और रुचि से भलीभांति परिचित हो चुके थे। अतः प्रथम मिलन में ही उन्होंने बहुत हर्ष व्यक्त किया और इससे मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ। फिर तो वीर सेवा मन्दिर उनसे मिलने के लिये जाना एक जरूरी कार्य हो गया और प्रायः जब तक वे दिल्ली में रहे, मैं उनसे मिलने पहुँचता ही रहा।

नये-नये ग्रन्थों की खोज और उन पर प्रकाश डालने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। एक बार मैं जब वीर सेवा मन्दिर गया तो मुझे अजमेर के भट्टारकीय भण्डार से लाई हुई कुछ प्रतियाँ दिखाई। छोटी या बड़ी कोई भी रचना उन्हें अच्छी लगती तो उसके सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन में वे जुट जाते। प्रारम्भ में वे मुझे कुछ सम्प्रदायनिष्ठ लगे, पर मेरे साथ उनका व्यवहार सच्चे स्वधर्मी-वात्सल्य के रूप में हो रहा।

बीच में मैं एक बार मिलने गया तो कलकत्ते के बाबू छोटेलाल जी जैन भी वही थे। कलकत्ता में छोटेलाल जी

से मिलना होता ही रहता था। मुख्तार सा० के वे बड़े भक्त थे। और उन्होंने मुख्तार साहब को काफी सहयोग भी दिया। पर आगे चलकर कुछ बातों में मतभेद हो जाने से उन दोनों को मैं दुःखी-सा अनुभव किया। अन्तिम बार जब मुख्तार साहब से मिला तो उन्हें काफी परेशान-सा पाया। उनके इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं हो रहा था, इसमें वे बड़े व्यग्र थे और सस्था के प्रति उदासीन भी नजर आये। मुख्तार सा० बहुत कर्मठ व्यक्ति थे और वीर सेवा मन्दिर की स्थापना द्वारा उन्होंने बहुत सुन्दर स्वप्न देखे थे अतः इच्छानुरूप कार्य न होते देख उन्हें दुःख होना स्वाभाविक भी है। यद्यपि वीर सेवा मन्दिर द्वारा अनेकान्त पत्र भी प्रकाशित होता है, दो विद्वान् भी वहाँ कार्यरत हैं। पर मुख्तार सा० के वहाँ रहते हुए जो आकर्षणप्रद बात वहाँ थी वह उनके बाद दिखाई न देना स्वाभाविक ही है। अनेकान्त को जो रूप उन्होंने दिया था उसमें भी परिवर्तन हुआ। और अन्य कार्य जितनी तेजी से हो रहे थे, उनकी गति भी मन्द पड़ गई। फिर भी उनके द्वारा स्थापित सस्था अच्छा कार्य कर रही है। मुख्तार सा० के प्रारम्भ किये हुए 'लक्षणावली' ग्रन्थ को तो अब शीघ्र ही प्रकाशित किया जाना आवश्यक है।

मुख्तार सा० वृद्धावस्था में भी जिस तरह कार्यरत थे, दूसरे व्यक्ति विरले ही नजर आते हैं। ६२ वर्ष की उम्र में भी उनका स्वाध्याय और लेखन बराबर चलता रहा, यह बहुत ही उल्लेखनीय है। अनेक ग्रन्थों पर उन्होंने गम्भीर विवेचन लिखा। इन वर्षों में उनका भुकाव अध्यात्मिक ग्रन्थों की ओर अधिक नजर आया। 'पुरातन वाक्य-सूची' को तैयार करने और लेखकों का विस्तृत परिचय देने में उन्हें बहुत अधिक अध्ययन और श्रम करना पड़ा है। विविध विषयों पर उन्होंने काफी लिखा है। उनकी सत्यनिष्ठा, अध्ययनशीलता, अटूट लगन और गम्भीर चिन्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दान को उन्होंने परिग्रह का प्रायश्चित्त बतलाया। इस तरह के अनेक नये विचार उनके द्वारा हमें मिले। शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा था अतः विचार भी उच्च थे उन्होंने अपनी सम्पत्ति का बहुत अच्छा सदुपयोग किया। समाज और साहित्य के लिये उनका सर्वस्व दान प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय

सत्यान्वेषी श्री युगवीर

कस्तूर चन्द्र जैन, एम. ए. बी. एड.

जब सुबह होगी है तभी यह निश्चय हो जाता है कि संध्या भी होगी और सुबह दिवंगत होकर अस्त हो जावेगा। परन्तु—जैसा कि देखने में आता है, कुछ सुबह अस्त हो जाने के उपरान्त भी अपनी विशेषताओं के कारण जन-समूह के लिए सदैव स्मरणीय बना रहता है बहुत कुछ वैसी ही महान् आत्माएँ होती हैं। उनका के सुबह के समान जन्म होता है। और वे एक निश्चित अवधि में अपनी ज्ञान ज्योति से ससार को प्रकाशित कर अस्त हो जाती हैं। परन्तु उस विशिष्ट सुबह के समान अपने जीवन-काल में की गई समाज एवं साहित्यिक सेवाओं से ऐसी महान् मान्यताएँ अजर-अमर होकर जन समूह के लिये सदैव स्मरणीय बनी रहती हैं।

ऐसी स्वर्गीय महान् आत्माओं में दो जैन महान् आत्माएँ इस बीसवीं शती में हुई हैं, जिन्होंने जैनधर्म एवं जैन साहित्य के विकास एवं सवर्द्धन के लिए ही अपने

भी हैं। जैसा कि मैंने अभी अपने 'जैन सन्देश' वाले लेख में लिखा है, उनकी अन्तिम भावनाओं को हमें शीघ्र ही मूर्त रूप देना चाहिए। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका तो 'स्मृति ग्रन्थ' ही निकले। वीर सेवा मन्दिर को एक शोध केन्द्र का रूप दिया जाय। दिल्ली में ऐसी संस्था उचित व्यवस्था करने पर बहुत उपयोगी हो सकती है। उसके ग्रंथालय को समृद्ध बनाया जाय और लोग अधिकाधिक लाभ उठा सके ऐसी सुव्यवस्था की जाय। अन्त में मैं माननीय मुख्तार सा० को सादर श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मेरे प्रति उनका जो वात्सल्य भाव था उसे स्मरण कर गद्-गद् होता हूँ। वास्तव में मुख्तार सा० ने अपने जीवन में इतना काम किया वे व्यक्ति ही नहीं संस्था बन गये। पुण्य प्रभाव से मुख्तार सा० ने मृत्यु भी अच्छी पाई और स्वास्थ्य भी ठीक रहा, लगन थी ही अतः वे काफी कार्य कर सके।



आपको समर्पित कर दिया था। वे महान् आत्माएँ थीं : स्व० युगवीर जी और स्व० प्रेमी जी।

ये दोनों ही आत्माएँ महान् विद्वान् साहित्यकार और चिन्तनशील थीं। दोनों का जैनधर्म और जैन साहित्य के लिए अनूठा योगदान रहा है, जिसके लिए जैन समाज उनका चिर ऋणी रहेगा। दोनों विद्वान् अपने-अपने ढंग के अतूट विचारक थे। दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व था। प्रेमी जी की जहाँ जैनधर्म की आस्था में शिथिलता दिखाई देती है, वहाँ युगवीर अपार श्रद्धालु। प्रेमी जी ने जहाँ जैनधर्म के दोषों को देखा है, युगवीर जी ने वहाँ दोष निर्देष्टक उन तथ्यों को न केवल तर्कपूर्ण दृष्टि से बल्कि एक सत्यान्वेषी की दृष्टि से देखा है और अपनी विवेकपूर्वक बुद्धि से उचित समाधान निकालने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली जात होती है।

युगवीर जी सन्तुलित दृष्टि के धनी थे—जिस सन्तुलित दृष्टि के सम्बन्ध में साहित्यकारों का कथन है कि "सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती है, बल्कि वह है जो अतिवादिताओं का आवेग तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। इस सन्तुलित दृष्टि को आगे साहित्यान्वेषी की दृष्टि बताया गया है"। इस उक्ति के अनुसार युगवीर जी साहित्यान्वेषी सिद्ध होते हैं। उनकी साहित्यान्वेषी दृष्टि की एक भाँकी के दर्शन हमें उनके द्वारा लिखित एक प्रस्तावना में होते हैं, जिसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ।

१. विचार और वितर्क: पृ० २५३।

स्व० प्रेमी जी ने अपने लेख संग्रह में जैन कथाओं के सम्बन्ध में, जैनतर ग्रन्थों का सहारा लेकर कतिपय ऐसे उद्गार व्यक्त किये हैं, जिन्हें अश्रद्धा मूलक बताया है। प्रेमी जी का कथन है कि ये जैन कथाएँ बहुत पुरानी हैं और उन लोगों द्वारा गढ़ी गई हैं जो ऐसे चमत्कारों से ही आचार्यों और भट्टारकों की प्रतिष्ठा का माप किया करते थे। बेड़ियों को तोड़कर कैद में से बाहर निकल आना साँप काटे हुए पुत्र का जीवित हो जाना आदि ऐसी चमत्कारपूर्ण कथाएँ पिछले भट्टारकों द्वारा गढ़ी हुई प्रचलित हैं जिन्हें प्रेमी जी ने असम्भव और अप्राकृतिक बताया है तथा यह भी स्वीकार किया है कि ऐसी कथाएँ जैन मुनियों के चरित्र को और उनके वास्तविक महत्व को नीचे गिराती हैं। प्रेमी जी ने अपने कथन से सम्बन्धित कतिपय तर्क भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें उन्होंने 'एकोभावस्तोत्र' को 'सूर्यशतकस्तवन' की कथा का अनुकरण बताकर,—जिन—भगवान को 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु' असमर्थ बताता है, साथ ही मुनिजी के मिथ्याभाषण न करने से—ऐसी कथाओं का जैनधर्म के विश्वासों के साथ कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता यह भी कहा है।

परन्तु सत्यान्वेषी युगवीर जी का विश्वास है कि जो कुछ भी ऐसे चमत्कारपूर्वक कार्य हुए हैं वे सब भक्तियोग के बल पर हुए हैं। उन्होंने प्रेमी जी के इन उद्गारों को अश्रद्धामूलक निरूपित करते हुए उनके द्वारा निर्देशित "सूर्यशतकस्तोत्र" को स्वयं देखा है तथा जिसका अध्ययन

एवं मनन करने के उपरान्त अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'सूर्यशतक का असर या प्रभाव एकोभावस्तोत्र पर कहीं भी लक्षित नहीं होता है। कथानक में असम्भव या अप्राकृतिक जैसी कोई बात नहीं है। ऐसा भी कोई उल्लेख नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि जिनेंद्रदेव ने वादिराज की स्तुति से प्रसन्न होकर उनका रोग दूर कर दिया। युगवीर जी का कथन है कि जब स्तोत्र के प्रथम पद्य में ही स्तोत्रको 'भवभवगत घोर-दुःख-प्रद एव दुनिवार कर्मबन्धन' को भी दूर करने में समर्थ बताया गया है। फिर ऐसे योगबल की प्रादुर्भूति के आगे शरीर में रोग कैसे ठहर सकता है जो कि एक कर्म के उदय का फलमात्र है। आगे अन्य युक्तियुक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हुए युगवीर जी ने लिखा है कि लोकोपकारी भावना से मुनि जी ने रोगमुक्त होने के लिए भक्तियोग का आश्रय लिया था जिसका उल्लेख स्तोत्र के १०वें पद्य में "तस्याशक्यः क इह भुवने देवलोकोपकारः" इस वाक्य द्वारा किया गया है।

इस भाँति 'युगवीर' जी न केवल श्रद्धामूलक-भावनाओं से ओतप्रोत ज्ञात होते हैं बल्कि वे महान् विवेकी भी सिद्ध होते हैं। वे एक कुशल जौहरी भी थे। सम्भवतः जब तक वे किसी कथन की ऊहापोह पूर्वक जौहरी के समान परख न कर लेते, उसे स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे बानवे वर्षोंय साहित्यसेवी, साहित्यान्वेषी उद्भटविद्वान् का दिवगत होना किस साहित्य-प्रेमी के हृदय को क्षुब्ध न करेगा। युगवीर जी ने अपने जीवन में जो जैनधर्म की सेवाएँ की हैं वे चिरस्मरणीय रहेंगी, तथा उनका नाम उनके साहित्य के साथ सदा अमर रहेगा। ऐसे जैन रत्न को हादिक श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए हम आशा करते हैं कि उनकी मनोभिलाषाओं को समाज पूर्ण कर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करेगी। ●

५. कल्याण कल्पद्रुमः वही; पृ० १३।

६. वही : पृ० १५।

२. श्रमिद्धादिराजसूरि; कल्याणकल्पद्रुमः भारतीय ज्ञान-पीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६७ प्रस्तावना, पृ० १५।

३. जैन साहित्य और इतिहास : सशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२, द्वितीय संस्करण, १९५६ ई० पृ० २९५।

४. वही : पृ० २९५-२९७।

सरस्वती-पुत्र मुख्तार सा०

मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया

वीरसेवा मंदिर और “अनेकान्त” के जन्मदाता एव “मेरी भावना” के अमर रचयिता परमादरणीय प. वर्य जुगुल किशोरजी मुख्तार “युगवीर” का ६२ वर्षकी आयु में एटा में स्वर्गवास होने के समाचार ज्ञात कर अत्यन्त हार्दिक दुःख हुआ। आपका हमारे ऊपर अतीव स्नेह था। आपकी याद कर दिल भर आता है आपके बीसों विस्तृत साहित्यिक पत्र हमारे पास सुरक्षित हैं उनसे पाठक मुख्तार सा० की श्रुत सेवा की अद्भुत लगन को हृदयगम कर सकते हैं। आप सन् १९५५ में केकडी पवारे थे तब आपको १७ दिसंबर को अभिनन्दन-पत्र के साथ १०५ रुपयों की थैली स्थानीय दि० जैन समाज ने भेंट की थी और यहाँ की प्राचीन व विशाल दि० जैन सस्था का आपको अधिष्ठाता मनोनीत किया था।

आपके स्वर्गवास से साहित्याकाश का एक जाज्वल्यमान महान् नक्षत्र अस्त हो गया। तन घन मन सर्वस्व समर्पण कर जीवन भर जैनवाङ्मय के लिये अलख जगाने वाला अब उन जैसा परम साहित्य तपस्वी होना महान् दुर्लभ है।

विद्वान और ज्ञानी अनेक देखे पर उनकी प्रज्ञा ही निराली थी। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी, बुद्धि बड़ी प्राजल और प्रतिभा बड़ी अद्भुत थी। उनका लेखन प्रामाणिक और प्रमेय बहुल होने के साथ ही रोचक एव अनुसंधानात्मक होता था। साधारण सूत्रों का जो रहस्य वे उद्घाटित करते थे वह असाधारण होता था। उनके निष्कर्ष अनेक नई दिशाओं और अटल स्थापनाओं को लिये हुए होते थे। उनकी लेखनी वास्तव में ही चमत्कार पूर्ण थी—उससे अनेकों में स्वाध्याय और निबन्ध-लेखन की रुचि जाग्रत हुई थी हमने स्वयं—उससे काफी प्रेरणा प्राप्त की थी। इस तरह मुख्तार सा० सहस्रों विद्वानों के परोक्ष रूप से आदर्श गुरु थे। गुरुणागुरु पं०

वर्य गोपालदास जी वरैया तक ने उनकी लेखनी का लोहा माना था। मुख्तार सा० के परीक्षा लेखों से प्रभावित होकर वरैया जी ने आपत्तिजनक ग्रन्थों को पाठ्यक्रमों में से निकाल दिया था इस तरह मुख्तार सा० की लेखनी का जादू सर्वत्र व्याप्त था।

२४ अप्रैल सन् १९४२ में मुख्तार सा० ने अपनी ५१ हजार की मलिकयत का एक वसीयतनामा वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट योजना के साथ सहारनपुर में रजिस्टर्ड करवाया था जो अनेकान्त वर्ष ५ पृष्ठ २७ से ३० पर सक्षिप्त रूप से छपा है। इसी को अपने जीवन काल में ही पब्लिक ट्रस्ट का रूप देते हुए २६ अप्रैल १९५१ को एक ट्रस्ट नामा नकुड में रजिस्टर्ड कराके आपने सब सम्पत्ति ट्रस्टियों के सुपुर्द कर दी थी। यह ट्रस्टनामा अविकल रूप से अनेकान्त वर्ष ११ पृष्ठ ६५ से ७३ पर छपा है। इससे जाना जा सकता है कि—मुख्तार सा० मुख्तार गिरि की कला में भी कितने कुशल थे। इस ट्रस्टनामे का ड्राफ्ट इतना सुन्दर बना है कि अनेक सस्थाओं के सचालको ने अपनी संस्थाओं का ट्रस्ट कराते वक्त इसको आदर्श रूप से ग्रहण किया है। हमारे पास से भी एक रामद्वारा के व्यवस्थापक और १-२ अन्य सज्जन इस ट्रस्टनामे की “अनेकान्त” की कॉपी मागकर लेगये थे इससे इसकी महत्ता आकी जा सकती है।

मुख्तार श्री ने अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का मुलानुगामी सुन्दर हिन्दी अनुवाद और भाष्य किया है। उनके अनुवाद की भी अपनी एक निराली शैली है—अनेक जगह अनुवाद वाक्य को और विशद करने के लिए उसी के आगे स्पष्टतर वाक्यों का संयोजन किया गया है फिर भी कोई प्रवाह भंग नहीं हो पाया है यह एक खूबी है। अनुवाद के साथ प्रत्येक ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना और परिशिष्टादि से भी समलकृत किया गया है शुद्ध एव कलात्मक छपाई का भी पूरा ध्यान रखा गया है। इस

तरह उनके द्वारा प्रकाशित सभी ग्रंथ मौलिक और आदर्श रूप है।

काव्यरचना पर भी उनका पर्याप्त अधिकार था। “मेरी भावना” की रचना ने तो उन्हें विश्वविख्यात कर दिया था यह रचना सर्वप्रथम ‘जैन हितैषी’ के अप्रैल-मई १९१६ के सयुक्तांक में प्रकाशित हुई थी। अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए थे फोनोग्राफ के रेकार्डों तक में यह भरी गई थी इससे इसकी विशिष्ट लोकप्रियता का परिज्ञान हो जाता है।

सन् १९०० में आपने ‘अनित्यपंचाशत्’ का सुन्दर हिन्दी में पद्यानुवाद किया था और भी आपने अनेक सुन्दर उद्बोधक कविताये लिखी थी इनका एक भव्य संग्रह ‘युगवीर-भारती’ के नाम से अहिंसा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। महावीर-जिनपूजा और बाहुबलि जिनपूजा भी आपके नई शैली के श्रद्धा-सुमन है।

आपकी समीक्षाएँ भी बड़ी लाजवाब होनी थी। ग्रंथ परीक्षा के चार भाग, विवाह क्षेत्र प्रकाश, जिन पूजाधिकार भीमासा आदि इनमें प्रमुख हैं ये अत्यन्त सावधानी से अकाट्ययुक्तियों और प्रमाणों के साथ अनीव परिश्रम पूर्वक लिखी गई हैं और इसीलिए आज तक उनका जवाब त्यागियो और विद्वानों से नहीं लग पाया है। दस्सा पूजाधिकार पर आपने कोर्ट में गवाही तक दी थी।

इसी तरह ‘सन्मति सूत्र और सिद्धसेन’ नाम का आपका विस्तृत निबन्ध है जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी अलग से प्रकाशित हुआ है उसका भी आज तलक प्रज्ञा चक्षु प० सुखलाल जी से जवाब तक नहीं बन पाया है।

आप संपादन कला के भी आचार्य थे। १ जुलाई १९०० में आप महासभा के मुखपत्र साप्ताहिक मुखपत्र जैन गजट (देव वन्द) के सम्पादक बनाये गये। ३१ दिसम्बर १९०९ तक के आप के सम्पादन काल में जैन गजट की ग्राहक सख्या ३०० से १५०० तक हो गई थी इससे जाना जा सकता है कि आपकी संपादन कला कितनी उच्च कोटि की थी। फिर आप अक्टूबर १९१९ में ‘जैन हितैषी’ के संपादक बने और २ वर्ष तक रहकर उसे काफी चमका दिया। फिर नवम्बर १९२९ में मासिक ‘अनेकांत’ का संपादन प्रकाशन किया। यह पत्र अनेक विषयों के ज्ञान

का अगाध भंडार है इसने आपको सदा के लिए अमर कर दिया है।

आप समन्वयी सुधारक और राष्ट्रीय विचार धारा के महा मानव थे। सन् १९२० से बराबर खादी पहनते रहे थे। आपने ही सर्वप्रथम वीर शासन जयंती (श्रावणकृष्ण प्रतिपदा) की खोज कर उसका प्रचार किया था।

जैन इतिहास के क्षेत्र में आपने अभूतपूर्व कार्य किया था। अनेक प्राचीन समन्तभद्र सिद्धसेन पात्रकेसरी विद्यानन्द अमृत चन्द्र आदि दि० जैनाचार्यों का इतिहास अधकार में छिपा पड़ा था आपने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से उसे प्रकाश में लाकर दि० परम्परा के गौरव को ख्यापित किया था इस दृष्टि से आप दि० परम्परा के अनन्य सरक्षक सिद्ध हुए यह मानना ही होगा कि अगर मुस्तार सा० न होते तो दि० परम्परा का इतिहास ही अस्त व्यस्त हो जाता। जब भी कोई व्यामोह छल से प्राचीन दि० आचार्यों को अर्वाचीन सिद्ध करने की कोशिश करता तो आप उसकी पूरी खबर लेकर उसे निरुत्तर करने में कोई कसर नहीं रखते थे। आपके इतिहास विषयक निबन्धों का एक विशाल संग्रह ‘जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश’ (प्रथम खंड) के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सिवा ‘पुरातन जैन वाक्य सूची’ की १७० पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में भी अनेक जैन आचार्यों और उनके और उनके ग्रंथों का इतिहास संग्रहीत है।

आचार्य प्रवर समन्तभद्र के तो आप महान् भक्त ही थे उनका सांगो-पाग इतिहास तैयार कर आपने उन्हें १-२ शताब्दी का तो सिद्ध किया ही उनकी समस्त उपलब्ध कृतियों का मौलिक हिन्दी अनुवाद कर अपार श्रद्धा-भक्ति का भी परिचय दिया और इस तरह अपने आराध्य को जन-जन के हृदय का हार बना दिया। जिस तरह तुलसी दास जी ने ‘रामचरित मानस’ की रचना कर अपने आराध्य रामचन्द्र जी को लोक मानस में उतार कर प्रख्यात कर दिया, एव जिस तरह सत्पुरुष कानजी स्वामी ने समयसारादि के माध्यम से अध्यात्म की गंगा प्रवाहित कर अपने श्रद्धेय भगवत्कुन्द कुन्द को जन-जन का प्रिय बना दिया।

इससे हम यह फलितार्थ निकाल सकते हैं कि—जहाँ

महान् आराध्य के आश्रय से आराधक ऊँचे उठ जाते हैं वहाँ योग्य आराधक के माध्यम से आराध्य भी लोक-विश्रुत हो जाते हैं ।

‘यो यच्छ्रद्धः स एव सः’ (अर्थात्—जो जिसकी श्रद्धा करता है वह वैसा ही हो जाता है) इस न्याय के अनुसार हम मुस्तार सा० को ‘आधुनिक समन्तभद्र’ भी कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं ।

मुस्तार सा०—उद्भट विचारक प्रवर ताकिक, निर्भय-समीक्षक, सुदृढ समालोचक, प्रामाणिक लेखक कुशल संपादक, महान् संशोधक, निर्दोष अनुवादक, सूक्ष्म अन्वेषक मामिक तत्त्वज्ञ, इतिहास मर्मज्ञ, श्रोजस्वी वक्ता, प्रबुद्ध कवि, असाधारण भाष्यकार, प्रकाश पंडित, आदर्श विद्वान्, प्रवीण व्याख्याता, धुरंधर नेता, समन्वयी सुधारक, विचक्षण अनु-संधाता, महान् श्रुतसेवक, विद्वद्—सम्राट्, अनेक ग्रन्थ-निर्माता, सन्मार्गप्रणेता, सद्धर्म प्रचारक, वास्तविक ब्रह्म-चारी, समीचीन त्यागी, अनुपम समाज-सेवक, साहित्य तपस्वी, मनस्वी, कार्यार्थी आदि अनेक रूपों के धारक महान् गुणों के सागर साक्षात् सरस्वती-पुत्र ही थे ।

आपके पिता श्री का नाम चौधरी लाला नत्थूल जौ और पितामह का चौधरी लाला धर्मदास जी तथा माता का नाम भोई देवी था । जाति—जैन अग्रवान्, गोत्र—सिंहल निवास स्थान सरसावा, तहसील—मकुड, जिला—सहारनपुर था । धर्मपत्नी राजकली देवी थी (जिसकी मृत्यु १६ मार्च १९१८ में हुई थी) । आपका जन्म मग-सर सुदी ११ वि० सं० १८३४ में हुआ था । ४ दिसम्बर १९२७ को ब्रह्मचर्य व्रत लिया । १२ फरवरी १९१४ को मुस्तारकारी छोड़कर श्रुतसेवा का महाव्रत अंगीकार किया । पौष शुक्ला ३ सं० २०२५ दीतवार ता० २२ दिसम्बर ६८ को आपका देहावसान एटा में आपके भतीजे श्री डॉक्टर श्री चन्द्रजी जैन सगल के यहाँ हुआ था । आपने मैट्रिक तक पढ़ाई की थी । सन् १९०२ में मुस्तार-कारी की परीक्षा पास की थी । आपका पहला लेख ८ मई १८९६ के जैन-गजट (वेदबन्ध) में जैन कालेज के समर्थन में छपा था । १९००-९ ई० में आप जैन गजट के सम्पादक बने तब अश्लील विज्ञापनों के विरोध में आपने लेख लिखे इस विषय में आवाज उठाने वाले सर्वप्रथम

सम्पादक आप ही थे । आपके सन्मति और विद्यावती दो पुत्रियाँ हुई थीं जो अल्पावस्था में ही गुजर गईं ।

सहारनपुर में दिसम्बर १९४३ को भारत बैंक के मैनेजिंग डाइरेक्टर प्रसिद्ध व्यापार-शास्त्री श्री राजेन्द्र-कुमार जी के सभापतित्व में आपकी ६७वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में विशाल सम्मान समारोह हुआ था जिसमें आपको अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया था । इस पर अने-कांत वर्ष ६ किरण ५-६ के रूप में मुस्तारश्री सम्मान समारोह विशेषांक प्रकाशित हुआ था ।

अभी मई १९६८ में विद्वद् परिषद् ने भी एटा में अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर तथा ‘मुस्तारश्री का व्यक्तित्व और कृतित्व’ पुस्तिका प्रकाशित कर उनका हार्दिक सम्मान किया था ।

मुस्तार सा० ने अपने देहावसान से कुछ दिनों पहिले अपने ट्रस्ट का नवीन गठन किया था । मान्य ट्रस्टियों से प्रार्थना है कि—वे मुस्तारश्री के प्रामाणिक जीवनचरित को लिये हुए एक विशाल स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करावे तथा उनकी याद में यह ग्रन्थमाला प्रारम्भ करें तथा उनके छोड़े हुए अधूरे कार्यों को पूरा करावे यथा—जैन लक्षणा-वली और जीतसार समुच्चय लोक त्रिजय यन्त्र आदि ग्रन्थों का प्रकाशन तथा अवशिष्ट साहित्यिक, ऐतिहासिक और परीक्षात्मक निबन्धों का पुस्तिकाकार प्रकाशन एवं अप्रकाशित रचनाओं का प्रकाशन करावे ।

मुस्तार सा० की अद्यावधि प्रकाशित रचनाओं की सूची निम्न प्रकार है :

१. ग्रन्थ परीक्षा प्रथम भाग (उमास्वामी श्रावका-चार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा—इनमें से उमास्वामी श्रावकाचार की परीक्षा अलग से भी छपी है) ।

२. ग्रन्थ परीक्षा द्वितीय भाग (भद्रबाहु सहिता) ।

३. ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग (सोमसेन त्रिवर्णाचार, धर्म परीक्षा (श्वे०) अकलक प्रतिष्ठा पाठ पूज्यपाद श्रावकाचार) ।

४. ग्रन्थ परीक्षा चतुर्थ भाग (सूर्यप्रकाश) ।

(इन चारों भागों को दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान्

सेठ हीराचन्द जी, नेमीचन्द जी शोलापुर ने मराठी में प्रकाशित कराया था) ।

५. महावीर जिन पूजा, ६. बाहुबली जिन पूजा, ७. अनित्य भावना हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित, ८. सिद्धिसोपान हिन्दी अनुवाद सहित, ९-१०. वीर पुष्पांजलि और युगवीर भारती ('मेरी भावना', 'मेरी द्रव्य पूजा' आदि अनेक काव्य कृतियों का संग्रह) ।

११. युगवीर निबन्धावली प्रथम भाग (इसमें कुल ४१ निबन्ध हैं जिनमें 'जिन पूजाधिकार मीमांसा', विवाह समुद्देश सेवाधर्म, हम दूःखी क्यों हैं ? उपासना तत्व, अनेकांत रसलहरी, सुधार का मूलमन्त्र, परिग्रह का प्रायश्चित्त आदि अलग से प्रकाशित ट्रेक्ट भी सम्प्रहीत हैं) ।

१२. युगवीर निबन्धावली द्वितीय भाग (इसमें कुल ६५ निबन्ध हैं जिनमें 'विवाह क्षेत्र प्रकाश' आदि अलग प्रकाशित ट्रेक्ट भी सम्प्रहीत हैं) ।

१३. समन्तभद्र विचार दीपिका, १४. जैन-साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (इसमें कुल ३२ लेख हैं जिनमें—'भगवान् महावीर और उनका समय', 'स्वामी समन्तभद्र' आदि अलग से प्रकाशित ट्रेक्ट भी सम्मिलित हैं) ।

१५. सम्मति सूत्र और सिद्धसेन (अग्नेजी अनुवाद), १६. पुरातन जैन वाक्य सूची (इसमें १७० पृष्ठ की विशाल प्रस्तावना भी है), १७. भवाभिनन्दी मुनि और मुनि निन्दा ।

१८. नये मुनि विद्यानन्द जी की सूक्तबूझ, १९. बाबू छोटेला जी की आपत्तियों का निरसन, २०. जैनाचार्यों का शासन भेद ।

२१. स्वयंभू स्तोत्र (हिन्दी अनुवाद प्रस्तावनादि), २२. युक्त्यनुशासन (हिन्दी अनुवाद प्रस्तावनादि), २३. देवागम (हिन्दी अनुवाद प्रस्तावनादि), २४. समीचीन धर्मशास्त्र (हिन्दी भाष्य प्रस्तावनादि), २५. समाधितन्त्र (प्रस्तावनादि), २६. सत्साधुस्मरण मंगलपाठ (हिन्दी अनुवाद), २७. अध्यात्मकमल मार्तण्ड (प्रस्तावनादि), २८. प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थ सूत्र (सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावनादि), २९. कल्याण कल्पद्रुम (भाष्य और प्रस्तावनादि), ३०. तत्त्वानुशासन (भाष्य और प्रस्तावनादि), ३१. अध्यात्म रहस्य (हिन्दी व्याख्या प्रस्तावनादि), ३२. समाधि मरणोत्साह दीपक (हिन्दी व्याख्या प्रस्तावनादि), ३३. योगसार प्राभृत (हिन्दी भाष्य प्रस्तावनादि), ३४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (विशाल प्रस्तावना प्रभाचन्द्र टीका युक्त), ३५. स्तुति विद्या (विस्तृत प्रस्तावना) । ३६. 'अनेकांत' का अनेक वर्ष तक सम्पादन और उसमें अनेक निबन्धों का प्रणयन । अन्य पत्रों में प्रकाशित निबन्ध आदि ।

इस तरह यह महाभारत और अष्टादश पुराणों के रचयिता व्यास की तरह ही आपकी विशाल साहित्य सेवा है जो आपको सिद्ध सारस्वत और श्रुतयोगी निर्दिष्ट करती है ।

आपका साहित्य वास्तव में ही सदसद् विवेक को जागृत करनेवाला, युगानुसारी, समीचीन दिशा निर्देशक, मौलिक, कलात्मक और वैज्ञानिक है ।

अन्त में हम पाण्डित्य विभूति प्रतिभामूर्ति श्री मुख्तार सा० की पुनीत स्मृति को दिल में सजोये हुए उनके प्रति सादर श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं । ●

अलप यकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय ।
दूध भरें तूण को चरं, ज्यों गोकुल की गाय ॥
जैता का तेता करे, मध्यम नर सम्मान ।
घटं बड़ं नहि रंचहू, धरघो कोठरे घान ॥
दीजे जैता ना मिले, जघन पुरुष की बान ।
जैसे फूटें घट धरघो, मिलें अलप पयथान ॥

—बुधजन

“युगवीर” के जीवन का भव्य अन्त

डा० श्रीचन्द जैन ‘संगल’

मुस्तार सा० का जन्म हमारे कातूनगोयान वंश में मगसिर सुदी एकादशी सं० १८३४ में कस्बा सरसावा जिला सहारनपुर में मातृभूदेवी के उदर से हुआ था पिता का नाम चौधरी नत्थूमल था और यह वंश बहुत पुराना चला आ रहा है और इसका शज्जरा अकबर बाद-शाह के समय तक तो मिला है उससे पहले का नहीं मिला। बाकी और परिचय उनकी परिचय पुस्तक जो डा० नेमिचन्द जी जोतिषाचार्य अध्यक्ष अ० भा० विद्वद परिषद् ने अभी हाल ही में, जो उन्होंने ५ दिसम्बर सन् १९६८ में, जब वे एटा में आचार्य जुगलकिशोर जी को अ० भा० विद्वद परिषद् की ओर से सम्मान पत्र भेट करने आये थे निकाली थी उसमें देख लीजियेगा। उसमें विशेषरूप से उनका परिचय व उनके सारे जीवन की भलक व उनकी कृतियों के लेख मिलेगे।

यो तो मुस्तारश्री मेरे पास करीब पाँच साल से रह रहे थे और उनका यहाँ पर जीवन कार्यक्रम ठीक प्रकार से उनकी रुचि के अनुसार चल रहा था और वे यहाँ पर प्रसन्न भी थे, परन्तु डेढ़ साल से इधर अस्वस्थ चल रहे थे। सबसे पहले उन्हें यकायक तकलीफ गुरदों की हुई, जिसके कारण उन्हें १७ जून १९६७ में पेशाब में खून आया, न कोई जलन, न पीड़ा, न पथरी आदि मालूम हुई, तीन दिन तक खून हर पेशाब के साथ आता रहा। चिन्ता काफी उत्पन्न हो गई दूसरे डाक्टरों को भी बुलाकर दिखाया, उपचार से खून तो बन्द हो गया; परन्तु उसके बाद ही उन्हें ज्वर हो गया वह भी चार-पाँच दिन में शान्त हो गया उसके बाद सारे शरीर में सूजन एग-जिमा और पेशाब में खून के दोरे पड़ने रहते, ज्वर भी आता रहा और स्वास्थ्य गिरता चला गया। परन्तु उनमें मनोबल अधिक होने के कारण वे इस बीमारी के प्रकोप की अनुभूति कुछ साधारण रूप से ही सहने लगे थे और अधिक चिन्ता नहीं करते थे। डाक्टरों ने जब उनसे कहा

कि आपका गुरदों का यह रोग है तो आसानी से नहीं जायगा और असाध्य भी हो सकता है। इस पर वे उस रोग की ओर से कुछ उदासीन से हो गये थे, किन्तु औषधि बराबर नियम पूर्वक लेते रहते थे और साथ ही उसका परहेज भी पूर्ण रूप से पालते थे। परन्तु चिन्ता कम करते और अपनी बंधी हुई खुराक नित्य नियम पूर्वक लेते रहते थे; क्योंकि उन्हें अपने शरीर का अधिक मोह था, इसको जरा भी कष्ट नहीं होने देते थे यह रोग मेरा स्वास्थ्य बिगाड़ रहा है इसका इलाज नहीं है मैं सीधे रूप से उनसे कह देता कि अच्छे डाक्टर और वैद्य का इलाज हो रहा है आप औषधि सेवन करते रहे और चिन्ता न करें, सब ठीक हो जायगा। हरएक रोग की औषधि तो है पर हरएक रोगी औषधि नहीं है। जब अशुभ कर्म का विपाक शान्त हो जायगा तो रोग भी शान्त हो जायगा। इस पर हँसकर बोले कि मैं तुम्हारे कहने का तात्पर्य समझ गया। इसकी चिकित्सा तो अवश्य होनी ही रहनी चाहिये। मैं कह दिया करता इससे आप निश्चिन्त रहें बढ़िया से बढ़िया दवा आपको मिलती रहेगी। औषधि खाने के तो वे पहले से ही बहुत अभयस्त थे और अपनी खुराक, समय और मनोबल के आधार पर ही ६२ वर्ष की आयु पाई जो हमारे किसी बुजुर्ग की नहीं हुई। दवा नियम पूर्वक खाना और परहेज पूर्ण रूप से पालते थे और औषधि लाभ भी करती थी परन्तु यह बीमारी जाने वाली नहीं थी और इसी के कारण बढ़िया उपचार होते हुए भी शरीर में निर्बलता आती रही। दो-तीन दफा तो ऐसी स्थिति हो गई कि भाई दरबारीलाल जी कोठिया व बहन जैवंतीदेवी को शोचनीय दशा की सूचना देनी पड़ी, वे लोग आये और कुछ दिन ठहर कर चले गये। आयुर्कर्म बलवान था और ठीक हो जाते थे। यह क्रम चलता रहा परन्तु अपनी खुराक कभी नहीं छोड़ते थे और हमेशा यही कहते थे कि अभी मैं तो १०० वर्ष तक जीवित रहूँगा और तुमसे भी

कहता हूँ कि तुम मेरे साथ लगे रहो तो देखो मैं कितना कार्य कर सकता हूँ। कृपणता के कारण कहने पर भी कभी कोई सेवक व विद्वान को अपने पास वेतन पर नहीं रखा। मैं तो ग्रहस्थ में रहते हुए उन्हें सेवा में दो-चार घन्टे हीं दिन भर में दे पाता था। वह भी रात्रि के समय ८ से ११ बजे तक। इस प्रकार उनका जीवन इधर चलता रहा और मैं व मेरी स्त्री, पुत्र व पुत्रवधू व बच्चे सभी उनका आदर सत्कार तथा सेवा में दिन-रात लगे रहते थे। और जब कभी कोई लेख या शास्त्र आदि लिख कर तैयार कर लेते थे तो मुझे ही उसकी प्रेस कापी करवाते थे, वैसे तो मुझे कोई असुविधा नहीं होती थी; परन्तु समय की कमी और संस्कृत भाषा से मुझे बिल्कुल अनभिज्ञता है इसलिए नकल करने में मुझे अधिक समय व कठिनाई होती थी; फिर भी उनकी आज्ञा का उलघन नहीं करता था। जैसे तैसे लिखकर समय पर दे देता फिर वे उसे ठीक कर देते थे और छपने के लिए भेज देते थे। सदा मुझे कहते रहते थे कि मैं तुम्हें समाज में आगे लाना चाहता हूँ और जो भी समाज का कार्य, साहित्य का कार्य, संस्था का कार्य व लेखादि का कार्य करो बड़ी दृढ़ता और प्रामाणिकता के साथ, खोज के साथ और निर्भय होकर करो तुम्हारा कभी अन्तिम नहीं होगा। अललटपू लिखने व प्रमाण रहित लिखना अथवा आगम के विरुद्ध चलने में हानि ही होगी। और प्रशंसा के पात्र न हो सकोगे। यही मेरे जीवन का लक्ष्य व कसौटी रही है और इसी आधार पर उन्होंने बड़े-बड़े कठिन से कठिन शास्त्रों का अनुवाद, सर्जन तथा संशोधन कर डाला और समाज को दिखा दिया कि कार्य किस प्रकार होता और हर एक खंडन मंडन के उत्तर के लिए सदैव तत्पर रहते थे उन्हें पूर्ण विश्वास रहता था; क्योंकि उनके लेख अकाट्य और प्रामाणिक होते थे। स्वामी समन्तभद्र के सच्चे अगाध परमभक्त थे उनके जितने भी कठिन से कठिन ग्रन्थ जिनका आजकल की साधारण योग्यता रखने वालों के लिए समझना मुश्किल था उनका बड़ी सरलता के साथ हिन्दी अनुवाद करके समाज के हित में वितरण करते थे और उनकी सभी पुस्तकें व लेख लोकप्रिय होते थे। कभी किसी से यदि मनमुटाव हो भी जाता था तो मन में कभी नहीं

रखते थे और जहाँ तक हो सकता था उनकी क्लृप्तता दूर कर देते थे और फिर उनसे मिल जाते थे। अभी कुछ लेख व पुस्तकें उनकी अधूरी व अप्रकाशित रह गई है जो उन्होंने इधर लिखी थी उन्हें पूर्ण करना है तभी उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी। जैसे-जैसे मुझे समय मिलता जायगा और आप सब जनो का सहयोग मुझे मिलता रहेगा तो उनका यह अधूरा कार्य भी अवश्य पूरा हो जावेगा। क्या कल्ले अशुभ कर्म के वश उनके निधन के बाद मैं भी बीमार पड़ गया और अभी तक बीमार ही चल रहा हूँ करीब अभी डेढ़ या दो माह लगेंगे तब पूर्ण स्वस्थ होऊँगा, ऐसा डाक्टरों का कहना है। ठीक होकर ही उनके अधूरे कार्यों की पूर्ति कर सकूँगा अभी तो उनका सब कार्य जैसा वे छोड़ गये है कैसा ही पड़ा है।

हां तो मैं कह रहा था उनकी अन्तिम रात्रि के विषय में। वह यह कि मुझे ता० १३ दिसम्बर ६८ को फ्लू हुआ उसमें ज्वर खांसी हुआ। इधर उनकी भी तबियत एक माह से अधिक खराब चल रही थी। सारे शरीर में खुजली व वीपिंग एगजिमा का प्रकोप तथा चौबीस घन्टे ज्वर और सारे वदन में सूजन जिसके कारण वे बहुत बेचैन रहने लगे और दुर्बलता अधिक हो गई फिर भी बातचीत ठीक करते थे और सबको सात्वना देते रहते थे। बहुत सा उपचार व औषधि आदि देने पर भी उको जरा भी शान्ति न मिली, तो मैंने उनसे कहा कि औषधादि के साथ-साथ अपनी भक्ति प्रयोग का निमित्त भी लगाइये। ऐसा करने से दो चार दिन बाद उन्हें रोग में कुछ उपशमता मालूम दी। एगजिमा की हालत तो कुछ ठीक हो गई, ज्वर भी शान्त हो गया; परन्तु खुजली व सूजन चलती रही, जो पैरों पर अधिक थी। इस कारण चलने फिरने में वे कठिनाई अनुभव करते थे; फिर भी शौच आदि को तो चलकर ही जाते थे, कभी गिर भी पड़ते थे परन्तु उठ कर फिर चलने लगते थे, सहारा देकर चलने के लिए मुझे मना कर देते थे कि मैं तो चला जाऊँगा मरने के आठ दिन पूर्व उन्होंने एक अजीब स्वप्न देखा जो रात्रि के अन्तिम पहर में देखा और मुझसे कहा कि आज मुझे आत्म-दर्शन हो गया है मैंने कहा कि बहुत अच्छी बात है कि आपको आत्म-दर्शन हो गया है और आपके इतने दिनों

की तपस्या का फल आपको मिल गया। स्वप्न इस प्रकार है :—

“रात्रि को ३ बजे के करीब मुझे स्वप्न में पुरुषाकार दिव्य ज्योति का दर्शन हुआ। ज्योतिर्मय पुरुष के नाक कान मुखादि सब अंग पुष्ट थे। ज्योति के सिवाय कहीं किसी दूसरी वस्तु का दर्शन नहीं होता था, ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही अखण्ड ज्योति पुरुषाकार रूप परिणित हो रही है। यह ज्योति सरसावा स्थित उस चौबारे के दक्षिणी द्वार के मध्य में खड़ी हो गई जिसमें मेरा, मेरे भाइयों का तथा पिता और पितामह का जन्म हुआ है। कोई क्रिया मेरे से ऐसी बनी, जिससे एकदम ज्योति का उद्गम हुआ और हृदय में कुछ क्षण बाद यह खयाल भी उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार की क्रिया करके तो मैं नित्य ही आत्म-ज्योति का दर्शन कर सकूँगा। परन्तु वह क्रिया क्या की गई इस बात का कोई स्मरण नहीं रहा। ऐसी दिव्य ज्योति का दर्शन मुझे जीवन्तु भर में पहले कभी नहीं हुआ। इस दिव्य ज्योति के दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और यह इच्छा बनी रही कि उसके दर्शन होते रहे। मैं इसको आत्मदर्शन समझता हूँ।” मैंने तो इस स्वप्न का अर्थ यह लगाया कि वेदना के कारण आत्मा के प्रदेश अपनी नई योनि जिसमें उसे जन्म लेना है ढूँढ़ने में लगा हुआ है इसी कारण यह स्वप्न के रूप में दिखाई पड़ा, ऐसा मेरा विश्वास है मैं नहीं कह सकता कि मेरी धारणा गलत है या उनका विचार ठीक है। मरण से चार रोज पहले रात के दस बजे शायद शौच के लिए लाठी लेकर चल पड़े तो कमरे से दो कदम बाहर चलकर न मालूम कैसे गिर पड़े और कराहने का शब्द मेरे कानों में पड़ा, मैं भागकर आया और पूछा कि कहाँ जा रहे थे। तो बोले—“अपने घर जा रहा हूँ” मैंने कहा घर तो यही है। फिर भी यही कहा—“देखो कि मैं अपने घर जा रहा हूँ। लेकिन मैं गिर पड़ा मुझे टाँग में चोट लग गई है। मैंने टाँग का निरीक्षण किया मुझे टूटी तो नहीं मालूम पड़ी, परन्तु उन्हें दर्द की वेदना बहुत थी और टाँग की हिलाने डलाने में तकलीफ महसूस करते थे। खैर किसी तरह से मैंने ब मेरे पुत्र महेश ने उन्हें पलंग पर ले जाकर लिटा दिया और टाँग की सिकाई व

मालिश करने लगे जिससे उनकी पीड़ा कुछ कम हुई और अगले दिन उनका Xray कराया जिसमें हड्डी ठीक थी कहीं से भी चटकी या टूटी नहीं थी दो-तीन दिन में पीड़ा व सूजन कम हो गई और टाँग के उठाने रखने में आसानी हो गई परन्तु चल नहीं पाते थे इसलिए टट्टी पेशाब के लिए कमोड और पोट का प्रबन्ध कर दिया जिससे वह उसी में टट्टी पेशाब को जानते थे। फिर मुझे इधर ज्वर आने लगा। पुत्र व स्त्री को भी फलू हो गया, जिससे कि सब घर परेशान हो गया; परन्तु उनकी परिचर्या में किसी बात की कमी न आने दी, और इस हालत में भी उनकी सेवा तत्परता के साथ करते रहे। रात को मेरा ज्वर कुछ कम हो जाता तो दो चार घंटे उनके पास बैठकर बात-चीत करके आ जाता था।

ता० २१ दिसम्बर १९६८ को बाबू जुगमन्दिर दास जी की कृपा वाले दिन के २ बजे उनसे मिलने आये और बात-चीत करने लगे। मुस्तार सा० ने उनसे कहा कि आप मेरी “युगवीर निबन्धावली द्वितीय खंड की कुछ प्रतियां मुझसे खरीदकर अपनी ओर से वितरण कर दें। इधर मैं उसी दिव्य भी विक्री के लिए कर रहा हूँ जो इससे पहले करके यह सब पुस्तकें मेरी निकल जावेंगी। और सस्था के रूपों का खर्च निकल आवेगा, जो इसके छपाने में खर्च हो गया है। उन्होंने उन्हें आश्वासन दिया कि मैं अवश्य ही कुछ प्रतियां खरीद लूँगा, आप चिन्ता न करें। मैं डाक्टर सा० व पं० दरबारीलाल जी से इस विषय में बात कर लूँगा। अपने स्वास्थ्य की ओर इस वक्त आप विशेष ध्यान रखें, अभी आपकी हम लोगों को जरूरत है और आप से बहुत कार्य लेना है। उस वक्त तक कोई ऐसी खास बात नहीं मालूम होती थी कि कल ये इस संसार को छोड़कर प्रयाण कर जायेंगे। २१ ता० की शाम को उन्होंने औषधि, दूध तथा बादाम की चटनी फलों का रस इत्यादि लेने से बिलकुल मना कर दिया। सिर्फ थोड़ा सा पानी पिया और कुल्ला करके कहा कि हटाओ बस अब खा चुका। मैंने भी बहुत आग्रह किया परन्तु मेरा कहना भी नहीं माना। २१ दिसम्बर की शाम को जब मैं उनके पास जाकर बैठ गया तो उन्होंने मुझे गर्दगद कंठ से कहा कि तुम्हारा ज्वर उतर गया, मुझे

प्रसन्नता है, बैठो तुमने मेरी बहुत सेवा की और ऐसी सेवा की कि अपने सगे पेट का भी इतनी सेवा न करता मैं तुम सबसे बहुत प्रसन्न हूँ, और तुम्हारी सेवा फले। फिर बोले कि देखो अब मुझे अपना अन्त समीप मालूम होता है क्योंकि मेरे शरीर में अब किसी प्रकार का कोई कष्ट व पीडा व रोग नहीं है। देखो सृजन भी अपने आप बहुत कम हो गई है सो मैं अब यह चाहता हूँ कि मेरा अन्त समय समाधि पूर्वक बीते। तुम मेरे पास बैठ जाओ और मुझे सावधान रखते रहना, चेहरे पर उनके मुझे बड़ा तेज प्रतीत हुआ। उनका एक-एक शब्द अभी तक मेरे हृदय पटल पर अंकित है। उन्होंने कहा देखो मैंने तुमको समाज के आगे लाकर खड़ा कर दिया है और तुम अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहना। और सबसे बड़ी और मर्म की बात यह है कि किसी के आगे कभी भी अपने स्वाभिमान को न गिराना। मुझे देखो मैंने सब सकटों को भेलने हुए अपनी सस्था को अकेले चलाया और इतना ऊँचा पहुँचा दिया कि सब इसका लोहा मानते हैं। और अब भी इस रूग्ण अवस्था में ग्रन्थों का लिखना फिर भी उनका प्रकाशन का कार्य करता रहा हूँ। इसी प्रकार तुम भी निर्भय होकर इस सस्था का भार अपने ऊपर लेकर इसको चलाने रहना। साहित्य का काम डा० दरवागिलाल जी करेंगे और बाकी तुम्हारी सब देख-भाल रहेगी। ट्रस्ट की व्यवस्था मैंने कर दी है। उसी व्यवस्था के अनुसार कार्य करना और मुदा इस बान का ध्यान रखना कि संस्था को चाहे लोगवाग कितना ही तोड़ने मरोड़ने की कोशिश करे कभी भी इसको गिरने न देना बल्कि नित्य-प्रति इसको ऊँचा उठाने का प्रयास करते रहना, यह तुम्हारे ऊपर उत्तरदायित्व है। इसी से मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। सस्था को चलाने के लिये मैंने काफी उचित प्रबन्ध कर दिया है, उतने ही में यह सस्था अच्छे प्रकार से चलती रहेगी। और फिर अपनी समाज में साहू शान्तिप्रसाद जी जैसे बहुत से उदार दानी विद्यमान हैं उनकी भी सहायता से तुम कार्य कर सकते हो, वे तुम्हें कभी किसी बात से मना नहीं करेंगे। क्योंकि वे मुझसे बहुत प्रभावित हैं। मुझे वे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और मैं भी उनको आदर और प्रेम की दृष्टि से देखता

हूँ और उन्होंने मेरी काफी सहायता की है। समाज भी मेरी साहित्य सेवाओं का लोहा मानती है। मुझे किसी अभिनन्दन या प्रशंसा की आवश्यकता नहीं, मैं तो ससार के कोने कोने में भगवान महावीर की वाणी व सन्देश पहुँचाना चाहता हूँ जिससे सब जैन धर्मानुलम्बी बनें और अपने धर्म का खूब प्रचार व प्रभावना हो। मैंने बड़े बड़े विद्वानों और धर्म के ठेकेदारों से टक्कर ली; परन्तु अन्त में मेरी विजय हुई कारण कि जो कुछ भी मैं कहता या लिखता वह सब आगमानुसार प्रामाणिक और अकाट्य होता था, यही एक दृष्टि है जिसे मैंने अपने सारे जीवन में अपनाया और सफलता प्राप्त की। निःस्वार्थ भाव से समाज की, अपने धर्म की सेवा की उसका फल मुझे जैसा मिला सो तुम देख ही रहे हो। जिस समय वे सब यह कहते जाते थे मेरे नेत्र सजल थे और मैं उन्हें सान्त्वना देता रहता कि आपके कहे अनुसार ही चलूंगा, यह आप पूर्ण विश्वास रखे। फिर मैंने उनसे कहा कि अब आप इस चर्चा को छोड़ें और अपना मोह इधर से हटाकर अपने परिणामों की शान्ति की ओर लगाइये तो कहने लगे कि बिलकुल ठीक है मेरे परिणामों में अब बिलकुल आकुलता नहीं है और अब तो बस शान्तिसे समाधिपूर्वक मेरा यह शेष जीवन जो अब बहुत कम है व्यतीत होवे। मेरे मन में जो मोह की शल्य थी वह मैंने तुम पर अच्छी तरह प्रकट कर दी। सबसे पहले उन्होंने हृदय से उन सब लोगों से क्षमा मांगी जो उनके प्रति कुछ कटु विचार रखते थे। और उसी क्षण उन्होंने अपनी ओर से भी सब को क्षमा कर दिया। यहाँ तक कि स्व० बा० जयभगवान जी व बा० छोटेलाल जी सभी से क्षमा माँग ली और किसी से भी कोई शिकवा या गिला न रहा। मेरे परिणाम अब निर्मल तथा शुद्ध हैं। अब मेरे अन्तरंग में कोई कषाय नहीं है और किसी प्रकार का शरीर तथा पैसे का मोह नहीं है मैंने सब त्याग कर दिया। अब भगवान से यही प्रार्थना है कि मेरे परिणामों में विशुद्धता बनी रहे। मैं जरा भी अपने समताभाव से विचलित न होने पाऊँ और हर समय अरहंत, सिद्ध ही सारी रात मुँह से धीरे-धीरे उच्चारण करते रहे जब व भी विचलित होते थे तो मैं उन्हें सावधान कर देता था और धार्मिक चर्चा

मुना कर उनको फिर परमात्मा की आराधना ही में स्थित कर देता था। कोरी रात भगवान महावीर स्वामी की सामने टेंगी हुई मूर्ति की ओर टकटकी लगा ध्यान पूर्वक दर्शन करते रहे, जरा देर को भी नींद नहीं आई। स्वामी समन्तभद्र-स्तोत्र जो उनकी खुद ही की कृति है उन्हीं की आग्रह से उसे मैं सुनाता रहा।

फिर जब कभी बीच में मेरे द्वारा सकलित उर्दू के अध्यात्मिक शेर भी सुनते रहे। उनमें से कुछ इस प्रकार है :—

हमें खुदा के सिवा कुछ नज़र नहीं आता ।
निकल गये हैं बहुत दूर जुस्तजू से हम ॥
चला जाता हूँ हँसता खेलता मौजे हवावस से ।
अगर आसनियाँ हो जिन्दगी दुश्बार हो जाये ॥
अगर मरते हुए लब पर न तेरा नाम आयेगा ।
तो मरने से दूर गुज़रा मेरे किस काम आयेगा ॥
जहाँ तक बसर कर जिन्दगी आला ख्यालों में ।
बना देता है कामिल बैठना साहब कमालों में ॥
जिनके दिल में है दर्द दुनिया का ।
वही दुनिया में जिन्दा रहते हैं ॥
खुदाबन्दा मेरी गुमराहियों से दरगुज़र फरमा ।
मैं उस मोहाल में रहता हूँ जिसका नाम दुनिया है ॥
बहदते खास इशक में ग़रयत का ज़िक्र क्या ।
अपने ही जलवे देखिये अपनी ही बच्चे नाज़ में ॥
गुलों ने खारो के छेड़ने पर सिवा खामोशी के दम न मारा ।
शरीफ उल्लेख अगर किसी से तो फिर शराफत कहाँ रहेगी ॥
जिन्दगी ऐसी बना जिन्दा रहे दिलशाद तू ।
जब न हो दुनिया में तो दुनिया की आये याद तू ॥
दीवारे शशजहल है कोई दीबाबर तो हो ।
जल्वा कहाँ नहीं है कोई अहले नज़र तो हो ॥
इतना बुलन्द कर नज़रे जल्वा स्वाह को ।
जल्वे खुद आएँ दूढ़ने तेरी निगाह को ।

सुबह के चार बजे कहने लगे कि अब तुम आराम करो मैं भी लेटे-लेटे सामायिक करता रहूँगा और अपने

पापों की आलोचना करूँगा। जिससे मुझे अधिक सान्त्वना मिले। मैं उठकर चला आया और थोड़ा लेट गया फिर महेश तथा घर से बग़ावर पाँच दस मिनट बाद चक्कर लगाते रहे। उस रोज़ बराबर तीन घण्टे तक सामायिक की। जब सामायिक से ध्यान हटा तो कहने लगे कि आज सामायिक में बहुत मन लगा और बड़ी शान्ति मिली अब मेरा चित्त हलका है और मुझे कोई कष्ट नहीं है। फिर बोले कि कमोड लगा दो तो टट्टी पेशाब से निर्वृत्त हो ल, टट्टी पेशाब ठीक किया और कहा कि अब धुला दो मंने खूब धो दिया और उनकी धोती भी जो गीली हो गई थी बदल दी। अब थोड़ा सा आपको ऊपर को खसका दू तो तकिये के सहारे मिर आ जायगा। मंने व महेश ने जैसे ही सहारा देकर ऊपर खसकाया उसी समय उनके सुबह के ७ बजकर १३ मिनट पर प्राण पखेरू उड़ गये उनमें कुछ भी न रहा। चेतना निकल गई और जड़ शरीर पड़ा रहा। हम सब कुटुम्बीजन विलख विलखकर रोने लगे। मरते समय या रात्रि में कोई भी अमर्त्यलिक सूचक नहीं हुए और हम स्वप्न में भी यह नहीं सोचते थे कि ये आज हमसे सदा के लिए बिछड़ जायेंगे। ऐसे पुन्य आत्मा का चोला एकदम छूट गया जैसे कोई बात चीत करना मनुष्य आखिरी भीच कर गहरी नींद में सो जाता है। यह सब उनकी धर्मज्ञ भावना का ही अमर था जो उन्हें अन्त समय में कोई पीडा का अनुभव नहीं हुआ और उनका मरण समाधिपूर्वक ही हुआ। अब और अधिक मैं क्या लिखूँ, अब वे हममें नहीं रहे; परन्तु उनकी स्मृति तथा आशीर्वाद सदा हमारे साथ रहेगा। उनका नाम जैन जनेतर समाज में सदा अमर रहेगा। कि “युगवीर” जैसा भी कोई साहित्य तपस्वी हो गया है जिसने अपना सारा जीवन जिनवाणी प्रभावना और सरस्वती आराधना में लगाये रखा। उनके फूल उनकी इच्छा के अनुकूल सरासावा आश्रम में भिजवा दिये गये हैं।

डा० श्रीचन्द जी ने मुस्तार साहब के अन्तिम समय के सम्बन्ध में जो कुछ लिखकर भेजा है, उसको उनकी इच्छानुसार ज्यों का त्यों दे दिया है।

साहित्य जगत के कीर्तिमान नक्षत्र तुम्हें शतशः प्रणाम !

अनूपचन्द न्यायतार्थ

(१)

ओ महामना मानव पुनीत !
ओ गुण गौरव गरिमा विधान !
ओ देवि सरस्वति वरद पुत्र !
निःस्वार्थ मूक सेवक महान ! !

(३)

ओ परम सुधारक राष्ट्रीय !
ओ सामाजिक गौरव अपार !
ओ परिश्रमी कर्मठ नेता !
ओ उच्चकोटि साहित्यकार !

(५)

ओ भारतीय संस्कृति पोषक !
विद्वान् विचारक नीतिवान !
स्वाभाविक सहज विकास युक्त
अति सौम्य सरलता मूर्तिमान ! !

(७)

ओ पुरातत्त्व प्रेमी ! शोधक !
इतिहासकार, साहित्यकार !
रचयिता 'भावना-मेरी' के
'युगवीर' 'जुगल मुख्तारकार' !

(९)

तुमने जन-मानस बदल दिया
नकली ग्रन्थों की पोल खोल
तथ्यों को खोज निकाला है
इतिहास कसौटी तोल तोल ॥

इतिहास बदल डाला तुमने
विद्वज्जन बोधक सुगुण-धाम
साहित्य-जगत के कीर्तिमान
नक्षत्र तुम्हें शतशः प्रणाम ॥

(२)

चारित्र्य निष्ठ वृद्ध श्रद्धालु !
आध्यत्मिक श्रेष्ठ विचारवान !
निर्भीक समालोचक सच्चे
ओ ठोस कार्यकर्त्ता महान !

(४)

सिद्धांत शिरोमणि ! विद्वद्वर !
ओ अधिकारी विद्वान् एक
ओ सफल समीक्षक, कवि, लेखक !
ओ पत्रकार जागृत - विवेक !

(६)

नूतन प्राचीन विचारों का
था सम्मिश्रण तुम में अपार ।
क्या वृद्ध तरुण, क्या बाल प्रौढ
थे सभी उपकृत हर प्रकार ॥

(८)

तुमने समग्र निज जीवन को
साहित्य और सेवा-समाज—
हित, खपा दिया आचार्य श्रेष्ठ !
संदेह न इसमें लेश आज !

(१०)

असमय में निधन तुम्हारे से
हो गया अत्रानक वज्रपात ।
जीवन - निर्माता, पथ दर्शक
खो गया हाथ से अकस्मात् ॥

ऐसे थे हमारे बाबू जी

विजयकुमार चौधरी एम. ए. साहित्याचार्य

वीर वाङ्मय की शोध और खोज में अपने सुदीर्घ जीवन को प्रतिपल तन्मय रखने वाले भारती-पुत्र बाबू जुगलकिशोर मुस्तार सा० की अब जब हम 'स्वर्गीय' शब्द से अंकित पाते हैं, तब ऐसे लगता है मानों कराल काल ने वीर-भक्तों पर कहर ढा दिया हो। यद्यपि बात ऐसी नहीं है, हम सबके सौभाग्य से उसने काफी मुनी और मनुष्य के मरण धर्मा स्वभाव होते हुए भी 'जीवेमः शरदः शतम्' की भावना को अनुकूल उसने पूज्य मुस्तार सा० के दर्शन हमें शताब्दी के अन्तिम दशक तक कराये पर ऐसे सरस्वती पुत्रों की आयु तो 'ब्रह्म वर्षों' के अनुसार गिनी जानी चाहिए। अगर आगे आने वाली पीढ़िया पूछेगी कि आचार्य जुगलकिशोर कौन थे तो इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकेगा कि जिनवाणी की सेवा में अपने जीवन को तिल-तिल जलाकर निःशेष बनाने वाला एक महान् तपस्वी था जिसके हृदय में करुणा की अजस्र धारा बहती थी। जिसके पढ़ने और मनन करने से जीवन का आत्म परिष्कार होता है, भावनाएँ मानवीयता से ओत-प्रोत हो जाती हैं ऐसी मेरी भावना का एक भी 'पद' जब तक लोगों की जवान पर रहेगा तब तक स्वर्गीय मुस्तार सा० की कीर्ति-चन्द्रिका इस समाज की धरती पर छिटकती रहेगी वह क्षण कितना पवित्र होगा जिस क्षण में 'बाबू जी' ने मेरी-भावना का 'उद्गार' किया होगा। बौद्ध साहित्य में उसके अग्र रूप में एक 'उदार' साहित्य जिसमें महात्मा बुद्ध के मंगल क्षणों के हर्षमय उद्गार संकलित हैं। यह उनके हृदय हिमालय से निकली हुई ऐसी गंगा की धारा है जिसमें नहाकर हम सब अपने जीवन कलंकों को सदा काल धोने में समर्थ हो जाते हैं।

वह मेरे जीवन के सौभाग्य क्षण थे जब वीर सेवा मन्दिर में सेवा के बहाने इस 'साहित्य-तपस्वी' के नजदीकी से दर्शन करने का अवसर मिला करता था। सन् उन्नीस सौ उनचास के दिसम्बर महीने की अन्तिम तारीखे थी

जिन्होंने अचानक ही मुझे इस महान् पुरुष के दर्शन पाने में सहायता की। रुग्णावस्था में मैं छाणी (उदयपुर) अपने सेवा स्थान पर जा रहा था दिल्ली स्टेशन पर एक यात्री घोखा देकर मेरा सामान चुरा ले गया तीन दिन तक मैं कि कर्तव्य विमूढ़ दिल्ली जकेशन पर ही पड़ा रहा चौथे दिन उपाय सोचा श्रीमान् पंडित दरबारीलाल जी 'कोठिया' न्यायाचार्य से मिलना चाहिए। श्री कोठिया जी कितने दयालु हैं यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है जो उनके सम्पर्क में आता है वही बता सकता है। श्री पंडित जी की कृपा से दिल्ली में तीसरे दिन मैं इस महान् पुरुष के सामने बैठा था। गौरवर्ण दुहरी देह का वृद्धावस्था से भुर्रियों पड़ा कान्तिमय चेहरा जिसके शिर पर पके हुए बालों की सफेद चादर, गेरुए वस्त्र का एक कुर्ता, शायद वरत काज से बंधी हुई जेब में पड़ी घड़ी। जिसके सामने डेस्क पर लिखते थे कागज और तीनों ओर खुले पड़े हुए ग्रन्थ जिनमें तन्मयता से आखे गड़ी हुई हैं। यह है हमारे पूज्य बाबू जी का कुछ परिचय। और मैं उसी दिन वीर सेवा मन्दिर का एक कनिष्ठ सैनिक बन गया। पंडित कोठिया जी ने मेरी स्थिति बतायी नहीं कि उसके पहले ही 'बाबू जी' का हृदय पिघल पड़ा ऐसा प्रेम था विद्वानों से उन्हें।

दूसरे दिन रात्रि के ढाई-तीन बजे होंगे कि बाबू जी के कमरे में से प्रार्थना की ध्वनि आने लगी—'मुझे है स्वामी उस बल की दरकार'। यह पद शायद बाबू जी के मित्र स्वर्गीय नाथूराम जी प्रेमी का बनाया हुआ था। इसमें आपत्तियों के पहाड़ से टकरा कर भी अपने नैतिक जीवन को आगे बढ़ने की कामना है। मुस्तार सा० अपने ध्येय के प्रति कितने अडिग थे ऐसी ही प्रार्थनाओं का यह फल है।

एक दिन वह था जब श्री कोठिया जी में और श्री बा० जी में किसी सिद्धान्त पर से सम्भवतः वह आप्त

परीक्षा के समर्पण पर से था कुछ बाद-विवाद हो गया और श्री कोठिया जी ने त्याग-पत्र दे दिया उस दिन मुझे ख्याल है श्री बा० जी की आँखें छलछलाती हुई थीं। कितना गहरा वह प्रेम था ! श्रीमान् पं० परमानन्द जी शास्त्री तो आज भी वीर सेवा मन्दिर में हैं, उन्हें जिस निष्ठा से 'बा० जी' की सेवा में रत पाते थे हम लोगों के लिए वह अनुकरणीय था।

जैन इतिहास विशेषकर जैन ग्रन्थकार आचार्यों के विषय में अपने गहरे अध्ययन और चिन्तन से स्वर्गीय मुख्तार सा० ने जो शोध और खोज पूर्ण तथ्य निश्चित किये हैं वे इतने प्रामाणिक और निर्विवाद हैं कि बिना किसी ननु न च सबने स्वीकार किये हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।' स्वर्गीय मुख्तार सा० इस कहावत को पूर्णतः चरितार्थ करते थे।

स्वर्गीय बाबू जी के पास जो भी रहा है वह बा० जी की व्यवस्था से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हिसाब-किताब के सम्बन्ध में पूज्य बा० जी बड़े व्यवहारी थे अगर किसी के पास दो पैसे भी बाकी है तो चार माह बाद भी मांगने में सकोच नहीं करते थे और किसी का एक पैसा भी देना बाकी है तो उसे भी वे चार माह बाद अपने आप बुलाकर दे देते थे एक बार मेरे हिसाब के दो पैसे बा० जी ने ठीक चार माह बाद ऐसे ही दिये थे।

खोज-शोध की गुत्थियों एवं दार्शनिक गहराइयों में डूबे हुए भी बा० जी को हम लोगों ने जोर के ठहाके लगाने हुए हास्य रस में विभोर देखा है। उनमें दर्शन-शास्त्र की गम्भीर चिन्तन-शीलता, साहित्यकारों की सहज भाव-प्रवणता, मुक्त विनोद प्रियता एक साथ थी।

'वज्रादिपि कठोरणि मृदूनि कुमुदादिपि' ऐसे थे हमारे स्वर्गीय बा० जी। अपने सिद्धान्त पर वे इतने अडिग और और अचल रहते थे कि ऐसा मालूम पड़ने लगता था कि बा० जी में भावुकता बिल्कुल नहीं है। अपने प्रगाढ़ स्नेही स्वर्गीय बा० छोटेलाल जी कलकत्ता वालों के साथ भी वे वैसी ही दृढ़ता बर्तते पर उस दृढ़ता में भी अन्तः जयस्विनी की भाँति मृदुल भावुकता का स्रोत बा० जी के हृदय तक में बहा करता। वास्तव में स्वर्गीय मुख्तार

सा० केवल साहित्यकार का हृदय नहीं, कवि का भावुक हृदय नहीं, शोधक आचार्यत्व का हृदय लिए रहते थे।

स्वर्गीय बा० जी एक महान् भाष्यकार थे। ग्रन्थ की जटिलता को खोलकर पाठकों में सरसता के साथ विषय का हृदयंगम कराना भाष्यकार का उद्देश्य होता है यही बात हमारे स्वर्गीय बाबू जी में थी। वे ग्रन्थ की व्याख्या उसके प्रत्येक शब्द के साधारण और विशेष अर्थ के साथ निर्देशक-चिन्हों के द्वारा स्पष्ट करते थे। हिन्दी के कारक चिन्हों के विषय में बा० जी संस्कृत व्याकरणानुसार समस्त शैली को ही ठीक मानते थे वे शब्द के साथ ही कारक बोधक को जोड़ते थे। पर सर्ग मानकर उसको अलग से नहीं लिखते थे। प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत शैली से वे अधिक प्रभावित थे। स्वर्गीय बा० जी के पास जिनको भी कुछ दिनों बैठकर कुछ लिखने का अवसर मिला है वे अच्छी तरह जानते हैं कि बा० जी साहित्यकार की अपेक्षा आचार्य अधिक थे।

वीर-वाणी और उनके महान् व्याख्याता महान् आचार्य वर्य पुन्य नाम स्वामी समन्तभद्राचार्य के प्रति बा० जी की इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी कि उनका नाम स्मरण होते ही वे विभोर हो जाते। मानो समन्तभद्र स्वामी के आदेश को लेकर उनके अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए ही धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए हो। उनके जीवनका ध्येय मानो वीर वाङ्मय की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसके प्रकार और प्रसार में उन्हें अपरिशीम आनन्द मिलता था महासन्त तुलसीदास जीने रामचरित मानस लिखने का जो उद्देश्य—स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा लिखा है। हमारे पूज्य बा० जी ने भी स्वान्तः सुखाय ही वीर वाङ्मय की सेवा में अपने जीवन-स्नेह को तिल-तिल जलाया है। यही कारण है कि महावीर की वाणी के महान् उद्धारक समन्तभद्र स्वामी के प्रति उनकी तन्मयता पूर्ण अनन्य श्रद्धा थी। यद्यपि शास्त्रीय आधार से ऐसा कहने में विवशता है कि हमारे पूज्य बा० जी समन्तभद्र स्वामी के ही अवतार थे, कारण समन्तभद्र स्वामी तो स्वर्ग में लम्बी आयु लेकर स्वर्ग सुखों का अनुभव कर रहे हैं पर उनका सन्देश बा० जी ने अवश्य सुना था।

हमारे स्वर्गीय बा० जी बहुमुखी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनमें दार्शनिक चिन्तनशीलता, कवि की भावुकता, आचार्यत्व की गरिमा और गम्भीरता, समीक्षक की भेदक दृष्टि, पुरातत्व विद् की व्यापक पारदर्शिता, सम्पादक की काट-छांट सब कुछ थी। और थी इन सबके ऊपर विराट् मानवता और परोपकारार्थ अपने को तिल-तिल जलाने की महान् उदारता। उन्होंने अपने महान् व्यक्तित्व को एक संस्था में परिवर्तित कर दिया था। वे जैन ग्रन्थ-

कारों में उस महान् आचार्य परम्परा की कड़ी थे यद्यपि वे गृहस्थ थे पर उनकी गृहस्थी जिनवाणी की सेवा के ही गहरे मोह से व्याप्त थी।

यद्यपि आज वह महामानव सांसारिक सत्य को साथ कर अपनी देह के पार्थिव परमाणुओं को बिखरा चुका है। पर उसकी साहित्य सेवा और महान् आत्मीय संदेश हमारे लिये प्रेरणादायक हैं। यहाँ मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

समीचीन धर्मशास्त्र

चम्पालाल सिधई, 'पुरन्दर', एम. ए. शोध स्नातक

स्वतन्त्र भारत ने सारनाथ स्थित अशोक स्तम्भ के शीर्षस्थ सिंहों को राज्य चिन्ह के रूप में अपनाकर सम्राट् अशोक द्वारा धर्मविजय को युद्धविजय से श्रेष्ठ प्रदर्शित करने वाली नीति का महत्व प्रतिपादित किया है। इस देश में दिग्विजयी सम्राटों के स्वर्ण-मुकुट धर्मविजयी सत्ता के चरणों में झुकते रहे हैं लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसी धर्मविजय फणिमण्डलातर्गत उरगपुर (पांड्य प्रदेश की राजधानी) के सन्यस्त राजपुत्र ने की थी। करहाटक की राजसभा में उसने निम्नांकित श्लोक के रूप में आत्मपरिचयादि दिया था जो श्रवण बेल्गोल के शिलालेख में उत्कीर्ण है।

(शिला लेख क्र० ५४)।

“पूर्व पाटलिपुत्रमध्य नगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे बंदिशे।
प्राप्तोऽपि हं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकटं,
बावार्थी विचराम्यह नरपते शार्वलविक्रीडितं ॥”

इस गर्वोक्ति से प्रकट होता है कि न केवल दक्षिण भारत की कांची नगरी के वार्दथियो को स्वामी समन्त-भद्र ने पराजित किया था, अपितु उत्तर भारत स्थित पाटलिपुत्र (पटना), मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब का एक भाग), विदिशा (आजकल मध्यप्रदेश में है) आदि में भी विजयपताका फहराई थी। उक्त श्लोक तो विख्यात है,

मुख्तार सा० ने समीचीन धर्मशास्त्र की प्रस्तावना में श्री समन्तभद्र की दो अन्य गर्वोक्तियाँ भी अंकित की हैं जिनका अधिक प्रचार नहीं हो सका है—

“कांच्यां नगनाटकोऽहं, मलमलिततनुत्सुविशे पांडुपिंडः,
पुण्ड्रोऽङ्गे शाकभक्षी, दशपुरनगरे मिष्टभोजीपरिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः, पांडुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्याऽस्तिशक्तिः, स वदति पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥”

काची के इस नगनाटक (दिगम्बर साधु) को आप्त-मीमांसा की ताड़पत्रीय प्रति में राजकुमार प्रकट किया गया—

“इति श्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिप सूतोः

श्री स्वामी समन्तभद्र मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।”

उन्हें धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्र के साथ ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्रादि विषयों में भी निपुणता प्राप्त थी, जैसा कि निम्नांकित आत्म-परिचय से प्रकट है :—

“आचार्योहं, कबिरहमहं, वादिराट्, पंडितोहं,
देवज्ञोहं, भिषगहमहं, मान्त्रिकस्तात्रिकोहं।
राजन्नस्यां जलधिबलधामेखलायामिलायाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोहम् ॥”

उक्त पद्य में आचार्य प्रवर के १० विशेषणों का

उल्लेख हुआ है :—

(१) आचार्य, (२) कवि, (३) वादिराट्, (४) पंडित, (५) दैवज्ञ (ज्योतिषी), (६) भिषक्, (७) यांत्रिक, (८) तांत्रिक, (९) आज्ञासिद्ध, (१०) सिद्ध सारस्वत ।

स्वामी समन्तभद्र की तुलना में निर्भीक एवं प्रभावक अन्य आचार्य नहीं ठहरते । इसी से स्वर्गीय पंडित जुगल-किशोर उन पर मुग्ध थे ।

उन्होंने २१ अप्रैल १९२९ को दिल्ली में समन्तभद्रा-श्रम की स्थापना की थी । आगे चलकर यही वीर सेवा मन्दिर कहलाया । उन्होंने आचार्यश्री के अनेक ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और उन्हें सटीक प्रकाशित कराया । उनकी अन्तिम इच्छा एक मासिक पत्र और निकालने की थी । जिसका नाम भी 'समन्तभद्र' प्रस्तावित किया गया था । प्रस्तावित मासिक-पत्र तो अब क्या निकलेगा, वीर सेवा मन्दिर से अनेकान्त ही निकलता रहे तो बड़ी बात है ।

श्री समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता उनके उपासकाचार को प्राप्त होने का कारण इस ग्रन्थ की सरल संस्कृत भाषा और अधिकतर अनुष्टुप छन्दों में गृहस्थाचार का विशद् विवेचन है । 'गागर मे सागर' भर दिया है । विषयवस्तु और शैली दोनों ही उत्कृष्ट हैं ।

सर्वप्रथम इसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखी । कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं में अनेक टीकाएँ लिखी गईं । हिन्दी में सर्वप्रथम विस्तृत भाष्य पंडित सदाशिव कासलीवाल (जयपुर निवासी) ने लिखा जो दुहारी गद्य में है । जयपुर के आसपास का क्षेत्र दुहार कहलाता है । यह भाष्य वि० सं० १९२० में लिखा गया । मुख्तार सा० ने श्रावकाचार की विस्तृत व्याख्या २०० पृष्ठों में की है और ११९ पृष्ठों में तो केवल प्रस्तावना ही लिखी, जिसे माघ सुदी ५ सं० २०११ वि० को पूर्ण किया । जीवन के बहुमूल्य १२ वर्ष इसमें लगाये । यह ग्रन्थ वीर सेवामन्दिर से अप्रैल १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ है । कपड़े की पक्की जिल्द है । प्रचार की दृष्टि से मूल्य लागतमात्र केवल तीन रुपये रखा है । यदि भारतीय

अनेकान्त

ज्ञानपीठ ने यह ग्रन्थ प्रकाशित किया होता तो मूल्य ७ रु० से कम न होता ।

स्व० मुख्तार सा० ने ग्रन्थ का बहुप्रचलित नाम रत्न-करंड श्रावकाचार न रखकर 'समाचीन धर्मशास्त्र' रखा है । ग्रन्थकर्ता श्री समन्तभद्र ने ग्रन्थारम्भ में संकल्प किया है कि :—

वेश्यामि 'समीचीनं धर्मं' कर्म निवर्हणं ।

ससार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

मुख्तार सा० ने रत्नकरंड नाम ग्रन्थात् के निम्न-लिखित श्लोक से फलित किया है :—

येन स्वयं वीत-कलंक-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरंड'-भावं ।

नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषुविष्टपेषु ॥१४९

ग्रन्थकर्ता ने अन्य ग्रन्थों के भी दो-दो नाम गिनाये हैं, जैसे—देवागम का अपरनाम आप्तमीमांसा । स्तुति-विद्या का अपर नाम जिनस्तुतिशतक या जिनशतक, स्व-यंभू स्तोत्र का अपरनाम समन्तभद्र स्तोत्र और यह भी लिखा है कि वे सब प्रायः अपने अपने आदि या अन्त के पद्यों की दृष्टि से रखे गये हैं ।

ग्रन्थकर्ता के अन्यान्य ग्रन्थ कठिन भाषा में हैं और विषय भी दुरूह है । अतः कुछ विद्वानों को सन्देह हुआ कि देवागम, युवयनुशासन जैसे ग्रन्थों के कर्ता उद्भट विद्वान प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र ने यह ग्रन्थ नहीं लिखा । इसके कर्ता कोई दूसरे ही समन्तभद्र होंगे । इस सन्देह का प्रधान कारण है इस ग्रन्थ में उस तर्कपद्धति का अभाव जो अन्य ग्रन्थों में प्राप्त है । स्व० मुख्तार सा० ने इसे सप्रमाण श्री समन्तभद्राचार्य प्रणीत सिद्ध किया है । इसी सम्बन्ध में डा० हीरालाल जैन ने १९४४ ई० में एक निबन्ध लिखा था—'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय ।' इसका विस्तृत और सप्रमाण उत्तर मुख्तार सा० ने अनेकान्त द्वारा १९४८ में दिया था, जिसे विस्तार पूर्वक इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया है । प्रस्तावना में ६ अन्य समन्तभद्रों का उल्लेख करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि यह ग्रन्थ उन्हीं समन्तभद्र स्वामी की रचना है जिनकी कृतियाँ आप्तमीमांसादि हैं ।

वास्तव में आचार्य श्री ने यह ग्रन्थ लिखकर बालकों एवं बालबुद्धि गृहस्थों पर अत्यन्त अनुग्रह किया है । प्रत्येक

परीक्षालय ने इसे पाठ्यक्रमों में स्थान दिया है, प्रत्येक पाठशाला में इसका पठनपाठन होता है, प्रत्येक जिनमन्दिर तथा सुशिक्षित गृहस्थ के गृह में यह प्राप्तव्य है।

इस ग्रन्थ की अनेक बालबोधटीका हिन्दी में हुई है। सोनगढ़ से भी हिन्दी टीका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

‘समीचीन धर्मशास्त्र’ का प्राक्कथन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एवं (Preface) डा० आ० ने० उपाध्ये महोदय से लिखा कर गौरववृद्धि की गई है। समर्पण पत्र श्री समन्तभद्र स्वामी के नाम है :—

‘स्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् ! तुभ्यमेव समर्पितम् ।’

ग्रन्थ को ७ सात अध्यायों में विभक्त करना मुख्तार सा० की सूझबूझ है। यह विभाजन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है।

स्व० प० पन्नालाल वाकलीवाल ने १८६८ ई० में ग्रन्थ के २१ पद्यों के क्षेपक होने का सन्देह व्यक्त किया था। मराठी भाषा के विद्वान प० नाना रामचन्द्र नाग ने तो केवल १०० श्लोक मान्य करके ५० कम कर दिये। मुख्तार सा० को जैन सिद्धान्त भवन, आरा में ताडपत्रीय ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें १६० श्लोक हैं परन्तु उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि वास्तव में १५० श्लोक होना चाहिए। उन्होंने श्री प्रभाचन्द्राचार्य एव प० सदा-सुख कासलीवाल के चरणचिन्हों पर चलकर समीचीन धर्मशास्त्र में १५० श्लोक ही रखे।

श्री समन्तभद्राचार्य का विस्तृत परिचय २५ पृष्ठों में दिया है जिसे मुख्तार सा० ने ‘सक्षिप्त परिचय’ कहा है। इसका कारण यह है कि उन्होंने आचार्य प्रवर के सम्बन्ध में बहुत शोध की थी इसलिए इतना लिखने पर भी लगता था कि बहुत कम लिखा है।

श्री आ० ने० उपाध्ये ने भूमिका में लिखा है कि— ‘हिन्दी व्याख्या केवल मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद नहीं है, बल्कि जैन न्याय सम्मत विषयों पर कुछ सदृश प्रकरणों को श्री समन्तभद्र तथा उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से लेकर गुण-दोष-विवेचिका विचारणा को भी प्रस्तुत करती है।’

व्याख्या के क्रम में कुछ शब्दों की शोधपूर्ण विवेचना

दृष्टव्य है। यथा—

श्लोक क्र० १३ में ‘पाषडि’ का प्रचलित अर्थ धूर्त, दंभी या कपटी अमान्य करके पाप का खंडन करने वाला तपस्वी किया है। इसी अर्थ में श्री कुदकुदाचार्य प्रणीत समयसार की गाथा क्र० १०८ तथा अति प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त होना बताया है।

श्लो० क्र० २८ में ‘मातंगदेहजम्’ का अर्थ चाण्डाल का काम करने वाला ही नहीं, चाण्डाल के देह से उत्पन्न अर्थात् जन्म या जाति से चाण्डाल भी किया है।

श्लोक क्र० ५८ में ‘विलोम’ की व्याख्या—अल्प मूल्य में मिले हुए द्रव्यों को अन्य राज्य में बहुमूल्य बनाने का प्रयत्न। इससे अपने राज्य की जनता उन द्रव्यों के उचित उपयोग से वंचित रह जाती है। इसलिए यह एक प्रकार का अपहरण है। विलोम में दूसरे प्रकार का अपहरण भी शामिल है जो किसी की संपत्ति को नष्ट करके प्रस्तुत किया जाना है।

श्लोक क्र० ५९ में परदार निवृत्ति की व्याख्या— जो स्वदार नहीं, वह परदार है। कुछ लोग परदार का अर्थ पर की स्त्री करने हैं। एकमात्र उसी का त्याग करके कन्या तथा वेश्या सेवन की छूट रखना सगत प्रतीत नहीं होता।

श्लोक क्र० ७७ में हिसादान की व्याख्या—हिसा के ये उपकरण यदि कोई गृहस्थ इसलिए मांग देता है कि उगने भी आवश्यकता के समय उनसे वैसे उपकरणों को मांग कर लिया है और आगे भी उसके लेने की सम्भावना है तो ऐसी हालत में उसका वह देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। उसमें भी यह कुछ बाधा नहीं डालता। जहाँ इन हिसोपकरणों को देने में कोई प्रयोजन नहीं है, वही यह व्रत बाधा डालता है।

श्लोक क्र० ८५ में वे ही कंदमूल त्याज्य है जो प्रासुक अथवा अचित्त नहीं है। प्रासुक कंदमूलादि वे कहे जाते हैं जो सूखे होते हैं, आग्न्यादिक में पके या खूब तपे होते हैं, खटाई तथा लवण से मिले होते हैं अथवा यन्त्रादि से छिन्न भिन्न किये होते हैं—जैसा कि निम्न प्राचीन प्रसिद्ध गाथा से प्रकट है :—

‘सुक्कं पक्कं तत्तां, अंजिल लवणेण मिससिय दब्बं ।’

जं जनेण य छिण्णं, तं सब्बं फासुयं भणियं ॥”

नवनीत में अपनी उत्पत्ति से अंतर्मुहूर्त के बाद ही सम्मूर्च्छन जीवों का उत्पाद होता है। अतः इस काल-मर्यादा के बाहर का नवनीत ही वहाँ त्याज्य कोटि में है—इससे पूर्व का नहीं।

श्लोक ८६ में ‘अनुपसेव्य’ की व्याख्या—स्त्रियों को ऐसे अति महीन एवं भीने वस्त्र नहीं पहनना चाहिए जिनसे उनके गुह्य अंग स्पष्ट दिखाई पड़ते हों।

श्लोक क्र० ११६ में द्रव्यपूजा की व्याख्या—वचन तथा काय को अन्य व्यापारों से हटा कर पूज्य के प्रति प्रणामांजलि तथा स्तुति पाठादि के रूप में एकाग्र करना ही द्रव्यपूजा है। जल, चन्दन, अक्षतादि से पूजा न करते हुए भी पूजक माना है। श्री अमृतगति आचार्य के उपासकाचार से भी द्रव्यपूजा के इसी अर्थ का समर्थन होता है।

“वचो-विग्रह-सकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते।

तत्र मानस सकोचो, भावपूजा पुरातनः ॥”

श्लोक क्र० १४७ में ‘भैक्ष्य’ की व्याख्या—भैक्ष्य का अर्थ भिक्षासमूह है। उत्कृष्ट श्रावक अनेक घरों से भिक्षा लेकर अन्त के घर या एक स्थान पर बैठकर खाता है। जिसका समर्थन श्री कुदकुदाचार्य के सुत्तपाट्ट में आए हुए

‘भिक्षुं भमेइ पत्तो’ से होता है (पात्र हाथ में लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण करना।) ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक भेद श्री समन्तभद्र स्वामी के समय में नहीं थे। श्री मुख्तार सा० क्षुल्लक पद को पुराना और ऐलक पद को पश्चाद्वर्ती मानते थे जैसा कि उनके गवेषणापूर्ण निबंध ‘ऐलक पद-कल्पना’ से स्पष्ट है जो अनेकान्त वर्ष १० की संयुक्त किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ था।

इसी श्लोक में ‘गृहतो मुनिवनमित्त्वा’ से सूचित किया है कि मुनिजन तब वनवासी थे, चैत्यवासी नहीं थे। श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने ‘वनवासी और चैत्यवासी’ शीर्षक शोधपूर्ण लेख १६२० ई० में जैनहितैषी में प्रकाशित कर इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

उक्त दृष्टांतों से प्रकट होता है कि स्व० पं० जुगल-किशोर का ज्ञान तलस्पर्शी था और उनकी मौलिक स्थापनाएं बेजोड़ थीं। वाङ्मयाचार्य की उपाधि से वे विभूषित किये गये थे। काश जैन समाज ने कोई विश्वविद्यालय स्थापित किया होता तो निश्चय रूपेण वे डॉक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किये गये होते। उनके निधन से जो स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्यमेव है।

—:०:—

‘एक अपूरणीय क्षति’

पन्नालाल साहित्याचार्य

विद्वद्वरेण्य पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैन वाङ्मय के स्वयं बुद्ध विद्वान् थे। उन्होंने अन्तर्ज्ञ की प्रेरणा से जैन शास्त्रों का गहन अध्ययन कर अपने ज्ञान को विकसित किया था। धर्म, न्याय, साहित्य इतिहास आदि सभी विषयों में उनकी अप्रतिहत गति थी। उनके द्वारा रचित विशाल साहित्य उनके अभीक्षण ज्ञानोपयोग को सूचित करता है। आपने अपने ज्ञान का सदावर्त विना किसी स्पृहा के निःस्वार्थ भाव से चालू रखा है।

आपने अपनी स्वाजित सम्पत्ति का बहुभाग समर्पित कर वीरसेवा मन्दिर की स्थापना की थी तथा उसके माध्यम से अनेकान्त पत्र का प्रकाशन कर विद्वानों के लिए विचारणीय सामग्री प्रस्तुत की है। अब तक आप समाज को—१. जैनाचार्यों का शासन भेद, २. ग्रन्थ परीक्षा चार भाग, ३. युगवीर निबन्धावली दो खंड, ४. स्वयंभू स्तोत्र, ५. युक्त्वनुशासन, ६. समीचीन धर्मशास्त्र, ७. देवा-गम स्तोत्र, ८. अध्यात्म रहस्य, ९. तत्त्वानुशासन, १०.

पुरातन जैन वाक्य सूची, ११. सत्साधु संस्मरण मंगलपाठ, १२. अनित्य पञ्चाशिका, १३. योगसार प्राभृत भाष्य, १४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, स्तुति विद्या, समाधितन्त्र आदि के प्रस्तावना लेख, १५. मेरी भावना आदि कविताएँ, १६. उपासना तत्त्व तथा अनेक लेख संग्रह प्रदान कर चुके हैं। जैन लक्षणावली आपका महत्त्वपूर्ण कार्य है जो कि अभी तक अप्रकाशित पड़ा है। सुसंपादित होकर प्रकाश में आने पर एक बड़ी कमी की पूर्ति हो जायगी ऐसी आशा है।

बाल्यजीवन से ही आपकी अध्ययन प्रवृत्ति निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रही। तरुण अवस्था में धर्मपत्नी एवं दो कन्यायों का मरण होने पर भी आपने अपने जीवन में शून्यता का अनुभव नहीं किया किन्तु गृहस्थी की चिन्ता से निर्मुक्त हो धर्म और समाज की सेवा में पूरी शक्ति से जुट पड़े। बिना कुछ लिखे आपको चैन नहीं पड़ता था। कवि कल्पद्रुम और योगसार प्राभृत भाष्य तो आपने अभी ६१-६२ वर्ष की अवस्था में विस्तर पर बैठे बैठे तैयार किये हैं। कितनी ज्ञानासक्ति है। एक बार संभवतः सन् १९४४ की बात है मैं सहारनपुर की रथ यात्रा से निवृत्त हो सरसावा गया था। शाम को भोजन के बाद मैं अपने सहपाठी मित्र परमानन्द जी शास्त्री के साथ घूमने को निकल गया और बड़ी रात निकल जाने पर वापिस आया। आते ही साथ मुस्तार जी बोले कि मैं आपसे चर्चा करने की प्रतीक्षा में शाम से बैठा हूँ। चर्चा होनी थी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 'मूर्धंरुहमुष्टि-वासो—इलोक पर। उस समय वे समीचीन धर्मशास्त्र (रत्न करण्ड श्रावकाचार भाष्य) की तैयारी में थे। मुझे लगा कि एक वृद्ध विद्वान् कितना ज्ञानोपयोग रत है।

आपने मुझसे मरुदेवी स्वप्नावली, स्तुतिविद्या तथा अध्यात्म तरङ्गिणी का संपादन कराकर उन्हें प्रकाश

में लाया है। संस्कृत में यमकालंकार दुरूहता की दृष्टि से अपना खास स्थान रखता है शब्दों की तोड़फोड़ को मुस्तार जी एक बड़ा चमत्कार मानते थे। 'लक्ष्मीमहस्तुल्य सती सती सती—' इस पार्श्वनाथ स्तोत्र का भी आपने मुझसे हिन्दी अनुवाद कराया था पर वे उसे अभी प्रकाशित नहीं करा सके।

समन्तभद्राचार्य के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी। वे कहा करते थे कि मुझे तो लगता है कि मैं उनके संपर्क में रहा हूँ। परन्तु वे तो अपना कल्याण कर गये और मैं कर्मचक्र में सड़ रहा हूँ। उनका कहना था कि समन्तभद्र स्वामी ने जैनधर्म की जितनी प्रभावना की है जैन समाज ने उसके उपलक्ष्य में उनका कुछ भी सम्मान नहीं किया है। उनकी अन्तिम समय तक इच्छा रही है कि उनके नाम पर 'समन्तभद्राश्रम' नाम का एक आश्रम खोला जावे तथा उसके द्वारा उनके साहित्य का प्रचार हो। आज के युग में लोग जैनधर्म सुनने के इच्छुक हैं पर कोई उन्हें सुनाने वाला नहीं। एक 'समन्तभद्र' पत्र के प्रकाशन की भी उनकी इच्छा थी।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने अभी ५ नवम्बर १९६८ को एटा में अभिनन्दन किया था। अभिनन्दन के उत्तर में आपने आघ घंटा तक रुग्णावस्था में भी जो हृदय के उद्गार प्रकट किये थे वे बड़े ही मार्मिक थे। उनका सार मैंने समाचार पत्रों में दिया था।

श्री डा० श्रीचन्द्र जी सगल एटा एक सेवाभावी व्यक्ति हैं आपने तथा आपके परिवार के प्रत्येक सदस्य ने बड़ी तत्परता से श्री मुस्तार जी की सेवा की है।

इस साहित्य महारथी के उठ जाने से जैन समाज को एक अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी है। मैं दिवगत मुस्तार जी के प्रति नम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ डा० सगल जी व उनके परिवार के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करता हूँ।

‘नहि पराग नहि मधुर मधु नहीं विकास का काल ।

अलि कली में बंध रह्यो आगे कीन हवाल ॥

+ + + +

निपट अबुध समुझत नहीं बुधजन वचन रसाल ।

कबहुं भेक नहि जानता अमल कमल-दल बास ॥

महान साहित्य-सेवी

मोतीलाल जंत 'विजय' एम. ए. बी. एड.

सुप्रसिद्ध साहित्यकार, वीर सेवा मन्दिर एवं ट्रस्ट के संस्थापक आदरणीय पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार “युगवीर” जैन समाज में विश्रुत विद्वान, साहित्यकार, समालोचक, संशोधक, सम्पादक, पुरातत्त्ववेत्ता, समाज-सुधारक एवं साहित्य प्रचारक थे। उन्होंने जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार, संशोधन, सम्पादन में जो योगदान दिया है। यद्यपि श्री मुख्तार सा० ने किसी महाविद्यालय, विश्व-विद्यालय अथवा उच्च स्थान पर शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तथापि उन्हें साहित्य, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष का ज्ञान था। वे निरन्तर विद्या-व्यसनी रहे। निरन्तर स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन ने उन्हें कुशल अन्वेषक-तत्त्वचिंतक बना दिया। फलस्वरूप आप अप्रकाशित, अनुपलब्ध एवं आध्यात्मिक जैन साहित्य की ओर आकृष्ट हुए।

समन्तभद्र भक्त आचार्य जुगलकिशोर जी ‘मुख्तार’ ने उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का सम्पादन-प्रकाशन ही जैन धर्म के प्रचार एवं इसी सर्वोदय तीर्थ का प्रसार, अपना मूल लक्ष्य बनाया। आज से २० वर्ष पूर्व स्थापित ‘समन्त-भद्राश्रम, (अब वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट) उनकी लगन का जीवन्त स्मारक है। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन, कुप्रथाओं का बहिष्कार एवं कतिपय ऐसी बातें हैं जिनसे उनकी समाज-सेवा की लगन स्पष्ट दीख पड़ती है।

‘मेरी भावना’ उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है जो राष्ट्रीय कविता की उच्च श्रेणी में रखी जाती है। जैन व जैनैतरो ने ‘मेरी भावना’ को इतना स्नेह दिया कि सहज ही वह भारत की अनेक भाषाओं में प्रकाशित हुई है। ‘युगवीर’ में एक साथ साहित्यकार, सम्पादक, समाज-सुधारक, समालोचक, निबन्धकार एवं पुरातत्त्ववेत्ता जैसे अनेक रूप देखने को मिलने हैं। यह उनकी पैनी दृष्टि, स्पष्टवादिता, चिन्तनशीलता, सहृदयता, सरलता एवं समता की द्योतक है जो उन्हें सर्वोच्चता के शिखर पर ले जा सकी।

सरसावा के सन्त का अमरदीप अब “अनेकान्त” के रूप में हमारे समक्ष है। आशा है सरस्वती के इस साहित्य महारथी की अक्षय कीर्ति को अक्षुण्य बनाने में जैनसमाज, जैन साहित्य तथा साहित्यानुरागी वर्ग असीम उत्साह तथा साहस का प्रदर्शन करेगा।

अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता प्राप्त दि० जैन परिषद्, विद्वत्परिषद्, दि० जैन परिषद्, दि० जैन महा सभा, भारतवर्षीय दि० जैन मध एवं वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रभृति संस्थाओं का प्राथमिक कर्तव्य है ऐसे साधु-पुरुष का स्मारक ग्रन्थ प्रकाशित करावे साथ ही उनकी स्मृति स्वरूप कोई स्थायी योजना बनाते जो महत्व-पूर्ण हो। ●

आधुनिक जैन युग के ‘वीर’

श्रीमती विमला जैन

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक, आधुनिक जैन युग के वीर, जैन साहित्य के उन्नायक, कवि, भाष्यकार, समीक्षक, सम्पादक, पत्रकार, इतिहासकार एवं पुरातत्त्ववेत्ता विद्वद्वरेण्य पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार ‘युगवीर’ का निधन न केवल जैनसमाज को क्षुब्ध करता है अपितु हिन्दी संसार को भी आघात पहुँचाता है। ६२ वर्ष की आयु में जो साहित्यकार साहित्य-प्रणयन में लगा रहे ऐसे

सरस्वती पुत्र के गुणों का वखान करना कहाँ तक सम्भव है। उन्होंने ‘मेरी भावना’ के युगवीर के नाम से जैन जगत में अक्षय नाम बना लिया है। डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, आचार्य जी के सम्बन्ध में एकदम सत्य लिखते हैं ‘यदि आचार्य युगवीर की अन्य कविताओं को दृष्टि से ओझल कर दे तो केवल ‘मेरी भावना’ के कारण उसी प्रकार अमर रहेंगे जिस प्रकार ‘उसने कहा था’ कहानी

लिखकर चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' अमर हो गये ।"

'मेरी भावना' की लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि कई कारागारों में उसे निश्छल प्रेम प्राप्त है । यही कारण है कि यह अंग्रेजी, मराठी, कर्नाटक प्रभृति भाषाओं में अनूदित हुई है । उन्होंने साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी लेखनी चलाई है । वे साहित्यकार, समाज-सुधारक तथा सत्साहित्य प्रणेता के रूप में समानभाव से आदृत है ।

पुरातन 'समन्तभद्राश्रम' व आधुनिक वीर सेवा मन्दिर ही उनका जीवन्त स्मारक है । (६०,०००) की राशि का उक्त ट्रस्ट है । इतिहास, पुरातत्व व शोध सामग्री युक्त 'अनेकान्त' पत्रिका के आप जन्मदाता थे जो नवम्बर १९२६ ई० में प्रारम्भ किया गया । यह पत्रिका आज भी भारत की राजधानी दिल्ली से प्रकाशित होती है । भारत प्रसिद्ध 'जैनजगत' व 'जैन हितैषी' पत्रों के भी

आप सम्पादक रह चुके हैं । इनके सम्पादकत्व में उभय-पत्रों की ग्राहक संख्या कई गुनी हो जाना सुयोग्य सम्पादकत्व का प्रतीक ही कहा जावेगा ।

उनकी बहुमुखी प्रतिभा जैन साहित्य को गौरवमय बनाती रही है । यही कारण है डॉ० ज्योतिप्रसाद जी ने उन्हें साहित्य का भीष्मपितामह कहा है । लगभग ७० वर्षों तक साहित्य की अहनिश सेवा करने वाला सरसावा (जिला सहारनपुर उ० प्र०) का सन्त तथा जैन साहित्य का सूर्य २२-१२-६८ को अस्तगत हो गया । उन्हें निस्सदेह गुरुणां गुरु गोपालदास जी, पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी, ब्र० शीतलप्रसाद जी, बैरिस्टर चम्पतराय जी जैन साहित्यप्रचारक, पंडित नाथूराम प्रेमी जैसे साधु पुरुषों की श्रेणी में रखा जावेगा, जिनकी साहित्य सेवा, समाज सेवा, धर्म सेवा जैनसमाज को युगयुगो तक प्रभावित करेगा तथा जिनकी स्मृति अक्षुण्ण रहेगी । ●

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशक का स्थान
प्रकाशन की अवधि
मुद्रक का नाम
राष्ट्रीयता
पता
प्रकाशक का नाम
राष्ट्रीयता
पता
सम्पादक का नाम

वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागंज दिल्ली
द्विमासिक
प्रेमचन्द
भारतीय
२१, दरियागंज, दिल्ली
प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
भारतीय
२१, दरियागंज, दिल्ली
डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी लिट्, कोल्हापुर
डा० प्रेम सागर, बडौत
यशपाल जैन, दिल्ली
परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
भारतीय
माफ्त वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली
वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

राष्ट्रीयता
पता
स्वामिनी संस्था

मैं प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है ।

१७-२-६९

ह० प्रेमचन्द
(प्रेमचन्द)

स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर जी

डॉ० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्

अनुवादक : श्री रामकुमार जैन एम. ए.

पण्डित जुलकिशोर जी मुरुतार २२ दिसम्बर १९६८ को ६२ वर्ष की पूर्ण परिपक्व अवस्था में एटा नगर में दिवंगत हो गये। इस शोकपूर्ण घटना से मुझे वह दिवस स्मृत हो गया, जब मैं बी. ए. परीक्षा का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में सम्मिलित होने गया था और मैंने २८ अगस्त को श्री नाथूराम जी प्रेमी के निवासस्थान पर प्रथम बार पण्डित जी के दर्शन किये थे। इससे बहुत पहले सन् १९२० में ही, जैन ग्रन्थकारों एवं साहित्यकारों के विषय में लिखे गये, 'जैन हितैषी' में प्रकाशित एवं श्री ए० बी० लट्ठे द्वारा बेलगाम के पुस्तकालय की फाइलों में सुरक्षित, उनके खोजपूर्ण लेख मैं पढ़ चुका था। उनकी विद्वत्ता का तभी से मेरे हृदय पर प्रभाव पड़ चुका था। स्वर्गीय श्री नाथूराम जी प्रेमी भी मेरे बड़े आदरास्पद थे। उनके सुपुत्र ने हीराबाग में मुझसे कहा कि पं० जुगलकिशोर जी हमारे घर (मलुन्द-बम्बई) में ठहरे हुए हैं—यदि आप चाहें तो इस अवसर पर मेरे पिता जी के और पण्डित जी के एक साथ ही दर्शन कर सकते हैं। यह प्रथम अवसर था, जब मैं दोनों विद्वानों के एक साथ प्रत्यक्ष दर्शन कर सका था। उन दिनों मैं हिन्दी समझ लेता था, परन्तु बोल नहीं सकता था। परिणामतः श्री पण्डित जी के साथ मेरा तत्कालीन वार्तालाप कुछ विचित्र-सा ही रहा। पं० जी साधारण अंग्रेजी समझ लेते थे, परन्तु इतने मात्र से वार्तालाप का निर्वाह होना कठिन था। अंग्रेजी के स्थान पर मैंने मराठी में बोलना प्रारम्भ किया। श्री प्रेमी जी मराठी का हिन्दी अनुवाद करके मेरे भाव पण्डित जी को अवगत करा रहे थे। हम उस दिन शाम को लगभग तीन घण्टे वार्तालाप में सलग्न रहे। हमने इस प्रदेश में जैन धर्म की पुरातन अवस्थिति, कुमार की कालानुक्रमतिथि तथा योगीन्द्र की कृतियों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श

किया। निश्चय ही वार्तालाप ने उस सहयोग का शिलान्यास कर दिया, जो प्रेमी जी जैनधर्म के अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी अनुसन्धान में मुझसे आशा रखते थे।

पण्डित जुगलकिशोर जी से इस प्रथम साक्षात्कार के पश्चात् प्रतिमास पत्र व्यवहार द्वारा मेरा उनका संपर्क बढ़ता ही गया। प्रेमी जी के आग्रह से मैंने एक कन्नड़ भाषा के कवि का जीवनचरित्र का मराठी में अनुवाद किया, जिसे प्रेमी जी ने स्वयं हिन्दी में अनूदित किया, जो 'अनेकान्त' के प्रथम, द्वितीय एवं अन्य अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ। 'अनेकान्त' उस समय करौलबाग, दिल्ली से प्रकाशित होता था।

मार्च, सन् १९३० में मुझे लोक सेवा आयोग के समक्ष साक्षात्कार के निमित्त दिल्ली जाना पड़ा। प्रेमी जी के परामर्शानुसार मैं उस समय समन्तभद्राश्रम करौलबाग में तीन दिन पण्डित जी के सानिध्य में रहा। वहाँ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय से भी मेरा सम्पर्क स्थापित हुआ, जो भविष्य में घनिष्ठ मैत्री के रूप में परिवर्तित एवं परिवर्द्धित हो गया। इसके कुछ काल पश्चात् पण्डित जुगलकिशोर जी अपना कार्य स्थल परिवर्तित कर सरसावा चले गये। किन्तु हमारा सम्पर्क तो अधिक घनिष्ठ ही होता गया। हम दोनों में विविध अनुसन्धान प्रसंगों को लेकर पत्र-व्यवहार चलता ही रहा। स्व० श्री राव जी सरवाराम दोशी की कृतज्ञता को विस्मृत नहीं कर सकता एवं भूरिशः साधुवाद उन्हें अर्पित है कि उनके सहयोग से मैंने शोलापुर एक सप्ताह पर्यन्त ठहरकर घबला, जयधवला टीकाग्रों का अध्ययन कर उपादेय सामग्री ग्रहण की। पण्डित जुगलकिशोर जी उस सामग्री को देखना चाहते थे। मैंने वह सामग्री भेज दी। पण्डित जी ने भी पर्याप्त समय आरा के जैन शास्त्र भण्डार में इन टीकाग्रों का अध्ययन कर कुछ सामग्री एकत्रित की थी, दोनों सामग्रियों का

तुलनात्मक निरीक्षण कर उन्होंने मुझे सत्परामर्श दिये ।

सन् १९५० में जब मैं दर्शन-सम्मेलन (फिलो सोफी-कल कांफ्रेंस) में भाग लेने कलकत्ता गया तो पंडित जी वहाँ पहले से ही श्री छोटेलाल जी के पास ठहरे हुए थे । श्री छोटेलाल जी वीर सेवा मन्दिर की स्थायी स्थिति के विषय में अति चिन्तानुर थे । सरसावा से उसका स्थान परिवर्तन दिल्ली हो या कलकत्ता आदि विषयों पर वे विचार कर रहे थे । एक विचार यह भी था कि बेल-गछिया मन्दिर में इसके लिये एक भवन ले लिया जावे । पंडित जुगलकिशोर जी की हादिक इच्छा थी वीर सेवा मन्दिर की सेवा का भार मैं सेवक (ए. एन. उपाध्ये) ग्रहण करूँ, यदि तत्काल ही नहीं तो उनके अवकाश ग्रहण करने पर तो यह अवश्य हो जाना चाहिए । कलकत्ता में भी अवकाश के समय हम दोनों "सम्मति सूत्र" के उस अंग्रेजी अनुवाद का पुनर्निरीक्षण करते रहे, जो मैंने पंडित जी की ही आग्रह पूर्ति के हेतु किया था । पंडित जी श्री छोटेलाल जी से बहुत कुछ आशा रखते थे । परन्तु छोटे-लाल जी कुछ कहने या करने में बहुत सावधान थे । वे अपनी सामर्थ्य का उचित अनुमान कर लेते थे । उस समय हम तीनों एक साथ उदयगिरि एवं खण्डगिरि (उड़ीसा) गये, वहाँ से वापिस आकर दो-तीन दिन एक साथ ही कलकत्ता रहे ।

मार्च १९५५ में वीर सेवा मन्दिर समिति की बैठक में भाग लेने के लिये मुझे विशेषरूप से दिल्ली आमन्त्रित किया गया । श्री पंडित जी और छोटेलाल जी दोनों लाल मन्दिर में ठहरे हुए थे । वीर सेवा मन्दिर को दिल्ली लाना था । एक नया भवन निर्माण हो रहा था और उन दोनों की आँखें वीर सेवा मन्दिर के अभ्युदय का भव्य स्वप्न निहार रही थी । छोटेलाल जी इस सस्था की उन्नति के विषय में अति चिन्तनशील थे । वे मेरे विषय में चाहते थे कि मैं संस्था से शीघ्रातिशीघ्र सम्बद्ध हो जाऊँ । मैंने अपनी कठिनाइयाँ उनके समक्ष रखीं, परन्तु स्वभावतः वे उन्हें निर्व्याज रूप में न स्वीकार कर सके । इस अवसर पर हमने "लक्षणावली" के कई प्रकरणों को अन्तिम रूप दिया । मैंने अनुभव किया कि वीरसेवा मन्दिर समिति की इस बैठक में संस्था की आर्थिक कठिनाइयों की उपेक्षा

कर केवल उसकी उपकृतियों की आशांसा की ओर ही ध्यान दिया गया, यह बात मुझे खटकी, परन्तु अधिक कुछ न कह सका ।

दिसम्बर, १९५७ में आँल इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस दिल्ली में हुई, उसमें मैंने भी भाग लिया । कॉन्फ्रेंस के पश्चात् पंडित जी से मिलने गये । वे बड़े असन्तुष्ट-से प्रतीत हुए । अपने सहायकों के प्रति उनके पर्याप्त अभियोग थे । संस्था की अचल सम्पत्ति वृद्धि की तो उनके सहायकों को चिन्ता थी परन्तु अनुसंधान का मुख्य महत्वपूर्ण कार्य पीछे हटता-सा प्रतीत हो रहा था ।

इसके अनन्तर प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी आदि की बैठकों में भाग लेने जब भी मैं दिल्ली गया, वीर सेवा मन्दिर में ठहर कर पंडित जी की सत्संगति का लाभ उठाने से वंचित न रहा । सन् १९६५ में जब मैं और डॉक्टर हीरालाल जी काश्मीर में आयोजित अखिल भारतीत प्राच्य परिषद् में भाग लेकर दिल्ली लौटे तो पंडित जी के सानिध्य का लाभ हम दोनों को प्राप्त हुआ । उस समय स्पष्टतः प्रतीत हो रहा था कि पंडित जी तथा छोटेलाल जी के सम्बन्ध कुछ कटुतर हो गये थे । पंडित जी ने हम दोनों से आग्रह किया कि समझौते का कोई मध्यमार्ग खोज निकालें । हमारे भगीरथ प्रयत्न के बाद भी उन दोनों के रिक्त स्थान न भर सके । समीपस्थ सभी एव सम्बन्धित व्यक्तियों से यह भी छिपा न था कि लिखित रूप में भी पर्याप्त कलक-पक उत्क्षिप्त हो चुका था । अनुसन्धान एव साहित्य का साधन मासिक पत्र भी इस पङ्क्तिता से विमुक्त न था । इस वैषम्य का अन्त में यह परिणाम हुआ कि पंडित जी ने अपना एक अलग ट्रस्ट बना लिया और उस वीर सेवा मन्दिर से अपना सम्बन्ध त्याग दिया जिसका निर्माण छोटेलाल जी ने पंडित जी के आदरार्थ ही किया था । मैंने अनुभव किया कि कभी-कभी पंडित जी के हितैषी व्यक्ति ही वातावरण को कटु-तामय बना देते थे । श्री छोटेलाल जी पंडित जी को पिता के तुल्य आदर करते थे और प्रयत्न करते थे कि वीर सेवा मन्दिर पुरातत्व का वह व्यासपीठ बने कि इसका अन्तराष्ट्रीय आदरास्पद स्थान हो । उनके स्वप्न साकार न हो सके । उन्होंने अपने अन्तिम दिन व्याधि-पीड़ित अवस्था

में कलकत्ता में ही बिताये, उधर पंडित जी भी सेवा-निवृत्त होकर अपने भतीजे के पास एटा चले गये। अन्तिम वर्षों में पंडित जी ने “अनेकान्त” से अपना नाता तोड़ लिया था। श्री छोटेला जी की प्रार्थना को मान देते हुए हम में से कुछ लोगो ने जैनत्व की सेवा एवं हित को दृष्टि में रखते हुए इसके सम्पादन एवं प्रकाशन सम्बन्धी उत्तर-दायित्व को स्वीकार कर लिया था।

पण्डित जुगलकिशोर जी उच्च विद्वान् थे एवं उनका अध्ययन क्षेत्र व्यापक तथैव बहुमुखी था। उन्होंने किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। वे केवल योग्य वकील रहे थे, जो साक्षियों को ठीक जाँचने में एवं स्वीकृत वाद को सबल युक्तियों से सफल बनाने में निष्णात थे। इस स्वाभाविक प्रतिभा से ही वे विपक्षी विद्वानों पर अपनी विद्वत्ता की घाक जमाने में समर्थ होते थे। यही कारण था कि उनकी समीक्षाएं ठोस प्रमाणों पर आधारित हो सकीं। तत्कालीन रूढ़िग्रस्त (एकान्तवाद ग्रस्त) पण्डितों के मन्तव्य उनकी युक्तियों से घराशायी हो जाते थे। प्रत्युत्तर के अभाव में वे अपने को विक्षिप्त सा अनुभव करने लगते थे।

जैन विद्वानों एवं साहित्यकारों की कृतियों एवं तिथियों तथा कालानुक्रमता के विषय में पीटर्सन, भाण्डारकर, व्हालर, नरसिंहाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं। पण्डित जी ने इस सभी सामग्री का एवं सब स्रोतों का अध्ययन किया था। अपनी पत्रिका एवं विवरण पत्रिका में इन सबका सार उनके पास उपस्थित था एवं अपने इस कार्य पर उनके हृदय में एक स्वाभिमानपूर्ण सन्तुष्टि थी। बहुत से विद्वानों की शिकायत थी कि उस सामग्री का उपयोग करने की उन्हें आज्ञा नहीं देते थे। तथापि इसी अध्ययन के कारण उनके निबन्ध अन्य पण्डितों की अपेक्षा प्रामाणिक एवं ग्राह्य होते थे।

जैन साहित्यकारों, उनकी कृतियों तथा तिथियों के विषय में उन्होंने अनेक लेख लिखे थे उनमें से अनेक स्थायी महत्त्व के हैं। इस विषय में मेरा और उनका पत्र व्यवहार होता रहता था और उनकी सग्रह-पत्रिकाएँ मेरे उपयोग के लिए सर्वदा उपलब्ध थीं।

वे मुझे प्रामाणिक सूचनाएँ देने के लिए विस्तृत पत्र लिखा करते थे। मैं निश्चितरूप से यह कह सकता हूँ कि उन्होंने मुझसे कभी किसी तथ्य की गोपनीयता नहीं रखी एवं मेरी भी ज्ञापनाएँ उनके समक्ष विनम्र भाव से उपस्थित रहती थी। उन्हें जब भी मेरे ग्रन्थों की आवश्यकता होती थी, वे मुझे निस्संकोच लिख देते थे। उनकी बाञ्छनीय सामग्री को एकत्रित करने के लिए कम-से-कम दो बार तो मुझे पूना जाना पड़ा था। अन्तिम वर्षों में कतिपय स्पष्ट कारणों से उन्होंने इस विनिमयात्मक-अनुसन्धान पद्धति का न्यूनाधिक मात्रा में परित्याग कर दिया था। वयोवृद्धता के कारण अन्तिम वर्षों में उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित अनुसन्धानात्मक लेखों का गहन अध्ययन कर समीक्षा कर सकें, अतः मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भविष्य में विचारात्मक लेख लिखा करे। हुआ भी यही, अन्तिम वर्षों में या तो उन्होंने अनुवादात्मक कार्य को प्रश्रय दिया या विचारात्मक लेखों में अवधानयुक्त होकर समन्तभद्र, रामसेन, अमितगति आदि के सम्बन्ध में लेख लिखे। मेरा सौभाग्य था कि मैं पण्डित जी और प्रेमी जी उभय का वात्सल्य भाजन बना रहा। इस सहज जात वात्सल्य का कारण अनुमान या वर्णन से परे है, तथापि उभय का यह स्नेह मुझ पर अन्त तक बना रहा है। जब कभी भी मैंने उन दोनों को लिखा, उनसे तथ्यों की जानकारी तथा पुस्तकादि की प्राप्ति मुझे होती रही। अपनी कृतियों में मैंने सदा उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रदर्शित की है। उन दोनों की कृपा के ऋण से मैं कभी भी उऋण न हो सकूँगा। एकांश में उऋणता के प्रयत्न स्वरूप मैंने अपना सम्पादित ग्रन्थ “कार्तिकेयानुप्रेक्षा” उन दोनों मूर्धन्य विद्वानों को समर्पित किया है। आज अनेक युवक रिसर्च स्कॉलर इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि मैं उनकी अति उदारता पूर्वक सहायता करना हूँ, परन्तु यह सब कुछ इसी कारण से है कि मैंने ऐसी ही उदार सहायता अपने बड़ों से प्राप्त की है।

पण्डित जुगलकिशोर जी चाहते रहे कि मैं बीरसेवा मन्दिर का ट्रस्टी बन जाऊँ और अन्त में स्वयं स्थापित ट्रस्ट का ट्रस्टी भी बनाना चाहा। परन्तु उचित था या

अनुचित, उनसे क्षमाप्रार्थी होता हुआ मैं इस उत्तरदायित्व को ग्रहण न कर सका। मेरा विश्वास है कि ट्रस्टी का पद आर्थिक—उत्तरदायित्व का है और किसी सम्पन्न व्यक्ति को ही इस पद पर आसीन होना चाहिए। मेरे जैसे सीमित आय के व्यक्ति को प्रति क्षण आर्थिक प्रश्नों से सम्बन्धित सस्था का ट्रस्टी नहीं होना चाहिए। पण्डितजी मेरे इस स्पष्टीकरण से कभी सहमत नहीं हुये, अन्त में वार्तालाप के मध्य यह प्रश्न उपस्थित न हो जाये, इसके प्रति वे सावधान रहते रहे। उनकी एक दूसरी भी इच्छा थी कि मैं उनकी सभी रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद कर दूँ। वास्तव में मेरी भी ऐसी हार्दिक इच्छा थी, परन्तु महाविद्यालय सम्बन्धी कर्तव्य तथा निजी अनुसन्धान कार्य की—व्यस्तता इस आकांक्षापूर्ति के लिये समय प्रदान नहीं करती थी। मैं अपनी असमर्थता के प्रति खेद व्यक्त करता था और वे भी मेरी कठिनाई से अवगत थे। सन् १९३२ में “समन्तभद्र का समय एव डाक्टर पाठक” नामक उनके निबन्ध का मैंने अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की वार्षिक पत्रिका (अंक १२) में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर पण्डित जी के आग्रह को मान देकर मैंने उनके ‘सन्प्रति सूत्र’ का अंग्रेजी रूपान्तर किया, जो एक पृथक् पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ। छोटेलाल जी की हार्दिक इच्छा थी कि यह निबन्ध बड़े सुन्दर रूप में प्रकाशित हो।

“पुरातन जैन वाक्यसूची (सरसावा १९५०) समीचीन धर्मशास्त्र (दिल्ली १९५७) तथा योगसार प्राभृत (१९६८) आदि का अंग्रेजी अनुवाद करने के लिये श्री छोटेलाल जी और पण्डित जी दोनों ने ही मुझसे अनेक बार आग्रह किया था। अन्तिम वर्षों में पण्डित जी की स्मरण शक्ति कुछ अधिक साथ नहीं दे रही थी। ‘सन्मति सूत्र’ का अनुवाद प्रकाशित होने पर उन्होंने कुछ वैमत्य सा व्यक्त किया, मेरे द्वारा विरोध होने पर प्रस्तावना के उस अनुच्छेद पर चिट चिपका कर उन्होंने उसे सशोधित कर दिया था। इसी तरह मैंने उन्हें एक बार लिखा था कि “काव्य कल्पद्रुम” वादिराज कृत स्तोत्र नहीं माना जा सकता। समय-समय पर अनुसन्धान सम्बन्धी तथ्यों पर हमारा मतवैभिन्न्य हो जाता था परन्तु इससे हमारा स्नेह-

सम्बन्धों में कभी अन्तर नहीं आया। मैं उनकी विद्वत्ता के प्रति आदर भाव रखता था और वे मुझे अपने परिवार का एक वात्सल्यभाजन सदस्य मानते थे।

जब मैं गत पचास वर्षों की ओर दृष्टिपात करता हूँ तो मैं आश्चर्यान्वित होता हूँ कि पण्डित जी ने जैन साहित्य के क्षेत्र में कितना प्रशसनीय कार्य किया है? अनेक जैन ग्रन्थकारों—साहित्यिकों के कृति सम्बन्धी, तिथि सम्बन्धी कार्यों का उन्होंने सुयोग्य रीत्या विश्लेषण किया है। कभी-कभी उनकी पाद-टिप्पणियाँ मुझे हचि कर प्रतीत न होती थी; परन्तु ऐसी टिप्पणियाँ लिखना उनका स्वभाव बन गया था, जिससे वे जीवनभर विमुक्त न हो सके। जब तक “अनेकान्त” उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित होता रहा उन्होंने जैन-इतिहास के अनेक अमूल्य तथ्य मनीषियों के समक्ष उपस्थित किये। उन्होंने अनेक विद्वानों को लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। परन्तु यत्रनत्र उनके प्रति यह अभियोग स्थापित रहा कि वे उन्हीं विद्वानों के प्रति अधिक उदार रहते थे जो उनकी शर्तों को निभाने हुये उनके सहयोग में कार्य कर सकते थे। यदि वे अपने ट्रस्ट की निधि को प्रकाशन कार्य में लगा देते तो उनकी कृतियाँ ससार के समक्ष अपेक्षाकृत जल्दी आ सकती थी।

अपने अन्तिम वर्षों में अपनी कृतियों के प्रकाशनार्थ वे यदा कदा भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियों को लिखते रहे। श्रीमान् माहू गान्धिसाद जी तथा श्रीमती रमा जी के प्रति बड़ा आदर भाव प्रदर्शित करते रहे हैं। पण्डित जी के प्रकाशन—प्रस्तावों को उन्होंने सर्वदा स्वीकार किया। उनके ग्रन्थों का प्रकाशन ज्ञानपीठ से न हो सका तो इसका मात्र यही कारण रहा कि पुस्तकों की प्रेस कॉपी कभी भी समय पर प्राप्त न हो सकी। उनके एक ग्रन्थ “योगसार” का प्रकाशन मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला से श्लाघनीय शीघ्रता से हुआ। मैंने इसकी प्रस्तावना लिखी हम सबको इस बात का सन्तोष रहा कि इसकी प्रकाशित प्रति पण्डित जी को मृत्यु से कुछ पूर्व हम दे सके थे। यदि उनका स्वास्थ्य आज्ञा देता तो वे अवश्य मेरे द्वारा लिखित प्रस्तावना को पढ़कर अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते।

इस सब वर्णन के अतिरिक्त पण्डित जी के व्यक्तित्व की कुछ असाधारण विशेषतायें थी, जिनके कारण वे सर्वदा स्मरणीय रहेंगे। वे "सादा जीवन उच्च विचार" के श्रेष्ठ निदर्शन थे। उनकी कविता 'मेरी भावना' सर्वदा विचारों के उच्चादर्श को प्रस्तुत करती रहेगी। उनकी अनेक समीक्षाएँ, निबन्ध परिचयात्मक विवरण जैसे कि पात्रकेशरी, समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि स्थायी—

साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। उनकी वकील-प्रकृति की तर्कात्मक शक्ति बड़ी प्रबल थी और अपने तर्क-क्षेत्र को उर्बर बनाने में एकाकी निपुण थे। अन्तिम वर्षों में उनके लेख विचारात्मक श्रेणी के थे। समन्तभद्र, रामसेन, अभितगति सम्बन्धी उनके ग्रन्थ सर्वदा आदरभाव से पठनीय रहेंगे। मेरी उन्हें भावभरी श्रद्धांजलि अर्पित है।

जैन साहित्यकार का महाप्रयाण

पं० सरमन लाल जैन 'दिवाकर' शास्त्री

२२ दिसम्बर १९६८ का वह दुर्दिन जिसने समाज और राष्ट्र के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, इतिहास-सर्जक, पत्रकार, समाजसेवी अमर जिनवाणी सेवक, साहित्य महारथी, 'मेरी भावना' के अमर सृष्टा, विलुप्त इतिहास के अन्वेषक श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' को छीन लिया। काल का ऐसा क्रूर प्रहार जो हमारे बीच से प्रतिभा के धनी साहित्य जगत के सेवी को उठा ले गया और हम सबको साहित्य क्षेत्रों में अनाथ कर गया।

साहित्यिक क्षेत्र में यह पूर्ति कई सदियों में हुई थी और शायद अब होने की कोई सम्भावना नहीं है। साहित्य क्षेत्र का यह खाना अपूर्ण ही रहेगा।

आपकी अलौकिक प्रतिभा एवं विद्वत्ता ने विश्व को मेरी भावना जैसी, राष्ट्रीयता से भरी धार्मिक, आध्यात्मिक, विश्व के जन-जन की भावनाओं को उनके अन्दर से खींचकर गूँथी एक माला दी जिसे हर राष्ट्र हर कौम का व्यक्ति चाहे जो भी इसे अपने गले में पहिनता है वही खुश होकर भूम उठता है, और धार्मिकता के सागर में हिलोरे लेने लगता है। तभी अनायास ही उसके मुँह से यह शब्द निकल पड़ते हैं कि किस साहित्य महारथी ने यह माला गूँथी है। जिसका एक-एक फूल (शब्द) अनन्त संसार में अपनी सुरभि फैला रहा है।

श्री मुख्तार जी का सारा जीवन एक साहित्य शोधक के रूप में भगवान महावीर की वाणी को देश-विदेश में पहुँचाने के प्रयत्न में लगा रहा। मुख्तार सा० उग्र सुधारक थे, उनका सुधार मार्ग केवल ऊपरी बातों तक ही सीमित नहीं था वे धार्मिक रीति-खोजों में भी सुधारवादी थे। इसी सुधारवाद धुनने उन्हें साहित्य का रसिक ही नहीं साहित्य का सृष्टा एवं महारथी के पद पर आसीन कर दिया। शास्त्रों का आलोडन करके उनके आचार पर ही उन्होंने सुधार मार्ग बनाया था। अपने पक्ष की पुष्टि में वे प्रमाणों की ऐसी शृङ्खला बाँधते थे जिसे तोड़ना कठिन होता था।

आप जैनसमाज के एक मात्र साहित्य स्तम्भ थे साहित्यिक क्षेत्र में समाज को आप पर गर्व था। आप कर्मठ निस्वार्थ साहित्यसेवी, पुरातत्त्ववेत्ता, महान् दार्शनिक एवं जैन इतिहास के अन्वेषक थे।

ऐसे महान् उपकारक मूक साहित्यसेवी विद्वान् के देहावसान हो जाने पर समाज की सच्ची श्रद्धांजलियाँ उनके प्रति तभी मानी जायगी जबकि उनके द्वारा संचालित जैन वाङ्मय और इतिहास का अध्ययन एवं अनुसंधान उसी प्रकार चलता रहे समाज पूरा सहयोग देता रहे। यही मुख्तार सा० के प्रति सच्ची श्रद्धांजलियाँ होंगी।

जो कार्य उन्होंने अकेले किया वह बहुतों द्वारा सम्भव नहीं

डा० दरबारी लास जी कोठिया न्यायाचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

बीसवी सदी को प्रणाम । इस सदी ने अनेक राष्ट्र नेताओं के साथ जैन समाज के बहुप्रवृत्तियों के जनक महान् व्यक्तियों को जन्म दिया है । उन्हीं महान् व्यक्तियों में अद्वेय पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' है । मुख्तार साहब ने अकेले वह कार्य किया जो बहुतों द्वारा सम्भव नहीं । संस्कृति को जितना बढ़ावा उन्होंने दिया उतना किसी अन्यने दिया हो, यह हमें ज्ञात नहीं । संस्कृति का कोई छोर उनसे अछूता नहीं रहा । समाज जागरण, कुरीतिनिवारण, साहित्योद्धार, अनुपलब्ध ग्रन्थान्वेषण, ग्रन्थपरीक्षण, ग्रन्थ प्रकाशन इतिहास सर्जन, पुरातत्त्व और कला की ओर समाज का आकर्षण आदि सभी दिशाओं में उन्होंने स्वयं प्रवृत्ति की और ग्रन्थों को उसकी ओर प्रोत्साहित किया ।

वस्तुतः आज से ६०, ७० वर्ष पूर्व का समय एक निविड अन्धकार का समय था । अपनी पुरानी परम्पराओं से सभी चिपटे थे । चाहे वे अच्छी हों या बुरी । वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे । उनसे ऐसा राग था कि बुरी परम्पराओं को छोड़ने के लिए कहे जाने पर वे कहने वालों पर दूट पड़ते थे । विवाह में वेश्यानृत्य, कन्या विक्रय, छापे का विरोध, संस्कृत-प्राकृत में लिखे जाली ग्रन्थों को जिनवाणी मानना जैसी बातों के विरुद्ध बोलना या शिर उठाना किसी का साहस नहीं था ।

अद्वेय मुख्तार साहब जन्मजात विवेकी श्री साहसी थे । उन्होंने उक्त बातों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और इस विरोध के फलस्वरूप उनका बहिष्कार भी हुआ । पर मुख्तार साहब आधी की तरह विरोध को चीरते हुए आगे बढ़ते गये । कितने लोगों ने उनके विरोध को उचित समझा और उनका साथ दिया । उस समय उत्तर-प्रदेश में जितने मेले, समितियों की बैठकें और धार्मिक आयोजन होते थे उनमें बाबू सूरजभान जी

वकील और मुख्तार साहब अवश्य पहुँचते थे तथा अपने प्रभावशाली व्याख्यानों द्वारा समाज को सम्बोधित करते थे ।

सन् १९०६ में जैन गजट में 'विवेक की आँख' शीर्षक लेख मुख्तार साहब ने लिखा था । इस लेख में एक दृष्टान्त द्वारा उस समय की अविवेकता का चित्रण किया गया है । वेश्यानृत्य के लिए समाज खूब खर्च करने को हमेशा तैयार रहती थी और धर्मोपदेष्टा को देने के लिए नहीं या कम-से-कम देना चाहती थी । इस स्थिति का प्रदर्शक निम्न पद्य मुख्तार साहब ने स्वयं रचकर प्रस्तुत किया है, जो खास तौर से जानने योग्य है ।

फूटी आँख विवेक की, कहा करं जगदीश ।

कंचनिया को तीन सौ, मनीराम को तीस ॥

'कंचनी' एक प्रसिद्ध वेश्या थी, जिसका नृत्य विवाहों में कराया जाता था । मनीराम जी एक पण्डित थे, जो धर्मोपदेश के लिये समाज में आते जाते थे । मुख्तार साहब ने इस पद्य को पं० मनीराम जी के मुख से कहलवा कर तत्कालीन अविवेक का संकेत किया है । इसी लेख में वे स्वयं लिखते हैं—वेश्या जैसी पापिनी और व्यभिचारिणी स्त्रियाँ तो मंगलामुखी और कुल देवियाँ समझी जाती हैं; जगह-जगह वेश्या नृत्य का प्रचार है... खुले दहाड़े लड़कियाँ बेची जाती हैं; दिन-दहाड़े मन्त्रियों और तीर्थों का भाल हड़प किया जाता है... शराब की बोतलें गटगटाई जाती हैं, धर्म से लोग कोसों दूर भागते हैं... फिर कहिये, यदि भारतवासी दुःखी न हों तो क्या होंगे ।'

इस लेख और उद्धरण से पाठक जान सकते हैं कि मुख्तार साहब को समाज-सुधार और जागरण के लिए कितना दर्द था ।

जैन ग्रन्थों के प्रकाशन का बीड़ा बाबू सूरजभान जी

ने उठाया था और उसके लिए उन्हें जानकी जोखम, तिरस्कार, बहिष्कार आदि के कष्ट उठाने पड़े। उनके इस कार्य का खूब विरोध हुआ। किन्तु उनके समधी बा० जानचन्द जी जैनी लहौर और मुख्तार साहब ने उक्त विरोध के बावजूद खूब समर्थन किया। फलतः छापे का विरोध कम हुआ, जिसके कारण कितने ही ग्रन्थों का प्रकाशन हो सका। आज तो विरोध का नामोनिशान भी दिखाई नहीं देता। अनेक ग्रन्थ मालाएँ संस्थापित हो गयी और धवला, जयधवला, महाधवला जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों का भी प्रकाशन हो सका है। मुख्तार साहब ने स्वयं अपना समन्तभद्राश्रम और उसके बाद उसके असफल होने पर वीर सेवा मन्दिर की स्थापना की थी।

मुख्तार साहब में समाज और साहित्य सेवा की कितनी तीव्र लगन थी कि उसके लिए उन्होंने १२ फरवरी १९१४ को अपनी चलती मुख्तारकारो की प्रधान आजीविका को छोड़ दिया। बा० सूरजभान जी का जब उनके मुख्तारकारी छोड़ देने का पता चला तो उन्होंने भी उम्मी दिन अपनी भरपूर आमदनी वाली वकालत को त्याग दिया और दोनों समाजसेवी महापुरुष समाज और साहित्य की सेवा में कूद पड़े। बा० सूरजभान जी तो जीवन के अन्तिम वर्षों में समाज के व्यवहार से उमसे उदासीन हो गये थे। परन्तु मुख्तार साहब रुग्ण शय्या पर पड़े-पड़े मृत्यु से जूझते हुए भी श्रुत-सेवा में सलग्न रहे। कल्याण कल्पद्रुम, आप्तमीमासा, योगसार प्राभृत कई कृतियाँ रुग्ण शय्या पर ही तैयार की गयी। योगसार प्राभृत तो उनके जीवन के अन्तिम क्षणों, ३० नवम्बर १९६८ को जब उनका अखिल भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् की ओर से उनके निवास स्थान एटा में अभिनन्दन हो रहा था, प्रकाश में आया। ऐसा साहित्य तपस्वी समाज में अन्य दिखायी नहीं देता।

यों तो सन् १९३७ से ही पत्र व्यवहारादि द्वारा उनके सम्पर्क में आ गया था और उन्हें व उनकी सेवाओं से परिचित होने लगा था। पर २४ अप्रैल १९४२ में जब नियुक्त होकर वीर सेवा मन्दिर में पहुँचा और लगभग उनके तत्वावधान में आठ वर्ष साहित्य सेवा करने का अवसर मिला तो उनकी शोध-खोज की गहरी पैठ और अटूट

साहित्य साधनाका मुझ पर प्रमिट असर हुआ। सुहृद् पं० परमानन्द जी और बा० जय भगवान जी वकील वीरसेवा मन्दिर में साहित्य-सेवा कर रहे थे। बा० जयभगवान जी तो मुझसे कुछ माह पूर्व ही पहुँचे थे। किन्तु पं० परमानन्द जी कई वर्ष से काम कर रहे थे। मेरे और बा० जय भगवान जी के भी पहुँच जाने से मुख्तार साहब को जो प्रसन्नता हुई थी उसे उन्होंने अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२ के टाइटिल पृ० ४ पर 'वीरसेवामन्दिर को दो विद्वानों की सम्प्राप्ति' शीर्षक से व्यक्त करते हुए लिखा था—.....आप अक्षय ब्रह्मचर्याश्रम (जैन गुरुकुल) मथुरा को स्तोत्रा देकर प्रातःकाल २४ अप्रैल को उस समय वीरसेवामन्दिर में पधारे जब कि मैं 'वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट' की योजना को लिए हुए अपना 'वसीयतनामा' रजिस्ट्री कराने के लिए सहारनपुर जा रहा था और इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।' उस समय वीरसेवामन्दिर में 'जैन-लक्षणवली' और 'पुरातन-वाक्य-सूची' (प्राकृत पद्यानुक्रमणी) का कार्य चल रहा था। मुझे भी यही कार्य दिया गया। इन दोनों कार्यों के अतिरिक्त 'अनेकान्त' मासिक का भी कार्य चलता था। अनेकान्त शोध-खोज की प्रवृत्तियों का माध्यम था और उसकी ओर विद्वानों तथा समाज का विशिष्ट आकर्षण था।

मुख्तार साहब उस कुशल शिल्पी के समान दक्ष सम्पादक थे, जिसके समक्ष सब तरह पाषाण-शकल पड़े रहते हैं और जिन्हें पैनी छैनी द्वारा तरास-तरास कर सुन्दर एवं मनोज्ञमूर्ति के रूप में ढाल लेता है। मुख्तार साहब भी प्राप्त लेखों को अपनी पैनी दृष्टि से काट-छाँट, उचित, शब्द-विन्यास, पुष्ट तर्क और अर्थ गाम्भीर्य की पुष्ट देकर उन्हें उत्तम लेख बना लेते थे। मैं अपनी बात कहता हूँ। वीर सेवा मन्दिर में पहुँचने से पूर्व भी मैं 'जैन मित्र', 'वीर' आदि पत्रों में लेख लिखता रहता था। पर जब वहाँ पहुँचा तो मुख्तार साहब की प्रेरणा से 'परीक्षा मुख और उसका उद्गम' (अनेकान्त ५, ३-४), तत्त्वार्थ सूत्र का मङ्गलाचरण (अने० ५, ६-७), 'समन्तभद्र और दिग्गात्र में पूर्ववर्ती कौन' (अने० ५, १२) जैसे शोधात्मक लेख लिखे, जो उसी वर्ष लिखे गये। इन लेखों में मुख्तार साहब ने जो परिमार्जन किया उसके सामने मेरे पूर्व के

लेख मुझे स्वयं श्रीहीन प्रतीत होने लगे थे। यह सम्पादन वे प्रत्येक लेख में किया करते थे और तभी वे उसे अनेकान्त के योग्य समझते थे। यही कारण है कि उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ कभी-कभी लेख से बड़ी और आकर्षक होती थी। वस्तुतः उन जैसा सम्पादक दुर्लभ है।

शोध-खोज की कोई नयी बात जब उनके सामने लाई जाती थी तो वे बड़े प्रसन्न होते थे। यथार्थ में उनका समग्र जीवन शोध-खोज में रत रहा। अनेकान्त की फाइलों को उठाकर देखे तो यही सब उनमें भरा हुआ है। चाहे कोई नया स्तोत्र मिला हो, या किसी नये ग्रन्थ की उपलब्धि हुई हो या नये आचार्य का परिचय प्राप्त हुआ हो या कोई नयी बात मिली हो, यह सब वे अनेकान्त में देते थे। ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में भी वही शोधात्मक प्रवृत्ति दिखायी देती है। विद्वान् पात्र स्वामी को ही विद्यानन्द समझते थे, परन्तु मुख्तार साहब ने अक्राट्य प्रमाणों द्वारा यह प्रकट किया कि दोनों आचार्य भिन्न हैं, दोनों की रचनाएँ भिन्न हैं और दोनों का समय भी भिन्न है—दोनों में लगभग दो सौ ढाई सौ वर्ष का अन्तर है। पात्र-स्वामी ६-७वीं शताब्दी के विद्वान् हैं और विद्यानन्द १६वीं शती के। पंचाध्यायी का कर्ता अमृतचन्द्र को माना जाता था, किन्तु मुख्तार साहब ने पुष्ट प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया कि पंचाध्यायी के कर्ता प० राजमल जी हैं, जिन्होंने लाटीसहिता आदि ग्रन्थ रचे हैं। स्वामी समन्तभद्र को विद्वान् और समाज नहीं के बराबर जानते थे, पर मुख्तार साहब ने विपुल प्रमाणों को एकत्रित कर उनके गौरव को जैसा बढ़ाया है वह सर्व विदित है। 'स्वामी समन्तभद्र' में उन्होंने आचार्य समन्तभद्र का ही परिचय प्रस्तुत नहीं किया, अपितु कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, पूज्यपाद, आदि दर्जनों आचार्यों-ग्रन्थ लेखकों को प्रकाश में लाया गया और समाज को उनसे परिचित कराया है।

ग्रन्थ-परीक्षाएँ लिखकर तो उन्होंने बड़े साहस और दृढ़ता का कार्य किया है। बड़े-वड़े आचार्यों या जिनवाणी के नाम पर लिखे गये उमास्वामि श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार, अकलङ्क प्रतिष्ठा पाठ,

पूज्यपाद उपासकाचार आदि कितने ही ग्रन्थों की परीक्षा करके मुख्तार साहब ने इन ग्रन्थों की पोल खोली तथा अमूढदृष्टि अङ्ग का प्रचार किया। मुख्तार साहब की इन परीक्षाओं से बल पाकर प० परमेष्ठीदास जी न्याय-तीर्थ ने भी 'चर्चा सागर' जैसे ग्रन्थों की समीक्षा का साहस किया, जिसे उन्होंने हाल के पत्र में स्वयं स्वीकार किया है।

मार्च १९५० में एक बात को लेकर वीर सेवा मन्दिर में अलग हो गया था। पर मैं उसके बाद भी उनके कार्यों का सदा प्रशंसक रहा तथा वे मेरे स्वाभिमान एवं खरेपन को जानते रहे। तथा मुझे पूज्य मुनि श्री समन्तभद्र जी के पास कुम्भोज बाहुबली ले गये और वहाँ से आकर उन्होंने जूलाई १९६० में अपना धर्म पुत्र बनाया। यद्यपि बीच-बीच में कभी पत्र व्यवहार द्वारा कटुता भी आयी, परन्तु मेरी उनके प्रति श्रद्धा और उनका मेरे प्रति आकर्षण बने रहे। फलतः वाराणसी आने पर भी वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट का मन्त्रित्व १९६० से मुझ पर ही रहा और समाधिमरणोत्साह दीपक, युगवीरनिबन्धावली (१-२ भाग), तत्त्वानुशासन और आप्तमीमांसा ग्रन्थ ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित किये गये तथा मन्त्री की हैसियत से मैं उनका प्रकाशक रहा। मुझे और अन्य आठ ट्रस्टियों को जो अपने ट्रस्ट का कार्य विधिवत् उन्होंने सौंपा है उसमें उनके उन उद्गारों के विश्वास की सम्पुष्टि होती है जो वीर सेवा मन्दिर में मेरे पहुँचने पर उन्होंने अपने 'वसीयतनामा' की रजिस्ट्री करने के लिए सहारनपुर जाते समय कहे थे। आशा है उनके विश्वास को हम लोग अवश्य निभा सकेंगे।

बीसवीं सदी का यह साहित्य-स्वयम्भू, अनुसन्धान प्रवृत्तिका प्रेरक, लेखनी का धनी, जैन जागरण का अग्रदूत, निष्पक्ष समालोचक, निर्भीक पत्रकार, साहसी ग्रन्थ समीक्षक, जैन-आचार्यों के इतिहास का निर्माता, समन्तभद्र का अनन्य भक्त क्षीर जिनवाणी का परम साधक २२ दिसम्बर १९६८ को सदा के लिए हम लोगों से विमुक्त हो गया। उन्हें हमारा श्रद्धापूर्ण एवं परोक्ष शत-शत वन्दन और प्रणाम

श्री जुगलकिशोर जी “युगवीर”

रामकुमार जैन एम. ए., बी. टी. साहित्याचार्य

युगवीर ! युग युग अमर है जग में तुम्हारी साधना ॥
है अमर “मेरी भावना” में, शुभ तुम्हारी भावना ॥

+ + + +

तज कर वकालत क्यों भला साहित्य सेवा भा गई ।
कंचन-गली में, यह अकिंचनता-छटा क्यों छा गई ॥
सेवा के सरसिज खिल गये, सरसावा-सर सरसा गया ।
एकान्त दृढ़ संकल्प में भी, ‘अनेकान्त’ समा गया ॥
छोड़ा न तुमने सत्य-पथ, सह कर हजारों यातना ।
युगवीर ! युग युग अमर है जग में तुम्हारी साधना ॥

कितने निकाले रत्न थे, इतिहास-रत्नागार से ।
है “वीर-मन्दिर” सज रहा, अब भी उसी शृंगार से ॥
निर्भीक अपनी घोषणा का गंवरव करते रहे ।
जो सत्यपथ समझा उसी पर निडर हो बढ़ते रहे ॥
हे तर्क पंचानन ! तुम्हारा कौन करता सामना ।
युगवीर ! युग युग अमर है जग में तुम्हारी साधना ॥

साहित्यसेवी, दीर्घजीवी और मन से विमल थे ।
कर्तव्य में पवि, स्नेह-सौरभपूर्ण कोमल कमल थे ॥
थी रम्य सम्पादन कला, शतशः निबन्ध लिखे गये ।
मानस-जलधि से निकलते थे नित्य रत्न नये नये ॥
जो कर्मवीर, उसे भला क्या मानना, अवमानना ।
युगवीर ! युग युग अमर है जग में तुम्हारी साधना ॥

अन्तिम समय भी बन गये तुम दानवीर महामना ।
अपने कमाये द्रव्य से कर ट्रस्ट की शुभ स्थापना ॥
होकर वियुक्त चले गये हो यद्यपि भौतिक देह से ।
लेकिन मनीषी-मानसों में अमर हो बहू स्नेह से ॥
हम करेंगे उस कार्य को, जो थी तुम्हारी कामना ।
युगवीर ! युग युग अमर है, जग में तुम्हारी साधना ॥

युग परिवर्तक पीढ़ी की अंतिम कड़ी थे युगवीर

श्री नोरज जैन

पहिली बार ईसरी मे पूज्य वर्णी श्री गणेशप्रसाद जी के पास मुस्तार सा० को देखा था। स्व० बाबू छोटेलाल जी से मुस्तार सा० के मतभेदों को लेकर बाबा जी के पास कुछ बातें पहुँची थीं और उन्हीं की सफाई दोनों पक्षों से प्रस्तुत की जा रही थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि मतभेदों की तेजी या कड़वाहट तब तक बहुत हल्की पड़ चुकी थी और दोनों कर्मवीर महापुरुषों का पक्ष समर्थन बहुत सौजन्यता पूर्ण ही बाबा जी के समक्ष हो रहा था। इसके पूर्व 'मेरी भावना' के माध्यम से ही उन्हें जानता था। कुछ लेख भी पढ़ रखे थे और उनके कर्मठ व्यक्तित्व की जो काल्पनिक तस्वीर मैंने बना रखी थी, उन्हें उसके अनुरूप ही पाया। कभी इतनी सहजता से उनका दर्शन हो जायगा और इतनी निकटता से उनसे मिल सकूँगा ऐसी आशा उस समय तक मैंने नहीं की थी।

दूसरी बार दिल्ली में उनके दर्शन का सौभाग्य मिला। श्री रतनलाल मालवीय उन दिनों के केन्द्रीय शासन में उपमन्त्री थे। उनके यहाँ ही कुछ मित्रों से चर्चा में जात हुआ कि श्री मुस्तार सा० आजकल दिल्ली में ही हैं। शाम को हम लोग मिलने चले गए। जबलपुर में सम्प्रति "जगवाणी" के सम्पादक श्री स्वरूपचन्द्र जैन मेरे साथ थे।

मुस्तार सा० वीर सेवा मन्दिर के भवन में एक छोटे कमरे में बैठे हुए थे। सक्षिप्त से पूर्व परिचय के आधार पर उनसे थोड़ा वार्तालाप हुआ उन्होंने पहिचान भी लिया और बड़ी आस्था-भक्ति पूर्वक पूज्य वर्णी जी महाराज का स्मरण किया।

इसी समय मेरे साथी स्वरूपचन्द्र जी ने मेरी भावना में दो संशोधन करने का सुझाव मुस्तार सा० को दिया। उनका प्रस्ताव था कि

"पर धन वनिता पर न लुभाऊँ" के स्थान पर "पर धन पर तन पर न लुभाऊँ" और "धर्म निष्ठ होकर राजा भी" के स्थान पर "धर्म निष्ठ होकर शासक भी" पढ़ा

जाना अधिक उपयुक्त होगा।

मुझे लगा कि हम लोगों के जन्म के पूर्व से प्रचलित और सर्व स्वीकृत पाठ में परिवर्तन का सुझाव मुस्तार सा० को शायद रुचिकर न होगा; पर मुझे आश्चर्य हुआ कि उन्होंने इन सुझावों का न केवल स्वागत ही किया वरन् इन उपयुक्त सुझावों के लिये स्वरूपचन्द्र जी को धन्यवाद भी दिया।

इसके बाद भगवत् समन्तभद्राचार्य के इतिहास को लेकर उनसे पत्र-व्यवहार हुआ जो लगभग उनके जीवन के अन्त तक किसी न किसी प्रकार चलता ही रहा।

वास्तव में हमारे गौरवमय इतिहास को देखने जानने के लिये मुस्तार सा० ने समाज के एक सजग नेत्र का काम किया। प्रसिद्ध शोधक विद्वान स्व० श्री नाथूराम प्रेमी को दूसरा नेत्र मान लें तो जैन साहित्य के इतिहास का शोध करने, उसे नई दृष्टि से परीक्षण के निष्कर्ष पर कसने और उसकी टूटी तथा बिखरी कड़ियों को एकत्र करके जोड़ने के अथक अध्यवसाय की कहानी बन जाती है। निश्चय ही इस युग के साथ पुरातत्व के भूमिगत तथा विनष्ट प्रायः अवशेषों तक अपनी तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म दृष्टि पहुँचाने वाले स्व० बाबू छोटेलाल को तृतीय नेत्र की तरह स्थापित करना होगा। अनेक रूढ़ियों का उन्मूलन करने में, अनेक गलत मान्यताओं का खण्डन करने में और हमारे गौरवशाली अतीत की अनेक गौरव-गाथाओं से हमें परिचित कराने में त्रिनेत्ररूपी इन विभूतियों का जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसका सही मूल्यांकन आने वाली पीढ़ी ही कर सकेगी।

श्री जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर' उस युग परिवर्तक पीढ़ी की अन्तिम कड़ी थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक अथक रूपेण कार्य करके कर्मठता का श्रेष्ठ उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी सद्गति की कामना के साथ उनके प्रति विनम्र श्रद्धांजलियाँ अर्पित करना हमारा कर्तव्य है।

साहित्य-गगन का एक नक्षत्र अस्त

श्री बलभद्र जैन न्यायतीर्थ

मेरी भावना' के अमर उद्गाता आचार्य युगलकिशोर 'युगवीर' का ६२ वर्ष की अवस्था में दिनांक २२ दिसम्बर को एटा में स्वर्गवास हो गया, इस समाचार को पढ़कर सभी स्तब्ध रह गये। अभी दि० ६-११-६८ को भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद ने एटा में उनका सार्वजनिक सम्मान किया था। किन्तु यह किसे पता था कि सम्मान-समारोह के डेढ़ माह पश्चात् ही उनका आकस्मिक निधन हो जायगा। विधि का यह कैसा क्रूर व्यवसाय है।

आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी विक्रम संवत् १९३४ को सन्ध्या समय (सरसावा जिला सहारन पुर) में माता भूईदेवी की कुक्षि से हुआ। आप के पिता का नाम चौधरी नत्थूमल जी अग्रवाल था। तब किसे पता था कि वह बालक सरस्वती का वरदान प्राप्त करके और समाज की जीर्णशीर्ण रूढ़ियों पर बज्र प्रहार करके एक सामाजिक क्रान्ति करेगा; आचार्यों के नाम पर ग्रन्थ-रचना करने वाले भट्टारकों की प्रक्षिप्त रचनाओं की शल्यक्रिया करके; दिगम्बर जैनाचार्यों के प्रामाणिक जीवन-इतिहास की शोध खोज की दिशा में नये कीर्तिमान स्थापित करेगा; और जैन वाङ्मय की गरिमा को सरस्वती-पुत्रों के समक्ष सिद्ध करेगा।

बचपन में आपने उर्दू, फारसी, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन किया। बारह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह हो गया। बचपन से ही जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करने की आपकी प्रवृत्ति रही। मुस्तारकारी की परीक्षा देकर अदालत में मुस्तार हो गये। दस वर्ष तक आपने यह व्यवसाय किया। इस काल में अपने पेशे में आपने पर्याप्त यश और धन अर्जित किया। यद्यपि वकालत का पेशा भूठ के बिना नहीं चलता, किन्तु आपका नियम था कि भूठा मुकदमा नहीं लेना। और आपने इस नियम का निर्वाह अन्त तक किया।

व्यवसाय के साथ-साथ आपकी ज्ञान-साधना भी चल रही थी। उन दिनों भट्टारकों की भ्रष्ट प्रवृत्तियों और

अनाचार पोषक ग्रन्थों की सर्वसाधारण श्रद्धा से मान रहा था। यह देखकर आपके हृदय को अत्यन्त पीड़ा होती थी। अपनी इस पीड़ा की चर्चा आपने अपने मित्र बा० सूरजभान जी वकील से की। दोनों ने इस आचार का विरोध करने का सकल्प किया और इसके लिये एक साथ १२ फरवरी १९१४ को अपने पेशे को छोड़ दिया और जैन वाङ्मय और जैनधर्म की सेवा में जुट पड़े।

अनेक भट्टारकों ने जैन मान्यताओं के विरुद्ध ग्रन्थों की रचना कर डाली थी। उससे जैन समाज में नाना प्रकार की मूढ़ताओं का प्रचार हो रहा था। भट्टारक समाज की श्रद्धा के पात्र रहे हैं। अतः उनकी रचनाओं का आदर, पठन-पाठन खूब होता था। सम्भवतः इतिहास में प्रथम बार मुस्तार साहब ने बड़े परिश्रम से भट्टारकों की रचनाओं का अध्ययन करके जैनधर्म के विरुद्ध मान्यताओं की कड़ी आलोचना की और 'ग्रन्थ-परीक्षा' का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ के प्रगट होते ही समाज में खलबली मच गई। जैन विद्यालयों में से ऐसी रचनाओं का बहिष्कार हुआ। मन्दिरों में से भट्टारकों के ऐसे ग्रन्थों का बहिष्कार हुआ। उस समय जिन पंडितों ने मुस्तार साहब का विरोध किया, उन पंडितों के सम्मान को भी गहरा आघात लगा। विद्वानों ने तभी मुस्तार साहब की प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा मान लिया।

इन्हीं दिनों माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। दो पुत्रियाँ हुई—सन्मतिकुमारी और विद्यावती। और दोनों का क्रमशः ८ वर्ष और तीन माह की आयु में निधन हो गया। और १५ मार्च १९१८ को आपकी जीवन सगिनी पत्नी भी आपका साथ छोड़कर सदा के लिये चली गई। यह घोर संकट आ पड़ा था। किन्तु साधना संकटों के बिना चलती कहाँ है। अब गार्हस्थ्यक भ्रंशों और चिन्ताओं से निराकुल होकर वे एकात्म्य भाव से जैन वाङ्मय की सेवा में ही जुट गये।

आप बहुत समय तक जैन गजट के भी संपादक रहे। आपने २१ अप्रैल सन् १९२९ में दिल्ली में समन्तभद्राश्रम

की स्थापना की। इसी आश्रम को वीरसेवामन्दिर भी कहते थे। इसकी ओर से 'अनेकान्त' नामक एक पत्र निकाला। वीर सेवा मन्दिर एक प्रकार से जैन समाज का शोध संस्थान था, जहाँ विविध शोध खोज, संपादन, ग्रन्थ-प्रणयन के कार्य चलते थे। कई विद्वान् भी रहते थे। आपने अपनी समस्त सम्पत्ति का ट्रस्ट कर दिया और इस ट्रस्ट से वीर सेवा मन्दिर का संचालन होता था।

वीर सेवा मन्दिर कुछ वर्ष दिल्ली रहकर सरसावा में चला गया। सरसावा में इस संस्था ने शोध-खोज का बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। पुरातन जैन वाक्य सूची जैन लक्षणावली, अनेक दिगम्बर जेताचार्यों का काल-निर्णय और उनका प्रामाणिक इतिहास, स्वोपज्ञ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य स्वयं आचार्य उमास्वामी की रचना नहीं है इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक निर्णय, स्वामी समन्तभद्र का प्रामाणिक इतिहास आदि महत्वपूर्ण कार्य यहीं पर हुए। वास्तव में सरसावा में वीर सेवा मन्दिर ने जो कार्य किया, वह जैन वाङ्मय के इतिहास में अमर रहेगा। सौभाग्य से मुस्तार साहब को प० दरबारीलालजी कोटिया, प० परमानन्द जी जैसे प्रतिभा के धनी विद्वानों का सहयोग भी मिल गया, जिससे कार्य में पर्याप्त प्रगति हुई।

वीर सेवा मन्दिर सरसावा से दरियागंज में निर्मित अपने भवन में पुनः दिल्ली में आ गया। यहां आकर कुछ वर्षों के पदचात् वीर सेवा मन्दिर दो भागों में बंट गया—वीर-सेवा-मन्दिर और वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट। वीर सेवा मन्दिर का संचालन बा० छोटेलाल जी सरावगी और वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट का संचालन मुस्तार साहब के नेतृत्व में होने लगा। यह कहना शायद अधिक उपयुक्त होगा कि दिल्ली देश की राजधानी है। यहां राजनैतिक और कूट-नैतिक गतिविधियाँ प्रमुख रूप से होती हैं। वीर सेवा मन्दिर पर भी इन गतिविधियों का प्रभाव पड़ा और वह वर्षों तक कूटनैतिक भवर में पड़ा रहा और जो कार्य इस संस्था से अपेक्षित था, वह शायद न हो सका।

किन्तु मुस्तार साहब की साहित्यिक प्रवृत्ति तो जैसे उनकी प्रकृति ही थी। वे सतत साहित्य निर्माण में लगे

रहे। उन्होंने दिल्ली में रहकर भी समन्तभद्र स्वामी के ग्रंथों का भाष्य, अनुवाद किया, तत्त्वानुशासन ग्रन्थ की विस्तृत टीका की। उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि रही आचार्य सिद्धसेन दिवाकर पर एक स्वतन्त्र निबन्ध। इसमें उन्होंने अनेक प्रमाणों और तर्कों से यह सिद्ध किया है कि सिद्धसेन दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे।

मुस्तार साहब जो कुछ लिखते थे वह सप्रमाण, सयुक्तिक। उनके प्रमाण अकाट्य होते थे, उनकी युक्ति में प्रौढ़ता रहती। उनकी भाषा प्रांजल थी। वे कवि निबन्ध-कार भाष्यकार, टीकाकार, समीक्षक सभी कुछ थे। उनके ग्रन्थों की प्रस्तावनायें स्वतंत्र ग्रंथों से कम नहीं हैं। उनकी ऐतिहासिक खोजें ऐसी हैं जिनको इतिहास जगत में प्रमाण माना जाता है और इतिहासकार जिनके लिए मुस्तार साहब के सदा ऋणी रहेंगे। उनकी एक कृति मेरी भावना तो एक राष्ट्रीय गीत ही बन गई है, जिसका लाखों नर-नारी नित्य पाठ करते हैं।

मुस्तार साहब कहा करते थे कि मैं सौ वर्ष तक जीऊंगा। मुझे अभी बहुत कार्य करना है। जब तक वे जिए सदा कार्य करते रहे। अपने एक-एक क्षण का उपयोग उन्होंने जैन साहित्य निर्माण के लिए किया। किन्तु विधि का यह क्रूर विधान ही कहना चाहिए कि उनकी सौ वर्ष जीने की इच्छा पूरी नहीं हो पाई और वे पहले ही चले गये। जीवन के अन्तिम वर्षों में उनकी एक ही इच्छा रही कि समन्तभद्र-भारती के प्रचार-प्रसार के लिए विद्वानों की एक संस्था का निर्माण हो, जहां से एक पत्र का प्रकाशन हो। इस कार्य के लिए उन्होंने एक अच्छी निधि स्वयं देने की इच्छा प्रकट की थी। किन्तु वे अपनी इच्छा को मूर्त रूप न दे सके। यदि वैसी संस्था का निर्माण सम्भव न हो और वीर सेवा मन्दिर और ट्रस्ट दोनों का एकीकरण करके उनकी इच्छा के अनुरूप वहां कार्य किया जा सके तो इससे उनकी इच्छा की कुछ पूर्ति भी हो सकेगी और उपयोगी कार्य भी हो सकेगा। क्या वीर सेवा मन्दिर और ट्रस्ट के अधिकारी हमारे इस निवेदन पर ध्यान देंगे। हमारी दृष्टि से मुस्तार साहब के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि एक ही होगी—उनकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति।

इतिहास का एक युग समाप्त हो गया

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन एम. ए., पो-एच. डी.

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार के निधन से प्राचीन जैन वाङ्मय और संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन का एक युग समाप्त हो गया। बीसवीं शती के लगभग प्रथम चरण से जैन समाज के पुनर्जागरण तथा जैन वाङ्मय और संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन का जो सूत्रपात हुआ तथा पिछले लगभग सात दशकों में जन जागरण और अध्ययन-अनुसन्धान के जो प्रयत्न हुए, उनके सूत्रधारों की अन्तिम कड़ी थे मुख्तार सा०। बैरिस्टर चम्पतराय, अर्जुनलाल सेठी, सूरजभान वकील, ब्र० शीतलप्रसाद, अजितप्रसाद जिंदल, पं० नाथूराम प्रेमी, कामताप्रसाद जैन आदि सब प्रकारान्तर से एक ही महा-यज्ञ के होता थे। समाज सुधारकों ने उस समय सामाजिक क्रान्ति का जो विगुल बजाया था, उसे शास्त्रीय प्रमाणों का ठोस और स्थिर आधार देकर मुख्तार सा० ने क्रान्ति के उद्घोष को और बुलन्द किया था। वे उस पीढ़ी की अन्तिम कड़ी थे। उनके निधन से वह भी टूट गयी। और इस तरह जैन समाज के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया।

मुख्तार सा० के निधन का समाचार मुझे दिल्ली में मिला था। उस समय मैं लक्षणावली की पाण्डुलिपि देख रहा था। लक्षणावली के साथ मुख्तार सा० का अनन्य सम्बन्ध है। वास्तव में यह उन्हीं की परिकल्पना है। सयोग ही कहना चाहिए कि इस कार्य में अनेक बड़े-बड़े विद्वानों के हाथ लगे फिर भी मुख्तार सा० के जीवनकाल में उसका कार्य पूरा नहीं हो सका।

मुख्तार सा० से मैं सन् १९६० में पहली बार दिल्ली में मिला था। उसके बाद तो उनके साथ पत्र व्यवहार से निरन्तर सम्पर्क बना रहा। एकाधिक बार पुनः मिलना भी हुआ। मैंने उन्हें हमेशा ज्ञानोपयोग में निरत पाया।

मुख्तार सा० की एक विशेषता ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया। उनमें गुरुडम तनिक भी नहीं था।

विद्वानों के प्रति उनका सहज अनुराग कई दशकों के उम्र का अन्तर भूल जाता था। उनसे लगभग एक तिहाई उम्र में होने पर भी मैंने उनकी आत्मीयता बहुत पायी। मुझे लगता “गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे” मुख्तार सा० के कवि मन की अन्तर्वाणी है।

मुख्तार सा० के स्वर्गवास के कुछ महीने पूर्व जैन सदेश में प० दरबारीलाल जी कोठिया ने मुख्तार सा० का एक पत्र प्रकाशित किया था। मैंने उस पर एक टिप्पणी सदेश में लिखी थी। उसमें मैंने मुख्तार सा० की समन्तभद्र स्मारक योजना तथा समन्तभद्र पत्र के प्रकाशन के सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए सुझाव दिया था कि समन्तभद्र के विचारों का देश विदेश में प्रचार हो, इसके लिए समन्तभद्र के सभी ग्रन्थों का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद के साथ देवनागरी लिपि में तथा मूलानुगामी अंग्रेजी अनुवाद के साथ रोमन लिपि में दो जिल्दों में ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित हो तथा तीसरी जिल्द में समन्तभद्र के शब्दों का इण्डेक्स समन्तभद्र भारतीय कोश के रूप में प्रकाशित किया जाये। मेरे विचार उन्हें बहुत ही पसन्द आये इसलिए उन्होंने ‘स्वामी समन्तभद्र के विचारों का प्रचार’ शीर्षक से उस पर एक लम्बी टिप्पणी जैन सदेश के १७ अक्टूबर १९६८ के अंक में प्रकाशित की। उनकी वह टिप्पणी अब एक ऐतिहासिक दस्तावेज बन गयी है, इसलिए मैं उसे यहाँ अविकल उद्धृत करना उपयोगी और महत्त्व का समझता हूँ। वह इस प्रकार है —

जैन सदेश के गत २९ अगस्त के विशेषाङ्क नं० ३१ में डॉ० गोकुलचन्द्र जी जैन एम० ए० पी० एच० डी० का लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक है ‘आचार्य समन्तभद्र और प० जुगलकिशोरजी मुख्तार’। यह लेख प० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य के उस लेख को लक्ष्य करके लिखा गया है जो गत ४ जुलाई के सदेश में प्रका-

शित हुआ है और जिसमें कोठिया जी ने मेरे एक पत्र को महत्वपूर्ण समझकर प्रकाशित किया है। लेख में डॉ साहब ने अगस्त १९६५ में प्रकाशित मेरी 'समन्तभद्र-स्मारक-योजना' का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

“आचार्य समन्तभद्र के समन्तान् भद्र विचारों के प्रचार हेतु उनके (मेरे) मन में जो उत्कट भावना है वह किसी भी साहित्य और संस्कृति-प्रेमी के लिए समादर और प्रेरणास्पद है। तिरानवें वर्ष की उम्र में भी साहित्य-सेवा के प्रति उनकी लगन और दृढ़ता नयी पुरानी सभी पीढ़ियों के लिए स्पृहणीय है।”

इस वाक्य में मेरी उम्र जो तिरानवें वर्ष की लिखी है उसके सम्बन्ध में मैं पहले दो शब्द लिख देना चाहता हूँ; क्योंकि यह एक गलती है, न लिखूँ तो गलती का प्रचार होता है और वह रूढ़ बनती है। मेरा जन्म मगसिर सुदी एकादशी संवत् १९३४ का है, इससे मेरी उम्र ९१ वर्ष चल रही है—मगसिर सुदी दशमी तारीख २९ नवम्बर १९६८ को ९१ वर्ष पूरे होंगे। इससे आयु में दो वर्ष की वृद्धि ठहरती है अथवा भुज्यमान आयु में दो वर्ष की कमी हो जाती है। यह कमी डॉ० साहब की अपनी नहीं किन्तु पूर्व लेख से सम्बन्ध रखती है, उसमें कोठिया जी से ९१ की जगह ९३ का अंक या तो गलत लिख गया है अथवा गलत छप गया है। उनसे पूर्व पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी आयु के उल्लेख में प्रायः एक वर्ष की गलती की थी—९१ जन्मदिवस को ९१ वर्ष पूरे हुए समझकर जैन सदेश में ९२ वर्ष की आयु लिख दी थी। संभव है उसी सिलसिले में कोई ६ छह महीने बाद ये ९२ के ९३ वर्ष बन गये हों। अस्तु, पाठको को यह गलती सुधार लेनी चाहिए।

मेरी 'समन्तभद्र-स्मारक-योजना' को जिसके साथ 'समन्तभद्र' मासिक पत्र का प्रकाशन भी है, “बहुत ही अच्छा” बतलाते हुए डॉ० साहब ने लिखा—

“पर यह एक बड़ा कार्य है। इतने बड़े कार्य के लिए कई निष्ठावान् विद्वानों एवं श्रीमानों को इस कार्य में अपने को लगाना होगा। स्थिति को देखते हुए यह काम जल्दी सम्भाव्य मालूम नहीं होता।”

इसमें संदेह नहीं कि स्मारक की योजना का काम

एक बड़ा काम है और उसमें कई निष्ठावान् विद्वानों एवं श्रीमानों की जरूरत है; परन्तु यह काम वर्तमान में असम्भाव्य हो अथवा अधिक देरतलब हो, ऐसा कुछ नहीं है। जिस समाज में साहू शान्तिप्रसादजी जैसे दानी प्रतिवर्ष एक ग्रन्थ पर एक लाख रुपये का पुरस्कार देने वाली भारतीय ज्ञानपीठ जैसी संस्था और श्री बाहुबलि श्रवण-वेलगोल के मस्तकाभिषेक कलश की बोली प्रायः पचास हजार में लेने वाले नवनरत्न, उदारमना, शासनभक्त जैसे महाभाग्य मौजूद हों उसमें शासन-प्रभावना के ऐसे महान् कार्य में योग देने वाले श्रीमानों की क्या कमी रह सकती है? बशर्ते कि विद्वान् लोग उन्हें उसके लिए सच्ची सक्रिय प्रेरणा प्रदान करें। यह विद्वानों में निष्ठा तथा उत्साह आदि की कमी का ही परिणाम है जो आज समय की अनुकूलता और साधनों की प्रचुरता एवं सुलभता होते हुए भी जिन शासन का वह प्रचार नहीं हो रहा है जो होना चाहिए था और जिसकी आज बड़ी आवश्यकता है। विदेशों में जिन शासन-ज्ञान की मांग है परन्तु उसको देने वाले आगे नहीं आ रहे हैं। स्वामी समन्तभद्र ने साधनों की कमी और दुर्लभता के होते हुए भी अपने समय में श्री वीर जिन-शासन की हजार गुणी वृद्धि की है—जिसका एक प्राचीन कनडी शिलालेख में उल्लेख है; तब हमारे योग्य विद्वान् एवं त्यागी महानुभाव स्वामीजी का अनुसरण क्यों नहीं करते और क्यों वर्तमान साधनों से अधिकाधिक लाभ उठाकर उनसे भी अधिक प्रचार कार्य में प्रवृत्त होने? उन्हें स्वामी जी का यह वचन, जो शासन की भरपेट निन्दा करने वालों को भी सन्मार्ग पर अथवा शासन की शरण में लाने की अपूर्व शक्ति-सामर्थ्य का सूचक है, सदा ध्यान में रखना चाहिए और अपने हृदय में भय, निर्बलता, कायरता, अनुत्साह को दूर भगाकर प्रबल पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिए, फिर कोई कारण नहीं जो अनुकूल समय के होते हुए भी समन्त-भद्रोदित जिनशासन के प्रचार में सफलता प्राप्त न होवे—

कामं द्विषन्त्युपपत्तिं चक्षुः

समीक्षतां ते समवृष्टिरिष्टम् ।

त्वयि ध्रुवं क्षणित-मान-भृङ्गो

भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ।

डॉ० साहब ने आचार्य समन्तभद्र के साहित्य को देश और विदेशों के विद्वानों तथा जनसामान्य के समक्ष लाने के हेतु पहली आवश्यकता तो यह व्यक्त की है कि उस साहित्य के प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध हों, दूसरी आवश्यकता यह है कि मेरे द्वारा हिन्दी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावना आदि के साथ प्रकाशित समन्तभद्र-ग्रंथों का एक ऐसा संस्करण प्रकाशित हो जिसमें सब ग्रन्थ मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद के साथ हों। इसी तरह सब ग्रंथों का रोमनलिपि में रूपान्तर तथा मूलानुगामी अंग्रेजी अनुवाद भी हो, जो अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने वालों तथा विदेशों में प्रचार की दृष्टि से उपयोगी और महत्वपूर्ण हो। इस तरह दो जिल्दों में ग्रंथावली के निकल जाने पर तीसरा आवश्यक कार्य 'समन्तभद्र भारती-कोश' का होगा, जिसके विषय में उन्होंने मेरी दृष्टि का जानना चाहा है और शब्दों का इन्डेक्स पहले तैयार होना आवश्यक व्यक्त किया है। इन्डेक्स तो कई वर्ष से तैयार है—१६१ पृष्ठों पर है और इसमें स्वामी समन्तभद्र के उपलब्ध पाँचों ग्रन्थों के सभी शब्दों का सकलन है—कौन शब्द किस ग्रंथ में कहाँ-कहाँ पर कैसे प्रयुक्त हुआ है यह सब उसमें दर्शाया है। इसके निर्माण में जिस दृष्टि अथवा शैली को अपनाया गया है उसका सूचक एक पचाँ भी साथ में सलग्न है जो इस प्रकार है—

(१) शुरु में मूल शब्द अविभक्तिक दिया जाये और फिर उसके पुलिंग और स्त्री-नपुनक रूपों को अक्रागदिक्रम से दिया जाये।

(२) ग्रन्थ के समस्त पदों के पृथक्-पृथक् शब्द ही यथा स्थान दिये जाये और ऐसे समस्त पद भी ग्रहण किये जाये जिनका अर्थ दृष्टि से पार्थक्य हो; अन्य पारिभाषिक अपार्थक्य द्योतक शब्द भी लिये जावे।

(३) मूलरूप के ग्रहण के साथ ही शब्द की शकल बदलने वाले प्रत्ययों के रूप भी मात्र हाइफन देकर ले लिये जावे।

(४) सर्वनाम शब्दों के प्रत्येक विभक्ति के रूप चाहे तद्रूप हों चाहे रूपान्तरित हों मूलरूप देकर अक्रागदिक्रम से उसमें अन्तरित किये जायें।

(५) सोपसर्ग धातु के रूप मूलधातु के साथ नहीं

किन्तु यथास्थान अनुक्रम से दिये जाये और धातु के 'धा' ब्रेकट में दिया जाये, फिर लकारों के रूप भी शब्दानुक्रम से दिये जाये।

(६) यौगिक शब्दों का पृथक्-पृथक् निर्देश हो।

(७) क्त्वा,, तु के रूप धातुओं में दिया जाये।

स्थल के अनुरूप इसमें शब्दों के हिन्दी अर्थ की योजना करनी अवशिष्ट है, जिसके हो जाने पर कोश पूरा हो सकेगा।

इसमें सदेह नहीं कि सबसे पहले पाँचों ग्रंथों का एक प्रामाणिक शुद्ध संस्करण तैयार हो जाना चाहिए। मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद में फिर कोई दिक्कत नहीं, वह एक तरह से तो प्रायः तैयार जमा ही है—कही-कही कुछ शब्द परिवर्तन की शायद जरूरत पड़े। अंग्रेजी अनुवाद उसी के आधार पर हो जावेगा। प्रामाणिक संस्करण की व्यवस्था का काम डॉ० साहब को स्वयं अपने हाथ में लेना चाहिए और उसकी चर्चा को शीघ्र ही एक दो पत्रों में चला कर विद्वानों को उसमें लगाना चाहिए। फिर ५ या ७ विद्वानों की एक समिति बैठकर उसका अंतिम निर्णय कर देगी, और तब वारमेडाम्बिर ट्रस्ट की ग्रंथ माला में 'समन्तभद्रभारतीकोश' को भी पूरा करके प्रकाश में ले आया जायेगा।

अब रही 'समन्तभद्र' नामिक की बात, जो स्मारक की योजना-अपेक्षा एक बहुत छोटा कार्य है, उसका उक्त कार्यों की दृष्टि से स्थगित रखना किसी तरह भी उचित नहीं है। उसे तो शीघ्र से शीघ्र निकालना चाहिए। वह पत्र ही विद्वानों तथा अन्य जनों में चेतना उत्पन्न करेगा और उन्हें अपने-अपने कर्तव्य पालन में जागरूक एवं सावधान बनायेगा। उसके विषय में विद्वत्परिपद् के अध्यक्ष को जो मैंने पत्र लिखा है उसमें अपनी इच्छा को व्यक्त करते हुए मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्वत्परिपद् पूर्णतत्परता के साथ इस पत्र को शीघ्र निकालने की कृपा करे, पत्र की फार्म सख्या ४ से कम न हो, जिसके प्रायः डाई फार्मों में स्वामीजी के विचारों का विवेचन, व्याख्यान, स्पष्टीकरण, रहस्योद्घाटन एवं महत्व-व्यापन रहे। ऐसे खोजपूर्ण लेख भी रहे जो स्वामी जी की जीवनी से सम्बन्ध रखते हों और उस पर अच्छा

प्रकाश डालते हों। पत्र का कागज अच्छी क्वालिटी का सफेद हो, ३२ पौण्ड से कम किस्म का न हो और उसमें छपाई की शुद्धता एवं सफाई का पूरा ध्यान रखा जाये, जिससे पत्र आकर्षक तथा रुचिकर हो। पत्र को समाज के भगड़े-टटो से अलग रखा जाये, ऐसा कोई लेख न छपा जाये जो व्यर्थ का बलेशकारक, वैमनस्योत्पादक, कषाय-वर्धक अथवा व्यक्तिगत आक्षेपपरक हो और वातावरण को दूषित तथा अशान्त बनाता हो : पत्र को जो भी पढ़े उसे शान्ति मिले और शुद्ध ज्ञान का लाभ हो, ऐसी दृष्टि बराबर रखी जानी चाहिए। ऐसे पत्र को शीघ्र निकालने के लिए मैं विद्वत्परिपद् को दस हजार देना चाहता हूँ। इस रकम की तीन वर्ष के घाटे के रूप में समझा जावे, जो किसी तरह भी कम नहीं है। कम से कम तीन वर्ष उक्त पत्र को जरूर निकाला जायेगा ऐसा वृद्ध सकल्प करके ही कार्य को हाथ में लेना चाहिए, शेष पत्र के

नफे नुकसान की मालिक विद्वत्परिपद् होगी—मेरा उससे कोई संबंध नहीं रहेगा।

ऐसे पत्र की समाज में आज कितनी बड़ी आवश्यकता है। इसे समाज के सच्चे हिरो भले प्रकार समझ सकते हैं और उसमें यथाशक्ति अपना-अपना सहयोग देने के लिए तत्पर हो सकते हैं। दो चार सक्रिय-सेवाभावी प्रेरकों की जरूरत है, जिन्हें शीघ्र ही स्वकर्तव्य समझकर आगे आना चाहिए। फिर पत्र को घाटे का भी कभी मुंह नहीं देखना पड़ेगा और वह समाज का एक आदर्श पत्र बन कर रहेगा।

मुख्तार सा० नहीं रहे। उनके बाद उनके अनुशसकों तथा आत्मीय जनो का यह पुनीत दायित्व हो जाता है कि उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये तथा परिकल्पित शोध अनुशीलन कार्य को आगे बढ़ाए। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—:०:—

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार

डा० कस्तूरचन्द कासलोवाल एम. ए., पी-एच. डी.

आदरणीय मुख्तार सा० ने जैन साहित्य की ७० से भी अधिक वर्षों तक सेवा करके समाज की तीन पीढ़ियों को इस और कार्य करने के लिये सदैव प्रोत्साहित किया। मुख्तार सा० के इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप आज हमें जैन साहित्य पर कार्य करने वाले विद्वान् दिखलाई देते हैं। उन्होंने खोज करने की प्रणाली को विद्वानो के समक्ष उपस्थित किया और प्रमाणों के आधार पर ही किसी भी परम्परा को स्वीकार करने का आग्रह किया। मैंने साहित्यिक क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया था जब मुख्तार सा० ७० वर्ष की आयु को पार कर चुके थे। उस समय जैन साहित्य के क्षेत्र में सर्वश्री नाथूराम जी प्रेमी, मुख्तार सा० डा० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जी जैन के नाम विशेष क्रम में लिये जाते थे। डा० नेमिचन्द जी शास्त्री, डा० ज्योतिप्रसाद जी, पं० परमानन्द जी शास्त्री, एवं पंडित

कैलाशचन्द्र श्री शास्त्री आदि कुछ और विद्वानों के नाम भी सुनाई देते थे और समाज को इन विद्वानों की विद्वत्ता एवं कार्य पर पूरा भरोसा था। सचमुच इन सब विद्वानो के अनवरत परिश्रम एवं महत्वपूर्ण उपलब्धियों के कारण ही गत ६० वर्षों में जैन साहित्य पर कुछ कार्य हो सका है।

मुख्तार सा० से मेरा साक्षात्कार सर्व प्रथम जयपुर में हुआ। उस समय वे स्व० बाबू छोटेलाल जी के साथ यहाँ आये थे। मेरी दो पुस्तके उस समय “आमेर शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची” एवं “प्रशस्ति संग्रह” निकल चुकी थी। पुस्तकों पर जो उनकी सम्मति मिली थी वह मेरे लिये मार्गदर्शन स्वरूप थी। यद्यपि उस समय वे ७० वर्ष से भी अधिक थे लेकिन उनका कार्य करने का उत्साह युवकों जैसा था। मुझे याद है कि लश्कर के दि० जैन

मन्दिर में वे वहाँ के शास्त्र भण्डार को देखने के लिये प्रति दिन ४-५ घण्टे जम कर बैठते थे। वह गर्मियों का समय था। शास्त्र भण्डार वाले तिवारे में घूँप भी आती थी लेकिन वे इसकी परवाह किये बिना लगातार बैठकर शास्त्रों को देखते रहते। साथ ही में उनकी आवश्यक प्रणालियाँ आदि भी नोट करते जाते थे। वे दूसरों के कार्य में कम विश्वास करते थे इसलिए जब तक वे स्वयं किसी ग्रन्थ को नहीं देख लेते तब तक किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते थे।

इसके बाद तो उनसे दिल्ली में कितनी ही बार भेंट हुई। जब भी दिल्ली जाता तब वीर सेवा मन्दिर में ही ठहरता और वही उनके दर्शन हो जाते। सन् १९५६ में दिल्ली में आयोजित जैन सेमिनार के अवसर पर तथा इसी तरह के अन्य अवसरों पर उन्हें पास से देखने का अवसर मिला। उनकी कार्य करने की पद्धति को देखा। वे सारा कार्य स्वयं ही करते थे लेकिन प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक ८५ वर्ष की अवस्था तक भी वे सतत साहित्य सेवा में लगे रहते।

सन् १९५९ में उन्होंने अजमेर के भट्टारकजी के भंडार को देखा और उस भण्डार में से कितनी ही नवीन कृतियों की खोज की। १० परमानन्द जी भी उनके साथ थे। इन दोनों विद्वानों की प्रगाढ़ जोड़ी ने साहित्यिक क्षेत्र में कितने ही महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन किया है। जब वे अजमेर से वापिस लौटे तो दो दिन के लिए जयपुर भी ठहरे और शाम को ही मेरे घर को अपने चरणों से पावन कर दिया। मेरे लिये ऐसे साहित्यिक महापुरुष का आतिथ्य सौभाग्य का विषय था। प्रातःकालीन भोजन के अतिरिक्त शाम को वे केवल दूध लेते अथवा साधारण-सा फलाहार करते थे। धोती, कमीज एवं टोपी लगाये तथा बेत हाथ में लिये रहते थे और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो ज्ञान की साक्षात्मूर्ति ही अपनी पावन रज से नगर को पवित्र करने आई हो।

मुख्तार सा० से अन्तिम भेंट जनवरी १९६५ में हुई जब मैं नेशनल म्यूजियम से कुछ ग्रन्थ लेने दिल्ली गया था। उस समय भी मुख्तार सा० अपने साहित्यिक मिशन में पूर्ण दत्तचित्त थे और विभिन्न जैनाचार्यों के समय निर्धारण में लगे हुए थे। उनमें वही आत्मीयता एवं अपने काम के प्रति लगन तथा उत्साह था। यद्यपि वीर सेवा मन्दिर से उनका विशेष सम्बन्ध था लेकिन इससे उनकी साहित्यिक सेवा में जरा भी अन्तर नहीं आया था।

वास्तव में मुख्तार सा० साहित्य की जितनी भी सेवा कर सके, वह इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों में सदा अंकित रहेगी। अनेकान्त जैसे खोज पूर्ण पत्र का उन्होंने वर्षों तक सम्पादन किया। और उसके माध्यम से जैन इतिहास को नई दिशा प्रदान की। इतिहास निर्माण के अतिरिक्त वे पत्रके समाजसेवी एवं सुधारक थे। शिथिलाचार का उन्होंने अपने जीवन में कभी पोषण नहीं किया तथा अपने लेखों एवं पुस्तकों के द्वारा देश एवं समाज में नव चेतना जाग्रत की आपकी एक 'मेरी भावना' ही उन्हें सैकड़ों वर्षों तक जीवित रखने में पर्याप्त है।

आज सारा समाज आदरणीय मुख्तार सा० की सेवाओं के प्रति कृतज्ञ है लेकिन हमें इस बात का सदा ही पश्चाताप रहेगा कि हम उनका कोई शोभा सम्मान न कर सके, जिसमें उन्हें अपनी सेवाओं का समाज द्वारा मूल्यांकन का आभास होता। वीर सेवा मन्दिर एवं अनेकान्त पत्र उनकी सेवाओं की उज्ज्वल तस्वीर है। मुख्तार सा० के निधन के पश्चात् ही हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि उनकी स्मृति में किसी ऐसी ग्रन्थमाला का शुभारम्भ करे जिससे जैनाचार्यों की साहित्य सेवा का प्रत्येक भारतीय को सही मूल्यांकन मिल सके। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाजलि होगी। और उनका सच्चा स्मारक होगा। अनेकान्त पत्र में उनका संस्थापक के रूप में नाम रहना चाहिए।

इतिहास के एक अध्याय का लोप

प्रो० भागचन्द्र जैन 'भागेंद्रु' एम. ए., शास्त्री

दि० २२ दिसम्बर ६८ रविवार को भारतीय वाङ्मय और इतिहास के उस प्रदीप्त रत्न की जीवन ज्योति सदैव के लिए शान्त हो गई, जिसकी आभा समाज, धर्म, साहित्य, दर्शन और राष्ट्र का दिग्-दिगन्त मुखरित था। इसमें सरस्वती और लक्ष्मी का अद्भुत समन्वय था। इसके निधन से सभी का दुःखी होना स्वाभाविक है।

विक्रमानन्द १८३४ की मगसिर सुदी ११ का दिन घन्य है जब सहारन पुर जिले के सरसावा नगर में स्व० चौ० नत्थमल जी (जन्म १ मई १८४६ और मृत्यु २० नवंबर १९१६) और श्रीमती भोई देवी का गृह उस बालक जुगलकिशोर के जन्म से जगमगा उठा था, जो आगे चलकर "युगवीर" कहलाया। प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू-फारसी माध्यम से ५ वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही प्रारम्भ हो गई। ये बहुत कुशाग्रबुद्धि, लगनशील और परिश्रमी छात्र थे। इनके साथी और गुरुजन—सभी इनकी प्रतिभा से प्रभावित थे। उस समय की प्रथा के अनुसार इनका विवाह १३-१४ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। विवाह के पश्चात् आपने जैनधर्म दर्शन के अतिरिक्त हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का अध्ययन बड़ी रुचि के साथ योग्यतापूर्वक किया। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, आध्यत्मिक और राष्ट्रीय गतिविधियों में आरम्भ से ही आपको गहरी दिलचस्पी रही और वह क्रमशः पल्लवित, पुष्पित और फलीभूत हुई।

धुन के पत्रके, लगन और सूझबूझ के धनी, विचारों में क्रांत छिपाये, कर्मठ बालक जुगलकिशोर के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश—आठ मई १८९६ के "जैनगजट" में प्रकाशित एक निबंध से होता है। तब से उनकी लेखनी उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक अथक और अविरल गति से निरन्तर प्रवहित रहकर अनेक निबंधों, कविताओं, सम्पादकीय टिप्पणियों अनूदित-ग्रंथों, इतिहास और समीक्षा का प्रणयन करती रही। उनकी लेखनी से प्रसूत कतिपय महत्वपूर्ण ग्रंथ निम्नाङ्कित हैं :—

(१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
(२) जैन आचार्यों का शासन भेद, (३) ग्रन्थ परीक्षा

(चार भाग), (४) युगवीर निबन्धावली (दो खण्ड), (५) युगवीर भारती, (६) स्वयम्भूस्तोत्र (७) समीचीन धर्मशास्त्र, (८) अध्यात्म रहस्य, (९) युक्त्यनुशासन, (१०) अन्तर्मीमांसा, (११) तत्त्वानुशासन, (१२) योग-सार प्राभूत, (पुरातन जैन वाक्य-सूची, (१४) जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह (प्रथम भाग) (१५) कल्याण कल्पद्रुमादि।

पं० जुगकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' को निस्पृह किन्तु निष्ठावान् सामाजिक कार्यकर्ता, कुशल कवि, निपुण अनुवादक, समर्थ समीक्षक, विचारवान् लेखक और सफल सम्पादक के रूप में सदैव याद किया जाता रहेगा।

आपने अनेक वर्षों तक 'जैन गजट' "जैन हितैषी" और "अनेकान्त" का सम्पादन बड़ी लगन और योग्यतापूर्वक किया। सम्पादक के दायित्व का निर्वहण निर्भीकता के साथ किया। मितव्ययिता और सादरी के साथ उदारता की वे बेजोड़ नजीर थे। उनकी प्रतिभा और अध्यवसाय से जैन साहित्य और इतिहास की अनेक उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ गई हैं। वे अपने आदर्श और योजनाएँ 'अनेकान्त' तथा समन्तभद्र आश्रम' (वीर सेवा मन्दिर) के रूप में फलीभूत देखना चाहते थे। इन दोनों के विकास उत्कर्ष के लिए जैसी आतुरता मुख्तार जी में थी वैसी अन्यत्र प्रायः नहीं दिखाई पड़ती।

वे जीवन भर साधक और चिन्तक रहे। शोध-खोज और समीक्षा आपके जीवन का अभिन्न अंग था। भट्टारकों की अनगल प्रवृत्तियाँ आपके अथक परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ही 'ग्रन्थ परीक्षा' (४ भाग) के माध्यम से सर्वविदित हो सकी हैं।

आज के अनुसन्धान जगत में जैन दर्शन और साहित्य सम्बन्धी कोई भी गवेषणा और विवेचना मुख्तार जी के विचारों की 'पुट' के बिना प्रायः अधूरी मानी जाती है। आचार्य समन्तभद्र और उनकी भारती के सम्बन्ध में मुख्तार जी विशिष्ट ज्ञाता और अधिकारी विद्वान् के रूप में समादृत हुए हैं। उन्होंने स्वामी समन्तभद्र की भारती का बहुत सुन्दर सम्पादन और प्रकाशन कराया है। आचार्य

समन्तभद्र के मूल्याङ्कन और भट्टारकों की यथार्थ स्थिति की प्रस्तुति के कारण भारतीय दर्शन और जैन जगत् उन्हें और उनकी सत्यगवेषणा की प्रवृत्ति को कभी नहीं भूल सकता। वे बहुज्ञ, बहुश्रुत और बहुभाषाविद् तो थे ही, मेरे विचार में वे व्यक्ति से बढ़कर स्वयं में एक आदर्श और मूर्तमान संस्था थे। उनकी खोज में पौरातन्य और पाश्चात्य-दोनों देशों की समीक्षा पद्धति का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। काश ! समय के साथ हम उनका समुचित मूल्याङ्कन कर पाते। उनके निघन से समाज, संस्कृत और इतिहास की महान् क्षाति हुई है। उनके

निघन से इतिहास का एक अध्याय लुप्त हो गया है उन्हें उनकी महान् साधना और कार्यों के प्रति मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित है। जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि मुख्तार श्री की दिवंगत आत्मा उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करे।

वर्णी स्नातक परिषद् ने अपनी दि० २६-१२-६८ की कार्यकारिणी समिति की बैठक में (अतिशय क्षेत्र कोनी, जबलपुर में डा० हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में निष्पन्न) सर्वसम्मति से प० जुगलकिशोर जी मुख्तार पर शोध कार्य प्रस्तावित कर मन्ची श्रद्धा-ञ्जलि अर्पित करने का उपक्रम किया है। ●

युग-युग तक युग गायेगा, 'युगवीर' कहानी।



किया दूध का दूध और पानी का पानी ॥
 आई एक हिलोर सभी डगमगा गये थे,
 नहीं अज्ञ की बात विज्ञ सकपका गये थे।
 धर्म-कर्म को झाड़म्बर से, खूब सजाया,
 रचे ग्रन्थ पर ग्रन्थ, लिखा जो जी में आया।
 पर सत्य पारखी, तेरी सत्य कसीटी ही तो,
 बन पाई थी सत्य-स्वरूपा ग्रन्थ निशानी ॥
 किया दूध का दूध और पानी का पानी ॥
 हे हे उन्नत भाल, भाल उन्नत कर डाला,
 सूक्ष्म दृष्टि से खोज-खोज इतिहास निकाला।
 नहीं लेखनी बिकी झुकी लक्ष्मी के आगे,
 तुमको पाकर भाग्य सरस्वती के थे जागे।
 हे सबाखार की मूर्ति, मनुजता के अवतारी,
 समन्तभद्र के भक्त और उनके थे ध्यानी ॥
 युग-युग तक युग गायेगा, 'युगवीर' कहानी ॥
 ऊँच-नीच के भेदभाव की गाँठें खोलो,
 प्रेम-भाव से रहो, बढ़ो अमृत रस धोलो।
 सबके सुख में सुख तुमने अपना दर्शाया,
 धर्म-कर्म से ऊपर, मानव धर्म बताया।
 गुंज रही है आज हृदय में तेरी वाणी,
 'मेरी भावना' के भावों की अमर कहानी।
 किया दूध का दूध और पानी का पानी।
 युग-युग तक युग गायेगा 'युगवीर' कहानी।

परिशिष्ट श्रद्धाञ्जलि

डॉ० दरबारोलाल कोठिया

श्रद्धेय बाबू जी (आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार) ने जीवन भर अद्भुत समाज और साहित्य की सेवा की है। वे आरम्भ से समाज सुधारक, उन्नायक और स्वयं अर्जित विद्यावान् थे। मातृभूमि से उन्हें असाधारण अनु-राग था। जब दिल्ली में समन्तभद्राश्रम सफल न हुआ तो अपने जन्म स्थान सरसावा में 'वीर-सेवा-मन्दिर' के नाम से नई साहित्य-संस्था को जन्म दिया और उसके लिए एक ट्रस्ट की भी योजना कर दी। इस साहित्य-संस्था के द्वारा उन्होंने जो संस्कृति की सेवा की है वह आश्चर्य-जनक है। उन्होंने इतना लिखा है कि व्यास के महाभारत से भी अधिक परिमाण में है।

बाबू जी में जो कमी थी वह यह कि उनमें मिलन-सारता कम थी, उदार भी कम थे और विश्वास भी कम

करते थे। इन दो-तीन बातों के कारण ही उनकी लोक-प्रियता और लोकाकर्षण अवरुद्ध रहे। अन्यथा उनकी सेवा साधना, तपस्या, कर्तव्यनिष्ठा, तीव्र लगन और जिनवाणी की भक्ति जितनी थी, उनसे उन्हें सर्वातिशायी सम्मान और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी। आज शोध-खोज की प्रेरणा देने वाला और निष्ठावान् साहित्यकार उन जैसा दिखलायी नहीं पड़ता। ६२ वर्ष तक श्रुतसेवा में संलग्न यह तपस्वी हम लोगों से दूर ओझल हो गया।

समाज उनकी अमर स्मृति रखने के लिए कोई ठोस कदम उठा सके तो वह उनके ऋण से कुछ उऋण भी हो सकेगी। हम उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि प्रकट करते हुए उनके लिए शान्ति लाभ की कामना करते हैं। वे हमें अपने प्रशस्त मार्ग पर चलते रहने की प्रेरणा देते रहे।

—:०:—

भावभीनी सुमनाञ्जलि

बाबू कपूरचन्द बरैया एम. ए.

गुरु गोपालदास जी को जहाँ अनेक सैद्धान्तिक विद्वानों के सृजन करने का सौभाग्य प्राप्त है वहाँ वाङ्मयाचार्य पं० जुगलकिशोर मुख्तार को कतिपय शोधार्थी विद्वानों को पैदा करने का गौरव प्राप्त है। पंडित जी के समय में साहित्यिक शोध खोज का कार्य प्रायः नगण्य-सा था। बहुत कम विद्वानों का भुकाव इस ओर था, किन्तु मुख्तार सा० ने न केवल अपनी साहित्यिक प्रतिभा से इस कमी को पूरा किया बल्कि भारत की राजधानी दिल्ली में 'वीर सेवा मन्दिर' की स्थापना करके 'अनेकान्त' पत्र द्वारा जैन पुरातत्त्व इतिहास और साहित्य की विपुल सामग्री को

प्रकाशित करने में अपूर्व योगदान दिया। अब तो इस कार्य का क्षेत्र जैनसमाज में इतना बड़-चढ़ गया है कि अनेक जैन व जैनतर विद्वान् शोध ग्रन्थ लिखकर विश्व-विद्यालयों से उपाधियाँ प्राप्त करने लगे हैं। निस्सन्देह इसका बहुत कुछ श्रेय मुख्तार सा० को है जिनकी कृतियों से प्रेरणा पाकर आज भी अनेक विद्वान इस कार्य में सलग्न दीख पड़ते हैं।

मुख्तार सा० क्या थे? इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक श्रेयस्कर होगा कि वे क्या नहीं थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा से जैन साहित्य के जिस क्षेत्र को स्पर्श किया,

उसमे अपनी कलम चलाकर उस विषय का रहस्योद्घाटन करके ही पीछा छोड़ा। यह सचमुच लेखनी के धनी थे। बहुत कम विद्वान ऐसे होते हैं जो साहित्य के गद्य और पद्य दोनों में समान अधिकार रखते हैं। किन्तु मुख्तार सा० की यह विशेषता उनके ग्रन्थों में भली प्रकार परिलक्षित होती है। 'युगवीर निबन्धावली' और 'ग्रन्थ परीक्षा' जहाँ उनके गद्य अधिकार को प्रकट करते हैं वहाँ 'युगवीर भारती' से उनकी काव्य कुशलता का भरपूर परिचय भी प्राप्त हो जाता है। 'मेरी भावना' का सृजन करके तो वह काव्य क्षेत्र में अग्रसर हो गये। यह उनकी ख्याति-प्राप्त और मौलिक रचना है जो लाखों की सख्या में वितरीण होकर लोगों के हृदय का कण्ठहार बन चुकी है। इस गीत का 'राष्ट्रीय गान' के रूप में उदित होना इसकी सर्वोत्कृष्ट प्रसिद्धि का परिचायक है, फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ प्रयत्न होना शेष है। 'मंगल प्रभात' से प्रत्येक भारतीय उसे कण्ठस्थ करे, यह 'मेरी भावना' है।

पंडित जी जैन इतिहास के अपूर्व विद्वान रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जेनाचार्य और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अपने शोध प्रबन्धों द्वारा लम्बे अर्से से चली आ रहे कितनी ही भूल-भ्रान्तियों का निरसन किया। आ विद्यानन्द और पात्रकेसरी की भिन्नता दिखाकर प्रसिद्ध 'पञ्चाध्यायी ग्रन्थ को प० राजमल्ल विरचित बतलाकर आचार्य सिद्धमेन को दिगम्बर आम्नाय का घोषित कर अपने ऐतिहासिक पर्यवेक्षण का अद्भुत परिचय दिया। 'वीरजासन जयन्ती' को प्राचीन ग्रन्थों के आधार से ढूँढ़ निकालना, वह उनकी ही सूझ-बूझ का परिणाम है। भट्टारक नामधारी अनेक ग्रन्थों की कृत्रिमता प्रदर्शित करके उन्होंने दिगम्बर परम्परा की रक्षा का जो सुदृढ़ प्रयत्न किया वह जैनसमाज में युग-युगो तक चिरस्मरणीय रहेगा।

अपने अन्तिम जीवन में वह भाष्यकार बन गये थे। 'योगसार प्राभृत' यह उनकी अन्तिम कृति है। आचार्य समन्तभद्र के वे परमभक्त थे और यह चाहते थे कि दिल्ली जैसे स्थानमें 'समन्तभद्राश्रम' की स्थापना हो। इसके लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने को भी तत्पर थे किन्तु उनकी यह सद्भिलाषा कार्यान्वित न हो पाई और ६२ वर्ष की आयु पाकर 'एटा' में दि० २२-१२-६६ को उनका निधन हो गया। जिस व्यक्ति ने समाज से कुछ न लिया बल्कि अपनी सम्पत्ति का भी ट्रस्ट बनाकर समाज और धर्म की अनन्य निष्ठा से एक अविचल योगी की तरह जीवनपर्यन्त सेवा की, उसका समाज से उठ जाना एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

हमारी भावना है कि 'वीर सेवा मन्दिर' में उनके कार्योंके ही अनुरूप एक प्रस्तर या धातुकी प्रतिमा स्थापित की जाय, साथ ही उसे एक शोध संस्थान का रूप दिया जाय, इसी आशय के साथ हम स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति अपनी भावभीनी सुमनाञ्जलि अर्पित करते हैं।

दौलतराम मित्र :

ता० २२-१२-६६ को आपका ६२ वर्ष की उम्र में एटा में आपके भतीजे डा० श्री चंद जी सिंघल के पास देहावसान हो गया। आप बेजोड़ विद्वान् थे। गहरे, ऊँचे, स्वतंत्र, निर्भीक विचारक थे। मेरा आपके साथ पत्र व्यवहार तो लंबे समय से था, परन्तु साक्षात्कार तो सिर्फ एक बार अभी पिछले दिनों जब वे इन्दौर आये थे, तब हुआ था। आपका वियोग खटक रहा है। यही मेरी आप के प्रति श्रद्धाजलि है। मैं श्री डा० श्रीचन्द जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने आपकी पर्याप्त सेवा सुश्रुषा की।

—:०:—

“मर गये जग में मनुष्य जो मर गये अपने लिए ।
वे अमर जग में हुए जो मर गये जग के लिए ।
जो उपजता सो बिनशता यह जगत व्यवहार है ।
पर वेश-जाति-धर्म हित मरना उसी का सार है ॥

संस्मरण

दोलतराम 'मित्र'

(१)

मैंने उनसे पत्र व्यवहार द्वारा कुछ बातें सीखी उनसे मे एक यह है—

एक बार मेने पं० आशाधर जी पर यह आरोप लगाया था कि उन्होंने स्त्रियों के धर्म-कर्म के बारे में 'मनु' के सिद्धान्तों का अनुकरण किया। जो कि जैन सिद्धान्तों से मेल नहीं खाता है। जैन सिद्धान्त यह है कि जो प्राणी जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा फल मिलेगा। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ। ऐसा नहीं हो सकता कि अशुभ कर्म का फल शुभ मिलेगा। किन्तु मनु—इसके विपरीत कहते हैं—

“नास्ति स्त्रीणां पृथक् यत्नो न व्रतं नाप्य पोषिताः ।

पति सुश्रूयते येन तेन स्वर्गं महीयते ॥

[मनुस्मृति ५-१५५]

बम इसी का अनुकरण पं० आशाधर जी ने भी कर डाला कहते हैं—

“नित्यं भर्तृ मनीभूय, वर्तितव्यं कुलस्त्रिया ।

धर्मश्रीशर्मकोत्थैककेतनं हि पतिव्रताः ॥”

[सा. ध. ३-२७]

इसकी संस्कृत टीका—

“वर्तितव्यं मनोवाक्कायकर्मभिराचरितव्यं । क्या, कुलस्त्रिया—कुलीन नार्या । कि कृत्वा, भर्तृ मनीभूय अभर्तृ-मना भर्तृ मना भूत्वा पति चिन्तानुवर्तने नैव चिन्त्य वाच्य चेष्टितव्यं च । कथं नित्य-सर्वदा । हि यस्मात् । भवन्ति । काः पतिव्रताः पति सेवक व्रत प्रतिज्ञा शुभकर्मप्रवृत्तिर्वा यासा ता इत्यर्थः ।”

[शुभ कर्म पुण्य कर्म है है—भावपाट्ट ८३ और पुण्य का फल स्वर्ग-परमात्मा प्रकाश १८८]

पं० आशाधर जी का यह—अनुकरण बेमेल नहीं तो क्या है ? क्योंकि यह व्रत के लक्षणों के विरुद्ध पड़ता है ।

[देखो—सा. ध. २-८० तथा र. क. आ. ८६]

अब सोचिए कि यदि पति का अशुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति के अनुसार पत्नी प्रवृत्ति करे—याने पति यदि कल अभक्ष भोजी हो जाय तो पत्नी भी अभक्ष भोजी हो जाना चाहिए । और उसका फल पत्नी को मिलेगा शुभ-पुण्य । भला यह भी कोई व्रत है । महात्मा गांधी जी के

शब्दों में कहे तो—“ऐसी सैधव्य दशा से वैधव्य दशा क्या बुरी ? ।”

मेरे उक्त आरोप पर मुस्तार सा० ने मुझे लिखा—
सिखाया—कि आपका आरोप समुचित नहीं है । शब्दार्थ प्रकरण सगत (भावानुसार) लगाना चाहिए । सागार धर्माश्रुत में प्रकरण सम्यग्दृष्टि आवश्यक का है । पं० आशाधर ने सम्यग्दृष्टि पत्नी को लक्ष में लेकर पत्नी को पति के विचार उच्चार आचार का अनुसरण करने की जो सलाह दी है वह, पत्नी के लिए अहितकर कैसे हो सकती है ?—आशा है आप मेरे विचार से सहमत हो जाएंगे ।

कितनी बढ़िया सीख है !

(२)

एक कड़क संस्मरण

ता० ४-१-६४ को मुनि श्री विद्यानन्द जी ने एक पुस्तक—“दि. जैन साहित्य में विकार” लिखी जिसमें मुस्तार साहब की लिखी रत्नकरण्ड आवाकाचार की टीका पर कुछ आक्षेप है । उसके उत्तर में मुस्तार साहब ने “नये मुनि विद्यानन्द जी को सूझ बूझ” यह पुस्तक ता० १३-७-६४ को लिखी जो कि सितंबर १९६४ में प्रकाशित हुई । जिसमें मुनि जी को बहुत कुछ भला बुरा कहा गया । इस पुस्तक की एक प्रति मेरे पास भी सम्मत्यर्थ आई थी । मैंने सम्मति में यह लिख भेजा कि—मुनि श्री विद्यानन्द जी को और आप की दोनों पुस्तकें पढ़कर मुझे तो दुःख ही हुआ है । पहिले जब मैंने मुनिजी की पुस्तक पढ़ी तभी मेरे मन में यह विचार आया था कि मुनि जी ने मुस्तार सा० की आलोचना करके नाहक बरं के छत्ते में हाथ डाला ।

मेरी इस सम्मति पर उन्हें कुछ बुरा लगा और उन्होंने मुझे लिखा कि—“आपने मुझे जिस रूप में समझा, उसके लिए धन्यवाद !” तब मैंने उनसे माफी मांगी । जिसके उत्तर में मुस्तार साहब का एक लंबा चौड़ा तीन पृष्ठ का पत्र नंबर २१६२ ता० १८-११-६४ का इस विषय की ग्रथ से इति तक की हकीकत वाला आया । जिसमें उन्होंने अपने को निर्दोष बताया । और चाहा कि—“आप जैसे

विद्वानों को भी अब मुनि जी से प्रायश्चित्त की मांगनी करनी चाहिए।”

जैसा मुख्तार सा० ने चाहा वैसा तो नहीं किन्तु हाँ मुनिचर्या पर समालोचनात्मक एक लेख मैंने जैन सन्देश ता० १६-५-६५ में अवश्य लिखा। मुख्तार सा० के उक्त पत्र का सारांश डा० श्रीचन्द जी एटा (मुख्तार सा० के भतीजे) की लिखी पुस्तक “मेरा नम्र निवेदन” (ता० २४-३-६५) में पृष्ठ ६-७ पर अंकित है। [फिर भी वह पत्र (असल) मैं साथ में भेज रहा हूँ।]

अच्छा होता, अब कि मुनि जी मुख्तार साहब के समाधान में प्रकारांतर से आलोचकों की प्रशंसा में एक लेख ता० १६-७-६४ को जैन सन्देश में प्रकाशित कर चुके थे। तब सितंबर में मुख्तार सा० को “नये मुनि

विद्यानन्द जी की सूक्ष्मबुद्धि” पुस्तक प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस नहीं होनी चाहिए थी। अस्तु जो होना था सो हो गया।

(३) संस्मरण

अभी इसी सन् १९६६ में मैंने उन्हें लिखा था कि आप के लिखे हुए जो—“सर्वोदय तीर्थ के कुछ सूत्र” नामक जो १२० सूत्र हैं, उनमें कुछ घटा बढ़ी करके उसे ऐसी पुस्तक बना दें कि जिससे—“जैन दर्शन में मुक्ति मार्ग तथा तत् सम्बन्धी विश्व द्रव्य व्यवस्था” का वर्णन आ जाय और उसका नाम “जिन गीता” रख दिया जाय। उत्तर में उन्होंने लिखा था कि—दूसरे काम बहुत से हैं फिर भी मैं ऐसा भी सोच रहा हूँ।

किन्तु शायद वे यह काम न कर सके होंगे ? ●

वीरसेवामन्दिर में आचार्य जुगलकिशोर मु० सा० के निधन पर शोकसभा

देश के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं वयोवृद्ध ऐतिहासिक विद्वान् प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के निधन पर वीर-सेवामन्दिर, राजधानी के साहित्यिक, सामाजिक एवं जैन समाज ने गहरा दुःख प्रकट किया।

मुख्तार साहब ने इतिहास और साहित्य का जो महत्वपूर्ण शोध कार्य किया वह महान है। उनका सारा ही जीवन जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार और भगवान् महावीर की वाणी को देश विदेश में पहुँचाने में लगा रहा। वीर-सेवामन्दिर उनकी शोध खोजका अनुपम कीर्ति स्तंभ है जो आज भी विचार-धारा को पुष्ट करने में लगा हुआ है।

मुख्तार साहब के प्रति अपनी श्रद्धा भावना प्रगट करने के लिए वीर सेवामन्दिर की ओर से श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में आयोजित शोक सभा में दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिकों, वीर सेवामन्दिर के सचालक तथा सदस्य गणों और जैन धर्मावलम्बियों ने दिवंगत

आत्मा के प्रति भावभीनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की।

सबसे पहले मंत्री प्रेमचन्द जैन कश्मीर बालो ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके कार्यों की सराहना की। और उनके साहित्य को प्रामाणिक बतलाया।

सुप्रसिद्ध विचारक श्री जैनेन्द्र कुमारजी ने कहा कि स्वर्गीय मुख्तार सा० की सेवाएं अविस्मरणीय हैं। उन्होंने जो सेवाएँ की हैं उनसे समाज उद्धृष्ट नहीं हो सकता। भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री बाबू लक्ष्मीचन्द जी ने कहा कि उन्होंने जो सेवा की है वह महान है।

श्री यशपालजी ने कहा कि मुख्तार सा० के निधन से जो क्षति हुई है वह पूरी नहीं हो सकती। आपने सुझाव दिया कि मुख्तार सा० का प्रामाणिक जीवन चरित्र प्रकाशित किया जाय और अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश में लाया जाय।

परमानन्द शास्त्री ने कहा कि मुख्तार सा० का

निधन जैन समाज का दुर्भाग्य है। उन जैसा साहित्य महारथी होना मुश्किल है। उनकी सतत साहित्य-सेवा जैन साहित्य को अमूल्य देन है। उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है अनुभव किया है और उनके निर्देशानुसार कार्य किया है। तथा उनके साथ बैठकर काम करने का मुझे वर्षों अवसर मिला है। उन जैसा प्रतिभा सम्पन्न शोधक अनुवादक और सम्पादक होना वास्तव में कठिन है। संस्थापित वीर सेवामन्दिर और अनेकान्त पत्र दोनों ही उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं, और वही उनके स्मारक हैं, यद्यपि उनकी कृतियाँ जब तक संसार में रहेगी उनका नाम तब तक अमर रहेगा, मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

डा० गोकुलचन्द्र जैन ने कहा कि मुख्तार सा० जिस आस्था दृढ़ता और उत्साह के साथ अन्त समय तक शोध-खोज और सम्पादन के कार्यों में लगे रहे वह नई पुरानी सभी पीढ़ियों के लिए प्रेरणाप्रद है। इस अवसर पर ला० राजकृष्ण, जैन राय सा. ला. उत्पतराय, बा. माई दयाल जैन, ला० इयामलालजी ठेकेदार और बाबू महताब सिंहजी आदि ने भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

अध्यक्ष साहू शान्तिप्रसादजी ने अपने भाषण में कहा कि मुख्तार सा० स्वयं एक संस्था थे। वे बड़े सुधारक और विद्वान थे। साहूजी ने मुख्तार सा० की शोध और अनुसन्धान कार्य की सराहना करते हुए कहा कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा जारी रखते हुए बहुत बड़ा कार्य किया है।

आपने कहा कि जैन समाज में पुनर्जागरण और सुधार का जो आन्दोलन हुआ तथा महात्मा भगवानदीन

जी, ब्र० शीतलप्रसाद जी, श्री अर्जुनलाल जी सेठी, बाबू ज्योतिप्रसाद जी आदि ने जो सुधारवादी विचार दिये उनको मुख्तार सा० ने शास्त्रीय प्रमाण देकर पुष्ट किया जिससे सुधारवादी दृष्टिकोण को बल मिला।

साहूजी ने कहा कि वीर सेवामन्दिर के माध्यम से मुख्तार सा० ने जैन साहित्य और इतिहास के अध्ययन अनुसन्धान का जो कार्य प्रारम्भ किया था उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया जावेगा। अन्त में सबने खड़े होकर दिवंगत आत्मा के लिए शान्ति लाभ की कामना की। तथा निम्नलिखित शोक प्रस्ताव पारित किया।

शोक प्रस्ताव

वीर-सेवा-मन्दिर के संस्थापक तथा जैन साहित्य और इतिहास के ख्याति प्राप्त विद्वान आचार्य श्री जुगल-किशोर जी मुख्तार के देहावसान के समाचार ज्ञातकर हमें अत्यन्त दुःख हुआ है। जैन समाज के पुनर्जागरण तथा प्राचीन जैन वाङ्मय और इतिहास के अध्ययन और अनुसन्धान के क्षेत्र में मुख्तार सा० की उपलब्धियाँ और सेवाएँ अर्ध शताब्दी से अधिक दीर्घकाल में परिव्याप्त हैं। जो उनके देहावसान के उपरान्त भी सदा अमर रहेगी। साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में वीर सेवामन्दिर द्वारा आयोजित दिल्ली नगर की विभिन्न संस्थाओं, प्रतिष्ठित नागरिकों तथा विद्वानों की यह सभा उनके निधन पर हार्दिक दुःख व्यक्त करती हुई कामना करती है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति तथा शोक सतप्त कुटुम्बीजनों को धैर्य प्राप्त हो।

प्रेमचन्द जैन

मंत्री वीर सेवामन्दिर

दो श्रद्धाञ्जलियाँ

आचार्य शिवसागर जी महाराज का स्वर्गवास श्री महावीर जी में दिनांक १६-२-६६ को हो गया। आचार्य श्री के जीवन में अनेक विशेषताएँ थी जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनका चरित्र बल ऊँचा था। वे शान्त स्वभावी और सौम्यमूर्ति थे। वे समन्वयवाद में विश्वास रखते थे। अच्छे तपस्वी आचारनिष्ठ थे उनके चले जाने से महान क्षति हुई। हमें उनके उपदेशों से आत्म-लाभ लेना चाहिए। दिवंगत आत्मा के लिए हमारी श्रद्धाजलि है।

दानवीर सेठ गजराज जी गगवाल का जयपुर में दिनांक २६-१-६६ को साधारण लम्बी बीमारी के बाद अचानक स्वर्गवास हो गया। आपके द्वारा निमित्त सुख-देवाश्रम चिरकाल तक आपकी स्मृति को उज्ज्वल करता रहेगा। आप अच्छे धार्मिक और समाजसेवी थे। हमारी कामना है कि दिवंगत आत्मा पर लोक में सुख-शान्ति प्राप्त करे।

प्रेमचन्द जैन

मंत्री वीर सेवामन्दिर

श्री मुख्तार साहब अजमेर में

फतेहचन्द सेठी

श्री साहित्य मनीषी आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार समाज के उन नवरत्नों में से थे जिन्होंने अपने जीवन को वट वृक्ष के समान प्रारम्भ किया। जबकि समाज की किसी भी क्षेत्र में कोई व्यवस्थित योजना नहीं थी।

मेरे ध्यान से सबसे प्रथम वे महासभा के जैन गजट के सम्पादक के रूप में समाज के सामने आये। उस काल में उन्होंने गजट के माध्यम से जो भी सेवाये दी है वह गजट की फाइलों में आज भी अंकित है।

फिर 'जैन हितैषी' पत्रिका के माध्यम से जैनसमाज को पत्रकारिता की दृष्टि से नई दिशा प्रदान की। उनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक साहित्यिक सामग्री अन्वेषण के रूप में प्राप्त हुई है। उनके इस कार्य में श्री नाथूराम जी प्रेमी सार्थी थे, प्रेमी जी के बाद में इस क्षेत्र से अलग हो गये थे फिर भी मुख्तार सा० इस क्षेत्र में अडिग होकर आगे बढ़ते गये।

सन् १९२२ या २३ में उन्हीं की 'मेरी भावना' रचना समाज के सामने आई और उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि बालक वृद्ध तक ने उसे अपने कण्ठ का हार बना लिया तथा इसका आज तक विविध भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। पं० धरणीधर जी साहित्याचार्य ने भी इसी का अनुवाद तदनुरूप संस्कृत साहित्य में भी किया है।

सफल डा० की भाँति उन्होंने ग्रन्थ परीक्षा द्वारा समाज को नया जीवन दिया और उसके कारण समाज में उस समय विद्रोह की छाया और उस विद्रोह का सामना मुख्तार सा० ने डटकर किया। लेकिन इनकी लेखनी में सदा यह विशेषता रही कि वे जो भी लिखते थे उसे जमकर लिखा, जिसके कारण विरोधियों के पास भी उसका प्रत्युत्तर नहीं था।

ग्रन्थ परीक्षा ने धार्मिक जगत की आँखें खोल दी और समाज में आदर्श मार्ग की मान्यता की कसौटी को बल मिला। इससे आर्य ग्रन्थों की बहुत बड़ी रक्षा हुई।

स्वामी समन्तभद्राचार्य के सम्बन्ध में जो गवेषणात्मक पूर्ण सामग्री मुख्तार सा० ने प्रदान की, वह एक उनकी अनुपम देन है और उनके विश्वास के अनुसार अभी भी उनके साहित्य के अन्वेषक की अत्यन्त आवश्यकता है।

मुख्तार सा० की गतिविधि साहित्य के सभी क्षेत्रों में सागोपाग रही है। कवि, लेखक, शोधक, समालोचक एवं पत्रकार आदि सभी गुण उनमें पूर्णरूपेण विकसित थे। उन्होंने करीबन ४० वर्ष तक समाजकी अमूल्य सेवाये करते हुए जिनवाणी की सतत् साधना की है।

मुख्तार सा० से साक्षात्कार करने एवं उनके संपर्क में आने का कार्य इससे पहले कभी नहीं पड़ा। उनके साहित्य के द्वारा ही उनकी जानकारी मिली और उससे ही उनके प्रति आदर भाव का बना हुआ था।

अजमेर जैन समाज का सदा से गौरव रहा है और यहाँ के बडाघडा पंचायत के मंदिरजी में हस्तलिखित शास्त्रों का अपूर्व भण्डार है। जिनके दर्शन से प्राचीन काल की हस्तलिखित कलाओं का साक्षात् दर्शन भी मिलता है। यहाँ के भंडार की व्यवस्थित सूची नहीं होने से यह पता नहीं लगता था कि यहाँ के भण्डार में कितने अप्राप्य एवं अप्राशित ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं।

श्री दि० जैन सभा के तत्वावधान में मुख्तार सा० से अनुरोध किया गया कि वे अजमेर पधार कर यहाँ के शास्त्र भण्डार का भी अवलोकन करें। बराबर पत्र-व्यवहार के बाद सन् १९५६ में वे यहाँ आये और करीबन पाँच मास तक रहे तथा उन्होंने शास्त्र भण्डार का आद्योपान्त अवलोकन करके शास्त्र भंडार की परिपूर्ण सूची क्रमबद्ध तैयार की। उनके इस पुनीत कार्य में श्री शुशीलचन्द जी पाटनी बाबू हीराचन्द जी बोहरा पं० दीपचन्द जी पाण्ड्या आदि अनेक व्यक्तियों ने सहयोग दिया।

मुख्तार साहब की कार्य पद्धति एवं निष्ठा उस समय देखने को मिली कि वे उस समय इतने तन्मय रहते थे

कि उनका उसके अतिरिक्त अन्यत्र ध्यान बढ़ता ही नहीं था। साथी कार्य करते हुए थकान अनुभव करते थे लेकिन उन्होंने कभी थकान अनुभव नहीं की।

शास्त्र संबंधी जानकारी इतनी सूक्ष्मता से लेते थे कि उनकी दृष्टि से कोई बात छूट नहीं पाती थी। बड़े अध्यवसाय से उन्होंने यह कार्य—शास्त्र भंडार को देखते हुए कम समय में भी परिपूर्ण किया।

शास्त्र भंडार की व्यवस्थित सूची तैयार करने या कराने में उन्हीं के सामने अप्राप्य एवं अप्रकाशित शास्त्र भी आये। जिनके सम्बन्ध में उन्होंने अनेकान्त में बराबर प्रकाश डाला।

वयोवृद्ध होने पर भी वे अपने शरीर से ज्यादा से ज्यादा १६ घंटे तक कार्य लेते रहते थे। यह थी उनकी जिनवाणी की सच्ची सेवा।

पं० आशाधर जी रचित ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। लेकिन उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ “अध्यात्म रहस्य” अपरनाम “योगोद्दीपन” के सम्बन्ध में नाम ही सुनने में आता रहा। परन्तु उसके दर्शन का अवसर समाज को नहीं मिला। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी इस ग्रन्थ को पूर्व में अप्राप्य बताया।

मुस्तार साहब को अजमेर मन्दिर के शास्त्र भंडार

में यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ और इसमें सुन्दर एवं हृदय-ग्राही संस्कृत में ७२ श्लोक हैं। जिसमें अध्यात्म का प्रारम्भिक रूप से लेकर अन्तर आत्मा से साक्षात्कार कर-वाता है। इस ग्रन्थ का विस्तृत हिन्दी अर्थ व व्याख्या करके मुस्तार साहब ने स्वाध्याय प्रेमियों के लिए एक अपूर्व निधि प्रदान कर दी है और इसका सबसे प्रथम प्रकाशन आपने करवा दिया। इस प्रकार एक लुप्त एवं अप्राप्य शास्त्र का उद्धार करके जिनवाणी का उद्धार किया। इन्होंने अपने जीवन में एक नहीं अपितु अनेक इस प्रकार के शास्त्रों का प्रकाशन करके आर्ष मार्ग का उद्योत किया।

मुस्तार के इस सेवाव्रत से मुझे भी जीवन में प्रेरणा मिली और अजमेर में जब तक वे रहे तब तक उनके सानिध्य का सौभाग्य पाया।

वास्तव में वे जहाँ भी रहे उनका तन, मन व धन जिनवाणी की सेवा में ही लगा रहा और जीवन का समस्त बहुत बड़ा भाग उन्होंने सरस्वती माताके चरणों में लगाया। मुस्तार सा० के अजमेर रहते समय अजमेर जैन समाज ने अपने को कृतकृत्य समझा। बाह्य से उनका व्यक्तित्व सामान्य लगता था, लेकिन अंतरंग में गूढ़ागार के समान उनका व्यक्तित्व एवं प्रतिभा थी। ●

श्रद्धाञ्जलि

राजस्थान के प्रसिद्ध एवं उद्भूत विद्वान पं० चैन-सुखदास जी से जैन समाज भलीभाँति परिचित है। कौन जानता था कि भादवा ग्राम के साधारण कुटुम्ब में जन्म लेने वाला यह बालक अप्रतिम प्रतिभा का धनी और समाज के विद्वानों में इतना उच्चकोटि का स्थान बना सकेगा। पंडितजी बाल ब्रह्मचारी, प्रखर ओजस्वी वक्ता, पत्र सम्पादक, शिक्षक और अच्छे लेखक थे। उन्होंने समाज को बहुत कुछ दिया। उनमें मानवता कूट-कूट कर भरी थी। उन्होंने गरीब विद्यार्थियों को सब तरहका सहयोग देकर उच्चकोटि का विद्वान बनाया। उनके अनेक शिष्य हैं, जो डाक्टर, जैन दर्शनाचार्य, आयुर्वेदाचार्य और न्यायतीर्थ की डिग्रियों से अलंकृत हैं जो समाज में सेवा-कार्य कर रहे हैं। उनका हृदय कोमल और मानवता के

रस से ओत-प्रोत था। वे पक्के सुधारक और रूढ़िवाद के कदर्थक थे। वे निर्भीक वक्ता थे। उनका भाषण एवं प्रवचन दोनों ही आकर्षक थे। उनकी सेवाएं अमूल्य हैं। उनकी विचारधारा उदार और सरस थी, उनके दिवंगत हो जाने से राजस्थानी समाज की एक विभूति सदा के लिए उठ गई। वीर सेवा मन्दिर के अनुसन्धान कार्य में उनका पूरा सहयोग रहता था। उनके स्थान की पूर्ति होना कठिन है। वीर सेवा मन्दिर और अनेकान्त परिवार उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ परलोक में उनके सुखी होने की कामना करता है।

प्रेमचन्द जैन

मंत्री वीर सेवामन्दिर

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का स्वर्गवास

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

जैन दर्शन एवं साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान एवं जैन संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य पंडित चैनसुखदास न्याय-तीर्थ का कल दिनांक २६-१-६६ को प्रातः डेढ़ बजे स्वर्ग-वास हो गया। वे ७० वर्ष के थे। गत कुछ दिनों से वे अस्वस्थ चल रहे थे।

पंडित जी की मृत्यु के समाचार नगर में बिजली की तरह फैल गया और सबेरा होते ही सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष उनके निवास स्थान पर एकत्रित होने लगे। शव को कुछ समय के लिए चौक में रखा गया और वही पर सहस्रों नर-नारियों द्वारा उनको अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित की गई। ६ बजे उनकी शव यात्रा प्रारम्भ हुई। पंडित जी के अन्तिम दर्शनों के लिए हजारों स्त्रियां गलिया एवं बाजारों की छतों पर एकत्रित हो गईं और पंडित जी की 'जय हो' पूज्य गुरु देव अमर रहे के नारों के मध्य सभी ने अश्रुपूरित नेत्रों से पुष्पाहार एवं पुष्प वर्षा के साथ श्रद्धांजलियां अर्पित की। शव यात्रा एक जुलूस में परिवर्तित होने के पश्चात् वह त्रिपोलिया बाजार चादपोल बाजार होती हुई श्मशान स्थल पहुँची। नागरिकों की भीड़ एवं उनके दर्शनों की उत्कट अभिलाषा को देखते हुये पंडित जी के पार्थिव शरीर को गाड़ी में रखा गया मार्ग में जिसने भी पंडित जी की मृत्यु के बारे में सुना वही उनकी शव यात्रा के साथ हो गया।

हजारों नर-नारियों के आसुओं से पूरित नेत्रों के साथ एवं पंडित जी अमर रहे के गगन भेदी नारों के मध्य उनके देह को चिता में रख दिया गया। और उनके छोटे भाई श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने उसे अग्नि के लिए समर्पित कर दिया। सायंकाल ७ बजे महावीर भवन में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के प्रबन्ध कारिणी कमेटी की मीटिंग हुई उसमें पंडित जी साहब को श्रद्धांजलियां अर्पित की गई। इस अवसर पर क्षेत्र की ओर से पंडित चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन की योजना स्वीकृत की गई।

रात्रि को ७।। बजे दीवानजी के मन्दिर में राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान में जयपुर समाज की एक ग्राम सभा श्री प्रकाशचन्द जी कासलीवाल की अध्यक्षता में हुई। सभा में एक स्वर से पंडित जी के अघूरे कार्यों को पूरा करने का निश्चय किया गया। तथा उनके कार्यों के अनु-रूप ही उनकी स्मृति में एक स्मारक निर्माण करने की योजना पर भी विभिन्न वक्ताओं ने प्रकाश डाला इसके लिए २१ सदस्यों की एक समिति का गठन किया गया तथा डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को इसका सयोजक चुना गया।

सभा में नगर के प्रमुख व्यक्तियों एवं विभिन्न संस्थाओं की ओर से पंडित जी को भाव भरे शब्दों में श्रद्धांजलियां अर्पित की गई। इसमें श्री महावीर जी तीर्थ क्षेत्र कमेटी की ओर से श्री ज्ञानचन्द्र खिन्टूका, श्री पदम-पुरा क्षेत्र एवं जैन संयुक्त कालेज के मंत्री श्री भवरलाल न्यायतीर्थ, राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री केशरलाल अजमेरा, राजस्थान जैन साहित्य परिषद् के अध्यक्ष डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान की ओर से श्री पूरणचन्द पाटनी, श्रमजीवी पत्रकार सघ की ओर से श्री प्रवीणचन्द छावड़ा, दिगम्बर जैन औषधालय के मंत्री श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् के राजस्थान शाखा के अध्यक्ष श्री विरधीलाल सेठी, राजस्थान शिक्षासंघ के अध्यक्ष श्री माणिक्यचन्द जैन, भारत जैन महामंडल की राजस्थान शाखा के मंत्री डा० ताराचन्द्र वल्शी, श्वेताम्बर जैन समाज एवं अणुवत समिति की ओर से श्री पन्नालाल बांठियां, मुल्तान जैन समाज की ओर से भी न्यायतराय, श्वेताम्बर जैन नव युवक मंडल के अध्यक्ष श्री तिलकराज, श्री महा-वीर दिगम्बर जैन हायर सेकेंड्री स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री तेजकरण डांडिया, बड़े दीवान जी के मन्दिर की शाखा सभा की ओर से श्री भंवरलाल पोल्याका, जैन

(शेष पृष्ठ २८८ पर)

ग्रोस् ग्रहम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहित का संदेश-वाहक
नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और
समाज शास्त्र के प्रौढ़ विचारों से परिपूर्ण
सचित्र द्वै मासिक

सम्पादक-मंडल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

प० परमानन्द शास्त्री

२१वां वर्ष

(मार्च १९६८ से फरवरी १९६९ तक)

(वि० स० २०२४ से २०२५ तक)

प्रकाशक

प्रेमचन्द जैन बी. ए.

मंत्री वीरसेवामन्दिर २१ दरियागज, दिल्ली-६

वार्षिक मूल्य }
छह रुपये }

फरवरी

१९६९

{ एक किरण का मूल्य
{ एक रु० २५ पैसे

अनेकान्त के २१वें वर्ष की विषय-सूची

अग्रवालो का जैन संस्कृति में योगदान—

परमानन्द शास्त्री	४६, ६१, १८५
अछूता समृद्ध जैन साहित्य—गिषभदास रांका	१७४
अध्यात्म बत्तीसी—अगरचन्द नाहटा	१७२
अनुसन्धान के आलोक स्तम्भ—प्रो० प्रेम सुमन जैन	२११
अपनत्व—मुनि कन्हैयालाल	१०६
अमर साहित्य-सेवी—प० कैलाशचन्द सि० शा०	२०६
आगम और त्रिपिटकों के सन्दर्भ में अजातशत्रु कुणिक	
—मुनि श्री नगराज	२५, ५६
आचार्य जुगलकिशोर जी मुस्तार—डा० कस्तूरचन्द	
जी कासलीवाल	२७३
आधुनिक जैन युग के 'वीर'—श्रीमती विमला जैन	२५६
इतिहास का एक युग समाप्त हो गया—ड० गोकुल	
चन्द जैन एम. ए.	१७०
इतिहास के एक अध्याय का लोप—डा० भागचन्द	
जैन 'भागेन्दु'	२७५
उपाध्याय मेघविजय के मेघ महोदय में उल्लिखित	
कतिपय अप्राप्त रचनाएँ—अगरचन्द नाहटा	३६
उस मृत्युञ्जय का महाप्रयाण—डा० ज्योतिप्रसाद	
एम. ए. पी-एच डी.	२२३
एक अपूरणीय क्षति—पन्नालाल साहित्याचार्य	२५४
ऐसे थे हमारे बाबूजी—विजयकुमार चौधरी एम.ए.	२४६
कतिपय श्रद्धाजलियाँ—विविध विद्वानों और	
प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा	१६४-२०६
कवि छीहल—परमानन्द शा०	२२६
कवि टेकचन्द रचित श्रेणिक चरित और पुण्याश्रव	
कथाकोष—अगरचन्द नाहटा	१३४
कुलपाक के माणिक स्वामी—डा० विद्याधर	
जोहरा पुरकर	३३
कुलपाक के माणिक स्वामी—प० के० भुजबली शा.	१३१
क्या कभी किसी का गर्व स्थिर रहा है	१३
गुणों की इज्जत	२२६

चिदात्म वंदना—मुनि पद्मनन्दि	४६
चित्तोड़ का कीर्तिस्तम्भ—पं० नेमचन्द धन्नुसा जैन	८३
चित्तोड़ का दि० जैन कीर्तिस्तम्भ—परमानन्द शा०	१७६
चित्तोड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माणकाल—	
श्री नीरज जैन	१४६
जैनग्रन्थों में राष्ट्रकूटोंका इतिहास—रामवल्लभ	
सोमाणी	११४
जैन समाज के भीष्म पितामह—डा० देवेन्द्रकुमार	२१३
जैन साहित्यकार का महाप्रयाण—पं० सरमनलाल	
जैन दिवाकर	२६२
जो कार्य उन्होंने अकेले किया वह बहुतों द्वारा	
सम्भव नहीं—डा० दरबारीलाल कोठिया	२६३
ज्ञानसागर की स्फुट रचनाएँ—डा० विद्याधर	
जोहरा पुरकर	१७०
टूड़े ग्राम का अज्ञात जैन पुरातत्त्व—प्रो० भागचन्द	
'भागेन्दु'	६७
दर्शन और ज्ञान के परिपेक्ष्य में स्याद्वाद और	
सापेक्षवाद—मुनि श्री नगराज	६८
दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग एक तुलनात्मक अध्ययन	
—पं० बालचन्द्र सि० शा०	११६
दिगम्बर परम्परा में आचार्य सिद्धसेन—प०	
कैलाशचन्द सिद्धान्त शास्त्री	८६
देवागम स्तोत्र और उसका हिन्दी अनुवाद—	
पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	७५
पं० चैनसुखदास जी न्यातीर्थ का स्वर्गवास—	
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	२८४
पं० भगवती दास का ज्योतिषसार—डा० विद्याधर	
जोहरा पुरकर	६५
पारस्परिक विभेद में अभेद की रेखाएँ—साध्वी	
कनक कुमारी	५३
पिण्ड शुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट, आहार पर विचार	
पं० बालचन्द्र सि० शा०	१५५

★

(पृ० २८४ का शेषांश)

संस्कृत कालेज के छात्रावास की ओर से श्री ज्ञानचंद्र ध्रुवकर, शोध छात्रों और महिलाओं की ओर से सुधी शान्ति जैन, राजस्थान विश्व विद्यालय के विज्ञान विभाग के डा० श्री गोपीचंद पाटनी, इसके अतिरिक्त श्री सुधाकर शास्त्री, कपूरचंद पाटनी, केवलचंद टोलिया, श्री रूपचंद सौगानी, श्री बासूलाल छावड़ा, श्री गुलाबचंद दर्शनाचार्य, श्री केशरलाल शास्त्री, बुद्धि प्रकाश भास्कर, श्री सुभद्र कुमार पाटनी, बाबा गोविन्ददास, मास्टर बद्रीनारायण, एवं प्रेमचंद राबंका आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सभा की संयोजना श्री ताराचन्द्र साह ने की।

सभा में एक शोक प्रस्ताव पारित हुआ और सभी ने खड़े होकर पंडित जी की आत्मा के लिए शान्ति लाभ की कामना की।

पंडित चैनमुखदास जी न्यायतीर्थ का जीवन परिचय :—

पंडित चैनमुखदास जी का जन्म जयपुर जिला के अंतर्गत भादवा ग्राम में माघ कृष्ण १५ स० १९५६ : २२ जनवरी १८९६ : को एक जैन परिवार में हुआ। जब तीन वर्ष के ही थे कि पक्षाघात की बीमारी से एक पैर से लाचार हो गये। गाव में ही प्रारम्भिक शिक्षा पश्चात् संस्कृत प्राकृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए

वाराणसी चले गये और वहाँ स्यादवाद महाविद्यालय में अध्ययन करते हुए बंगाल संस्कृत एसोसियेशन की न्याय-तीर्थ की परीक्षा पास की।

अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आप पुनः अपने गांव लौट आये और जैन विद्यालय कुचामन के प्रधानाध्यापक पद पर नियुक्त हुए। सन् १९३१ में आप दि० जैन संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य बन कर जयपुर आये और ३८ वर्ष तक इस महत्वपूर्ण पद पर रहकर आपने संस्कृत शिक्षा जगत की महान सेवा की। शिक्षा जगत में महत्वपूर्ण कार्यों के लिए आपको सन् १९६७ में राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पंडित साहब पत्रकार लेखक एवं वक्ता सभी थे। आप पहले जैन बन्धु और गत २० वर्षों से वीर वाणी पत्रिका के सम्पादक रहे। आपने जैन दर्शन सार षोडशकारण भावना, अर्हत प्रवचन, प्रवचन प्रकाशन आदि बहुमूल्य कृतियां साहित्य जगत को भेंट की।

पंडित जी एक सेवा भावी विद्वान थे। नगर एवं देश के विद्यार्थी वर्ग उनसे बराबर लाभ लिया करते थे। आपके निधन से एक ऐसी क्षति हुई है जिसकी निकट भविष्य में पूर्ति होना संभव नहीं है।



सहायता

२१) बा. निर्मलकुमार जी कलकत्ता सुपुत्र बा. नन्द-
लाल जी सरावगी यात्रा से वापिस लौटते समय सघन्य-
वाद प्राप्त ।

चि० कुमारी ऊषा रानी (सुशीला ला० अजितप्रसाद
जैन भूतपूर्व एवजीक्यूटिव इंजीनियर दिल्ली नगर निगम)
का पाणिग्रहण संस्कार श्री विनोदकुमार जैन (सुपुत्र ला०
चम्पालाल जैन, मैसर्स चम्पालाल प्रेमचन्द जैन नया वास
देहली) के साथ ११ मार्च सन् १९६६ को जैन विधि से
सम्पन्न हुआ । इस शुभ अवसर पर वर-वधु दोनों पक्षों से
७०१) का दान निकाला गया जिसमें से २१) ६० अने-
कान्त को सघन्यवाद प्राप्त हुए ।

५) सुश्री मनोरमा सेठी और कैलाशचन्द शाह मांडलग
के विवाहोपलक्ष में घन्यवाद सहित प्राप्त ।

७) श्री नथमल जी सेठी कलकत्ता ने चि० पुत्र महा-
वीर कुमार और सुश्री कुमारी सन्तोष सुपुत्री शाह नेमीचन्द
जी पाण्ड्या के पाणिग्रहण संस्कारके समय निकाले दान में
से सघन्यवाद प्राप्त किये ।

७) वृद्धिचन्द जी रारा. रिटा० टेली अकाउन्ट २६६
जयावास अजमेर ने अपने जन्मदिवस के उपलक्ष में स-
घन्यवाद प्रदान किये ।

व्यस्थापक
'अनेकान्त'

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

- १०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संम, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री धर्मचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० घन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्नीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

- १५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कल्यालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) ,, विगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्डूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज बिल्डी
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इस्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी,
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बड़ीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रतन सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्वीर

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आ त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ६-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशीलित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमातण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपाश्वर्वाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (१७) महावीर पूजा २५
- (१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५
ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७-००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सध प्रकाशन ५-००
- (२२) कलायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२३) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

